श्री मद्गदाधरभट्टाचार्यप्रणीतः

व्युत्पत्तिवादः

डॉ. वैद्यनाथ झा

नव्यन्याय की महती परम्परा के महान् आचार्य महामहोपाध्याय श्री गदाधरभट्टाचार्य ने अनेको वादपरकग्रन्थों को रचकर भारतीय दर्शन को स्वस्थ दशा एवं दिशा प्रदान की है। उन्हीं ग्रन्थरत्नों में अन्यतम 'व्युत्पत्तिवाद' सञ्ज्ञक ग्रन्थ नैयायिक एवं शाब्दिक जगत् में समान रूप से आदरणीय रहा है। इसकी हिन्दी व्याख्या चिरकाल से छात्र एवं अध्यापक-समुदाय में प्रतीक्षित थी। व्युत्पत्तिवाद जैसे प्रौढ नव्यन्याय-शैली-शीलित ग्रन्थ की हिन्दी व्याख्या लिखना 'लोहे के चने चबाना' है। पुनरपि श्रमक्रम से अधीती विद्वान् डॉ. झा ने 'इन्दुकला' व्याख्या लिखकर अत्यन्त साहसिक प्रशंसनीय कार्य किया है, जो कि पाठकों की अपेक्षाओं व आकाङ्क्षाओं के सर्वथा अनुरूप है। इसमें अधिकारीभेद को दृष्टि में रखते हुए मूलग्रन्थ की व्यासशैली में व्याख्या तो है ही, साथ-साथ यथास्थल दुरुह-ग्रन्थ-ग्रन्थि को भी गूढ़ार्थतत्त्वालोक की सहायता से सुलझाकर सरल व बोधगम्य बनाया गया है।

डॉ. झा की यह कृति व्युत्पत्तिवाद की सर्वप्रथम, प्रामाणिक एवं पारम्परिकज्ञान से परिपूर्ण हिन्दीव्याख्या है, जो संस्कृतजगत् के प्रत्येक व्युत्पित्सु जन के लिए पठनीय एवं सङ्ग्रहणीय है।

कणाभक्षाचरणकुलवरिष्ठेभ्यः-
स्त्रिपाठिश्रीवशिष्ठनारायणपादपद्मेभ्य
उपाहरति —— वैद्यनाथः

१४-४-२००४

महामहोपाध्यायगदाधरभट्टाचार्यविरचितः

।। व्युत्पत्तिवादः ।।

"इन्दुकला" हिन्दीव्याख्यासहितः

प्रथमाकारकान्तो

व्याख्याकारः

डॉ. वैद्यनाथ झाः

रीडर (नव्यन्याये)

श्रीरणवीरकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम्

शास्त्रीनगरम्, जम्मू।

हंसा प्रकाशन, जयपुर

ISBN : 81-86120-86-6

प्रकाशक : हंसा प्रकाशन
57, नाटाणी भवन, मिश्रराजाजी का रास्ता,
चांदपोल बाजार, जयपुर-302001

संस्करण : 2001 (प्रथम)

मूल्य : 500/-

टाईप सेटिंग : इनु ग्राफिक्स, जयपुर

मुद्रक : शीतल प्रिन्टर्स, जयपुर

शुभाशंसा

श्रमक्रमाभ्यां तन्त्रं न्यायशास्त्रञ्चाधीतवता विद्वत्प्रकाण्डवर्येण श्रीमता वैद्यनाथझा पण्डितप्रवरेण आधुनिकीं दृष्टिं परिकल्प्य रचितया राष्ट्रभाषया सरलया टीकयोपनिबद्धं शाब्दबोधाकाङ्क्षाज्ञानयोः कार्यकारणभावमधिकृत्य परमां ख्यातिं प्राप्तस्य व्युत्पत्तिवादस्य प्रथमाकारकमात्रमहमद्राक्षम्। तत्र च व्युत्पत्तिवादस्य प्रथमाकारकान्तर्गतानां सर्वेषां शब्दानां यथाभिप्रायं प्रकाशीकुर्वन् झामहोदयो विशेषतया धन्यवादपात्रमित्यत्र न सन्देहावसरः। टीकेयं नातिविस्तृतानातिलघ्वीतिवैशिष्ट्यवशादेव सर्वेषां पाठकानाङ्कृते अतिसुलभा बोधगम्या भविष्यतीत्यहं मन्ये। ~~किञ्च एतद्ग्रन्थस्य सत्याभिप्रायं~~ अन्तेऽहमकारणकरुणाकरं भगवन्तं श्रीविश्वनाथं, प्रार्थये यद्भगवतः परमेश्वरस्य अकम्पानुकम्पया पण्डितोऽयं शतायुर्भूत्वा विद्याक्षेत्रे सर्वदा राजताम् वर्द्धताञ्चेति–

—डॉ. कीर्न्यानन्द झा

श्री गणेशाय नमः

श्रीजागेश्वरपूज्यतातचरणं धर्मावतारं कलौ
वन्द्याम्बां करुणासुनीतिममतामूर्तिं तु रामेश्वरीम्।
कीर्त्यानन्दगुरून् प्रणम्य च मुदा व्युत्पत्तिवादं च त-
ट्टीकामिन्दुकलां नवां निजकृतिं चोद्दिश्य किञ्चिद्ब्रुवे॥

विश्व में सर्वतः प्राचीन दृढ़तम काल के दुर्दम्य प्रभाव से अक्षुण्ण प्रतिक्षण अभिनव सा दिखाई पड़नेवाले भारतीयसंस्कृति के महान् प्रसाद के धर्म-अर्थ काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ चार मूल स्तम्भ हैं। यह बात इन चारों की पुरुषार्थ संज्ञा से अभिव्यङ्ग्य होती है। "किसी भी समाज की उन्नति या अवनति का दर्पण उसका विचार और आचार होता है। यह जैसे निर्विवाद तथ्य है वैसे ही आचार का मूल विचार होता है। यह भी सत्य है। अतएव तो संस्कृत में कहा जाता है- जानाति इच्छति यतते "अर्थात् प्रथम ज्ञान होता है, तत्पश्चात् इच्छा और उसके अनन्तर क्रिया =व्यवहार या आचार होते हैं। भारतीय जीवन का सम्पूर्ण आचार व्यवहार इन्हीं धर्म आदि चार पुरुषार्थों से नियन्त्रित होते रहे हैं। जिसने अपने जीवन में इन चारों की प्राप्ति नहीं की या उसके लिए प्रयास भी नहीं किया उसका मनुष्य होना निरर्थक माना गया। मानव जीवन को अर्थ और काम (कामिनी और काञ्चन) बहुत ही शीघ्रता से पथ भ्रष्ट करते है अतः इनको नियन्त्रित करने के लिए सर्वप्रथम धर्म और अन्त में मोक्ष की कल्पना भारतीय विचारकों (दार्शनिकों) ने की इस प्रकार भारतीय दार्शनिकों के अनुसार मानव जीवन में धर्म का स्थान जहाँ सर्वप्रथम है वहीं मानवजीवन का चरम उद्देश्य मोक्ष को माना गया है। वह मोक्ष त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्ति रुप हो या नित्यसुखाभिव्यक्तिरुप या पुनः स्वस्वरुपोपलब्धिरुप। परन्तु वह मानव का चरम लक्ष्य है इसमें कोई मतभेद नहीं है। इसलिए सभी भारतीय दार्शनिकों ने अपनी-अपनी वासना के अनुसार मोक्ष के स्वरुप-साधन आदि के विषय में विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन किया है। ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः इस श्रुतिसिद्धान्त के अनुसार मोक्ष का एकमात्र साधन ज्ञान है यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है। यह ज्ञान प्रथमतः दो प्रकार का है पर तथा अपर। परज्ञान =मोक्ष के साधन तत्वज्ञान या आत्मज्ञान को कहा जाता है, तदतिरिक्त सभी ज्ञान जो कि लोक शास्त्रादि के कारण होते हैं अपर ज्ञान कहलाते हैं यद्यपि मोक्ष के लिए साक्षात् उपयोगी परज्ञान या आत्मज्ञान ही है तथापि इस सन्दर्भ में लोक शास्त्रादिजन्य अपरज्ञान का भी महत्त्व कम नहीं है। क्योंकि जब तक आत्मभिन्न पदार्थों का तत्त्वज्ञान नहीं हो जाता तब तक आत्मतत्त्वज्ञान का होना भी अशक्य

ही है। यही कारण है कि मोक्ष के स्वरुप साधन आदि के विवेचन में प्रवृत्त सभी भारतीय दर्शनों में अनात्म =जडतत्त्व का भी विस्तृत और सूक्ष्म विवेचन उपलब्ध होता है। यह अपरज्ञान भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के मतानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। जिस दर्शन में प्रमेय की संख्या जितनी है तदनुसार उनके मत में ज्ञान तथा उसके साधन प्रमाण की संख्या भी उतनी है। जैसे-चार्वक के अनुसार इस संसार में इन्द्रियों से अनुभूत होने वाले विषयों की ही सत्ता मानी गयी है। अतः अनके मत में प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है इसी प्रकार बौद्ध तथा वैशेषिक के मत में प्रत्यक्ष तथा अनुमिति ये दो ही ज्ञान हैं। अतः प्रत्येक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण माने जाते हैं। अस्तु।

यह अपर ज्ञान सांख्यमत में तीन, न्याय मत में चार, कुमारिल भट्ट के मत में पाँच, प्रभाकर तथा वेदान्तियों के मत में छः माने गये हैं। न्याय मत में जो चार प्रकार के ज्ञान माने गये हैं वे हैं - प्रत्यक्ष अनुमिति उपमिति और शाब्दबोध। ये अपरज्ञान पुनः अनुभव और स्मृति के भेद से दो प्रकार के हैं और ये अनुभव तथा स्मृति भी पुनः यथार्थ और अयथार्थ के भेद से दो-दो प्रकार की होती है। इनमें यथार्थानुभव के चार भेद हैं- प्रत्यक्ष अनुमिति उपमिति और शाब्दबोध। इस प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं यह सर्वविदित है। अब जो शाब्दबोध को अतिरिक्त प्रमा मानकर उसके करण शब्द को अतिरिक्त प्रमाण मानते हैं। उनके उपर यह भार अनायास आ पड़ता है कि शाब्दबोध में अतिरिक्त प्रमात्व का और शब्द में अतिरिक्त प्रमाणत्व की सिद्धि करें।

अन्यथा एक या दो ही प्रमा को मानने में लाधव होने से तथा इनका मत गौरव ग्रस्त होने से उपेक्षणीय हो जाएगा। अतः नैयायिक लोग सर्वप्रथम शाब्दबोध को प्रत्यक्ष तथा अनुमिति से अतिरिक्त प्रमा सिद्ध करते दिखाई पड़ते हैं जैसा कि श्री जगदीश भट्टाचार्य अपनी शब्दशक्तिप्रकाशिका के प्रारम्भ में ही कहते हैं

साकॉक्षशब्दैर्यो बोधस्तदर्थान्वयगोचरः।
सोऽयं नियन्त्रितार्थत्वात् न प्रत्यक्षं न चानुमा॥

कारिका का अर्थ है कि "गामानय" इत्यादि आकाँक्षा योग्यता आसक्ति युक्त पदों के ज्ञान से, उन पदों के अर्थों का जो परस्पर अन्वयबोध होता है वह पदार्थों का अन्वय (सम्बन्ध) ज्ञान न तो प्रत्यक्ष है और न ही अनुमिति।

तात्पर्य यहाँ यह है कि - चार्वाक शब्द से होने वाले ज्ञान को भी प्रत्यक्ष ही मानते हैं और वैशेषिक लोग उस ज्ञान का अन्तर्भाव अनुमिति में करते हैं। चार्वाक के अनुसार गाम और आनय इन दोनों पदों का प्रत्यक्ष श्रवणेन्द्रिय से होने के कारण इस वाक्य से होने वाला ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही है। वैशेषिकों का कथन यह है कि "इस पद का यह अर्थ है" इस प्रकार के शक्तिग्रह के बिना शाब्दबोध नहीं होता है" ऐसा तो नैयायिक लोक स्वयं मानते हैं। ऐसी स्थिति में अपने दादा की गोद में बैठा बच्चा जब पहले पहल अपने पिता से अपने दादा को "गाम आनय" कहते हुए सुनता है, तो उस समय उस बालक को गाम

पद की शक्ति किस अर्थ में है और आनय पद की शक्ति किस अर्थ में? इस बात का ज्ञान नहीं रहता। अतः उस समय अपने पिता के "गवानयन" रुप कार्य को देखकर वह बालक अनुमान ही करता है कि - मेरे पिता जी, गाय लाना रुप क्रिया के ज्ञानवान् हैं, क्योंकि वे गायलाना रुप क्रियावान हैं अर्थात गाय ला रहे हैं। तत्पश्चात् वह बालक यह अनुमान भी करता है कि मेरे पिता जी को गायलानारुप क्रिया का ज्ञान हुआ वह दादाजी के "गाम आनय" इस वाक्य के सुनने से हुआ। क्योंकि कोई कार्य बिना कारण के नहीं होता तो मेरे पिताजी को यदि गामानय इस वाक्य से 'गायलाना' रुप क्रिया में कार्यता का ज्ञान नहीं हुआ होता तो वे गाय लानारुप क्रिया नहीं करते। चूंकि वे गाय ला रहे हैं तो इसका अर्थ है कि उन्हें गाय लाने रुप क्रिया में कार्यता का ज्ञान हुआ है और वह ज्ञान दादाजी के वाक्य से हुआ है। अतः "गायलाने" के ज्ञान का कारण 'गामानय' यह वाक्य है। ऐसा अनुमित्यात्मक ज्ञान उस बालक को होता है न कि शाब्दबोध। तत्पश्चात् गामानय अश्वमानय' ऐसे वाक्यों को सुनकर और तदनुसार पिता के आचरण को देखकर उस बालक को गाय पद का अर्थ यह सास्नादिमान् पशु है आनय पदका अर्थ लाना है, अश्वपद का अर्थ एकखुर वाला यह पशु है और नय पद का अर्थ ले जाना है 'ऐसा शक्ति ग्रह होता है। इस प्रकार जैसे उस बालक को सर्वप्रथम सुनाई पडने वाले "गामानय" इस वाक्य से हाने वाला वाक्यार्थज्ञान अनुमिति रूप है वैसे ही अन्यत्र स्थल में भी वाक्य से होनेवाले ज्ञान को भी अनुमितिरुप ही मान लेना चाहिए। इस प्रकार शाब्दबोध को अतिरिक्त प्रमा तथा शब्द को अतिरिक्त प्रमाण नहीं मानना पड़ेगा यह लाघव भी होगा। यहाँ एक बात ध्यान में अवश्य रखें कि वैशेषिक भी आस्तिक है। अतः वेद को प्रमाण तो यह भी मानते हैं परन्तु वेद को अतिरिक्त प्रमाण न मानकर अनुमान रुप से तथा वेदवाक्यों से हाने वाले ज्ञान को अनुमिति रुप में ही स्वीकार करते हैं। अस्तु।

नैयायिक शब्द को अतिरिक्त प्रमाण सिद्ध करते हुए शाब्दबोध को अतिरिक्त प्रमा सिद्ध करते हुए कहते हैं कि - अनुमिति के लिए सर्वत्र व्याप्तिज्ञान विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान अर्थात् परामर्श अपेक्षित होता है। एवञ्च यदि साध्य की सिद्धि (निश्यच) हो और अनुमिति की इच्छा न हो तो, पक्षता के न होने से अनुमिति नहीं हुआ करती। परन्तु शाब्दबोध स्थल में विधेय का निश्चय होने पर भी शब्द के सुनाई पड़ने से यदि वृत्तिज्ञान है तो शाब्दबोध होता ही है। "इयं बन्ध्या पुत्रात्" इस वाक्य से अनुमिति नहीं हो सकती परन्तु शाब्दबोध तो होगा ही। तभी तो विज्ञजन उस वाक्य का प्रयोग करने वाले का उपहास करते हैं। शाब्दबोध की अनुमिति में अन्तर्भाव मानने वाले वैशेषिक लोग कह सकते हैं कि - यदि प्रत्यक्ष ज्ञान की सामग्री भिन्न हो और अनुमिति एवं शाब्दबोध की सामग्री भिन्न हो तो ऐसे स्थल में प्रत्यक्ष ज्ञान की सामग्री दुर्बल होने से बाधित होती है। एवंच यदि शाब्दबोध को अनुमिति से पृथक् प्रमा माना जाए तो भिन्न विषयक प्रत्यक्ष सामग्री की प्रतिबन्धकता शाब्दबोध सामग्री में पृथक् तथा अनुमिति सामग्री

में पृथक् माननी पड़ेगी। इस प्रकार दो प्रतिबन्धकता माननी पड़ेगी। परन्तु यदि शाब्दबोध को अनुमिति रुप मान लेते हैं अर्थात् अनुमिति में अन्तर्भाव मानते हैं तो विभिन्न विषयक प्रत्यक्षसामग्री के प्रति एक ही भिन्न अनुमिति सामग्री में प्रतिबन्धकता मानी पड़ती है। यह लाघव है। इस लाघव के अनुरोध से शाब्दबोध को अनुमिति से अतिरिक्त नहीं मानना चाहिए। तथापि-यहाँ यह बात समझनी चाहिए कि किसी वस्तु की सिद्धि में अनुभव सबसे प्रबल प्रमाण है। एवञ्च शब्द सुनने के बाद वृत्तिज्ञान की सहायता से पदार्थोपस्थिति हो जाने के बाद जो एक पदार्थ में अपर पदार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान रूप शाब्दबोध होता है, उस शाब्दबोध के पश्चात् "अहम्अमुमर्थं श्रृणोमि, शाब्दयामि" अर्थात् मैं इस अर्थ को सुन रहा हूँ शाब्दबोध मुझे हो रहा है।" इस प्रकार के होनेवाले अनुव्यवसाय में जो विलक्षण शाब्दबोध विषय रूप में भासित होता है, उसका अपलाप वैशेषिक भी नहीं कर सकते। इस प्रकार उपर्युक्त अनुव्यवसायरूप अनुभव के आधार पर शाब्दबोध यदि अतिरिक्त प्रमा सिद्ध होती है तो उसके करण शब्द में अतिरिक्त प्रमाणत्व सुतराम् सिद्ध हो जाता है। यदि उपर्युक्त "अनुव्यवसाय अनुमिति सामग्री से ही होता है" ऐसा वैशेषिक लोग कहें, तो पुनः "पर्वतो वह्निमान् धूमात्" इत्यादि अनुमितिस्थल में उपर्युक्त "शाब्दयामि" ऐसा अनुव्यवसाय मानना पड़ेगा। इन सब आपत्तियों के कारण शाब्दबोध को अतिरिक्त प्रमा तथा शब्द को अतिरिक्त प्रमाण मानना ही चाहिए।

उपर्युक्त रीति से जब शाब्दबोध अतिरिक्त प्रमा है यह बात सिद्ध हो गयी तो यहाँ यह भी समझना चाहिए कि शाब्दबोध में भासित होने वाले सम्बन्ध दो तरह के होते हैं।१ वृत्तिभास्य तथा दूसरा २ आकाँक्षाभास्य। इनमें घट आदि पदार्थ के साथ घटत्व आदि पदार्थतावच्छेदक का जो सम्बन्ध समवाय आदि शाब्दबोध में भासित होते हैं। वे वृत्तिभास्य कहलाते हैं। क्योंकि - शक्ति तथा लक्षणा को शास्त्र में वृत्तिशब्द से कहा गया है। एवञ्च सूत्रकार भगवान् गौतम के "जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः इस सूत्र के अनुसार घट पद की शक्ति घटत्व जाति घटव्यक्ति तथा इन दोनों के सम्बन्ध समवाय में रहती है।" यह बात सिद्ध होती है। अर्थात् घट पद का अर्थ घट भी है घटत्व भी है और घटघटत्व का सम्बन्ध समवाय भी है। अतः घटः कहने से समवाय सम्बन्ध से घटत्व विशिट घट की उपस्थितिज्ञान होता है इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि - घट रूप पदार्थ तथा घटत्व रूप पदार्थतावच्छेदक का जो सम्बन्ध समवाय भासित हो रहा है वह समवाय सम्बन्ध घट पद निष्ठ शक्ति (वृत्ति) के द्वारा भासित हो रहा है। अतः उसको शक्तिभास्य कहा जाता है। मोटी भाषा में कहें तो - जो सम्बन्ध किसी पद का अर्थ होता है उसे वृत्तिभास्य सम्बन्ध कहते हैं। परन्तु एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ जो सम्बन्ध शाब्दबोध में भासित होता है उसे आकाँक्षाभास्य कहा जाता है। जैसे "नीलो घटः" इस वाक्य से 'नीलाऽभिन्नो घटः" ऐसा शाब्दबोध होता है अर्थात् यहाँ नीलवान् का अभेद सम्बन्ध भासित हो रहा है। यह अभेद सम्बन्ध चूँकि किसी पद का अर्थ नहीं है। अतः उसे वृत्तिभास्य नहीं मान सकते। इसलिए

उसे आकाँक्षाभास्य माना जाता है। परन्तु मीमांसक लोग शाब्दबोध में आकाँक्षा ज्ञान को कारण ही नहीं मानते। पुनः शाब्दबोध में पदार्थद्वय के सम्बन्ध को आकाँक्षाभास्य मानना तो दूर की बात हुई। इस सम्बन्ध में अन्विताभिधानवादी प्रभाकर (गुरु) का अभिप्राय यह है कि जब "घटः" ऐसा केवल प्रयोग करते हैं और यहाँ भी सुविभिक्ति पदसाधुत्व मात्र के लिए मानते हैं न कि एकत्व संख्या का बोध कराने के लिए, तबभी उस एक "घटः" इस कर्तृकारक पद के प्रयोग होने पर भी प्रमाणान्तर से "अस्तित्व' आदि योग्य क्रिया की उपस्थिति होने पर आकाँक्षा ज्ञान के बिना भी "अस्तितावान् घटः" ऐसा शाब्दबोध होता है। यहाँ पर जिन घट और अस्तित्व रुप दो पदार्थों का अन्वय हो रहा है उनमें घट का बोधक "घटः" पद तो है, परन्तु अस्तित्व क्रिया का बोधक तो न पद है और न ही उस अस्तित्व क्रिया की उपस्थिति के लिए "अस्ति" पद का अध्याहार ही वे (प्रभाकर) करते हैं, (क्योंकि वे अर्थाध्याहारवादी हैं।) जिससे कि उस अध्यहृत अस्तिपद के साथ घट पद का समभिवहार (समीपोच्चारण) रूप आकाँक्षा वहाँ मानी जा सके। इस प्रकार प्रभाकर के मत में बिना आकाँक्षा ज्ञान के भी जब शाब्दबोध माना जाता है तो अर्थात् सिद्ध हो गया कि शाब्दबोध का कारण आकाँक्षाज्ञान को वे नहीं मानते। कुमारिलभट्ट का मत तो इनसे भी एक कदम आगे का है। भट्ट लोग तो बिना एक पद के भी अर्थात् कोई भी पद न हो तब भी प्रमाणान्तर से उपस्थित का भी अन्वय बोध अर्थात् शाब्दबोध मानते हैं। ऐसी स्थिति में जब कि कोई शब्द ही नहीं होगा तो शब्द में रहने वाली आकाँक्षा भी नहीं ही रहेगी तथापि शाब्दबोध तो होता है। जैसे

पश्यतःश्वेतिमारूपं ह्वेषा शब्दं च श्रृण्वतः।
खुरविक्षेपशब्दञ्च श्वेतोऽश्वोधावतीति धीः॥

तात्पर्य यह है कि उजलेरूप को देखने वाले, हिन हिनाहट शब्द को सुननेवाले तथा खुरविक्षेप (टाप) को सुनने वाले पुरुष को "उजला घोड़ा दौड़ रहा है" ऐसा जो विशिष्ट ज्ञान होता है, वह विशिष्ट ज्ञान शाब्दबोध ही तो है। क्योंकि श्वेत रूप का ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय से होता है, घोडे का ज्ञान उसके हिनहिनाने के आधार पर अनुमान से हो रहा है, दौड़ने रूप क्रिया का ज्ञान भी उसके खुरविक्षेप (टाप) रूप शब्द के आधार पर अनुमान से हो रहा है। इस प्रकार अलग-अलग प्रमाण से अलग-अलग वस्तु का ज्ञान भले ही होवे परन्तु धावनक्रियानुकूल-वर्तमानकालिककृतिमान् श्वेतरूपवदभिन्नोश्वः"

अर्थात् 'उजला घोड़ा दौड़ रहा है" यह विशिट ज्ञान तो न ही इन्द्रियजन्य है और न ही अनुमानजन्य है। मानस प्रत्यक्ष तो भट्टलोग इस विशिष्ट ज्ञान को मान ही नहीं सकते, क्योंकि वे अलौकिक प्रत्यक्ष मानते ही नहीं।

इस प्रकार उपर्युक्त विशिष्ट ज्ञान चूंकि शब्द के अतिरिक्त प्रत्यक्ष आदि पाँचों प्रमाण से अजन्य है अतः उसे प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, अर्थापत्ति या अभाव रूप नहीं मान सकते तो पारिशेष्यात् उस विशिष्ट ज्ञान को शाब्दबोधरूप वे मानते हैं। अब यहाँ पर इस विशिष्ट ज्ञान का जनक एक भी पद तो है नहीं

तो आकाँक्षा कैसे रहेगी? अर्थात् आकाँक्षा का ज्ञान नहीं हो रहा है तथापि "उजला घोड़ा दौड़ रहा है" ऐसा विशिष्ट ज्ञान रूप शाब्दबोध होता है अतः शाब्दबोध में आकाँक्षाज्ञान कारण ही नहीं है तो उसमें भासित हाने वाले सम्बन्ध को वे भला आकाँक्षाभास्य कैसे मानेंगें? अर्थात् मीमांसक शाब्दबोध में पदार्थद्वय के सम्बन्ध को आकाँक्षाभास्य नहीं मानते है। उनके इस मत का निराकरण करने के लिए महान् नैयायिक महामहोपाध्याय गदाधर भट्टाचार्य इस व्युत्पत्तिवाद ग्रन्थ की रचना "शाब्दबोधे चैकपदार्थेऽपरपदार्थस्य संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते' यह करते हुए की।

गदाधर भट्टाचार्य का अभिप्राय यहाँ यह है कि जो दो पदार्थों के सम्बन्ध का अवगाहन न करें ऐसा कोई शाब्दबोध होता ही नहीं। अर्थात् शाब्दबोध में दो पदार्थों का सम्बन्ध विषय रूप से भासित होता ही है। प्रभाकर मत में जो बिना "अस्ति' पद के भी "अस्तितावान् घटः" या कुमारिलभट्ट के मत में जो पश्यतः श्वेतिमारुपम् इत्यादि स्थल में "उजला घोडा दौड रहा है" ऐसा विशिष्टज्ञान विना आकाँक्षा ज्ञान के उदाहरण रुप में दिये गये। वस्तुतः वे दोनों ज्ञान शाब्दबोध है ही नहीं उन्हें तो मानसप्रत्यक्ष ही मानना चाहिए। अतः शाब्दबोध स्थल में दो पदों का रहना आवश्यक है तो उनका समभिव्याहार रूप आकाँक्षा का ज्ञान भी सर्वत्र शाब्दबोध से पूर्व नियमित रुप से रहेगा ही, तो शाब्दबोध के प्रति आकाँक्षाज्ञान कारण होगा ही। एवञ्च इसी आकाँक्षा के कारंण पदार्थ द्वय का सम्बन्ध शाब्दबोध में भासित होता है। अतः उसे आकाँक्षाभास्य या संसर्गमर्यादाभास्य कहा जाता है। शाब्दबोध में आकाँक्षा से भासित होने वाला दो पदार्थों का सम्बन्ध प्रथमतः दो प्रकार का होता है।१ अभेद, तथा २ भेद।

इनमें अभेद सम्बन्ध वहाँ होता है जहाँ विशेष्य तथा विशेषण दोनों समानविभक्ति वाले पदों के द्वारा उपस्थापित हों। अथात् विशेष्यवाचक प्रातिपदिक के समान विभक्तिवाला ही यदि विशेषणवाचक पद हो तो वहाँ विशेष्य तथा विशेषण का अभेद सम्बन्ध होता है। जैसे "नीलो घटः" यहाँ पर विशेष्य है घट उसका वाचक प्रातिपदिक "घट" प्रथमान्त है और विशेषण है नील उसका वाचक पद भी प्रथमान्त ही है। अतः यहाँ नील और घट का अभेद सम्बन्ध शाब्दबोध में भासित होता है। व्यवहार में अधिकांश देखा जाता है कि जैसे विशेष्यवाचक और विशेषणवाचक पद समान विभक्ति वाले हों तभी उनका परस्पर अभेद सम्बन्ध होता है वैसे ही विशेष्य तथा विशेषणवाचक पद यदि समान वचन वाले भी हों तभी उनका अभेद सम्बन्ध होता है। तात्पर्य यह निकला कि विशेष्य तथा विशेषण का अभेद सम्बन्ध प्रायः वहीं होता है जहाँ विशेष्यवाचक पद तथा विशेषणवाचक पद दोनों समान विभक्ति वाले तथा समानवचन वाले हों परन्तुः वेदाः प्रमाणम् में विशेष्य वाचक पद और विशेषणवाचक पद समान विभक्तिक होते हुए भी समान वचन वाले नहीं हैं दोनों का अभेद सम्बन्ध भासित होता है। गदाधर भट्टाचार्य इन अपवादस्थलों को ध्यान में रखकर अभेद सम्बन्ध के लिए विशेषकार्यकारणभाव रुप व्युत्पत्ति कहना चाहते थे। इसके लिए इन्होंने समान विभक्तित्व की व्याख्या

की और उसमें कहा कि समान विभक्ति से समान आनुपूर्वी वाली विभक्ति मे तात्पर्य नहीं हैं अपितु प्रथमात्व द्वितीयात्व में है। इसी क्रम में उन्होंने वेदाः प्रमाणम को उदाहरण रूप में लिया और इसकी बड़ी ही विस्तृत व्याख्या की है। जिसमें अनेक कार्यकारणभाव का प्रतिपादन किया है उनमें सर्वप्रथम "पदार्थः" पदार्थेन अन्वेति न तु पदार्थैकदेशेन" इस कथन के द्वारा कार्यकारण भाव का प्रदर्शन किया।

जिसका उपक्रम उन्होंने यह कह कर किया कि जहाँ पर विशेष्य वाचक पद के आगे आई हुई विभक्ति के तात्पर्य का विषय जो संख्या उस संख्या के विरुद्ध संख्या यदि विशेषणवाचक पद के आगे आई विभक्ति के द्वारा अविवक्षित हो, तो वहाँ पर अभेद सम्बन्ध के लिए विशेष्य तथा विशेषणवाचक पदों को समानवचन होना चाहिए और जहाँ पर विशेषणवाचकपद के द्वारा -विशेष्यवाचक पदोत्तर वर्तिनी विभक्ति के तात्पर्य विषय संख्या की विरुद्ध संख्या विवक्षित हो वहाँ पर विशेष्यवाचक तथा विशेषणवाचक पदों का समान वचन होना आवश्यक नहीं होता। वेदाः प्रमाणम् में विशेष्यवाचक वेदपदोत्तर जस् विभक्त्यर्थ बहुत्व संख्या के विरुद्ध एकत्व संख्या; विशेषणवाचक प्रमाण पदोत्तर आयी सुविभक्ति के द्वारा विवक्षित ही है अतः यहाँ समानवचनकत्व वाला नियम नहीं लगता। अब उपर्युक्त नियम में विवक्षितत्व निविष्ट है तो स्वाभाविक है कि विवक्षा (वक्तुमिच्छा) कहाँ होगी और क्यों होगी? यह जिज्ञासा होगी। अब प्रमाण पदोत्तर सुविभक्ति के द्वारा एकत्व संख्या क्यों विवक्षित है और यदि विवक्षित है तो उसका अन्वय कहाँ होगा अर्थात् वेदाः प्रमाणम् कहनेवाला किस को एक बताना चाहता है? यह जिज्ञासा होगी। इसी जिज्ञासा का समाधान करने के प्रसंग में कहा कि एकत्व का अन्वय प्रमाणत्व रूप प्रकृत्यर्थतावच्छेदक अर्थात् पदार्थतावच्छेदक में होगा। तब प्रश्न उपस्थित हुआ "पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थेकदेशेन"। इस व्युत्पत्ति का निवार्हक कार्यकरणभाव का स्वरुप यदि - विशेष्यतासम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति मुख्यविशेष्यता - सम्बन्धेन उपस्थितिः कारणम् "ऐसा मानें तो - "सुन्दरः पशुः" इस वाक्य से होने वाला शाब्दबोध भी विशेष्यता सम्बन्ध से "पशु' पदार्थतावच्छेदक लाङ्गूल में होने लगेगा, जबकि वहाँ पशुपदजन्य उपस्थिति मुख्यविशेष्यता सम्बन्ध से नहीं रहती। तात्पर्य यहाँ यह है कि पशु पद की शक्ति लोमवल्लाङ्गूलवान् में है अर्थात् पशु पद का अर्थ "रोयेंदार-पूँछवाला" है। अब पशुपद से जो लोमवल्लाङ्गूलवान् अर्थ की उपस्थिति होती है इनमें तीन वस्तुएँ भासित हो रही हैं १ लोम २ लाङ्गूगल ३ तद्वान्। इनमें लोम विशेषण है लाङ्गूल में और लाङ्गूल विशेषण है मतुबर्थ पशु में तो विशेष्यता सम्बन्ध से शाब्दबोध, लोम के विशेष्य लाङ्गूल में तो हो ही सकता है परन्तु वहाँ कारण उपस्थिति मुख्यविशेष्य मतुबर्थ पशु में रहती है। इस प्रकार कारणाभावे कार्याभावः रूप व्यतिरेक का व्यभिचार हो गया। क्योंकि लाङ्गूल में मुख्य विशेष्यता सम्बन्ध से उपस्थित नहीं रहेगी। क्योंकि मुख्य विशेष्यता सम्बन्ध से उपस्थिति रूप कारण का अभाव है परन्तु विशेष्यता सम्बन्ध से शाब्दबोध रुप कार्य ही वहाँ रह गया उसका अभाव नहीं।

इस आपत्ति से बचने के लिए यदि कार्यकारणभाव का स्वरूप बदल दें और कहें - मुख्यविशेष्यता सम्बन्ध से उपस्थिति कारण होती है" तो लाङ्गूल में मुख्य विशेष्यता सम्बन्ध से शाब्दबोध भी नहीं होगा और उपस्थिति भी नहीं रहती है तो उपर्युक्त व्यतिरेकव्याभिचार दोष नहीं होगा। तथापि ऐसा कार्यकारणभाव मानने का अर्थ यह होगा कि जहाँ पर मुख्यविशेष्यता सम्बन्ध से शाब्दबोध उत्पन्न करना हो वहीं पर मुख्य विशेष्यता सम्बन्ध से पदार्थोपस्थिति अपेक्षित होगी कारण होगी। तो सुन्दरः पशुः से होने वाला 'सुन्दराऽभिन्नलोमवल्लाङ्गूलवान्" ऐसा शाब्दबोध जब विशेष्यता सम्बन्ध से लाङ्गूल में उत्पन्न होगा तो वैसी स्थिति में सुन्दर पदार्थ का अभेद अन्वय लाङ्गूल में होने लगे। अर्थात् सुन्दराभिन्नं यल्लोमवल्लाङ्गूलं तद्वान्" ऐसा शाब्दबोध होने लगेगा। क्योंकि यह शाब्दबोध तो मुख्यविशेष्यता सम्बन्ध से उत्पन्न ही नहीं हो रहा है। अतः इसके लिए मुख्य विशेष्यता सम्बन्ध से उपस्थिति भी अपेक्षित नहीं होगी। इस प्रकार सुन्दर पदार्थ; रोयेंदार पूँछ का विशेषण होने लगेगा जबकि सुन्दरः पशुः कहनेवाला पशु को सुन्दर कहना चाहता है। अतः यहाँ "विशेष्यताविशिष्ट विशेय्यतासम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति मुख्य विशेष्यतासम्बन्ध से उपस्थिति कारण होती है" ऐसा कार्यकारणभाव मानना चाहिए। इस कार्यकारणभाव की व्याख्या तथा समन्वय मैंने हिन्दी व्याख्या में किया है एवञ्च विशेष्यता विशिष्ट विशेष्यता सम्बन्ध से शाब्दबोध लाङ्गूल में उत्पन्न नहीं होता क्योंकि लाङ्गूल में स्वतादात्म्य स्वप्रयोजकवृत्तिज्ञानीयविषयतानिरुपितविषयताऽप्रयोज्यविशेष्यताविशिष्टविशेष्यता नहीं रहती, तो वहाँ मुख्यविशेष्यतासम्बन्ध से उपस्थिति के भी न होने से कोई व्यतिरेक व्याभिचार नहीं होता। अब यदि एकत्व का अन्वय पदार्थतावच्छेदक प्रमाणत्व में माना जाए तो प्रमाणत्व में उपर्युक्त दोनों सम्बन्धों से विशेष्यता विशिष्ट विशेष्यता के रह जाने से प्रमाणत्व में विशेष्यता विशिष्ट विशेष्यता सम्बन्ध से शाब्दबोध तो होगा परन्तु वहाँ मुख्यविशेष्यतासम्बन्ध से प्रमाण पद जन्य उपस्थिति नहीं रहेगी, तो व्यतिरेकव्यभिचार होगा। इसी बात को कहा-

पदार्थः पदार्थेनान्वेतीति व्युत्पत्ति विरोधः।

उपयुक्त पदार्थः पदार्थेन अन्वेति इत्यादि नियम का या उपर्युक्त नियम के नियामक उपर्युक्त कार्यकारणभाव का कतिपय प्रामाणिकस्थल में संकोच भी करना पड़ता है। जैसे "सम्पन्नो व्रीहिः" यहाँ पर सु पद के अर्थ एकत्व संख्या का अन्वय ब्रीहिरुप पदार्थ में न होकर व्रीहित्वरुप पदार्थतावच्छेदक में होता है। क्योंकि यदि एकत्व का अन्वय व्रीहि में करें तो इसका अर्थ हुआ कि यहाँ "व्रीहिः" शब्द का अर्थ "एक व्रीहि" है। ऐसी स्थिति में इस एकव्रीहि रुप पदार्थ का विशेषण अभेदसम्बन्ध से सम्पन्न पदार्थ नहीं हो सकता, जो कि यहाँ बोधनीय है। क्योंकि एक व्रीहि के होने मात्र से "सम्पन्नता" नहीं आती। सम्पन्नता का अर्थ तो है कि जितनी संख्या में या यों कहें पूरी तरह खेत में जब व्रीहि के पौधे उग आते हैं तब किसान प्रसंन्न होकर कहता है "सम्पन्नोव्रीहिः"। इस प्रकार अनिर्धारित संख्या विशेष ही सम्पन्नता होती है। उसका अभेद भला एक व्रीहि

के साथ कैसे हो सकता है? अतः यहाँ सुपदार्थ एकत्वसंख्या का अन्वय पदार्थतावच्छेदक व्रीहित्व में करते हैं। व्रीहित्व जाति के एक होने से उसमें एकत्व/ का अन्वय योग्य भी है और उस जात्यवच्छिन्न में सम्पन्नता का अभेदान्वय भी हो जाएगा। इस प्रकार कहीं-कहीं उपर्युक्त पदार्थः पदार्थेनान्वेति" का संकोच करना पड़ता है। इस पर यदि कोई कहे कि - यदि इस प्रकार पदार्थ का अन्वय पदार्थतावच्छेदक में होने लगे तो "नित्योव्रीहिः" ऐसा भी प्रयोग कोई कर सकता है। यहाँ भी एकत्व का अन्वय व्रीहित्व में करेंगें और उसमें नित्यत्वरुप विशेषण का अभेदान्वय भी योग्य ही है। तो यहाँ यह समझना चाहिए कि उपर्युक्त व्युत्पत्ति का संकोच प्रामाणिक प्रयोग स्थल में ही होता है "नित्योव्रीहिः" ऐसा प्रयोग कोई प्रामाणिक पुरुष नहीं करता, जब कि सम्पन्नो व्रीहिः का प्रयोग प्रामाणिकजन भी करते हैं। इसीलिए तो कहा गया है-अन्वयितावच्छेदकरुपेण उपस्थित एव पदार्थे पदार्थान्तरान्वयः" अर्थात् अन्वयितावच्छेदकरुप से उपस्थित पदार्थ में ही, दूसरे पदार्थ का अन्वय होता है। नित्योव्रीहिः" यहाँ पर नित्यत्व का अन्वय यदि व्रीहित्व में करना चाहेंगे तो अन्वयी होगा व्रीहित्व, उसमें रहेगी अन्वयिता, उस अन्वयिता का अवच्छेदक होगा उसी व्रीहित्व में रहने वाला व्रीहित्वत्व। एवञ्च यहाँ पर व्रीहित्व रुप अन्वयी की उपस्थिति व्रीहित्वत्वरूप अन्वयितावच्छेदक रूप से होती तो उसमें नित्यत्व रूप पदार्थान्तर का अन्वय हो भी सकता था परन्तु यहाँ व्रीहिपद से व्रीहित्व की उपस्थिति तो स्वरुपतः होती है। क्योंकि अनुल्लिख्यमान जाति का भान स्वरुपतः होता है। अनुल्लिख्यमानजाति का अर्थ है जिस जाति का उल्लेख (कथन) नहीं किया गया हो "नित्यो व्रीहिः" यहाँ पर व्रीहित्व का उल्लेख तो नहीं किया गया है। अतः व्रीहि पद से व्रीहित्व की उपस्थिति व्रीहित्वत्वेन नहीं होने से उसमें नित्यत्व रुप दूसरे पदार्थ का अन्वय नहीं हो सकता। हाँ। व्रीहिरूप पदार्थ में नित्यत्व का अन्वय अवश्य होने लगेगा। क्योंकि तब अन्वयितावच्छेदक होगा व्रीहित्व, और व्रीहिरुप अन्वयी की उपस्थिति व्रीहित्व रुप अन्वयितावच्छेदकरुप से तो हो ही रही है, तो व्रीहि में नित्यत्वरुप पदार्थान्तर का अन्वय होने लगेगा, जोकि प्रतीति विरुद्ध है। क्योंकि "व्रीहि" नित्य नहीं होती। अतः उपर्युक्त पदार्थः पदार्थेन अन्वेति वाले नियम का संकोच सर्वत्र नहीं माना जाता अपितु प्रामाणिक स्थल में। गदाधर भट्टाचार्य ने प्रश्नकर्ता के इस असन्तोष को भाँपकर कि "कहाँ उपर्युक्त नियम का संकोच करें और कहाँ नहीं? इस बात का कोई स्पस्ट निर्देश तो है नहीं पुनः स्थल विशेष में करेंगे स्थल विशेष में नहीं। यह अनुचित सा लगता है। कहाकि प्रत्ययार्थ संख्या का प्रकृत्यर्थ रुप पदार्थ में ही अन्वय करो, परन्तु अन्वय का सम्बन्ध होगा "स्वाश्रयप्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्व"। एवञ्च वेदाः प्रमाणम् संपन्नो व्रीहिः इत्यादि स्थल में एकत्व का अन्वय उपर्युक्त परम्परा सम्बन्ध से प्रमाण ब्रीहि आदि प्रकृत्यर्थ में ही हो तो उपर्युक्त नियम में संकोच करने की आवश्यकता नहीं रहेगी, तो नित्योव्रीहिः आदि अनिष्ट प्रयोगों की आपत्ति भी नहीं होगी।

इस ग्रन्थ का नाम गदाधर भट्टाचार्य ने व्युत्पत्तिवाद रखा है। व्युत्पत्ति शब्द का यहाँ पर अर्थ है शाब्दबोधरुप कार्य और आकाँक्षा आदिकारणों का ज्ञान अर्थात् "इस प्रकार के शाब्दबोध के प्रति इस प्रकार की आकाँक्षा का ज्ञान कारण है। "इस कार्यकारण भाव का ज्ञान। उसी के लिए यह वादात्मक ग्रन्थ उन्होंने लिखा है। अतः ग्रन्थकार अभेद सम्बन्ध विषयक शाब्दबोध के लिए किस प्रकार की आकाँक्षा का ज्ञान कारण है? इसका प्रतिपादन करने के लिए पहले प्रश्न करते हैं कि जैसे नीलोघटः में अभेदान्वयबोध होता है वैसे ही नीलस्य घटः यहाँ क्यों नहीं होता? क्योंकि पदार्थोपस्थिति, आसक्ति, योग्यताज्ञान आदि शाब्दबोध की सामग्री जैसे नीलोघटः में है वैसे ही नीलस्य घटः में भी तो है ही। पुनः कारण सामग्री के रहने पर कार्य को तो अवश्य होना चाहिए। पुनः क्यों नहीं होता? भट्टाचार्य ने इसका समाधान दिया कि अभेदान्वय दो स्थितियों में होता है १ समस्तस्थल में जैसे नीलघटः यहाँ पर दूसरा २ व्यासस्थल में जैसे 'नीलो घटः' यहाँ पर इन दोनों स्थलों में उपस्थिति आदि के अतिरिक्त आकाँक्षा का ज्ञान भी रहता है। अतः वहाँ अभेदान्वय बोध होता है। परन्तु अभेदान्वयबोध के लिए जिस तरह की आकाँक्षा का ज्ञान आवश्यक होता है। उनमें एक भी आकाँक्षा का ज्ञान नीलस्य घटः में नहीं होता हैं अतः नीलस्य घटः में अभेदान्वय बोध किसी भी अभ्रान्तपुरुष को नहीं होता। तब जिज्ञासा होती है कि अभेदान्वयबोध के लिए किस प्रकार की आकाँक्षा का ज्ञान होना आवश्यक है? तो इसका उत्तर भट्टाचार्य ने दिया स्वन्तघटपदाव्यहितपुर्ववर्तिस्वन्तनीलपदत्व या स्वन्तनील-पदाव्यवहितोत्तरस्वन्तघटपदत्व अर्थात् 'नीलोघटः' इस प्रकार का पदसमभिव्याहार रुप आकाँक्षा का ज्ञान जो कि नीलोघटः में रहने से नीलाऽभिन्नो घटः ऐसा शाब्दबोध होता है। अथवा स्वन्तघट पदाव्यहितपूर्ववर्ति नीलपदत्व अर्थात् 'नीलघट' इस प्रकार का पदसमभिव्याहार रुप आकाँक्षा का ज्ञान जो कि नील घटः ऐसा पदसमभिव्याहाररुप आकाँक्षा का ज्ञान जो कि समासस्थल में रहता है। इस प्रकार कार्यकारणभाव हुआ अभेदसम्बन्धावच्छिन्ननीलत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरुपितघटत्वावच्छिन्न विशेष्यताक-शाब्दबोधं प्रति, नीलोघटः नीलघटः वा इत्येतदन्यतर आकाँक्षा ज्ञान कारणम्। नीलस्य घटः में उपर्युक्त दो आकाँक्षाओं में से एक भी आकाँक्षा का ज्ञान नहीं होता। अतः वहाँ अभेदान्वयबोध नहीं होता। क्योंकि शाब्दबोध के लिए अपेक्षित सामग्री उपर्युक्त आकाँक्षा ज्ञान नहीं रहता। अब यहाँ पर समास तथा व्यासस्थल के लिए पृथक् आकाँक्षा की कल्पना भट्टाचार्य ने की, परन्तु कुछ लोग ऐसी आकाँक्षा की कल्पना करने का प्रयास किया जिससे दोनों स्थलों में एक ही आकॉक्षा माननी पड़े। ग्रन्थकार ने उनका खण्डन कर दिया है।

कुछ लोग समासस्थल में ही अभेद को सम्बन्ध मानते हैं और उसका भान संसर्गमर्यादा से मानते हैं अर्थात् समास स्थल में ही पदार्थद्वय के अभेद संसर्ग को आकाँक्षा भाष्य मानते हैं। असमस्त स्थल में तो विशेषण विभक्ति का अर्थ अभेद को मानते हैं। इस प्रकार इनके मत में अभेद चूंकि विशेषणवाचक पद के आगे आयी विभक्ति का अर्थ हो गया तो उसमें पदार्थत्व आ जाने से

वह वृत्तिभास्य होगा न कि आकाँक्षाभास्य। विशेषण विभक्त्यर्थ इस अभेद का अन्वय प्रकारतया अर्थात् विशेषण रुप में पदार्थान्तर में वे मानते हैं। अतः इनको प्रकारतावादी कहा जाता है। इस प्रकार असमासस्थल में अभेद को लेकर दो मत हो गये १ अभेद को सम्बन्ध मानने वाला, और दूसरा २ अभेद को प्रकार मानने वाला।

संसर्गतावादियों ने अभेद को प्रकार माने वाले से पूछा अभेद का अर्थ आप क्या मानते हो? भेदत्वावच्छिन्न अभाव या भेद प्रतियोगिक अभाव? यदि भेदत्वावच्छिन्नाभाव अर्थात भेदत्वपर्याप्त अवच्छेदकताक प्रतियोगिताक अभाव अभेद का अर्थ मानते हैं, तो ऐसा अभाव "भेदेन' यही होगा। क्योंकि इसी अभाव की प्रतियोगिता की अवच्छेदकता भेदत्व में पर्याप्त है। एवञ्च अभेद पदार्थ ही अप्रसिद्ध हो जाएगा। क्योंकि भेदभिन्नता केवलान्वयी वस्तु है सर्वत्र सर्वदा रहनेवाली वस्तु है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जहाँ भेद नहीं रहता। प्रत्येक वस्तु में उसके स्वयं के अतिरिक्त सम्पूर्ण घट पट आदि का भेद रहता ही है। इस प्रकार भेद के सर्वत्र रहने से "भेदेन' यह अभाव कहीं मिलेगा ही नहीं तो अप्रसिद्धि दोष आएगा ही। अतः अभेद का अर्थ भेदप्रतियोगिक अभाव अर्थात् भेद में रहती है प्रतियोगिता जिस अभाव की, ऐसा अभाव ही अभेद शब्द का अर्थ मानें तो "नीलंजलम्" यह वाक्य भी प्रमाणिक होने लगेगा। क्योंकि जल में नीलभेदत्वेन नीलभेद भले ही रहे "द्वित्वेन नीलभेदोनास्ति" इस प्रकार का नीलभेदाभाव ही जल में रहता है। जल में रहने वाला यह द्वित्वेन नीलभेदाभाव का प्रतियोगी नीलभेद ही है तो यह अभाव भी भेदप्रतियोगिक अभाव हो गया। एवञ्च द्वित्वेन रुपेण नीलभेदाभाव यदि जल में रह गया तो इसका अर्थ हुआ उसमें नीलत्व रह गया। जब कि जल में केवल शुक्लता ही मानी गयी है। इस प्रकार अभेद का उपर्युक्त भेदप्रतियोगिक अभाव अर्थ मानने पर नील का भी अभेद द्वित्वेन नीलभेदाभाव के जल में रह जाने से "नीलं जलम्" इस तरह का अप्रामाणिक प्रयोग में प्रामाण्य की आपत्ति आएगी। अतः अभेद का यह अर्थ भी नहीं कर सकते। प्रकारता वादी इनसब् आपत्तियों का वारण यह कह कर किया कि विशेषण विभक्ति का भेद विशिष्ट अभाव अभेद अर्थ नहीं है अपितु भेद और अभाव ये दोनों है, और इन दोनों विभक्त्यर्थ रुप पदार्थो का सम्बन्ध (प्रतियोगिता) आकाँक्षाभास्य है। इस प्रकार यह शास्त्रार्थ बड़ा ही लम्बा है। इसी मध्य एक व्युत्पत्याधायक बात भट्टाचार्य जी ने यह कही कि अभाव में प्रतियोगी का सम्बन्ध जो प्रतियोगिता को माना जाता है वह प्रतियोगिता विशेषणतावच्छेदकावच्छिन्न होकर ही प्रतियोगी का अभाव में सम्बन्ध हो सकती है, अन्यथा अभाव बुद्धि विशिष्टवैशिष्यट्यावगाही बुद्धि नहीं हो पाएगी। विशिष्टवैशिष्ट्यावागाही बुद्धि का अभाव स्थल में अर्थ है प्रतियोगी तथा प्रतियोगितावच्छेदक दोनों का अभाव में साक्षात् एक ही सम्बन्ध का अवगाहन करना न कि अभाव में प्रतियोगी का और प्रतियोगी में प्रतियोगितावच्छेदक का। अस्तु। इस की व्याख्या हिन्दी में यथास्थल की गयी है। अन्त में प्रकारतावादी

ने अभेदका अर्थ तादात्म्य माना और उसका अर्थ "तत्तद्व्यक्तित्व आदि किया और "नीलोघटोभविष्यंति" इत्यादि अपूर्व व्यक्तिस्थल में उस तद्व्यक्तित्व रुप अभेद का भान सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से मानते हुए कहा कि ऐसा अभेद को संसर्ग मानने वालों को भी अपूर्वव्यक्तिस्थल में मानना होगा। भट्टाचार्य ने अपना मत इस सन्दर्भ में यह दिया कि यदि विशेषण विभक्ति का अर्थ अभेद को माना जाए तो "घटो न नीलः" इत्यादि असमस्त स्थल में कहीं पर भी नञ् के द्वारा भेद (अन्योन्याभाव) का बोध नहीं हो पाएगा। "अनीलं घटम्" इत्यादि स्थल में भी नञ् के द्वारा भेद का बोध कराना संभव नहीं होगा। अतः असमास स्थल में अभेद को संसर्ग मानने में कोई गौरव न होने से अभेद को संसर्ग ही मान लेना चाहिए। जहाँ विशेषणवाचक पद और विशेष्यवाचक पद दानों सुबन्त हों वहाँ तो अभेदान्वय बोध के लिए दोनों को समान विभक्तिक होना ही चाहिए। परन्तु जहाँ "स्तोकं पचति" इत्यादि स्थल में विशेष्यवाचक पद धातु हो और विशेषणवाचक पद सुबन्त वहाँ भी अभेदान्वय होता है। अतः अभेदान्वयबोध के लिए भट्टाचार्य ने ऊपर प्रतिपादित दो आकाँक्षाओं के अतिरिक्त एक और आकाँक्षा ज्ञान को कारण माना है। जिसका स्वरुप है "द्वितीयान्तपद समभिव्याहृत्त धातुपदत्व" रुप पद समभिव्याहार रुप आकाँक्षा का ज्ञान। इस आकाँक्षा ज्ञान में "द्वितीयान्त" ऐसा विभक्ति विशेष का उल्लेख इसलिए किया गया कि धातु का अर्थ है क्रिया और क्रिया का विशेषण नपुंसक ही होता है और उसमें कर्मत्व ही रहता है "यह नियम है। तो जब क्रिया के विशेषण में कर्मत्व ही रहेगा तो द्वितीया विभक्ति ही सर्वत्र आएगी। अतः "द्वितीयान्त पद" का उल्लेख आकाँक्षा के स्वरुप में किया गया। इस प्रकार यहाँ कार्यकारणभाव होगा अभेदसम्बन्धावच्छिन्नस्तोकनिष्ठप्रकारता-निरुपितपाकनिष्ठविशेष्यताकशाब्दबोधं प्रति द्वितीयान्तस्तोकपदाव्यवहितोत्तर-पच्धातुपदत्वम् अर्थात "स्तोकं पचति"।

अब यहाँ क्रिया अर्थ में धातु की शक्ति है या घञन्त "पाक" की इसका विवेचन भी ग्रन्थकार ने बड़े विस्तार से करके अभेदान्वयबोध के प्रसंग का समापन यह करते हुए किया कि अभेदान्वयबोध के लिए उपर्युक्त आकाँक्षा आदि सामग्री जैसे आवश्यक है वैसे ही विशेष्य तथा विशेषण दानों की उपस्थिति का रुप (अवछेदक) भी भिन्न भिन्न होना चाहिए "अभेदान्वय बोधश्च विरुपोपस्थितयोरेव"। अन्यथा "घटोघटः" यहाँ भी समान विभक्तिकत्व समानवचनकत्व पदार्थो पस्थिति योग्यता आदि सभी अभेदान्वय के लिए उपयुक्त कारण सामग्री होने से अभेदान्वय मानना पड़ेगा। जबकि होता नहीं, माना भी नहीं जाता।

पण्डित समाज में यदि भूल से भी किसी ने यह कह दिया कि मैंने व्युत्पत्तिवाद पढ़ा है या पढ़ाता हूँ, तो वहाँ वृद्ध विद्वान् उससे सर्वप्रथम जो प्रश्न करेंगे वह यही होगा कि " घटो घटः" में अभेदान्वयबोध क्यों नहीं होता? अतः इसका थोड़ा सा यहाँ विवेचन करना मैं उपयुक्त और आवश्यक समझता हूँ। तात्पर्य है कि घटो घटः; दण्डवान् दण्डवान् इत्यादिस्थल में घटत्वावच्छिन्न घट में

घटत्वावच्छिन्न घट का अभेदान्वय या दण्डवत्त्वावच्छिन्न दण्डवान् में दण्डवत्त्वावच्छिन्न दण्डवान् का अभेदान्वय नहीं होता क्योंकि घट में रहने वाली प्रकारता का अवच्छेदक भी घटत्व है और घट में रहने वाली विशेष्यता का अवच्छेदक भी घटत्व है इसी प्रकार दण्डवान् में रहने वाली प्रकारता तथा विशेष्यता दोनों का अवच्छेदक एक ही धर्म दण्ड है। अतः प्रकार एवं विशेष्य की उपस्थिति एक ही घटत्व या दण्ड रुप में हो रही है। इसलिए घटोघटः या दण्डवान् दण्डवान् में अभेदान्वयबोध अर्थात् अभेदसम्बन्धावच्छिनन घटत्वावच्छिन्न प्रकारता निरुपित घटत्वावच्छिन्न विशेष्यताक शाब्दबोध घटो घटः में, यो अभेदसम्बन्धवच्छिन्न दण्डावच्छिन्न प्रकारता निरुपित दण्डावच्छिन्नविशेष्यताशाली शाब्दबोध दण्डवान् दण्डवान् में नहीं होता। यहाँ प्रश्न यह होता है कि जब अभेदान्वय के लिए उपयोगी विशेष्यवाचक पद तथा विशेषणवाचक पदों का समान विभक्तकत्व रुप आकाँक्षा ज्ञान योग्यताज्ञान तात्पर्यज्ञान आसत्ति आदि, कारणसमुदाय उपर्युक्त घटो घटः इत्यादि स्थल में है तो अभेदान्वय बोध क्यों नहीं होता इस प्रश्न का समाधान पहले तो यह कहकर करने का प्रयास किया गया कि आपत्ति उसी की दी जा सकती है जो प्रसिद्ध हो उपर्युक्त एक धर्मावच्छिन्न प्रकारतानिरुपित विशेष्यताशाली शाब्दबोध ही जब शशविषाण की तरह अप्रसिद्ध है तो उसकी आपत्ति ही कैसे दी जा रही है? शश को विषाण क्यों नहीं होता? ऐसी आपत्ति तो आज तक किसी ने नहीं दी। प्रश्न करने वाला कहता है कि - घटो नीलघटः यहाँ पर नवीन नैयायिक लोग अभेदसम्बन्धावच्छिन्न नीलघटत्वावच्छिन्न प्रकारता निरुपित घटत्वावच्छिन्न विशेष्यताक शाब्दबोध होना मानते हैं। ऐसा वे क्यों मानते है? इसका उत्तर हिन्दी व्याख्या में दिया गया। अस्तु।

उपर्युक्त शाब्दबोध में प्रकारता का अवच्छेदक नीलघटत्व है जो कि "विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते" के अनुसार घटत्व ही हुआ और विशेष्यता का अवच्छेदक तो घटत्व है ही। इस प्रकार एक ही घटत्व धर्म प्रकारता तथा विशेष्यता का अवच्छेदक है। पुनः वहाँ अभेदान्वय होना यदि माना जा सकता है तो घटो घटः में क्यों नहीं इस पर उत्तर दिया गया कि घटो नीलघटः में प्रकार अंश में घटत्व के अतिरिक्त नीलत्व रुप अधिक अंश का भी भान हो रहा है। जिसका कारण नीलपदजन्य नीलपदार्थ की उपस्थिति वहाँ हो रही है। इसलिए जहाँ विशेष्यतावच्छेदकधर्म के अतिरिक्त धर्म प्रकारतावच्छेदक रुप में भासित होता है वहीं पर अभेदान्वय होता है, घटोघटः में तो विशेष्यतावच्छेदक घटत्व के अतिरिक्त और कोई धर्म प्रकारतावच्छेदक रुप से भासित नहीं हो रहा है, अपितु केवल घटत्व ही। अतः वहाँ अभेदान्वय नहीं होता है। प्रश्न करने वाला पुनः कहता है कि धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से "द्रव्यं घटः" यहाँ पर अभेदसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न प्रकारताशालीशाब्दबोध धर्मितावच्छेदक (विशेष्यतावच्छेदक) द्रव्यत्व में जैसे होता है वैसे ही धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अभेदसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न प्रकारताक शाब्दबोध घटत्व रुप धर्मितावच्छेदक में भी होगा और यदि ऐसा आप मान लें तो इसका अर्थ हुआ कि घटनिष्ट प्रकारता निरुपित विशेष्यता आपने घट

में मान लिया। क्योंकि तभी तो घटत्व में धर्मितावच्छेदकता आएगी और तभी तो धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से घटत्व में घटत्वावच्छिन्नप्रकारताशाली शाब्दबोध हो पाएगा। यदि कहें कि धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से घटत्व में; अभेद सम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न प्रकारता शाली शाब्दबोध को उत्पन्न करने वाली सामग्री नहीं है। अतः घटत्व में उपर्युक्त शाब्दबोध की आपत्ति नहीं दे सकते। तो इस पर पूर्वपक्षी पुनः कहता है कि जिन तात्पर्यज्ञान आदि घटित सामग्री से धर्मितावच्छेदकतासम्बन्ध से द्रव्यत्व में घटत्वावच्छिन्नप्रकारताक शाब्दबोध अभेदसम्बन्ध से होता है, उन्हीं तात्पर्यज्ञान आदिधटित सामग्री से धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से घटत्व में भी घटत्वावच्छिन्न प्रकारताक शाब्दबोध होगा।

सिद्धान्ती की ओर से यहाँ प्रश्न उठता है कि कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध से कार्य का अधिकरण जो देश या कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से कारण का अधिकरण जो देश, वह देश ही, वहाँ होने वाले कार्य की उत्पत्ति का अवच्छेदक माना जाता है। एवञ्च उस देश से अवच्छिन्न कार्योत्पत्ति में ही उस कार्यनिष्ठ कार्यता से निरुपित कारणतावच्छेदकावच्छिन्नकारणघटितसमुदाय को प्रयोजक माना जाता है। द्रव्यत्वावच्छिन्न विशेष्यतानिरुपित घटत्वावच्छिन्न प्रकारताक शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्न कार्यता से निरुपित जो कारणता, उस कारणता के अवच्छेदक धर्म से युक्त होने के कारण उपर्युक्त द्रव्यत्वावच्छिन्न विशेष्यता निरुपित घटत्वावच्छिन्न प्रकारताक योग्यता ज्ञान आदि को सामग्री मानना तो संभव भी है। परन्तु कार्यतावच्छेदक या कारणतावच्छेदक सम्बन्ध जो यहाँ समवाय है उस समवाय सम्बन्ध से कार्य (शाब्दबोध) का अधिकरण देश है आत्मा। क्योंकि समवायसम्बन्ध से ज्ञान आत्मा में ही उत्पन्न होता है तो उस आत्मारुप देश से अविच्छिन्न जो कार्योत्पत्ति शाब्दबोधोत्पत्ति में ही अर्थात् आत्मा में जो समवाय सम्बन्ध से घटत्वावच्छिन्नप्रकारताक शाब्दबोध उत्पन्न होगा उसी उत्पत्ति में उपर्युक्त योग्यता ज्ञान आदि घटित कारण समुदाय प्रयोजक हो सकता है, न कि द्रव्यत्व में उत्पन्न होने वाले शाब्दबोध में। क्योंकि द्रव्यत्व तो कर्यतावच्छेदक समवायसम्बन्ध से कार्य (शाब्दबोध) का अधिकरण ही नहीं है और इसीलिए उपर्युक्त द्रव्यत्वावच्छिन्न विशेष्यताकघटत्वावच्छिन्न प्रकारताक योग्यताज्ञान रुप कारण में रहने वाली कारणता से निरुपित कार्यता भी द्रव्यत्व में होने वाले उपर्युक्त घटत्वावच्छिन्न प्रकारताक शाब्दबोध में नहीं रहेगी। दूसरी बात यह भी हैं कि धर्मितावच्छेदकता कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध तो है ही नहीं। क्योंकि कार्य है शाब्दबोध जो कि ज्ञान होने के कारण समवाय सम्बन्ध से आत्मा में उत्पन्न होता है। अतः कार्यतावच्छेदक समवायसम्बन्ध से कार्य शाब्दबोध का अधिकरण आत्मा होगा न कि द्रव्यत्व। यदि कार्यतावच्छेवदकसम्बन्ध से कार्य के अनधिकरण देश में भी कार्य की उत्पत्ति मानें और उस उत्पत्ति में उस कार्य के कारण समुदाय के प्रयोजक मानें तो कपाले घट उत्पद्यते के समान "हिमालये घट उत्पद्यते" ऐसा भी व्यवहार होने लगेगा। अतः कार्यतावच्छेदकसम्बन्ध से कार्य के अधिकरण देश में होने वाले कार्य की उत्पत्ति में ही कार्य के उत्पादक कारण समुदाय में सामग्रीत्व या प्रयोजकत्व मानना चाहिए। ऐसी स्थिति में द्रव्यत्व चूंकि कार्यतावच्छेदक समवाय

सम्बन्ध से शाब्दबोध का अधिकरण ही नहीं है तो द्रव्यत्व में होने वाले धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से घटत्वावच्छिन्न प्रकारताक शाब्दबोध में उपर्युक्त द्रव्यत्वावच्छिन्न विशेष्यता निरुपित घटत्वावच्छिन्नविशेष्यताक योग्यता ज्ञान प्रयोजक नहीं हो सकता। अतः द्रव्यत्व में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से घटप्रकारक अभेदान्वयबोध की आपत्ति नहीं दे सकते। इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि "कार्यतावच्छेदकसम्बन्ध से कार्य का अधिकरण ही जो कार्योत्पत्ति का अवच्छेदक माना जाता है उसमें कार्यतावच्छेदक संम्बन्ध का अर्थ है कार्यता का अवच्छेदक जो सम्बन्ध तथा धर्म, इन दोनों में से किसी भी एक के सम्बन्ध से एवञ्च "द्रव्यं घटः" इस वाक्य से होने वाले द्रव्यत्वावच्छिन्नविशेष्यक घटत्वावच्छिन्न प्रकारक अभेदान्वय (शाब्दबोध) में रहने वाली कार्यता का अवच्छेदक सम्बन्ध जैसे समवाय है और इस समवाय सम्बन्ध से कार्य का अधिकरण आत्मा है उसी प्रकार इस शाब्दबोध में रहने वाली कार्यता का अवच्छेदक धर्म द्रव्यत्व भी है। क्योंकि द्रव्यत्वावच्छिन्न विशेष्यताक घटत्वावच्छिन्नप्रकारक शाब्दबोध में द्रव्यत्व कार्यतावच्छेदकशाब्दबोधत्व का विशेषण होने से धर्मविधयाअवच्छेदक है ही तो धर्मविधया कार्यतावच्छेदक जो द्रव्यत्य उस सम्बन्ध से उपर्युक्त शाब्दबोध का अधिकारण द्रव्यत्व ही होगा, तो उसमें घटत्वप्रकारक अभेदान्वय बोध होगा। इस पर सिद्धान्ती कहता है कि ठीक है द्रव्यत्व में भले ही धार्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से घटत्वप्रकारक शाब्दबोध होवे क्योंकि इसमें द्रव्यत्वावच्छिन्नविशेष्यता निरुपित घटत्वावच्छिन्न प्रकारताक योग्यताज्ञान आदिघटित सामग्री प्रयोजक है, परन्तु घटत्व में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से घटत्व प्रकारक अभेदान्वय बोध के लिए प्रयोजक सामग्री नहीं है द्रव्यत्वावच्छिन्न विशेष्यता निरुपित घटत्वावच्छिन्न प्रकारताक योग्यता ज्ञान तो धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से द्रव्यत्व में ही शाब्दबोध को उत्पन्न कर सकता है। घटत्व में नहीं। इस पर पुनः पूर्वपक्षी कहता हैं कि

शाब्दबोध और योग्यता ज्ञान के कार्यकारण भाव की कुक्षि में धर्मितावच्छेदक द्रव्यत्व घटत्व आदि का प्रवेश करके समवाय सम्बन्ध से कार्यकारण भाव की कल्पना करने में धर्मितावच्छेदक के भेद से अनन्तकार्यकारणभाव की कल्पना करनी पड़ेगी। अतः धर्मितावच्छेदक का निवेश न करके "धर्मितावच्छेदकता" सम्बन्ध से घटत्व प्रकारकशाब्दबोध के प्रति धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से घटत्व प्रकारक उपस्थिति कारण है "ऐसे कार्यकारणभाव की कल्पना करेंगें। तब कार्यकारण भाव कुक्षि में द्रव्यत्व घटत्व आदि धर्मितावच्छेदकता का प्रवेश न होने से धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से घटत्व प्रकारक योग्यता ज्ञान आदिकारण तथा घटत्व प्रकारक शाब्दबोध दानों जैसे द्रव्यत्व में रहेंगे वैसे ही घटत्व में भी रहेंगे। इस प्रकार बड़े लम्बे शास्त्रार्थ के बाद उत्तर दिया कि अभेदसम्बन्धावच्छिन्न तद्धर्मावच्छिन्न प्रकारता निरुपित विशेष्यतावच्छेदकता सम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति तद्धर्मभेदः कारणम्। अब अभेदसम्बन्धावाच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरुपितविशेष्यतावच्छेदकता सम्बन्ध से यदि शाब्दबोध होना है तो प्रकारतावच्छेदक में तद्धर्मभेद अर्थात् विशेष्यतावच्छेदक का भेद भी होना चाहिए। घटो घटः में अभेद सम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न प्रकारता

निरुपित विशेष्यतावच्छेदकता भी घटत्व में ही है तद् भिन्न नहीं। अतः घटो घटः में शाब्दबोध नहीं होता है। अन्त में वस्तुतः कल्प से ज्ञान मात्र का कार्यकारणभाव "तद्धर्मान्यवृत्ति विषयता सम्बन्धेन ज्ञानं प्रति तद्धर्मभेदः कारणम्" ऐसा दिखाकर घटो घटः, दण्डवान् दण्डवान् इत्यादि सर्वत्र दोष का वारण किया। तात्पर्य यह है कि चाहे कोई भी ज्ञान हो उसकी उत्पत्ति यदि तद्धार्मान्यवृत्ति विषयता सम्बन्ध से करनी है तो उसके लिए तद्धर्म भेद होना आवश्यक है।इस कार्यकारण भाव में आये प्रथम तद्धर्म से प्रकारतावच्देदक धर्म को लेना है और द्वितीय तद्धार्मपद से भी प्रकारतावच्छेदक धर्म को ही। एवञ्च नीलो घटः यहाँ पर तद्धर्म अर्थात् प्रकारतावच्छेदक धर्म नीलत्व लिया जाएगा, उससे अन्य होगा घटत्व, उसमें वृत्ति जो विषयता होगी वह होगी विशेष्यतावच्छेदकता रुप विषयता इस विशेष्यतावच्छेदकता रुप विषयता सम्बन्ध से ज्ञान मात्र घटत्व में तभी उत्पन्न होगा जब उसमें प्रकारतावच्छेदक धर्म का भेद होगा, जो कि प्रकृत स्थल में है ही। क्योंकि घटत्व रुप विशेष्यतावच्छेदक में प्रकारतावच्छेदक नीलत्व का भेद है ही। अतः नीलो घटः में अभेदान्वय बोध भी होता हैं यह तद्धर्म भेद कारण चूंकि ज्ञान मात्र के प्रतिकारण है। अतः प्रत्यक्ष या अनुमिति या उपमिति या शाब्दबोध सभी ज्ञानविशेष की उत्पत्ति में इस तद्धर्म भेद का रहना आवश्यक है। क्योंकि व्यापक कार्य की सामग्री व्याप्य कार्य की उत्पत्ति में अपेक्षित होती ही है, बिना व्यापककार्यसामग्री के व्याप्यकार्य उत्पन्न ही नहीं होता यह निर्विवाद है। एवञ्च घटो घटः यहाँ पर प्रकारतावच्छेदक और विशेष्यतावच्छेदक के एक होने से तद्धर्म अर्थात् प्रकारतावच्छेदक, धर्म घटत्व को लेंगे, उससे अन्य धर्म यहाँ है नहीं जिसमें वृत्ति विषयतापद से विशेष्यतावच्छेदक धर्म घटत्व को ले सकें। अतः घटत्वावच्छिन्न प्रकारता निरुपित विशेष्यतावच्छेदकता सम्बन्ध से घटत्व में, शाब्दबोध की उत्पत्ति के लिए व्यापक तथा अपेक्षित तद्धर्म भेद - अर्थात् प्रकारतावच्छेदकघटत्व का भेद रुप कारण के न होने से अभेदान्वयबोध रुप शाब्दबोध नहीं होता। घटत्व में भला घटत्व का भेद कैसे रहेगा। अस्तु इसी युक्ति से दण्डवान् दण्डवान् इत्यादि स्थल में आपत्ति का वारण किया गया।

यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कही-कहीं प्रकारतावच्छेदक तथा विशेष्यतावच्छेदक के एक होने पर भी अभेदान्वय बोध होता है। तो ऐसे स्थल में प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदक का भेद विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदक में होना चाहिए ऐसा कार्यकारणभाव मानेंगे अस्तु। इस प्रकार अभेदान्वय बोध का प्रसंग समाप्त करके ग्रन्थकार ने भेदान्वयबोधश्च इत्यादि से भेद सम्बन्ध से शाब्दबोध कहाँ होता है और उसके लिए कैसी आकाँक्षा का ज्ञान आवश्यक है। यह प्रतिपादित किया।

तात्पर्य यह है कि प्रातिपदिकार्थ का प्रत्ययार्थ के साथ या कहीं-कहीं निपातार्थ के साथ, तथा धात्वर्थ का प्रत्ययार्थ के साथ या कहीं-कहीं निपातार्थ के साथ ही भेद सम्बन्ध से अन्वय होता है। क्योंकि राज पुरुषः यहाँ पर राजपदार्थ रूप नामार्थ का पुरुषपदार्थ रुप नामार्थ में स्वत्व रुप भेद सम्बन्ध से अन्वय नहीं

होता अर्थात् राज पुरुषः कहने से स्वत्व सम्बन्धेन राजवान् पुरुषः ऐसा शाब्दबोध नहीं होता। क्योंकि यह नियम है कि निपात के अतिरिक्त दो नामार्थों का या नामार्थ का धात्वर्थ के साथ, भेद सम्बन्ध से अन्वयबोध अव्युत्पन्न है। इस प्रकार नामार्थ का नामार्थ के साथ या धात्वर्थ के साथ यदि भेद सम्बन्ध से अन्वय होना अव्युत्पन्न है तो अर्थात् सिद्ध हो गया कि नामार्थ का प्रत्ययार्थ के साथ ही भेद सम्बन्ध से अन्वय होना व्युत्पन्न होगा।

अत एव "राजपुरुषः" इस समास स्थल में भी जहाँ राजपदोत्तर प्रत्यय (ङस् विभक्ति) का लुक् हो गया है, वहाँ भी राज पदार्थ का पुरुष पदार्थ मे भेद सम्बन्ध स्वत्व सम्बन्ध से अन्वय नहीं होता। तब प्रश्न होगा कि यदि यहाँ भेद सम्बन्ध से अन्वय नहीं होता तो अभेद सम्बन्ध से भी तो अन्वय नहीं हो सकता। क्योंकि राज पदार्थ और पुरुष पदार्थ अभिन्न तो है नहीं। नैयायिक कहता हैं कि आपकी बात सत्य है। इसीलिए तो हम यहाँ राज पद की राजसम्बन्धी अर्थ में लक्षणा मानते हैं। एवञ्च राज पदार्थलक्ष्यार्थ राजसम्बन्धी का अभेद सम्बन्ध से पुरुषपदार्थ में अन्वय होता है जो राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरुषः ऐसा शाब्दबोध मानते हैं। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि "राज्ञः पुरुषः" इस असमस्त वाक्य से भी राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरुषः ऐसा अभेदान्वयबोध ही होता है, अपितु यहाँ तो राजपदोत्तर आयी षष्ठी विभक्ति का अर्थ स्वत्व मानकर प्रत्ययार्थ में राजरुप प्रातिपदिकार्थ का निरुपितत्व रुप भेद सम्बन्ध से अन्वय करते हैं, और पुनः राजान्वित स्वत्वपदार्थ का पुरुष रुप प्रातिपदिकार्थ में आश्रयता सम्बन्ध से अन्वय करते हैं। इस प्रकार राज्ञः पुरुषः इस वाक्य से राजनिरुपितस्वत्ववान् पुरुषः "ऐसा शाब्दबोध मानते हैं। चूंकि इस मत में स्वत्व रुप षष्ठयर्थ को पुरुष पदार्थ में प्रकार (विशेषण) मानकर अन्वय किया गया है। अतः इस मत को प्रकारतावादी कहा गया है। परन्तु कुछ लोग इस मत में गौरव दिखाकर कहते हैं कि -राज्ञः पुरुषः यहाँ भी राजन् पदोत्तर आयी षष्ठीविभक्ति को साधुत्वार्थक (कोई भी अर्थ न) मानकर स्वत्व सम्बन्ध से राज पदार्थ का पुरुष पदार्थ में अन्वय मानना चाहिए। एवञ्च राज्ञः पुरुषः यहाँ पर स्वत्वसम्बन्धेन राजवान् पुरुषः ऐसा शाब्दबोध मानना चाहिए। यह शास्त्रार्थ बहुत ही लम्बा है। सारांश यह है कि राजपुरुषः इस समास स्थल में नैयायिक षष्ठीतत्पुरुष समास मानकर राजपदार्थ की राजसम्बन्धी अर्थ में लक्षणा करके अभेदान्वय मानते हुए राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरुषः ऐसा शाब्दबोध मानते हैं। जब कि मतान्तर वाले यहाँ कर्मधारय समास मानकर स्वत्व सम्बन्ध से राजपदार्थ का पुरुष पदार्थ में अन्वय मानते हुए "स्वत्वसम्बन्धेन राजवान् पुरुषः" ऐसा शाब्दबोध मानते हैं। जब कि असमस्त "राज्ञः पुरुषः" यहाँ पर नैयायिक षष्ठ्यर्थ स्वत्व का प्रकार विधया पुरुष में अन्वय मानकर "राजनिरुपितस्वत्ववान् पुरुषः" ऐसा शाब्दबोध मानते हैं जबकि अन्य लोग समस्त वाक्य और उसके लौकिक विग्रहवाक्य रुप असमस्त वाक्यों के अर्थ में समानता लाने के लिए तथा षष्ठ्यर्थ को प्रकार मानने में गौरव होने से भी स्वत्व सम्बन्ध से राज पदार्थ का पुरुष पदार्थ में अन्वय मानकर "स्वत्वसम्बन्धेन राजवान् पुरुषः" ऐसा शाब्दबोध मानते हैं। चूंकि

इसमत् में "स्वत्व" का भान संसर्गरुप से शाब्दबोध में (आकाँक्षाभास्य) माना गया है। अतः इस मत को संसर्गतावादी मत कहा गया है।

संसर्गतावादियों की अपेक्षा प्रकारतावादियों के मत में गौरव यह है कि उन्हें षष्ठ्यर्थ स्वत्व में षष्ठी की शक्ति माननी पड़ेगी और षष्ठी पद से स्वत्व की उपस्थिति की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार उन्हें राजन् पद से राजपदार्थ की, ङस् पद से स्वत्व पदार्थ की तथा पुरुष पद से पुरुष पदार्थ की उपस्थिति माननी पडेगी तथा राजपदार्थ का स्वत्वपदार्थ के साथ निरुपितत्व सम्बन्ध की तथा स्वत्वपदार्थ का पुरुषपदार्थ के साथ आश्रयतासम्बन्ध की भी कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार उन्हें तीन उपस्थितियों और दो सम्बन्धों की कल्पना करनी पडती है, जब कि स्वत्व को संसर्ग मानने में राजपद से राजपदार्थ की और पुरुष पद से पुरुष पदार्थ की ही उपस्थिति की कल्पना करनी पड़ी है और उन दोनों के एक ही सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ती है। इस प्रकार इस मत में दो ही उपस्थितियों की और एक ही सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ती है। जिसमें लाघव है।

तथापि आगे चलकर विभिन्न विषयक प्रत्यक्ष के प्रति शाब्दबोध सामग्री की प्रतिवन्धकता का जब विचार किया जाता है तो प्रकारतावादियों को जहाँ कम संख्या में प्रतिबन्धकता की कल्पना करनी पड़ती है, वहाँ संसर्गतावादियों को अधिक संख्या में शाब्दबोध सामग्री में प्रतिबन्धकता माननी पड़ती है जो कि गौरवग्रस्त होता है। संसर्गतावादियों ने बहुत बड़ा शास्त्रार्थ कर के अपने मत को गौरवग्रस्त न होने देने का प्रयास करते हुए अन्त में दीधितिकार को भी अपने पक्ष में प्रमाणतया उपन्यस्त किया तो भट्टाचार्य ने "तत्रापि न नो विद्वेषः" कहकर उनके मत को मान तो लिया परन्तु अपनी अरुचि दिखा दी।

उपर्युक्त रीति से प्रकृत्यर्थ (नामार्थ धात्वर्थ) का प्रत्ययार्थ के साथ ही भेद सम्बन्ध से अन्वय होता है, यह बात सिद्ध करने के पश्चात् ग्रन्थकार ने प्रत्यय के विभक्ति कृत् तद्धित भेद से अनेक प्रकार है यह कहा और विभक्ति भी सुप्तिङ् भेद से दो प्रकार की होती है। यह बताया। तत्पश्र्चात् सुप् विभक्ति प्रथमा द्वितीया आदि सात हैं यह कहकर प्रथमा विभक्ति का अर्थ संख्या है इस बात का बड़ा ही विस्तृत विवेचन किया। इस प्रसंग में सर्वप्रथम उन्होंने यह विचार किया कि प्रथमा विभक्तयाँ तीन हैं सु. औ. तथा जस्। इन तीनों में क्रमशः एकत्व, द्वित्व और बहुत्व संख्या का बोध कराने की शक्ति रहती है। तो सु आदि में जो एकत्व संख्या की शक्तता या वाचकता रहती है वह किस रुप में सुत्व रुपेण या एकवचनत्व रुपेण? इस में उन्होंने कहा कि एकवचनत्व का निर्वचन नहीं किया जा सकता अतः सुत्व औत्व जसत्वरुप से ही सु आदि में एकत्व आदि की शक्तता या वाचकता माननी चाहिए।

यद्यपि कुछ लोगों ने एकवचनत्व के निर्वचन का प्रयास किया तथापि उन सभी प्रयासों में भट्टाचार्य ने दोष दिखाकर उनका खण्डन कर दिया। तत्पश्चात् यह विचार भी किया गया कि विभक्ति का अर्थ संख्या मानने की अपेक्षा प्रकृति का ही शक्यार्थ संख्या मान लेना चाहिए और प्रकृति का ही शक्यार्थ संख्या

मानने में आपत्ति हो तो संख्याविशिष्ट घट आदि अर्थ में "घट' आदि पद की लक्षणा मान लेनी चाहिए। इस प्रकार संख्या की बोधकता प्रकृति में मान लेने में प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावकल्पना में लाघव भी होगा। इस प्रकार ग्रन्थकार ने प्रारम्भ में तो प्रकृति की अनन्तता के कारण. संख्या विभक्ति का अर्थ है इस बात का समर्थन किया, परन्तु पश्चात् इदं पुनरिहावधेयम् इत्यादि से संख्या की बोधकता प्रकृति में मान लेने में लाघव दिखाकर इसी मत में अपना अभिप्राय प्रकट किया।

परन्तु जब उस संख्या के अन्वय का विचार उन्होंने किया तो वहाँ के ग्रन्थ के पर्यालोचन से यह बात साफ़ झलकती है कि उन्होंने प्रथमा विभक्ति का ही अर्थ संख्या को माना है। जैसा कि वे कहते हैं एकव्यक्तिबोधपरादाकाशशब्दादपि द्विवचनबहुवचनाद्यापत्तेः, तत्तदर्थयोर्द्वित्वबहुत्वयोः समवायादिना आकाशाद्यन्वययोग्यत्वात्" यहाँ तत्तदर्थयोः में आये तत् पद से सु औ आदि विभक्तियाँ ही ली जाती हैं। अस्तु। तत्पश्चात् उस संख्या का प्रकृत्यर्थ में पर्याप्ति सम्बन्ध से ही अन्वय होता है। समवाय आदि सम्बन्ध से नहीं इस बात को 'आकाशौ" इत्यादि प्रयोगापत्ति के द्वारा सिद्ध किया। इसी प्रसंग में "पर्याप्ति" नामक सम्बन्ध को भी "अयमेको घट इमौ द्वौ" इस अनुभव के आधार पर स्वरुप सम्बन्ध विशेषरुप में सिद्ध किया। तत्पश्चात् "धवरखदिरौ छिनत्ति" यहाँ पर द्वित्व का अन्वय धव और खदिर प्रत्येक में क्यों नहीं होता अपितु धवखदिर उभय में होता है इसका प्रतिपादन कर एक धव के तात्पर्य से "धवौ" का प्रयोग नहीं होने में युक्ति दिखाई आगे आख्यात तिप् तस् आदि में संख्यावाचकत्व नहीं रहता है यह कहते हुए अनभिहितत्व का परिष्कार भी किया। क्योंकि यदि आख्यात एकवचन का अर्थ संख्या को न माना जाए तो कर्तृगतसंख्या के अनुक्त हो जाने से कर्तृकरणयोस्तृतीया से चैत्रः पचति में भी कर्तृवाचक चैत्र पदोत्तर तृतीयाविभक्ति आने लगेगी। इस आपत्ति का वारण करने के लिए "अनभिहिते" इस अधिकार सूत्र के अनभिहितत्व की अन्य व्याख्याओं का खण्डन करते हुए "तत् तात्पर्यशून्यत्वम्" ऐसी व्याख्या की। जिसका अर्थ है- कर्तृविशेष्यक शाब्दबोधविषयक तात्पर्यशून्यत्व ही कर्ता का अनुक्त होना है जो कर्तृपदोत्तर तृतीया विभक्ति का प्रयोजक है, तथा कर्मविशेष्यक शाब्दबोध विषयक तात्पर्ययशून्यत्व ही कर्म का अनुक्त होना है जो कि कर्मवाचक पद के आगे द्वितीया विभक्ति का प्रयोजक है। पक्वानि भुङ्क्ते चैत्रः, ओदनः पक्त्वा भुज्यते इत्यादि प्रयोगों में कृत् प्रत्ययों के द्वारा क्रमशः कर्तृत्व तथा कर्मत्व के अनुक्त होने पर भी पहले वाक्य में कर्तृवाचक चैत्र पदोत्तर तृतीया विभक्ति तथा द्वितीय वाक्य में कर्मवाचक ओदन पदोत्तर द्वितीया विभक्ति नहीं आती। क्योंकि कृत् प्रत्यय के द्वारा कर्तृत्व कर्मत्व के अनुक्त होने पर भी आख्यात के द्वारा उक्त ही है। अतः समभिव्याहृत्त पद के द्वारा उक्त न होना ही कर्तृत्व कर्मत्व का अनभिहितत्व है वह पद चाहे कृत् हो या आख्यात। परन्तु ऐसा मानने पर भुञ्जानेन चैत्रेण पच्यते, भोक्तव्यमोदनम् पचति यहाँ पर कर्तृवाचक चैत्र पदोत्तर तृतीयाविभक्ति तथा दूसरे वाक्य में कर्मवाचक ओदनपदोत्तर द्वितीया विभक्ति अनुपपन्न होने लगेगी। क्योंकि दोनों वाक्यों में कर्तृवाचक, तथा कर्मवाचक पद के समीप

उच्चरित कृत् प्रत्यय के, द्वारा कर्तृत्व कर्मत्व उक्त है। इस प्रकार अनभिहितत्व की व्याख्या करते हुए अन्त में कहा कि "प्रातिपादिकार्थ के विशेषणरुप से कर्तृत्व की अविवक्षा ही कर्तृत्व का अनभिहितत्व है और कर्मत्व की अविवक्षा ही कर्मत्व का अनुक्त होना है। अर्थात् कर्तृत्व यदि प्रतिपादिकार्थ के विशेषण रुप से विवक्षित नहीं है। तो वहाँ कर्तृत्व अनुक्त होता है और वहाँ कर्तृवाचक पद से तृतीया विभक्ति आती है, इसी प्रकार कर्मत्व यदि प्रतिपादिकार्थ के विशेषण रुप से विवक्षित नहीं होता तो वहाँ कर्मत्व अनुक्त होता है और वहाँ कर्मवाचक पद से द्वितीया विभक्ति आती है।

अन्त में चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध में द्वित्व संख्या के भान की उपपत्ति के लिए. आख्यात के द्विवचन बहुवचन में संख्याबोधकता को माना है और उसमें आने वाली आपत्तियों का गदाधर भट्टाचार्य ने युक्तिपूर्वक निराकरण किया है। व्युत्पत्तिवाद के प्रथमाकारक में विवेचित कुछ प्रमुख सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराने का प्रसास इस भूमिका में किया गया है विशेष तो मूल ग्रन्थ के गुरुमुख से अध्ययन से ही सम्भव है।

छांत्रमण्डली में आज भी परिहास में विपत्तिवाद नाम से प्रसिद्ध इस व्युत्पत्तिवाद की हिन्दी व्याख्या करने का जो प्रयास या कहिये साहस मैंने किया उसमें एकमेव कारण ईश्वरेच्छा के अतिरिक्त प्रातः स्मरणीय पूज्य गुरुचरण श्री कीर्त्यानदझा (भू.पू. दर्शनविभागाध्यक्ष कामेश्वर सिंहदरभंगा सं. विश्व विद्यालय, दरभंगा) का अमोघ आशीर्वाद ही है। अतः गुरुचरण के प्रति अधमर्णता ज्ञापन करना मैं अपना कर्तव्य मानता हूँ। गुरुजनों के प्रति कृतज्ञतायद्यपि वचनं विज्ञाप्य नहीं होती, तथापि परम्परा निर्वाह की दृष्टि से ऐसा कर रहा हूँ। इस व्याख्या के प्रसंग में गुरुचरण के पश्चात् यदि किसी का ऋणी हूँ तो इस ग्रन्थ के संस्कृत व्याख्याकारों का हूँ जिनमें गूढार्थतत्वालोक नामक व्याख्या के व्याख्याकार मिथिला भूमि के अलंकार इस शताब्दी के अप्रतिम महान् नैयायिक श्री धर्मदत्त (बच्चा) झा जी, तथा उनकी व्याख्या के व्याख्याकार उनके साक्षात् शिष्य अनेक शास्त्रमर्मज्ञ विद्याविग्रहस्व. शशिनाथ झा जी का नाम सर्वोपरि है अतः इनके प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

तत्पश्चात् जम्मू जैसे दूरस्थ प्रदेश में इस व्याख्या कार्य में प्रबलप्रवर्तक कि बहुना इस कार्य में इष्टसाधनता का ज्ञान कराने वाले अनुजकल्प व्याकरण शास्त्र के तलस्पर्शी विद्वद्युगल डा. बोधकुमार झा तथा श्री श्रीधरमिश्र जी, जो कि श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू में व्याकरण व्याख्याता पद पर सेवारत हैं, का भी हार्दिक धन्यवाद करता हूँ। मैं तो ऐसा मानता हूँ कि ईश्वर ने मुझसे इस दुरुह कार्य का सम्पदान कराने के लिए ही इन दोनों महानुभावों को यहाँ उपर्युक्त पद पर भेजा है। एवञ्च ग्रन्थ के प्रकाशन कार्य में पूर्णमनोयोग से सहायता करने के लिए अपने जामाता श्री फणीन्द्र कुमार चौधरी क़ा भी धन्यवाद करता हूँ तथा उनके चिरायुष्य की मंगल कामना करता हूँ। अन्त में इस आपाधापी के करालकलिकाल में सारस्वत समर्चना में आने वाले दैनन्दिनविघ्नप्रव्हार को चुप-चाप

अपने ऊपर लेकर मेरे कार्य को सहज बनाने वाली सहधर्मिणी सौ. इन्दुकला जी का भी धन्यवाद करता हूँ तथा ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि उनकी ऐसी सद्बुद्धि तथा स्वास्थ्य की रक्षा करें।

अन्त में ग्रन्थ के प्रकाशक महोदय भी धन्यवाद के पात्र अवश्य हैं जिन्होंने प्रश्नोत्तरी के इस युग में अभिनव हिन्दीव्याख्या के साथ मूलग्रन्थ का प्रकाशन करने का साहस किया।

मेरी यह इन्दुकला व्याख्या अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल हो पाई है इस बात में तो विज्ञविद्वत्समाज ही प्रमाण है, तथापि यदि एक भी जिज्ञासु छात्र का उपकार कर सकी तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा। मतिभ्रम से या प्रेस के प्रमादवश ग्रन्थ में यदि कहीं मात्राजन्य पदजन्य भाषाजन्य तथा विषय जन्य त्रुटि हो गयी हो तो उसे क्षमा कर, कृपया सूचित करेंगे ताकि अगले संस्करण में उनका सुधार हो सके।

अन्त में

गच्छतः स्खलनं क्वापिभवत्येव प्रमादतः।
उत्थाप्यसानुकम्पं हि समादधति सज्जनाः॥

यह निवेदन करते हुए, अपनी वाणी को विराम देता हूँ

स्थायी पता
ग्रा. अलपुरा
पो. ताजपुर (रतुपाड़)
अनु. झंझारपुर
जि. मधुवनी (बिहार)

वैद्यनाथ झा
रीडर (न. न्याय)
श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत
विद्यापीठ, शास्त्रीनगर
जम्मू।

विषयाः

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

नृत्यन्ती रणचण्डिका रसनयाऽनिष्टं समस्तं क्षणा-
ल्लेढुं खड्गकपालभूषितकरा काली कराலानना।
पादस्पृष्टमधोविलोक्य सहसा श्रीशङ्करं सस्मितं
लज्जावीतकरालभावविशदस्मेराऽऽनना पातु नः ॥ 1 ॥
बाल्यादेव गदाधरीयवचसां व्युत्पत्तिवादाभिधं
सिन्धुं तर्तुमनास्तु लौकिकगिरा नावाऽस्मि हिन्द्याऽधुना।
कीर्त्यानन्दगुरोरजस्रप्रवहद्वात्सल्यधाराभुवं
नत्वा पादमुपायनीभवतु मे तेषां शुभाशीर्वचः ॥ 2 ॥

"शाब्दबोधे चैकपदार्थेऽपरपदार्थस्य संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते" ॥

प्रस्तुत व्याख्येय ग्रन्थ का नाम ग्रन्थकार ने व्युत्पत्तिवाद रखा है। ग्रन्थ के इस "व्युत्पत्तिवाद" नाम की व्याख्या कुछ विद्वानों ने "व्युत्पत्तिंवदतीति व्युत्पत्तिवादः" ऐसा किया है, कुम्भंकरोतीति कुम्भकारः की तरह। परन्तु इस प्रकार की व्याख्या करने में कठिनाई यह है कि उपर्युक्त व्याख्यानुसार व्युत्पत्तिवाद शब्द का अर्थ होगा "व्युत्पत्तिविषयक वदनानुकूल कृतिमान्"। एवं च तादृश कृतिमान् से प्रस्तुत ग्रन्थ ही अभिप्रेत होगा। क्योंकि ग्रन्थ ही उपर्युक्त शब्द से बोध्य है। ऐसी स्थिति में प्रथम आपत्ति तो यह होगी कि ग्रन्थ चूँकि निर्जीव वस्तु है, उसमें समवाय सम्बन्ध से कृति कैसे रहेगी? जिससे वह कृतिमान् कहलाएगा। दूसरी आपत्ति यह है कि ग्रन्थ है शब्दसमूहरूप और शब्द है गुण, तो "गुणे गुणानङ्गीकारात्" इस वैशेषिक सिद्धान्तानुसार शब्दसमूहरूप प्रस्तुत ग्रन्थ कृतिरूप गुण का आश्रय नहीं हो सकता। यदि "रथोगच्छति" की तरह यहाँ भी वदति के "ति" का अर्थ कृति न करके उसकी व्यापार में लक्षणा करें तो अर्थ तो सुसंगत हो जाएगा। परन्तु जघन्य लक्षणावृत्ति का आश्रयण करना पड़ेगा। अतः "व्युत्पत्तये वादः व्युत्पत्तिवादः" ऐसी व्याख्या ही करनी चाहिए। जिसका तात्पर्य है "शाब्दबोध विशेष (अमुक प्रकार के शाब्द बोध) के प्रति आकाँक्षाज्ञानविशेष (इस प्रकार का आकाँक्षा ज्ञान) कारण होता है" इस प्रकार के "कार्यकारणभाव के ज्ञान" को ही व्युत्पत्ति कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के लिए किया जाने वाला वाद (कथा विशेष) ही व्युत्पत्तिवाद है। न्यायदर्शन में तीन प्रकार की कथा मानी गयी है। (1) वाद (2) जल्प (3) वितण्डा। तत्त्व ज्ञान के लिए की जाने वाली कथा को "वाद कहते हैं और विजिगीषा से की जाने वाली को जल्प। प्रकृतग्रन्थ में शाब्दबोध

और आकाँक्षादि ज्ञान का ही कार्यकारण भाव प्रदर्शित कर उस पर विचार किया गया है। अतः व्युत्पत्तये वादः यही व्याख्या युक्त और सरल है।

ऊपर बताया जा चुका है कि तत्त्वजिज्ञासा से प्रवृत्त इस वादात्मक ग्रन्थ में शाब्दबोध और आकाँक्षाज्ञान का परस्पर जो कार्यकारणभाव उसका सामान्य रूप से और विशेष रूप से विचार किया जाएगा। अतः महामहोपाध्याय गदाधर भट्टाचार्य (1) अभेद सम्बन्ध विषयक, तथा (2) भेद सम्बन्ध विषयक दोनों प्रकार के शाब्द बोधों के लिए कार्यकारण भाव कहेंगे "अभेदान्वयबोधश्च समानविभक्तिकेन" इत्यादि। इस प्रकार शाब्दबोध की द्विविधता में सम्बन्ध का द्विविध होना प्रयोजक है। अर्थात् अभेद तथा भेद दो प्रकार के सम्बन्ध के कारण ही शाब्दबोध भी सामान्यतः दो प्रकार का होता है। इसलिए कार्यकारण भाव प्रदर्शित करने के पूर्व उसके प्रयोजक दोनों प्रकार के सम्बन्धों को बताना उचित था। अतः ग्रन्थकार ने कचिदभेदः कचिच्च तदतिरिक्त एव" इस प्रकार दोनों प्रकार के सम्बन्धों का कथन किया। परन्तु अभेद तथा भेद सम्बन्ध शाब्दबोध में ही केवल भासित होता है या अन्य ज्ञान में भी? शाब्दबोध में भी भासित होने वाले ये दोनों प्रकार के सम्बन्ध वृत्तिप्रयोज्य और आकाँक्षाप्रयोज्य भी हैं या केवल वृत्तिप्रयोज्य या केवल आकाँक्षाप्रयोज्य? इन सब आकांक्षाओं की निवृत्ति के लिए किसी ऐसे परिचायक वाक्य की आवश्यकता थी जिससे शाब्दबोध में भासित होने वाले आकाँक्षाप्रयोज्य दोनों प्रकार के सम्बन्धों का तो संग्रह हो जाए और वृत्तिप्रयोज्य सभी प्रकार के सम्बन्ध की व्यावृत्ति भी हो जाए। गदाधर भट्टाचार्य जी ने "शाब्दबोधे चैकपदार्थेऽपरपदार्थस्य संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते" के द्वारा उसी परिचायक वाक्य का कथन किया है। शाब्दबोधे में आयी सप्तमी विभक्ति का अर्थ है निरूपितत्व, एकपदार्थे में आयी सप्तमी का अर्थ है अनुयोगित्व, अपरपदार्थस्य में आयी षष्ठी विभक्ति का अर्थ है प्रतियोगित्व, संसर्गमर्यादा शब्द का अर्थ है आकाँक्षाप्रयोज्य सांसर्गिक विषयता, उसके आगे आयी तृतीया विभक्ति का अर्थ है अभेद"। भासते में भास् धातु का अर्थ है विषयता, ते आख्यात का अर्थ है आश्रयत्व। इस प्रकार शाब्दबोध का निरूपितत्व रूप विभक्त्यर्थ में निरूपकत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है और निरूपितत्व का स्वरूपसम्बन्ध से भास् धात्वर्थ विषयता में अन्वय होता है। उसी विषयता में "संसर्गमर्यादया" में आयी तृतीया विभक्ति के अर्थ अभेद का अन्वय होता है। उस तृतीयार्थ में आकाँक्षाप्रयोज्य सांसर्गिकविषयता रूप प्रकृत्यर्थ का आधेयता सम्बन्ध से अन्वय होता है। आख्यातार्थ आश्रयत्व का स्वरूप सम्बन्ध से प्रथमान्त संसर्ग पदार्थ में अन्वय होता है और उसी में सप्तम्यर्थ अनुयोगित्व तथा षष्ठ्यर्थ प्रतियोगित्व का भी निरूपकता सम्बन्ध से अन्वय होता है। प्रत्ययार्थ अनुयोगित्व तथा प्रतियोगित्व में क्रमशः प्रकृत्यर्थों का आधेयता सम्बन्ध से अन्वय होता है। इस प्रकार उपर्युक्त वाक्य से शाब्दबोध

होगा "एकपदार्थानुयोगिक - अपरपदार्थप्रतियोगिकः संसर्गः आकाँक्षाप्रयोज्य-संसर्गत्वाऽभिन्नशाब्दबोधनिरूपितविषयतावान्" ।

तात्पर्य यह है कि सम्बन्ध प्रायः द्विष्ठ होता है। अतः प्रत्येक सम्बन्ध का कोई न कोई अनुयोगी तथा कोई न कोई प्रतियोगी हुआ करता है। जिस सम्बन्ध से कोई पदार्थ कहीं पर अन्वित होता है तो जो अन्वित होता है वह उस सम्बन्ध का प्रतियोगी कहलाता है और जिसमें अन्वित होता है वह उस सम्बन्ध का अनुयोगी कहलाता है। अब उपर्युक्त वाक्य का तात्पर्य यह है कि एक पदार्थ है अनुयोगी विशेष्य जिसका, तथा दूसरा पदार्थ है प्रतियोगी (विशेषण) जिसका ऐसा संसर्ग, आकाँक्षाप्रयोज्यसांसर्गिकविषयता तथा उससे अभिन्न शाब्दबोध निरूपित विषयता वाला होता है। मोटी भाषा में कहें तो - "एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ होने वाला संसर्ग जो कि शाब्दबोध में भासित होता है आकाँक्षाप्रयोज्य ही होता है।

अब यहाँ एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। सम्बन्ध दो तरह से भासित होते हैं, कुछ सम्बन्ध वृत्ति (अभिधा या लक्षणा) के द्वारा तो कुछ आकाँक्षा के द्वारा। उनमें जो सम्बन्ध किसी पद के द्वारा वृत्या उपस्थित होते हैं वे वृत्ति प्रयोज्य सम्बन्ध हैं परन्तु जो सम्बन्ध किसी पद के अर्थ रूप में भासित नहीं होता अपितु पदों के समभिव्याहार रूप आकाँक्षा के कारण भासित होते हैं वे आकाँक्षा प्रयोज्य या आकाँक्षाभास्य सम्बन्ध कहलाते हैं।

"शाब्दबोध में जो एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध भासित होता है वह आकाँक्षा भास्य ही होता है" इसी बात को बताने के लिए शाब्दबोधे चैक पदार्थे इत्यादि कहा गया है। इस प्रकार वृत्तिभास्य सभी सम्बन्धों की व्यावृत्ति भी हो गयी और आकाँक्षा प्रयोज्य सभी सम्बन्धों का संग्रह भी हो गया। क्योंकि ऐसा नियम है कि "यदि कोई बाधा न हो तो उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन विधेय का अन्वय होता है।"जैसे "घटो द्रव्यम्" यहाँ घटको उद्देश्य करके द्रव्यत्व का विधान किया गया है। अतः यहाँ उद्देश्य है घट तो उद्देश्यता रहेगी घट में, उद्देश्यतावच्छेदक होगा घटत्व तो घटत्वावच्छेदेन का अर्थ होगा जहाँ जहाँ घटत्व रहता है सर्वत्र द्रव्यत्व रूप विधेय का कथन अर्थात् "सभी घट द्रव्य हैं" । प्रकृत में एकपदार्थानुयोगिक अपरपदार्थप्रतियोगिक संसर्ग को उद्देश्य करके आकाँक्षाप्रयोज्यसांसर्गिकविषयत्वाऽभिन्नशाब्दबोधनिरूपितविषयत्व का विधान किया गया है। जिसका तात्पर्य यह निकला कि शाब्दबोध में भासित होने वाले एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ के सभी संसर्ग आकाँक्षा भास्य ही होते हैं। क्योंकि उपर्युक्त रीति से एक पदार्थानुयोगिक अपर पदार्थ प्रतियोगिकसंसर्गत्व रूप उद्देश्यतावच्छेदक की अपेक्षा, विधेय में आकाँक्षा प्रयोज्य सांसर्गिक विषयत्व में व्यापकता आ जाने से जहाँ व्याप्य रहता है वहाँ व्यापक की सत्ता रहती ही है तो जहाँ एक पदार्थानुयोगिक अपर पदार्थ प्रतियोगिक संसर्गत्व रहेगा वहाँ आकाँक्षा प्रयोज्य सांसर्गिक विषयता

भी रहेगी ही तो इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि - शाब्दबोध में भासित होने वाला एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध हमेशा आकाँक्षा भास्य ही होता है।

इसीलिए प्रस्तुत "शाब्दबोधे चैक पदार्थे इत्यादि ग्रन्थ के लिखने का प्रयोजन विद्वान् लोग यह भी बताते हैं कि - प्रस्तुत ग्रन्थ मीमांसकों के मत का खण्डन के अभिप्राय से लिखा गया है। क्योंकि मीमांसकों में प्रभाकर सम्प्रदायवाले शाब्दबोध में आकाँक्षाज्ञान को कारण नहीं मानते। उनके मत में जहाँ केवल "घटः" इस कर्तृवाचक शब्द का प्रयोग किया गया हो और वहाँ प्रत्ययार्थ एकत्व संख्या विवक्षित न हो वहाँ भी घट पद के द्वारा उपस्थित घट पदार्थ का, प्रमाणान्तर से उपस्थित योग्य "अस्तित्व" क्रिया के साथ बिना आकाँक्षा ज्ञान के भी "घटोऽस्ति" (घड़ा है) इस प्रकार का शाब्दबोध हो जाता है। ऐसा उनका मानना है। कुमारिलभट्टमतानुयायि तो एक भी शब्द न रहे तब भी शाब्दबोध मानते हैं। उनका कहना है कि -

"पश्यतः श्वेतिमारूपं ह्रेषा शब्दं च श्रृण्वतः।
खुरविक्षेपशब्दञ्च "श्वेतोऽश्वो धावतीति धीः"।

इसका तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति श्वेत रूप को देख रहा है हिनहिनाहट (हेषा) शब्द भी सुन रहा है" और खुर विक्षेप (टाप) का शब्द भी सुन रहा है उसे जो "उजला घोड़ा दौड़ रहा है" ऐसा विशिष्ट ज्ञान होता है उस ज्ञान को प्रत्यक्ष या अनुमान या उपमान या अर्थापत्ति या अनुपलब्धि प्रमाणजन्य नहीं कह सकते। क्योंकिं रूप का केवल ज्ञान चाक्षुष प्रत्यक्ष है, हेषा शब्द को सुनकर घोड़े का ज्ञान अनुमिति हो सकती है, खुर विक्षेप के श्रवण से क्रिया का ज्ञान भी अनुमिति हो सकती है। परन्तु "धावनक्रियानुकूलवर्तमानकालीनकृतिमान् श्वेतरूपवदभिन्नोऽश्वः" अर्थात् "वर्तमान काल में "उजला घोड़ा दौड़ रहा है।" ऐसा विशिष्ट ज्ञान तो उपर्युक्त पाँचों प्रमाणों में से किसी एक प्रमाण से तो जन्य नहीं है। जब कि उपर्युक्त ज्ञान होता है। अतः उस ज्ञान को शाब्दबोध मानना चाहिए। उपर्युक्त स्थल में "उजला घोड़ा दौड़ रहा है" इस बोध को उत्पन्न करने योग्य पदार्थोपस्थिति का कारण कोई पद नहीं है तथापि वे (भट्ट लोग) वहाँ शाब्दबोध मानते हैं जिससे सिद्ध हो गया कि उनके मत में भी आकाँक्षा ज्ञान शाब्दबोध में कारण नहीं है।

इन दोनों मतों का समाधान करने के लिए ही गदाधर भट्टाचार्य ने शाब्दबोधे चैक पदार्थे" यह ग्रन्थ लिखा है। जिसका तात्पर्य यह है कि - जहाँ भी शाब्दबुद्धित्व रहता है वहाँ एक पदार्थानुयोगिक अपर पदार्थ प्रतियोगिक संसर्ग अवश्य भासित होता है। इस प्रकार जहाँ केवल घटः पद का प्रयोग हुआ है वहाँ पर भी "अस्ति" पद का अध्याहार करके पद समभिवयहार रूप आकाँक्षा ज्ञान होने पर

ही "घटोऽस्ति" ऐसा शाब्दबोध होता है। इसी प्रकार "श्वेतोऽश्वो धावति" यह ज्ञान तो शाब्दबोध ही नहीं है यह तो मानसबोध है ऐसा मानना चाहिए।

इस प्रकार यह बात सिद्ध होने पर कि शाब्दबोध में एक पदार्थ जिसका अनुयोगी (विशेष्य) तथा दूसरा पदार्थ जिसका प्रतियोगी (विशेषण) हो ऐसा भासित होने वाला संसर्ग (सम्बन्ध) आकाँक्षाभास्य ही होता है। जो सम्बन्ध वृत्तिभास्य होते हैं उनका विशेष्य तथा विशेषण एक ही पद के अर्थ होते हैं। जैसे घट पद के द्वारा शक्त्या "जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः इस गौतमीय सिद्धान्तानुसार घट घटत्व तथा उनका समवाय नामक सम्बन्ध तीनों उपस्थित होते हैं। अतः यह समवाय नामक सम्बन्ध पदार्थ होने के कारण वृत्तिभास्य है और इसका अनुयोगी (विशेष्य) घट तथा प्रतियोगी (विशेषण) घटत्व दोनों एक ही घट पद के अर्थ हैं। इसलिए यह समवाय सम्बन्ध चूंकि एक पदार्थानुयोगिक तथा अपर पदार्थ प्रतियोगिक सम्बन्ध नहीं हैं क्योंकि विशेषणरूप प्रतियोगी का प्रतिपादक दूसरा कोई पद नहीं है। अतः यह शाब्दबोध में आकाँक्षाभास्य नहीं होता। परन्तु "नीलो घटः" यहाँ पर नील पदार्थ का घट पदार्थ में भासित होने वाला "अभेद" सम्बन्ध आकाँक्षाभास्य होता है। क्योंकि इस अभेद सम्बन्ध का सम्बन्धी = विशेष्य = घट तथा विशेषण = नील दोनों अलग-अलग पदों के द्वारा उपस्थित हुए हैं। अतः यह अभेद सम्बन्ध एक पदार्थानुपयोगिक तथा अपर पदार्थ प्रतियोगिक सम्बन्ध हुआ, इसलिए यह शाब्दबोध में आकाँक्षा से भासित होता है। यहीं संक्षिप्त सार उपर्युक्त ग्रन्थ का है।

उपर्युक्त "एकपदार्थेऽपरपदार्थस्य संसर्गः" इसकी व्याख्या करते हुए संस्कृत व्याख्याकार विद्वानों ने एक नया प्रश्न उपस्थित किया है जो कि बहुत से मत मतान्तरों से ग्रस्त है, अतः विस्तृत है। मैं उसकी संक्षेप में चर्चा कर रहा हूँ क्योंकि प्रकरण प्राप्त है।

प्रश्न यह है कि - "एक पदार्थे" इस पद में आये एक पद के अर्थ = एकत्व संख्या का अन्वय किसके साथ करना ग्रन्थकार को अभीष्ट है (क) पद के साथ (ख) पदार्थ के साथ या (ग) पदार्थतावच्छेदक के साथ?

यदि एकत्व का अन्वय पद के साथ करें तो अर्थ होगा -

"एक जो पद उसके अर्थ के साथ अर्थात् विशेष्य के साथ, अपर = दूसरा जो पद उसके अर्थ का अर्थात् विशेषण का भासित होने वाला संसर्ग आकाँक्षाभास्य है। परन्तु ऐसा अर्थ करने पर शाब्दबोध में आख्यात (ति आदि) के अर्थ = काल और कृति का परस्पर भासित होने वाला "अवच्छिन्नत्व" संसर्ग, आकाँक्षाभास्य नहीं कहलाएगा जबकि वह आकाँक्षाभास्य है। क्योंकि विशेष्य = कृति वाचक तथा विशेषण = काल वाचक पद तो एक ही है ति। अतः एक पद के अर्थ विशेष्य = कृति में जिस काल का सम्बन्ध भासित हो रहा है वह काल दूसरे पद अर्थात् विशेष्य वाचक पद से भिन्न पद का अर्थ नहीं है। अतः

उन कृति और काल का सम्बन्ध आकाँक्षाभास्य नहीं कहलाएगा। अतः एकत्व का अन्वय पद में न करके पदार्थ में करें तो उपर्युक्त दोष नहीं होगा। क्योंकि तब एक पदार्थे इत्यादि का अर्थ होगा "एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ का भासित होने वाला सम्बन्ध शाब्दबोध में आकाँक्षाभास्य (संसर्गमर्यादया) होता है। तब कृति और काल भले ही एक ही "ति" पद के अर्थ होवें परन्तु हैं तो वे दोनों भिन्न पदार्थ हीं। अतः उपर्युक्त "अवच्छिन्नत्व" संसर्ग का सम्बन्धी विशेष्य = कृति रूप एक पदार्थ में, काल रूप विशेषण अर्थात् दूसरे पदार्थ का संसर्ग संसर्गमर्यादया भासित होता है। परन्तु ऐसा अर्थ करना भी उचित नहीं होगा क्योंकि तब "नीलो घटः" यहाँ पर शाब्दबोध में नील और घट का भासित होने वाला अभेद सम्बन्ध आकाँक्षाभास्य नहीं कहलाएगा। क्योंकि यहाँ विशेष्य घट और विशेषण नील दोनों एक ही हैं। तभी तो अभेद सम्बन्ध उनका है। अतः इस संसर्ग का सम्बन्धी एक पदार्थ = विशेष्य = घट में जिस पदार्थ = (विशेषण) = नील का अभेदसम्बन्ध भासित हो रहा है उसमें अपरत्व ही नहीं होने से यह संसर्ग एक पदार्थानुयोगिक तथा अपर पदार्थ प्रतियोगिक नहीं कहलाएगा तो वह आकाँक्षाभास्य भी नहीं माना जा सकेगा। इस दोष से बचने के लिए एकत्व का अन्वय यदि पदार्थतावच्छेदक में करे तो उपर्युक्त दोष तो नहीं होगा।

क्योंकि तब अर्थ होगा - एक जो पदार्थतावच्छेदक, उससे अवच्छिन्न में दूसरा जो पदार्थतावच्छेदक उससे अवच्छिन्न का भासित होने वाला संसर्ग आकाँक्षा भास्य होता है। प्रकृत में नील पद का अर्थ नील तथा घट पद का अर्थ घट भले ही अभिन्न हों परन्तु उनमें रहने वाला पदार्थतावच्छेदक नीलत्व तथा घटत्व दोनों तो भिन्न ही है। अतः एक पदार्थतावच्छेदक = घटत्व से अवच्छिन्न घट में, अपर पदार्थतावच्छेदक = नीलत्व से अवच्छिन्न नील का भासित होने वाला अभेद सम्बन्ध आकाँक्षाभास्य कहलाएगा। तथापि एकत्व का अन्वय यदि पदार्थतावच्छेदक में करें तो नीलो घटः में भले ही दोष नहीं होवे परन्तु "सम्पन्नो व्रीहिः" यहाँ पर एकत्व संख्या का अन्वय जो व्रीहित्व रूप पदार्थतावच्छेदक में आकाँक्षा से भासित होता है उसका संग्रह नहीं हो पाएगा। क्योंकि उपर्युक्त तीसरी व्याख्या के अनुसार एक पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में दूसरे पदार्थतावच्देक से अवच्छिन्न का संसर्ग ही आकाँक्षाभास्य होता है। संपन्नो व्रीहिः यहाँ पर "एकत्व" रूप पदार्थतावच्छेदकावाच्छित्र का अन्वय व्रीहित्व रूप पदार्थतावच्छेदक में हो रहा है न कि उससे अवच्छिन्न ब्रीहि में। अतः ब्रीहित्व तथा एकत्व का संसर्ग चूँकि एकपदार्थतावच्छेदकावच्छिन्नानुयोगिक तथा अपरपदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगिक नहीं होने से आकाँक्षाभास्य नहीं कहलाएगा।

यदि पदार्थः पदार्थेन अन्वेति न तु पदार्थैकदेशेन" इस नियम के भङ्ग होने के भय से एकत्व का अन्वय व्रीहित्व में नहीं करके "स्वाश्रयप्रकृत्यर्थतावच्छेदक-वत्व" सम्बन्ध से व्रीहि में ही करें तो यहाँ तो दोष नहीं होगा। परन्तु "घटो

नास्ति" यहाँ पर घटत्व रूप पदार्थतावच्छेदक का "स्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व" सम्बन्ध से "नास्ति" पद के अर्थ अभाव में होता है। वहाँ का स्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध आकाँक्षाभास्य नहीं कहलाएगा। क्योंकि वह पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न = अभाव में पदार्थतावच्छेदक घटत्व का भासित होने वाला सम्बन्ध है न कि पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न का। अतः एकत्व का अन्वय पदार्थतावच्छेदक में भी नहीं कर सकते। तब एकत्व का अन्वय कहाँ करें? यह प्रश्न अनुत्तरित ही रह गया।

इस प्रश्न का समाधान तो विभिन्न व्याख्याकारों ने विभिन्न प्रकार से दिये हैं। उसमें मिथिलामहीमण्डन पं. स्व. धर्मदत्त झा (बच्चा झा) जी ने जो अत्राहुः से दिया है, उसका तात्पर्य बताया जा रहा है। उपर्युक्त तीनों व्याख्याओं में जो दोष आये वे प्रायः पदार्थ के भिन्न नहीं होने के कारण ही आये हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर श्री झा जी ने कहा कि -

पदार्थों में भिन्नता का व्यवहार दो कारणों से होता है -

(1) पद की भिन्नता के कारण (2) या वृत्ति की भिन्नता के कारण। तात्पर्य यह है कि यदि पद भिन्न हों तो पदार्थ भिन्न कहलाते हैं या वृत्ति (शक्ति या लक्षणा) यदि भिन्न हो तो पदार्थ भिन्न कहलाते हैं। इस बात को ध्यान में रखकर उपर्युक्त "एक पदार्थेऽपरपदार्थेस्य" का तात्पर्यवर्णन करना चाहिए। जैसे सम्बन्ध के सम्बन्धी विशेष्य तथा प्रकार (विशेषण) का प्रयोजक भले ही एक हो परन्तु प्रकार में रहने वाली प्रकारता का प्रयोजक जो पद हो वही पद विशेष्य में रहने वाली विशेष्यता का प्रयोजक न हो अर्थात् प्रकारता तथा विशेष्यता के प्रयोजक पद अलग-अलग हों तो वहाँ विशेष्य तथा विशेषण का सम्बन्ध आकाँक्षा भास्य होता है। जैसे नीलो घटः यहाँ पर विशेष्य घट तथा विशेषण नील यद्यपि अभिन्न हैं परन्तु घट रूप विशेष्य में विशेष्यता का प्रयोजक घट पद है जबकि नील में रहने वाली प्रकारता का प्रयोजक नील पद है। अतः इन दोनों का अभेद सम्बन्ध आकाँक्षाभास्य कहलाता है। अथवा प्रकारता का प्रयोजक जो वृत्तिज्ञानीय विषयता वह विशेष्यता का प्रयोजक नहीं होना चाहिए जैसे आख्यातार्थ काल में रहने वाली प्रकारता का प्रयोजक "ति पदं वर्तमानं (कालं) बोधयतु" इस प्रकार की वृत्तिज्ञान की विषयता जो कि वर्तमान (काल) में रहती है, उससे निरूपित विषयता होगी वर्तमानत्व में रहने वाली विषयता, उससे प्रयोज्य है वर्तमान (काल) में रहने वाली प्रकारता कृति में रहने वाले विशेष्यता उससे प्रयोज्य नहीं हैं। कृति में रहने वाली विशेष्यता का प्रयोजक तो "ति पदं कृतिं बोधयतु" यह वृत्तिज्ञानीय विषयता होगी जो कृति में रहती है जिससे निरूपित कृतित्व में रहने वाली विषयता होगी उसी से प्रयोज्य कृति में रहने वाली विशेष्यता होती है।

यहाँ यह बात स्मरण रखना चाहिए कि नैयायिक लोग काल और कृति में ति की खण्डशः शक्ति मानते हैं एक अखण्ड नहीं। इसलिए वृत्ति की भिन्नता

के कारण काल तथा कृति रूप पदार्थों में भिन्नता आ जाने से उनका सम्बन्ध "अवच्छिन्नत्व" आकाँक्षाभास्य कहलाता है। इसी में गदाधरभट्टाचार्य का तात्पर्य समझना चाहिए।

"सच क्वचिद्भेदः। क्वचिच्च तदतिरिक्त एवाधारा-
धेयप्रतियोग्यनुयोगिविषयविषयिभावादिः ॥

शाब्द बोध में भासित होने वाला वह संसर्ग कहीं पर अभेद होता है। जैसे "नीलो घटः" में नील और घट का सम्बन्ध। तथा कहीं उससे भिन्न = भेद सम्बन्ध होता है। जैसे आधाराधेय प्रतियोग्यनुयोगी विषयविषयीभाव आदि। आधाराधेय से विषयिभावादि तक के शब्दों में द्वन्द्वसमास हुआ है आधारश्च आधेयश्च प्रतियोगी चानुयोगी च विषयश्च विषयी च इति आधाराधेय प्रतियोग्यनुयोगिविषयविषयिणः इस द्वन्द्व समास से समस्त पदों का पश्चात् "भाव" शब्द के साथ समास होने पर "आधाराधेयप्रतियोग्यनुयोगिविषयविषयिभाव" शब्द निष्पन्न हुआ है। द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बद्धयते" इस नियमानुसार भाव शब्द का सम्बन्ध द्वन्द्वघटक प्रत्येक आधार आदि शब्दों के साथ होगा तो अर्थ होगा आधारभाव अर्थात् आधारता, आधेयभाव = आधेयता, प्रतियोगी भाव = प्रतियोगिता इत्यादि। ये सम्बन्ध भेद सम्बन्ध हैं जो कि शाब्दबोध में भासित होते हैं।

अब प्रश्न यह है कि आधारता आधेयता दोनों में मिलकर सम्बन्धत्व रहता है या अलग-अलग आधारता आदि में या दोनों में रहने वाला एक अखण्डोपाधिविशेष? आधारत्व आधेयत्व दोनों में मिलकर सम्बन्धत्व के रहने की तो कल्पना नहीं कर सकते। क्योंकि आधारत्व और आधेयत्व दोनों का एक जगह होना असंभव है। जहाँ आधारत्व रहेगा वहाँ आधेयत्व नहीं और जहाँ आधेयत्व रहेगा वहाँ आधारत्व नहीं रहता। यदि कहें प्रत्येक अलग-अलग सम्बन्ध है तो आधेयता सम्बन्ध भले ही प्रसिद्ध हो "आधारत्व" सम्बन्ध तो भट्टाचार्य के मत में माना नहीं जाता। यदि कहें आधारत्व आधेयत्व दोनों में रहने वाला एक अखण्डउपाधिविशेष है तो, ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि जब आधेयत्व रूप से विशिष्ट बुद्धि की उपपत्ति हो जाएगी तो उभयसाधारण मानने की क्या आवश्यकता? यदि कहें कि जैसे संयोग सम्बन्ध उभयनिष्ठ होता है वैसे आधारत्व आधेयत्व संसर्ग भी उभयसाधारण (उभयनिष्ठ) माना जा सकता है? तो ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि बिना किसी बलवत् प्रमाण के, केवल सादृश्य के कारण अभिमत वस्तु की सिद्धि नहीं की जा सकती अन्यथा जैसे संयोग सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध से उभयनिष्ठ होता है वैसे ही समवाय भी किसी दूसरे सम्बन्ध से उभयनिष्ठ होगा, वह सम्बन्ध भी सम्वन्धान्तर से, इस प्रकार तो अनवस्था हो जाएगी। अतः यहाँ यह समझना चाहिए कि सम्बन्ध के विषय में प्राचीन नैयायिक तथा नवीन नैयायिकों में मतभेद है। प्राचीन लोग प्रकृत्यर्थ का प्रत्ययार्थ में आधारत्व सम्बन्ध

मानते हैं जबकि नवीन लोग प्रकृत्यर्थ का प्रत्ययार्थ में आधेयत्व सम्बन्ध मानते हैं।

गदाधर भट्टाचार्य ने दोनों मत का संग्रह करने की इच्छा से आधारत्व आधेयत्व आदि सभी में सम्बन्धत्व कथन करने के लिए इस प्रकार के वाक्य का प्रयोग किया है। अथवा आधारता निरूपित आधेयता, प्रतियोगिता निरूपित अनुयोगिता, विषयता निरूपित विषयिता को संसर्ग मानकर उपर्युक्त वाक्य भट्टाचार्य ने कहा है। ऐसा भी माना जा सकता है।

अभेदश्च प्रातिपदिकार्थे स्वसमानविभक्तिकेन, स्वाव्यवहितपूर्ववर्तिना च पदेनोपस्थापितस्यैव संसर्गमर्यादया भासते। यथा नीलो घटो, नीलघटमानय इत्यादौ घटादौ नीलादेः। न तु विरूद्धविभक्तिमत्पदार्थस्य नीलस्य घट इत्यादौ नीलघटाभेदान्वय- बोधस्य सर्वानुभवविरूद्धत्वात्।

शाब्दबोध में आकाँक्षभास्य अभेद सम्बन्ध, प्रातिपदिकार्थ में (विशेष्य में) उसी के समान विभक्ति वाले पंद के द्वारा, अथवा विशेष्यवाचक प्रातिपदिक के अव्यवहितपूर्व में विद्यमान (विशेषण वाचक) पद के द्वारा उपस्थापिंत अर्थ का हीं होता है। जैसे नीलो घटः यहाँ पर घट रूप प्रातिपदिकार्थ में उसी के समान प्रथमा विभक्त्यन्त विशेषण वाचक "नीलः" पद के द्वारा उपस्थापित अर्थ "नीलरूपवान्" का अभेद सम्बन्ध आकाँक्षा भास्य होता है। इसी प्रकार "नील घटमानय" यहाँ पर घटरूप विशेष्य वाचक पद के अव्यवहिपूर्व में विद्यमान "नील" पद के द्वारा उपस्थापित "नीलरूपवान्" अर्थ का अभेद सम्बन्ध आकाँक्षाभास्य होता है। न कि विशेष्यवाचक पद से विरूद्ध विंभक्ति वाले विशेषण वाचक पद के द्वारा उपस्थापित अर्थ का अभेद सम्बन्ध शाब्दबोध में भासित होता हैं। क्योंकि "नीलस्य घटः में विशेष्य वाचक प्रथमान्त घटः पद से विरूद्ध विभक्ति षष्ठी (ङस्) वाले विशेषण वाचक "नीलस्य" पद के द्वारा उपस्थापित नील अर्थ का अभेद सम्बन्ध की प्रतीति किसी भी अभ्रान्त प्रामाणिक पुरूष को नहीं होती है।

यहाँ यह बात ध्यान रहे कि "गुणे शुक्लादयः पुंसिगुणिलिङ्गास्तु तद्वति" इस अमरकोश के अनुशासन के कारण नील पद गुणी घट के लिङ्ग के अनुसार पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त है। अतः उसका तद्वान् में लक्षणा मानीं जाती है। अतः नील पद का अर्थ नीलरूप न करके नीलरूपवान् किया जाता है। अभेदसम्बन्ध के विषय में जो उपर्युक्त नियम बताया गया उसका सारांश यह निकला कि - जहाँ विशेष्य वाचक पद के आगे जो विभक्ति आयी है उसी के समान विभक्ति यदि विशेषण वाचक पद के आगे आये तो वहाँ पर उन दोनों पदार्थों (विशेष्य विशेषण) का अभेद सम्बन्ध होता है। यह नियम व्यास (असमस्त) स्थल के लिए है। समस्तस्थल में तो विशेषणवाचकपद के आगे आयी विभक्ति का समासत्वात् प्रातिपदिक संज्ञा होने के कारण "सुपो धातु प्रातिपदिकयोः" से लोप हो जाता है।

अतः वहाँ विशेष्यवाचक पद के समान विभक्ति वाला विशेषण वाचक पद का मिलना दुर्लभ ही होगा। अतः आगे कहा स्वाव्यवहितपूर्ववर्तिनापदेन अर्थात् विशेष्य वाचक पद के अव्यवहित पूर्व में यदि विशेषण वाचक पद हो तब भी विशेष्य विशेषण का अभेद सम्बन्ध होता है। ऐसा नियम इसलिए बनाया क्योंकि जहाँ विशेष्य वाचक पद के आगे जो विभक्ति आयी है उसके विरूद्ध (भिन्न) विभक्ति यदि विशेषण वाचक पद के आगे आयी हो तो ऐसे स्थल में विशेष्य विशेषण का अभेद सम्बन्ध किसी को भी अनुभव नहीं होता। जैसे नीलस्य घटः में नील घट का अभेद सम्बन्ध किसी को भी प्रतीत नहीं होता।

∴ उपर्युक्त नियम से तो ऐसा प्रतीत होता है कि अभेद संसर्ग वहीं आकाँक्षा भास्य होता है जहाँ विशेष्यता के प्रयोजक प्रातिपदिक में जो विभक्ति हो वही विभक्ति प्रकारता के प्रयोजक पद में भी रहे।

परन्तु क्रियाविशेषण स्थल में जैसे स्तोकं पचति यहाँ पर स्तोक रूप विशेषण का पच् धात्वर्थ पाक में जो अभेद सम्बन्ध शाब्दबोध में भासित होता है वह आकाँक्षाभास्य नहीं होगा क्योंकि यहाँ पर विशेष्यता का प्रयोजक प्रातिपदिक ही नहीं है। क्योंकि विशेष्यता है पाक में जो प्रातिपदिकार्थ नहीं है तथा उसमें जिस स्तोक पदार्थ का अभेद सम्बन्ध भासित हो रहा है वह विशेष्यता प्रयोजक पच् धातु के समान विभक्ति वाले पद के द्वारा तो उपस्थापित ही नहीं है। पुनः स्तोकाऽभिन्नः पाकः इस शाब्दबोध में भासित होने वाला अभेद सम्बन्ध आकाँक्षा भास्य कैसे होगा। इसका समाधान यह है कि उपर्युक्त नियम उन स्थलों के लिए है "जहाँ विशेष्यता प्रातिपदिकार्थ में रहती हो"। स्तोकं पचति में तो विशेष्यता पाक में है जो प्रातिपदिकार्थ नहीं हैअपितु धात्वर्थ है। अतः यहाँ यदि स्तोकरूप विशेषण समान विभक्ति वाले पद के द्वारा नहीं भी उपस्थापित है तब भी इन दोनों (स्तोक तथा पाक) का अभेद सम्बन्ध आकाँक्षाभास्य माना ही जाएगा। इसी अभिप्रायः से भट्टाचार्य ने "प्रातिपदिकार्थे" शब्द का प्रयोग किया। क्योंकि जब शाब्दबोध में सम्बन्ध सामान्य को आकाँक्षाभास्य बताना था तब अनुयोगी (विशेष्य) का ग्रहण "एकपदार्थे" कहकर पदार्थ के रूप में किया परन्तु जब अभेदसम्बन्ध रूप सम्बन्ध विशेष को आकाँक्षा भास्य बताना हुआ तो अनुयोगी (विशेष) का ग्रहण पदार्थत्वेन न करके "प्रातिपदिकार्थे" ऐसा कहकर प्रातिपदिकार्थत्वेन किया। जिसका फल यह हुआ कि प्रातिपदिक जहाँ विशेष्यता का प्रयोजक होगा अर्थात् जहाँ प्रातिपदिकार्थ में विशेष्यता रहेगी वहीं "समान विभक्तिकेनपदेनोपस्थापितस्यैवार्थस्य" नियम लागू होगा तो स्तोकं पचति में स्तोकाभिन्नः पाकः इस प्रकार के होने वाले शाब्दबोध में अभेद सम्बन्ध जो कि सर्वानुभव सिद्ध है उसके आकाँक्षा भास्य होने में अब कोई आपत्ति नहीं रही। क्योंकि यहाँ पाक में रहने वाली विशेष्यता का प्रयोजक प्रातिपदिक तो है नहीं

(अपितु पच् धातु है।) अतः यहाँ समानविभक्तिक वाला नियम लागू ही नहीं होता।

स्वसमानविभक्तिकत्वञ्च स्वप्रकृतिकविभक्तिसजातीयविभक्तिकत्वम्। साजात्यञ्च विभक्तिविभाजकप्रथमात्वादिना, न तु समानानुपूर्वीकत्वं साजात्यम्, "वेदाः प्रमाणम्", "शतं ब्राह्मणाः" इत्यादावन्वयबोधानुपपत्तेः॥

ऊपर बताया जा चुका है कि व्याससस्थल में अभेद सम्बन्ध वहीं पर होता है जहाँ विशेषण वाचक पद, विशेष्य वाचक पद के समानविभक्तिक हो। अब प्रश्न यह उठता है कि विशेष्यवाचकपदसमानविभक्तिकत्व क्या है जो विशेषणवाचक पद में रहता है? क्योंकि समान शब्द का अर्थ है "एक"। ऐसी स्थति में समानविभक्तिकत्व का अर्थ यदि "एक" विभक्तिकत्व करें तो इसका तात्पर्य हुआ कि जो विभक्ति विशेष्य वाचक पद के आगे आयी है उसी को विशेषण वाचक पद के आगे भी रहना चाहिए, जो कि असम्भव है। एक ही विभक्ति भला दो पदों के आगे कैसी आ सकती है? इसी प्रश्न का समाधान ग्रन्थकार ने स्वयं समानविभक्तिकत्व की व्याख्या स्वप्रकृतिविभक्तिसजातीय विभक्तिकत्वम् करके किया है। जिसका अर्थ है स्व = अर्थात् विशेष्य वाचक प्रातिपदिक, वह है प्रकृति जिस विभक्ति का वह विभक्ति कहलाएगी स्वप्रकृतिकविभक्ति, उस विभक्ति के सजातीय विभक्ति की प्रकृति होना ही विशेषणवाचक पद का समानविभक्तिकत्व है। जैसे नीलो घटः यहाँ पर विशेष्य वाचक प्रातिपदिक है "घट" वह है अपने आगे आयी "सु" विभक्ति की प्रकृति। अतः घट पद के आगे आयी विभक्ति कहलाएगी "स्वप्रकृतिकविभक्ति, उस सु विभक्ति की सजातीय विभक्ति होगी नील पद के आगे आयी हुई "सु" विभक्ति, उसकी प्रकृति नीलपद है ही। अतः विशेष्यवाचकप्रातिपदिकप्रकृतिकविभक्तिसजातीयविभक्तकत्व विशेषणवाचक नील पद में है, इसलिए वह विशेष्यवाचक प्रातिपदिक के समान विभक्तिक है और इसीलिए यहाँ अभेदान्वय होता है। तात्पर्य यह निकला कि विशेष्य वाचक पद के आगे आने वाली तथा विशेषणवाचक पद के आगे आने वाली विभक्तियों को सजातीय होना चाहिए। अर्थात् जो जाति विशेष्यवाचक पदोत्तर रहने वाली विभंक्ति में हो, वही जाति विशेषण वाचक पद के आगे रहने वाली विभक्ति में भी होनी चाहिए। अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसी अनेक जातियाँ हैं जो दोनों विभक्तियों में रहती हैं जैसे - सुत्व, सुप्त्व, प्रथमात्व आदि। इनमें किस जाति के कारण दोनों विभक्तियों को सजातीय मानना चाहिए? तो इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं - साजात्यञ्च विभक्तिविभाजकप्रथमात्वादिना न तु समानानुपूर्वीकत्वं साजात्यम्। तात्पर्य यह है कि विशेष्यवाचक पद के आगे आयी विभक्ति का साजात्य विशेषण वाचक पद के उत्तरवर्ती विभक्ति में; विभक्ति विभाजक प्रथमात्व द्वितीयात्व आदि जाति के आधार पर लेना चाहिए, न कि उन विभक्तियों की आनुपूर्वी के समान होने के आधार पर।

तात्पर्य यह है कि - विशेष्यवाचक पद के आगे आयी विभक्ति में जो भी विभक्तिविभाजक = प्रथमात्व आदि धर्म (जाति) हो वह विभक्ति विभाजक धर्म विशेषण वाचक पद के आगे आयी विभक्ति में भी यदि रहे तो वह सजातीय विभक्ति कहलाएगी। जैसे नीलो घटः में घटपदोत्तर विद्यमान सु विभक्ति में विभक्तिविभाजक धर्म प्रथमात्व है और वही प्रथमात्व विशेषणवाचक नील पदोत्तर विद्यमान "सु" विभक्ति में भी है। अतः विशेष्यवाचक पदोत्तर विभक्ति का साजात्य विशेषणवाचक नील पदोत्तर विद्यमान सु विभक्ति में माना जाता है। भट्टाचार्य आगे कहते हैं - न तु इत्यादि। जिसका तात्पर्य है कि यद्यपि दोनों "सु" विभक्तियों में अन्य भी धर्म (जाति) समान रूप से रहते हैं तथापि अभेदान्वय के लिए साजात्य प्रथमात्व आदि धर्म के आधार पर ही मानना न कि समानानुपूर्वीकत्वेन। आनुपूर्वी कहते हैं "उस वर्ण के अव्यवहित उत्तर में अमुक वर्ण का रहना या अमुक वर्ण के अव्यवहित पूर्व में अमुक वर्ण का होना। जैसे सु में आनुपूर्वी है स् अव्यवहितोत्तर उत्व, अथवा उकाराव्यवहित पूर्ववर्ति सत्व अर्थात् "सुत्व"। समानानुपूर्वीकत्व का अर्थ होगा जिनका आनुपूर्वी समान हो अर्थात् एक जैसा हो। यद्यपि घट पद तथा नील पद के आगें विद्यमान सु विभक्तियों की आनुपूर्वी समान है तथापि उन दोनों सु विभक्तियों में साजात्य समानानुपूर्वीकत्वेन अर्थात् समान आनुपूर्वी वाला होने के कारण नहीं लिया जाता क्योंकि यदि विशेष्यवाचक पद के आगे आयी विभक्ति और विशेषणवाचक पद के आगे आयी विभक्तियों में समान आनुपूर्वी हो तभी साजात्य माना जाएगा तो नीलो घटः या इस प्रकार के स्थलों में भले ही अभेद सम्बन्ध की उपपत्ति हो जाए परन्तु वेदाः प्रमाणम् शतं ब्राह्मणाः, इन स्थलों में अभेदान्वय बोध नहीं हो पाएगा। क्योंकि वेदाः प्रमाणाम् यहाँ पर विशेष्य वाचक वेद पद के आगे आयी जस् विभक्ति में "ज् तदुत्तरवर्तीअकार तदुत्तरवर्ती स्त्व" - आनुपूर्वी है। जबकि विशेषणवाचक प्रमाण पद के आगे आयी सुविभक्ति में "स् तदुत्तरवर्ती उत्व" है। इसी तरह शतं ब्राह्मणाः में भी विशेष्यवाचक बाह्मण पद के आगे आयी जस् विभक्ति की आनुपूर्वी (जस्त्व) तथा विशेषणवाचक शत पद के आगे आयी विभक्ति "सु" की आनुपूर्वी (सुत्व) है। इस तरह दोनों स्थलों में विशेष्यवाचक पद के आगे आयी विभक्ति की आनुपूर्वी तथा विशेषण वाचक पद के आगे आयी विभक्ति की आनुपूर्वी समान नहीं है। अतः दोनों जगह अभेदान्वयबोध नहीं हो पाएगा जबकि इन स्थलों में अभेदान्वयबोध माना जाता है।

परन्तु जब दोनों विभक्तियों का साजात्य प्रथमात्व या द्वितीयात्व आदि विभक्ति विभाजक धर्म के आधार पर मानते हैं तो नीलो घटः में तो अभेदान्वय उपपन्न हो ही जाता है। वेदाः प्रमाणम् शतं ब्राह्मणाः में भी अभेदान्वयबोध उपपन्न हो जाता है। क्योंकि वेदाः प्रमाणम् या शतं ब्राह्मणाः आदि स्थलों में विशेष्य वाचक पद = वेद पद या ब्राह्मण पद के आगे आयी जस् विभक्ति में विभक्ति

विभाजक जो प्रथमात्व है वही प्रथमात्व विशेषण वाचक = प्रमाण पद, या शत पद के आगे आयी सु विभक्ति में है। अतः विशेष्यवाचक पदोत्तर विद्यमान् जस् विभक्ति का साजात्य विशेषण वाचक पदोत्तर विद्यमान सुविभक्ति में आ जाने से विशेषण वाचक पद विशेष्यवाचकपद का समानविभक्तिक कहलाता है तो उसके द्वारा उपस्थापित अर्थ विशेषण का अभेदसम्बन्ध विशेष्य के साथ उपपन्न हो जाता है।

ननु "विंशत्याद्याः सदैकत्वे" इत्यनुशासनात् शतं ब्राह्मणाः इत्यादेः साधुत्वेऽपि, वेदाः प्रमाणम् इत्यादयः कथं प्रयोगाः? विशेष्यविशेषण-वाचकपदयोरसति विशेषानुशासने समानवचनकत्वनियमात्, अन्यथा "घटा नीलः इत्यादेरपि साधुताप्रसङ्गात्।

अभी-अभी ऊपर समानानुपूर्वीकत्वेन साजात्य लेने पर वेदाः प्रमाणम् और शतं ब्राह्मणाः इन वाक्यों में अभेदान्वय की अनुपपत्ति रूप दोष दिखाया गया है। अब भट्टाचार्य जी स्वयं वेदाप्रमाणम् इस वाक्य की साधुता के ऊपर ही प्रश्न उठा रहे हैं तात्पर्य यह है कि जब वेदाः प्रमाणम् वाक्य ही असाधु है तो उसका प्रयोग कैसे होगा? उसमें अभेदान्वय का अनुपपन्न होना तो दूर की बात हुई। वेदाः प्रमाणम् वाक्यअसाधु कैसे है? इसको ननु इत्यादि से बताते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि "विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येयसंख्ययोः। संख्यायां द्विबहुत्वेस्तः" इस अमरकोश के अनुशासन के कारण शतं ब्राह्मणाः या इस तरह के अन्य प्रयोग भले ही साधु हों। क्योंकि उपर्युक्त कोशवाक्य का अर्थ है कि - विंशति आदि अर्थात् विंशति के आगे के सभी संख्यावाचक शब्द जब संख्याविशिष्टसंख्येय के वाचक हों तब सदा एकवचन ही होते हैं परन्तु जब संख्या परक हों तो द्विवचन और बहुवचन भी होते हैं। प्रकृत शतं ब्राह्मणाः में शत पद संख्या विशिष्ट संख्येय = ब्राह्मण को कह रहा है। अतः एकवचन ही होगा। उपर्युक्त अनुशासन की बाध्यता है। अतः शतं ब्राह्मणाः यह वाक्य साधु है। इसका प्रयोग होने में आपत्ति नहीं। इसलिए यहाँ जो अभेदान्वयबोध का अनुपपन्न होना दोष दिखाया गया वह तो युक्तियुक्त है। परन्तु वेदाः प्रमाणम् यह तो वाक्य ही असाधु है। क्योंकि ऐसा नियम है कि - "यदि कोई विशेष अनुशासन न हो तो विशेष्य विशेषणवाचक पदो में समानवचन होना चाहिए।"

जैसा कि शतं ब्राह्मणाः में विंशत्याद्याः सदैकत्वे रूप कोश विशेष अनुशासन है तो वहाँ यदि विशेष्यवाचकपद तथा विशेषणवाचक पद में समानवचनकत्व नहीं भी है तब भी कोई आपत्ति नहीं। परन्तु वेदाः प्रमाणम् यहाँ पर तो ऐसा कोई विशेष अनुशासन नहीं है जो यह कहे कि - वेद पद सदा बहुवचन ही होता है या प्रमाण पद सदा एकवचन ही होता है। ऐसी स्थिति में जबकि कोई विशेष अनुशासन नहीं है विशेष्यवाचक वेद पद तथा विशेषणवाचक प्रमाण पद को समान वचन वाला होना चाहिए था जो कि नहीं है। अतः यह "वेदाः प्रमाणम्"

वाक्य असाधु है पुनः इस असाधु वाक्य का प्रयोग ही कैसे उपर्युक्त् दोष देते समय किया गया? यही उपर्युक्त ग्रन्थ का आशय है।

यहाँ इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि अब अभेदान्वय बोध की अनुपपत्ति की बात नहीं की जा रही है अपि तु उस प्रसंग में वेदाः प्रमाणम् वाक्य का जो प्रयोग किया गया उसकी साधुता के विषय में आशंका और समाधान किया जा रहा है। अस्तु।

यदि विशेष अनुशासन के बिना भी विशेष्यवाचक पद और विशेषणवाचक पदों का समानवचनकत्व होने का नियम नहीं मानेंगे तो "घटा नीलः" इस प्रकार के वाक्य भी साधु मानने पड़ेंगे जो कि माने नहीं जाते। पुनः वेदाः प्रमाणम् इस वाक्य का प्रयोग कैसे किया गया?

समानलिङ्गकस्थले तथानियमोपगमेन वेदाः प्रमाणम् इत्यादेः साधुत्वोपपादनेऽपि" इति हेतुस्तदुद्भवे" इतिकारिकायाः "इति त्रयः समुदिता हेतुः" इति काव्यप्रकाशव्याख्याया असंङ्गतिर्दुर्वारैवा एवमसमानलिङ्गकस्थले विशेष्यवाचकपदासमानवचनस्यापि विशेषणपदस्य साधुत्वे तादृशस्थले औत्सर्गिकमेकवचनमेव सर्वत्र विशेषणपदानन्तरं प्रयोक्तुमुचितमिति "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि" "पितरो देवताः" इत्यादेरनुपपत्तिः।

वेदाः प्रमाणम् प्रयोग को साधु सिद्ध करने के उद्देश्य से यदि यह कहा जाए कि जहाँ विशेष्यवाचक पद और विशेषणवाचक पद का लिङ्ग समान (एक) हो वहीं पर "विशेष्यविशेषणवाचक पदों का समानवचनकत्व" रूप नियम प्रवृत्त होता है। वेदाः प्रमाणम् में तो विशेष्यवाचक वेद पद, पुल्लिङ्ग है और विशेषण वाचक प्रमाण पद नपुंसकलिङ्ग। इस प्रकार विशेष्यवाचक पद और विशेषणवाचक पद के समान लिङ्गवाला न होने के कारण यहाँ "समानवचनकत्व" वाला नियम नहीं लगेगा? तो ग्रन्थकार कहते हैं इस प्रकार वेदाः प्रमाणम् में साधुता के उपपन्न होने पर भी काव्यप्रकाश की।

शक्तिर्निपुणतालोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

इस कारिका के चतुर्थ चरण" इति हेतुस्तदुद्भवे" की व्याख्या करते हुए स्वयं काव्यप्रकाशकार वाग्देवतावतार माने जाने वाले मम्मट ने जो कहा - "इति त्रयः समुदिता हेतुः। सो उनके "त्रयः हेतुः" वाक्य की असङ्गति तो दुर्वार हो जाएगी। क्योंकि यहाँ विशेष्यवाचक हेतु पद तथा विशेषणवाचक "त्रि" पद दोनों पुल्लिङ्ग है। पुनः यहाँ तो समान वचन दोनों पदों को होना चाहिए था परन्तु नहीं है। हेतु पद एक वचनान्त है और त्रि पद बहुवचनान्त। यह समानवचनकत्व नियम मेंअव्याप्तिदोष हो गया। अब यदि समानलिङ्गकस्थल में ही समानवचनकत्व

नियम की प्रवृत्ति माने तो अतिव्याप्तिदोष भी आएगा। इसको बताने के लिए कहते है कि - यदि समानलिङ्गकस्थल में ही विशेष्यविशेषणवाचक पदों का समानवचनकत्व आवश्यक माना जाएगा तो इसका अर्थ यह हुआ असमानलिङ्गकस्थल में अर्थात् जहाँ विशेष्यवाचक पद का और विशेषण वाचक पद का लिङ्ग समान नहीं है (एक नहीं हैं) वहाँ पर विशेष्यवाचक पद के आगे जो वचन है उससे भिन्न वचनवाला भी विशेशण पद साधु माना जाएगा। ऐसी स्थिति में जहाँ विशेष्य विशेषण वाचक पदों के लिङ्ग में समानता नहीं है ऐसे सभी स्थलों में विशेषणवाचक पद के आगे प्रथम प्राप्त औत्सर्गिक एकवचन का ही प्रयोग करना उचित होगा। ऐसी स्थिति में "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि" गौतम का यह सूत्र तथा पितरो देवताः यह वाक्य सब अनुपपन्न हो जाएंगे। क्योंकि यहाँ पर विशेष्यवाचक "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्द" पद पुल्लिङ्ग है और प्रमाण पद नपुंसक, इसी प्रकार पितरः यह विशेष्यवाचक पद पुल्लिङ्ग है और विशेषणवाचक देवता पद स्त्रीलिङ्ग। इस तरह दोनों स्थलों में विशेष्यविशेषणवाचक पद असमान लिङ्गक है। अतः यहाँ समानवचनकत्व वाला नियम नहीं लगेगा तो विशेषणवाचक पद के आगे औत्सर्गिक एकवचन का ही प्रयोग होना चाहिए था, परन्तु ऐसा नहीं किया गया है। 'अपितु विशेषणवाचक पद के आगे वही वचन (जस्) प्रयुक्त हैं जो विशेष्यवाचक पद के आगे, यही अलक्ष्य में नियम के प्रवृत्त हो जाने से अतिव्याप्ति दोष हुआ। अतः उपर्युक्त अव्याप्ति अतिव्याप्ति रूप दोषों के कारण "समानलिङ्गक स्थल में ही विशेष्यवाचक तथा विशेषणवाचक पदों में समानवचनकत्व आवश्यक है" ऐसा नहीं कहना चाहिए। तब पुनः वेदाः प्रमाणम् में असाधुत्व की आपत्ति तो रह ही गयी तो इसका समाधान भट्टाचार्य देते हैं -

मैवम्, यत्र विशेष्यवाचकपदोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयसंख्याविरुद्ध-संख्याया अविवक्षितत्वं तत्र विशेष्यविशेषणपदयोः समानवचनकत्वनियमः। अत एव "पुरूरवोमाद्रवसौ विश्वेदेवाः" इत्यादौ द्वित्वविशिष्टयोः पुरूरवोमाद्रवः प्रभृत्योर्विशेषणतया विवक्षितत्वात् तद्वाचकस्य पदस्य द्विवचनान्तता।

इसका तात्पर्य यह है कि - जहाँ विशेष्यवाचक पद के आगे आयी हुई विभक्ति के तात्पर्य का विषय जो संख्या हो, उससे विरूद्ध संख्या यदि विशेषण पद के आगे आयी हुई विभक्ति के द्वारा अविवक्षित हो" तो वहाँ पर विशेष्य वाचक पद और विशेषणवाचक पद का समानवचन होना आवश्यक है। जैसे नीलो घटः यहाँ पर विशेष्यवाचक पद है घट पद, उसके आगे आयी हुई "सु" विभक्ति के तात्पर्य का विषय संख्या है = एकत्व संख्या, उससे विरूद्ध संख्या होगी द्वित्व या बहुत्व संख्या, ऐसी द्वित्व या बहुत्व संख्या विशेषणवाचक नील पद के आगे आई हुई सु विभक्ति के द्वारा विवक्षित नहीं है (अविवक्षित है)

अतः नीलो घटः में दोनों पदों में समानवचनकत्व का होना आवश्यक है, जो कि है भी। परन्तु वेदाः प्रमाणम् "यहाँ पर विशेष्यवाचक पद है वेद पद उसके आगे आयी विभक्ति है जस् विभक्ति उसके तात्पर्य का विषय संख्या है बहुत्व संख्या, उससे विरूद्ध संख्या है एकत्व संख्या, जो कि विशेषणवाचक प्रमाण पद के आगे आयी हुई सु विभक्ति के द्वारा विवक्षित ही है (अविवक्षित नहीं है)। अतः यहाँ पर समानवचनकत्व वाला नियम नहीं लगेगा। इस प्रकार "घटा नीलः" इस प्रकार के अनिष्ट प्रयोग की आपत्ति भी नहीं रहेगी। क्योंकि घटपदोत्तरवर्ती जस् विभक्ति का तात्पर्य विषय बहुत्व संख्या से विरूद्ध एकत्व संख्या विशेषणवाचक नीलपदोत्तरवर्ती सु विभक्ति के द्वारा अविवक्षित ही है। अतः यहाँ समानवचनकत्व होना चाहिए था, जबकि नहीं है। अतः यह वाक्य असाधु होने से प्रयुक्त नहीं होता। अब यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि भट्टाचार्य जी ने उपर्युक्त समानवचनकत्व वाले नियम में संख्या का प्रवेश सीधे-सीधे विभक्त्यर्थ रूप में नहीं करके तात्पर्य विषयत्वेन क्यों किया? प्रश्न काआशय है कि - विशेष्यवाचक पद के आगे जो भी विभक्ति आएगी उसका अर्थ भी वही संख्या होगी जो उसवभक्ति के तात्पर्य का विषय होगा। जैसे - वेदाः यहाँ पर वेदपदोत्तर जस् विभक्ति का अर्थ भी तो बहुत्व संख्या ही है, पुनः उस बहुत्व संख्या का ग्रहण करने के लिए विशेष्यवाचक पदोत्तर विभक्त्यर्थ संख्या ऐसा ही कह देते - विभक्तितात्पर्य विषय संख्या ऐसा द्रविड़ प्राणायाम करने की क्या आवश्यकता थी? गुरुजन इस प्रश्न का समाधान करते हैं कि यदि संख्या का ग्रहण विभक्त्यर्थ रूप में करते तो जहाँ पर किसी ने "वेदाः प्रमाणम्" ऐसा वाक्य प्रयोग किया परन्तु सुनने वाले को अज्ञान के कारण "जस् विभक्ति की शक्ति एकत्व संख्या में है" ऐसा शक्ति भ्रम हो गया है। उस श्रोता के अनुसार तो वेद पदोत्तर जस् विभक्ति का अर्थ एकत्व संख्या ही होगी, उस एकत्व संख्या की विरूद्ध संख्या तो एकत्व संख्या होगी नहीं जो कि प्रमाणपदोत्तरवर्ती सु विभक्ति के द्वारा विवक्षित है, अपितु उपर्युक्त जस् विभक्त्यर्थ एकत्व संख्या की विरूद्ध संख्या होगी बहुत्व या द्वित्व संख्या जो कि प्रमाणपदोत्तर वर्ती सु विभक्ति के द्वारा अविवक्षित ही है। अतः समानवचनकत्व आवश्यक हो जाएगा जो कि नहीं है तो "वेदाः प्रमाणम्" की साधुता पुनः अनुपपन्न ही रह जाएगी। तब तो भट्टाचार्य जी का यत्र विशेष्यवाचक इत्यादि प्रयास भी व्यर्थ ही हो जाएगा। अतः संख्या का प्रवेश विभक्त्यर्थत्वेन न करके तात्पर्यविषयत्वेन किया।

जब तात्पर्यविषयत्वेन संख्या का ग्रहण करते हैं तो उपर्युक्त वेदाः प्रमाणम् स्थल में श्रोता को भले ही शक्तिभ्रम से जस् विभक्ति का अर्थ बहुत्व संख्या है ऐसा ज्ञान होवे परन्तु विभक्ति का तात्पर्य तो बहुत्व संख्या का बोध कराने में ही है। क्योंकि तात्पर्य कहते हैं "वक्तुरिच्छा तात्पर्यम्" के अनुसार वक्ता की इच्छा को। ऐसी स्थिति में वक्ता ने जब वेद पद के आगे जस् विभक्ति का प्रयोग किया, उस समय उसकी तो यही इच्छा थी कि "यह जस् विभक्ति बहुत्व

संख्या का बोध करावे", इसलिए वक्ता की इस इच्छारूप तात्पर्य का विषय तो बहुत्व संख्या ही होगी, उसी का ग्रहण होगा तो पुनः उसकी विरूद्ध संख्या होगी एकत्व संख्या जो प्रमाण् पदोंत्तरवर्ती सुविभक्ति के द्वारा विवक्षित ही है। अतः समानवचनकत्व नियम नहीं लगेगा।

अब एक दूसरा प्रश्न यह भी होता है कि -

यत्र विशेषणवाचकपदोत्तरविभक्त्या संख्याया अविवक्षितत्वं तत्र विशेष्य विशेषणवाचकपदयोः समानवचनकत्वनियमः" इतना ही क्यों नहीं कहते? तात्पर्य यह है कि जहाँ पर विशेषणवाचक पद के आगे आयी विभक्ति के द्वारा संख्या विवक्षित होती है वहाँ पर विशेष्य विशेषण वाचक पदों में समान वचन नहीं दिखाई पड़ता इसलिए जहाँ विशेषणवाचक पदोत्तरवर्ती विभक्ति के द्वारा संख्या अविवक्षित हो वहाँ समानवचनकत्व विशेष्यविशेषणवाचक पदों में आवश्यक है इतना ही कह देने से भी उपर्युक्त सभी स्थलों में दोष का परिहार हो ही जाएगा। पुनः "विशेष्यवाचकपदोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयसंख्यायाविरूद्ध" इतना अधिक अंश कहने की क्या आवश्यकता थी? तो विद्वान् लोग इस प्रश्न का समाधान यह कहते हुए करते हैं कि जहाँ पर वेदत्व में एकत्व बताने की इच्छा से किसी ने "वेदः प्रमाणम्" ऐसा वाक्य प्रयोग किया वहाँ पर विशेषणवाचक प्रमाण पदोत्तर आयी सु विभक्ति के द्वारा एकत्व संख्या विवक्षित ही है अविवक्षित नहीं है, तो दोनों पदों में समानवचनकत्व नहीं होना चाहिए जबकि है। इस प्रकार वेदः प्रमाणम् यह प्रयोग असाधु होने लगेगा। अतः विरूद्धान्त कथन किया गया। तब विशेष्य वाचक वेद पदोन्तरवर्ति सु विभक्ति तात्पर्य विषय संख्या होगी एकत्व संख्या उसकी विरूद्ध संख्या होगी द्वित्व या बहुत्व संख्या जो कि प्रमाण पदोत्तरवर्ती सु विभक्ति के द्वारा अविवक्षित ही है। अतः दोनों पदों में समानवचनककत्व उपपन्न हो जाता है।

इस तरंह उपर्युक्त नियम के कारण ही "पुरूरवोमाद्रवसौ विश्वेदेवाः" इस वाक्य की भी साधुता उपपन्न हो जाती है। क्योंकि - विशेष्यवाचक विश्वेदेव पद के आगे आयी जस् विभक्तितात्पर्यविषयसंख्या है बहुत्वसंख्या, उससे विरूद्ध संख्या है द्वित्व संख्या जो कि विशेषणवाचक पुरूरवोमाद्रवस्" पद के आगे आयी "औ" विभक्ति के द्वारा विवक्षित ही है। अतः यहाँ समानवचनकत्व आवश्यक नहीं है। अब यहाँ जिज्ञासा यह होती है कि पुरूरवोमाद्रवस् पद के आगे आयी "औ" विभक्ति के द्वारा द्वित्व संख्या क्यों विवक्षित है? तो इसका उत्तर ग्रन्थकार स्वयं देते हैं "द्वित्वविशिष्टयोः पुरूरवोमाद्रवः प्रभृत्योर्विशेषणतया विवक्षितत्वात्" तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त स्मृतिवाक्य में द्वित्वसंख्याविशिष्ट ही पुरूरवस् और माद्रवस् "समुदाय में विशेषणता विवक्षित है।

श्राद्धों की रक्षा के लिए विश्वेदेवों की नियुक्ति ब्रह्मा जी ने किया था। जिसमें भिन्न-भिन्न श्राद्ध के लिए भिन्न-भिन्न विश्वेदेव माने गये हैं। पार्वण श्राद्ध

में पुरूरवा और माद्रव विश्वेदेव रक्षक के रूप में माने गये है। पुरूरवा यद्यपि एक विश्वेदेव का नाम है इसी तरह माद्रवस् भी। परन्तु उपर्युक्त स्मृति वाक्य में आये पुरूरवा शब्द का अर्थ है पुरूरवा प्रभृति अर्थात् पुरूरवा है मुख्य जिस समुदाय का वह समुदाय यहाँ पर पुरूरवा शब्द से कहा गया है इसी तरह माद्रवस् है मुख्य जिस समुदाय का वह समुदाय "माद्रव" शब्द का अर्थ है।

तात्पर्य यह निकला कि पुरूरवा समुदाय तथा माद्रव समुदाय ये दोनों समुदाय मिलकर ही पार्वण श्राद्ध में विश्वेदेव कहलाते हैं। अकेले कोई एक समुदाय या समुदाय घटक व्यक्ति विशेष नहीं। यही तात्पर्य है द्वित्वविशिष्टयोः इत्यादि का। अर्थात् "विश्वेदेव का विशेषण द्वित्वविशिष्ट ही पुरूरवमाद्रवस् समुदाय है" इस बात को बताने की इच्छा से ही "पुरूरवोमाद्रवस्" इस पद से औ विभक्ति आयी है। इस प्रकार यहाँ द्वित्व विवक्षित हुआ औ विभक्ति के द्वारा तो यहाँ समानवचनकत्व नियम प्रवृत्त नहीं हुआ।

इस "यत्र विशेष्यवाचक इत्यादि नियम के द्वारा वेदाः प्रमाणम् में साधुता उपपन्न करते हुए ऊपर यह कहा गया कि वेदपदोत्तर जस् विभक्ति तात्पर्य विषय बहुत्व संख्या की विरूद्ध एकत्व संख्या प्रमाणपदोत्तरवर्ती सुविभक्ति के द्वारा विवक्षित है। अब यहाँ भी जिज्ञासा होती है कि इस सु विभक्ति के द्वारा एकत्व संख्या क्यों विवक्षित है? प्रमाणम् इस एकवचन का प्रयोग करके उपर्युक्त वाक्य के द्वारा वक्ता क्या कहना चाहता है? तो इसका समाधान करते हुए कहते हैं।

वेदाः प्रमाणम् इत्यत्र च विशेषणपदोत्तरविभक्त्या बहुत्वविरुद्ध-मेकत्वं विवक्षितं, तच्च प्रकृत्यर्थतावच्छेदके प्रमितिकरणत्वेऽन्वेति। शाब्दप्रमाकरणत्वं च शब्दत्वावच्छिन्नं यावच्छब्दनिष्ठमेकमेवेति नायोग्यता।

तात्पर्य यह है कि वेदाः प्रमाणम् में विशेषणवाचक प्रमाण पदोत्तरवर्ती सु विभक्ति के द्वारा बहुत्व संख्या की विरूद्ध एकत्व संख्या विवक्षित है। प्रश्न है क्यों? क्योंकि यदि एकत्व विवक्षित है तो उसका सम्बन्ध कहाँ होगा अर्थात् किसको एक कहना चाहता है? वैसे तो नियम है कि प्रत्ययार्थ संख्या का प्रकृत्यर्थ में ही अन्वय होना चाहिए तो प्रमाण पदोत्तरवर्ती सु प्रत्ययार्थ एकत्व संख्या यदि विवक्षित है तो उसका अन्वय प्रकृतिभूत प्रमाण पद के अर्थ = प्रमाकरण में होना चाहिए जो कि अयोग्य है। क्योंकि "वेदाः प्रमाणम्" यहाँ पर वेद पदार्थ में प्रमाण पदार्थ का अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है यह ऊपर बड़े विस्तार से बताया जा चुका है। इसका अर्थ है जिस प्रमाण पदार्थ = प्रमिति (प्रमा) करण में आप एकत्व का अन्वय करना चाहते हैं वह वेद से अभिन्न है और वेद = शब्द राशि को कहते हैं जो चार हैं। पुनः चार वेद रूप प्रमितिकरण में एकत्व का अन्वय कैसे हो सकता है? अतः ग्रन्थकार ने कहा तच्च प्रकृत्यर्थतावच्छेदके प्रमितिकरणत्वे अन्वेति। अर्थात् वह सु प्रत्यय द्वारा विवक्षित एकत्व प्रकृत्यर्थ प्रमितिकरण में नहीं अन्वित होता है अपितु प्रमितिकरणत्व रूप प्रकृत्यर्थतावच्छेदक

में अन्वित होता है। यहाँ पर सु प्रत्यय की प्रकृति है प्रमाण पद, उसका अर्थ (प्रकृत्यर्थ) है प्रमिति (प्रमा) करण क्योंकि प्रमाकरणं प्रमाणम् यह प्रसिद्ध ही है। यदि प्रकृत्यर्थ प्रमितिकरण है तो प्रकृत्यर्थता रहेगी प्रमितिकरण में, उस प्रमितिकरण में रहने वाली प्रकृत्यर्थता का अवच्छेदक होगा प्रमितिकरण में ही रहने वाला दूसरा धर्म जो कि प्रमितिकरणत्व है, उसी में प्रत्ययार्थ एकत्व का अन्वय होता है। अब प्रश्न यह हो सकता है कि वेद हैं शब्द, और शब्द हैं अनन्त तो अनन्त शब्द रूप प्रमातिकरण में एक प्रमितिकरणत्व कैसे रहेगा? तो इसका उत्तर यह है कि जैसे अनन्त घट में एक घटत्व रहता है उसी प्रकार शाब्दप्रमा (शाब्दबोध) के करणशब्द के अनन्त होने पर भी उनमें रहने वाला शाब्दप्रमाकरणत्व एक ही है।

अतः उसमें एकत्व का अन्वय होने में कोई बाधा नहीं है। शाब्दप्रमाकरणत्व सभी शब्दों (वेद में) में एक ही है। यही बात विवक्षित है प्रमाण पदोत्तर सु विभक्ति के द्वारा। यहाँ मूल में शब्दत्वावच्छिन्नं शाब्दप्रमाकरणत्वं यावच्छब्दनिष्ठम् लिखा है जिसका तात्पर्य तो ऊपर बताया जा चुका है। अब अक्षरार्थ लिखा जा रहा है। इस पंक्ति के अर्थ को समझने से पहले एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि - "जहाँ एक धर्मी में दो धर्म रहते हैं वहाँ उस धर्मी में रहने वाले दोनो धर्मों में से एक धर्मअवच्छेदक और दूसरा धर्म अवच्छिन्न या अवच्छेद्य कहलाता है। अब पङ्क्ति पर ध्यान दें - शाब्दप्रमा का करण होता है शब्द, तो शाब्दप्रमाकरणत्व रूप एक धर्म रहेगा शब्द में,और उसी शब्द में दूसरा धर्म शब्दत्व भी रहता है। इस प्रकार एक "शब्द" रूप धर्मी में (क) शब्दत्व तथा (ख) शाब्द प्रमाकरणत्व, ये दो धर्म रहने वाले हैं। इन दोनों धर्मों में एक शव्दत्व रूप धर्मअवचछेदक होगा और शाब्दप्रमाकरणत्व रूप दूसरा धर्म उससे (शब्दत्व से) अवच्छिन्न होगा। इसी को कहा शब्दत्वावच्छिन्नं अर्थात् शब्दत्व से अवच्छिन्न शाब्दप्रमाकरणत्वम् सभी शब्द में रहता है। यह बात पहले ही बतायी जा चुकी है इसी को कहा यावच्छब्दनिष्ठं। समुदित अर्थ हुआ शब्दत्व से अवच्छिन्न शाब्दप्रमाकरणत्वं जो सभी आप्तोच्चरित शब्दों में रहता है एक ही है।अतः उस एक शाब्दप्रमाकरणत्व में एकत्व का अन्वय होने में कोई अयोग्यता नहीं है।

न च "पदार्थः पदार्थेनान्वेति" इति व्युत्पत्तिविरोधः, सम्पन्नो-व्रीहिरित्यनेकव्रीहितात्पर्यकेप्येकवचनदर्शनेन तादृशव्युत्पत्तिसंकोचस्यावश्य-कत्वात्।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यदि प्रमाण पदोत्तर सुविभक्ति के द्वारा उसका अर्थ एकत्व विवक्षित है और अयोग्यता के भय से उसका अन्वय प्रकृत्यर्थ प्रमितिकरण में नहीं करके प्रकृत्यर्थतावच्छेदक रूप शाब्दप्रमाकरणत्व में करते हैं तो "पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन" इस व्युत्पत्ति का विरोध होगा। इस व्युत्पत्ति का अर्थ है पदार्थ का अन्वय पदार्थ के साथ होता है न कि पदार्थ के

एकदेश के साथ। प्रकृत में एकत्व संख्या सु पद का अर्थ होने से पदार्थ है, तो उसका अन्वय यदि पदार्थ = प्रमिततिकरण में नहीं करके प्रमितिकरणत्व रूप पदार्थ के एकदेश (विशेषण) में करते हैं तो स्पष्ट ही उपर्युक्त व्युत्पत्ति का विरोध होगा।

यहाँ एक बात यह समझनी चाहिए कि भट्टाचार्य ने जो "पदार्थः पदार्थेनान्वेतति" इति व्युत्पत्ति विरोधः लिखा है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त पदार्थः पदार्थेन इत्यादि वाक्य ही व्युत्पत्ति है। जैसा कि मैंने भी उपर्युक्त पङ्क्तियों का अर्थ करते हुए लिखा भी है। जबकि वस्तुतः उपर्युक्त वाक्य व्युत्पत्ति नहीं है।व्युत्पत्ति शब्द का अर्थ कार्यकारणभावज्ञान होता है यह बात व्युत्पत्तिवाद शब्द का अर्थ करते समय प्रारम्भ में ही बताया जा चुका है। क्योंकि व्युत्पत्ति शब्द का अर्थ तत् तत् स्थलों में तत् तत् वाक्य मानेंगें तो "यह पुरुष व्युत्पन्न है" ऐसा प्रयोग नहीं हो पाएगा क्योंकि "वाक्य" रूप व्युत्पत्ति पुरूष में तो रहता नहीं, अतः वह व्युत्पन्न नहीं कहलाएगा।

यदि "स्वानुकूलकृतिमत्त्व" सम्बन्ध से वाक्य को पुरूष में मान भी लें क्योंकि स्व=अर्थात् वाक्य, तदनुकूल कृति रहती है वक्ता पुरूष में, कृतिमान् होगा पुरूष कृतिमत्त्व (कृति) पुरूष में रहने से पुरूष में वाक्यरूप व्युत्पत्ति के रहने से पुरूष में अयं व्युत्पन्नः यह व्यवहार हो सकता है। परन्तु ऐसे सम्बन्ध से वाक्य के रहने के कारण यदि पुरूष व्युत्पन्न कहलाने लगे तब तो जो पुरूष उपर्युक्त व्युत्पत्ति रूप वाक्य के अर्थ को नहीं जानता परन्तु बोलता है वह पुरूष भी व्युत्पन्न कहलाएगा क्योंकि तादृशकृतिमान् तो वह भी है ही। इतना ही नहीं अव्याप्ति भी होगी। अयं ग्रन्थः व्युत्पादकः यह व्यवहार भी नहीं हो पाएगा क्योंकि तादृशकृतिमान् निर्जीवग्रन्थभला कैसे होगा अतः यहाँ व्युत्पत्ति का अर्थ कार्यकारणभाव का ज्ञान है प्रकृत में भट्टाचार्य की उपर्युक्त पङ्क्तियों का अर्थ होगा- पदार्थः पदार्थेन अन्वेति इस वाक्य से होने वाले अर्थज्ञान के आधार पर कल्पित जो कार्यकारण भाव का ज्ञान उसका विरोध होगा। यदि एकत्व पदार्थ का अन्वय पदार्थ में नहीं करके पदार्थ के एक देश प्रमितिकरणत्व में करेंगे तो। सम्प्रति वह कौन सा कार्यकारणभाव है जिसके ज्ञान के साथ विरोध होगा उसको बताना आवश्यक भी है और उचित भी परन्तु यहाँ उसका सम्यग् विवेचन करना हिन्दी भाषा में सम्भव भी नहीं है और व्याख्या के कठिन हो जाने की भी आशंका है। अतः संक्षेप में दिग् दर्शन मात्र कराया जा रहा है। जैसे - "स्वतादात्म्य - स्वप्रयोजकवृत्तिज्ञानीयविषयतानिरूपितविषयत्वाप्रयोज्यविषयतानिरूपितत्वउभयसम्वन्धेन विशेष्यताविशिष्टविशेष्यतासम्बन्धेन शाब्दबोधंप्रति मुख्यविशेष्यतासम्बन्धेन उपस्थितिः कारणम्।" इस कार्यकारणभाव को समझने के लिए यह समझना आवश्यक है कि - ज्ञान जैसे समवाय सम्बन्धेन आत्मा में रहता है वैसे ही विषयता सम्बन्धेन अपने विषयों पर भी रहता है। जैसे "अयं घटः" यह ज्ञान समवाय सम्बन्ध से

आत्मा में रहेगा तो विषयता सम्बन्ध से उपर्युक्त ज्ञान के जितने भी (घट, घटत्व तथा इन दोनों का समवाय सम्बन्ध) विषय है सभी में रहेगा। परन्तु घट चूँकि विशेष्य है, अतः उसमें विशेष्यता रूप विषयता सम्बन्ध से, घटत्व चूँकि प्रकार है, अतः उसमें प्रकारता रूप विषयता सम्बन्ध से, तथा समवाय चूँकि घट-घटत्व का संसर्ग है, अतः उसमें संसर्गता रूप विषयता सम्बन्ध से ज्ञान रहता है। कार्यकारण भाव स्थल में यह तो सर्वविदित तथ्य है कि कार्य और कारण की स्थिति एकत्र होनी चाहिए। प्रकृत में शाब्दबोध जो कि कार्य है वह भी ज्ञान ही है और उसका कारण उपस्थिति (वृत्या पदार्थोपस्थिति) वह भी ज्ञान ही है। इसका अर्थ यह हुआ कि विषयता सम्बन्धेन शाब्दबोध को आप जहाँ उत्पन्न करना चाहते हैं वहीं पर (उसी विषय में) उपस्थिति रूप कारण को भी होना चाहिए। अब उपर्युक्त कार्यकारणभाव वाली पङि्क्त को समझें - शाब्दबोध को विशेष्यताविशिष्ट विशेष्यता सम्बन्ध से यदि उत्पन्न करना है तो वहाँ पर मुख्य विशेष्यता सम्बन्ध से उपस्थिति को रहना चाहिए। अब कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध जो विशेष्यता विशिष्ट विशिष्यता है उसी को समझ लें तो यह समझ में आ जाएगा कि शाब्दबोध कहाँ उत्पन्न करना चाहते हैं। ऊपर जो हमने विषयता सम्बन्ध को बताया है इससे इतना तो सिद्ध ही है कि शाब्दबोध को किसी विशेष्य में उत्पन्न करेंगे क्योंकि शाब्दबोधरूप ज्ञान विशेष्यता सम्बन्ध से तो विशेष्य में ही रहेगा। परन्तु सीधे विशेष्यता सम्बन्ध से नहीं कहकर विशेष्यता से विशिष्ट विशेष्यता सम्बन्ध से कहा। यह बात तो सभी जानते हैं कि जब कोई किसी से विशिष्ट होता है तो किसी सम्बन्ध से होता है। अब यहाँ यदि एक विशेष्यता दूसरी विशेष्यता से विशिष्ट होगी तो उन दोनों का भी कोई सम्बन्ध होगा तो उसी सम्बन्ध को कहा कि एक तो स्वतादात्म्य और दूसरा स्वप्रयोजकवृत्तिज्ञानीय इत्यादि। इन दोनों सम्बन्धों से एक विशेष्यता से विशिष्ट जो विशेष्यता, उस विशिष्ट विशेष्यता सम्बन्ध से यदि शाब्दबोध होगा तो मुख्य विशेष्यता सम्बन्ध से वहाँ उपस्थिति को होना चाहिए। अब नीलो घटः यहाँ पर समन्वय करने से बात और स्पष्ट हो जाएगी - नीलो घटः यहाँ पर घट विशेष्य है तो उसमें विशेष्यता है और नील प्रकार (विशेषण) है, अतः उसमें प्रकारता है। घट में रहने वाली विशेष्यता नील में रहने वाली प्रकारता से निरूपित है। इस प्रकार स्व तादात्म्य यहाँ पर स्व शब्द का अर्थ यदि नीलबीनिष्ठ प्रकारता से निरूपित घट निष्ठविशेष्यता को लेते हैं तो इस विशेष्यता में अपना तादात्म्य तो है ही अतः नील निष्ठ प्रकारता से निरूपित घट निष्ठ विशेष्यता ही प्रथम (तादात्म्य) सम्बन्ध से विशिष्ट हुई, अब दूसरे सम्बन्ध में भी स्व पद से नीलनिष्ठप्रकारतानिरूपितघटनिष्ठविशेष्यता ही पकड़ी जाएगी, उसकी प्रयोजक जो वृत्ति ज्ञानीय विषयता वह होगी "घटो घट पद शक्यः" इस वृत्ति ज्ञानीय घटत्व निष्ठ विषयता (प्रकारता) तन्निरूपित अर्थात् उससे निरुपित होगी घटनिष्ठविषयता (विशेष्यता रूपा) तदप्रयोज्यविषयता अर्थात् घटनिष्ठ विषयता से अप्रयोज्य विषयता

होगी नील निष्ठ प्रकारता रूप विषयता उस नील निष्ठ प्रकारता से निरूपित ही है घटनिष्ठ विशेष्यता, इस तरह दूसरा स्वप्रयोजक इत्यादि सम्बन्ध से भी उपर्युक्त विशेष्यता से विशिष्ट नीलनिष्ठप्रकारतानिरूपितघटनिष्ठ विशेष्यता हो गयी। अब इस विशेष्यता सम्बन्ध से शाब्दबोध "नीलो घटः" घटक घट में उत्पन्न करना है यह बात सिद्ध हो गयी तो वहाँ पर मुख्य विशेष्यता सम्बन्ध से उपस्थिति को रहना चाहिए जो रहती भी है। घट पद से जो अभिधा (शक्ति) के द्वारा अर्थ उपस्थित होगा उसमें मुख्य विशेष्यता घट में ही तो रहेगी। क्योंकि, घटो घटः पदशक्यः" इस शक्ति के द्वारा घटपद घटत्व विशिष्ट घट की उपस्थति (ज्ञान) कराता है। उपस्थिति में मुख्य विशेष्य घट ही है। अतः मुख्य विशेष्यता सम्बन्धेन उपस्थिति भी (ज्ञान) घट में है ही जो कारण है। अतः कार्य और कारण की एकत्र स्थति सुसंगत हो जाती है।

परन्तु यदि एकत्व रूप पदार्थ का अन्वय प्रमितिकारणत्व रूप पदार्थैक देश में करेंगे तो उपर्युक्त कार्यकारण भाव नहीं बन पाएगा। क्योंकि उपर्युक्त स्वतादात्म्य और स्वप्रयोजक वृत्ति ज्ञानीयविषयतानिरूपित विषयत्वाप्रयोज्य विषयता निरूपितत्व इन दोनों सम्बन्धों से विशेष्यताविशिष्ट विशेष्यता पदेन हम "एकत्वनिष्ठ प्रकारता से निरूपित प्रमाणत्व निष्ठ विशेष्यता को भी पकड़ सकते हैं। क्योंकि इस विषयता में अपना तादात्म्य तो है ही तो प्रथम सम्बन्ध तादात्म्य सम्बन्धेन उपर्युक्त प्रमाणत्वनिष्ठविशेष्यता से उपर्युक्त प्रमाणत्व निष्ठ विशेष्यता ही विशिष्ट हो गयी। अब दूसरे सम्बन्ध से भी वही विशिष्ट होगी। जैसे - स्व पद का अर्थ होगा - एकत्व निष्ठ प्रकारतानिरूपित प्रमाणत्वनिष्ठ विशेष्यता उसका प्रयोजक वृत्ति ज्ञानीय विषयता होगी "प्रमाणं प्रमाणपदशक्यम्" इस वृत्ति ज्ञान की प्रमाणत्व में रहने वाली विषयता, उससे निरूपित विषयता होगी प्रमाण में रहने वाली विषयता उससे अप्रयोज्य विषयता होगी सुप्रत्ययार्थ एकत्व निष्ठ प्रकारता रूप विषयता उससे निरूपित प्रमाणत्व निष्ठ विशेष्यता है ही। इस तरह दूसरे सम्बन्ध से भी एकत्वनिष्ठ प्रकारता निरूपित प्रमाणत्वनिष्ठ विशेष्यता से एकत्वनिष्ठ प्रकारता निरूपितप्रमाणत्वनिष्ठ विशेष्यता विशिष्ट हो गयी।

अतः विशेष्यता विशिष्ट विशेष्यता पदेन प्रमाणत्व निष्ठा विषयता चूँकि पकड़ी जा सकती है तो उस सम्बन्ध से अर्थात् विशेष्यता विशिष्ट विशिष्यता सम्बन्ध से शाब्दबोध तो प्रमाणत्व (विशेष्य) में उत्पन्न हो सकता है परन्तु वहाँ मुख्य विशेष्यता सम्बन्ध से उपस्थिति नहीं रह सकती। क्योंकि "प्रमाणं प्रमाणपदशक्यम् इस वृत्ति ज्ञान के द्वारा जो पदार्थों का ज्ञान (उपस्थिति) होगा उस उपस्थिति रूप ज्ञान में मुख्य विशेष्य रुप में प्रमाण ही भास रहा है न कि प्रमाणत्व। प्रमाणत्व तो प्रमाण के विशेषण (अवच्छेदक) रूप में उपस्थित हो रहा है। अतः उपस्थिति में मुख्य विशेष्य प्रमाण है प्रमाणत्व नहीं तो मुख्य विशेष्यता सम्बन्ध से उपस्थिति भी प्रमाण में रहेगी प्रमाणत्व में नहीं।

इस तरह कार्य (शाब्दबोध) और कारण (उपस्थिति) की एकत्र स्थिति नहीं बन पाएगी। इसी कार्यकारणभाव का विरोध होगा यही पदार्थः पदार्थेनान्वेतीति व्युत्पत्तिविरोधः का तात्पर्य है। अस्तु। इससे इतनी बात तो सिद्ध हो गयी कि एकत्व का अन्वय प्रमितिकरणत्व रूप पदार्थ के एकदेश में करना उचित नहीं। इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रामाणिक पुरूषों के द्वारा प्रयुक्त "सम्पन्नो व्रीहिः" इस वाक्य में जैसे व्रीहिपदोत्तर आयी सुविभक्ति के अर्थ एकत्व का अन्वय व्रीहित्व में किया जाता है इससे यह बात सिद्ध होती है कि पदार्थः पदार्थेन अन्वेति यह नियम सार्वत्रिक नहीं है इसका स्थल विशेष में संकोच करना चाहिए। अन्यथा अनेक व्रीहि के तात्पर्य से प्रयुक्त व्रीहि में एकत्व का अन्वय तो हो नहीं सकता तो उसका अन्वय अगत्या व्रीहित्व में जो किया जाता है वह कैसे हो पाएगा?

यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि सम्पन्नो व्रीहिः में अनेक व्रीहि का बोध कराने के तात्पर्य से व्रीहि पद का उच्चारण किया गया है यह कैसे माना जाए? तो इसका उत्तर यह है कि व्रीहि पदार्थ का सम्पन्न पदार्थ के साथ अभेद सम्बन्ध है अर्थात् जो सम्पन्न पद का अर्थ है वही व्रीहि पद का अर्थ है। ऐसी स्थिति में एक व्रीहि भला सम्पन्न कैसे कहलाएगा। यहाँ तात्पर्य यह है कि जब कोई व्यक्ति खेत में व्रीहि बोता है और व्रीहि के पौधे कैसे उगे हैं यह देखने जाता है उस समय उसकी आशा के अनुरूप संख्या में यदि पौधे उगे हुए उसे दिखाई पड़ते हैं तब वह कहता है "सम्पन्नो व्रीहिः" ऐसी स्थिति में सम्पन्नता का अर्थ हुआ अनिर्धारित बहुत्वत्वान्यसंख्यात्व व्याप्य धर्म अर्थात् संख्यात्व का व्याप्य धर्म एकत्व से लेकर परार्धत्व पर्यन्त सभी संख्या होगी। अतः संख्यात्वका व्याप्य धर्म ऐसा लेना है जो बहुत्वत्व से अन्य हो, बहुत्वत्व बहुत्व में रहने वाला धर्म है उससे अन्य एकत्व द्वित्व त्रित्व आदि संख्या हो सकती है तो ऐसी संख्या भी सम्पन्नता कहलाने लगेगी। अतः कहा अनिर्धारित अर्थात् निश्चित नहीं (गिनी न जा सकने वाली) जिस खेत में एक या दो या तीन आदि पौधे होंगे वहाँ एकत्व आदि संख्याएँ तो निर्धारित ही होंगी। अतः सम्पन्नता का अर्थ होगा ऐसी संख्या जो संख्यात्व से व्याप्य तथा बहुत्व से भिन्न तथा अनिर्धारित गिनी न जा सके। उस सम्पन्नता से विशिष्ट जो होगा उसी को सम्पन्न कहा जा सकता है। ऐसी संख्या एकत्वद्वित्य या त्रित्व आदि तो कथमपि नहीं मानी जा सकती क्योंकि कोई भी बुद्धिमान पुरूष एक या दो या तीन या जो निश्चित की जा सकती है ऐसी संख्या में उगे हुए व्रीहि के पौध को देखकर सम्पन्नो व्रीहिः नहीं कह सकता। इसिए जब वह सम्पन्नो व्रीहिः कहता है तो वह अनेक (अनगिनत संख्या में उगे हुए) व्रीहि के तात्पर्य से ही व्रीहिः के साथ सम्पन्न विशेषण लगाता है। ऐसी स्थिति में सम्पन्नता रूप अनेक संख्या से विशिष्ट (सम्पन्न से अभिन्न) व्रीहि में सु प्रत्ययार्थ एकत्व का अन्वय तो अयोग्य है। अतः वहाँ जैसे एकत्व का

अन्वय व्रीहि में रहने वाली प्रकृत्यर्थता के अवच्छेदक व्रीहित्व रूप पदार्थैकदेश में करते हैं। ऐसे ही वेदाः प्रमाणम् यह प्रयोग भी प्रामणिकजनों की परम्परा से होता आ रहा है। अतः इसके साधुत्व की रक्षा के लिए भी प्रत्ययार्थ एकत्व का अन्वय प्रकृत्यर्थ में न करके प्रकृत्यर्थतावच्छेदक=प्रमितिकरणत्व में किया जा सकता है। अर्थात् जहाँ पर पदार्थ का अन्वय पदार्थैकदेश में किये बिना प्रामाणिक प्रयोग की साधुता उपपन्न नहीं होती हो उन स्थलों के अतिरिक्त स्थलों के लिए ही पदार्थः पदार्थेन अन्वेति यह नियम है। यह समझना चाहिए।

यहाँ यह बात ध्यान में रहे कि "वेदाः प्रमाणम् इसका विवेचन करते हुए जो पूर्व में कहा गया "बहुत्वविरूद्धमेकत्वं विवक्षितम्, तच्च प्रकृत्यर्थता वच्छेदकेऽन्वेति" वहाँ से अभेदान्वय वाली बात पीछे छूट गयी अपितु पदार्थों के अन्वय का प्रशन चल रहा है।

यदि स्वाश्रयप्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्त्वसम्बन्धेन प्रकृत्यर्थ एवैकत्त्वान्वयः, व्रीहित्वजातेः स्वरूपत एव व्रीह्यादिपदशक्यतावच्छेदकतयाऽन्वयितावच्छेदकरूपेणाऽनुपस्थितेस्तत्र पदार्थान्तरस्यान्वयानुपपत्तिरिति मन्यते। तदा प्रकृतेऽपीदृश्येव गतिः।

यदि पदार्थः पदार्थेन अन्वेति इस नियम में संकोच करके सुप्रत्यायार्थ एकत्व संख्या रूप पदार्थ का पदार्थैकदेश = व्रीहित्व में अन्वय करें तो एक दूसरे नियम का भी उल्लंघन करना पड़ेगा। इस तरह दो व्युत्पत्तियों का विरोध होगा पदार्थ का पदार्थैकदेश में अन्वय मानने में एक तो पहले बता चुके हैं दूसरा नियम यह है कि "किसी दूसरे पदार्थ का अन्वय उसी में होता है जो अन्वयितावच्छेदक रूप से उपस्थित हो।" प्रकृति में एकत्व रूप दूसरे पदार्थ का अन्वय व्रीहित्व में करना चाहते हैं परन्तु उसकी उपस्थिति अन्वयितावच्छेदकरूपेण नहीं है। तात्पर्य यह है कि जिसमें अन्वय होगा वही अन्वयी कहलाएगा उसमें अन्वयिता रहेगी उस अन्वयी में रहने वाली "अन्वयिता का अवच्छेदक जो रूप (धर्म) होगा उस रूप में जो उपस्थित होता है उसी में दूसरे पदार्थ का अन्वय होता है" इसी को कार्यकारणभाव की भाषा में कहते हैं पदार्थान्तरान्वयं प्रति अन्वयितावच्छेदकरूपेण उपस्थितिः कारणम्। प्रकृत में व्रीहित्व की उपस्थिति स्वरूपतः हो रही है क्योंकि वह व्रीहि पद के शक्य (वाच्य) अर्थ व्रीहि में रहने वाली शक्यता का अवच्छेदक है। तात्पर्य यह है कि अनुल्लिख्यमान जाति और अखण्ड उपाधि का भान स्वरूपतः माना जाता है। अनुल्लिख्यमान जाति का अर्थ है जिस जाति का शब्दशः उल्लेख न किया जाए। जब "व्रीहिः" ऐसा उल्लेख करते हैं तो उच्चार्यमाण व्रीहि पद के द्वारा शक्त्या व्रीहि व्रीहित्व तथा उन दोनों का सम्बन्ध तीनों उपस्थित तो होते हैं परन्तु उपस्थित होने वाले व्रीहित्व का उल्लेख यहाँ नहीं हुआ है। अतः वह व्रीहित्व जाति अनुल्लिख्यमान जाति है वह जो उपस्थिति में भासित हो रहा है वह स्वरूपतः क्योंकि वह व्रीहिपद के अर्थ व्रीहि का विशेषण (प्रकार है) अतः

शक्यतावच्छेदक होने के कारण भासित तो हो रहा है परन्तु स्वरूपतः जबकि व्रीहि जो भासित हो रहा है वह व्रीहित्वेन। व्रीहि के स्थान पर यदि "व्रीहित्ववान्" कह दें तो अर्थ तो वही होगा परन्तु व्रीहित्व यहाँ उल्लिखित हो गया अतः स्वरूपतः भासित न होकर व्रीहित्वत्वेन भासित हो रहा है। इसी को मूल में कहा कि व्रीहित्वजातेः स्वरूपतः व्रीहयादिपदशक्यतावच्छेदकतया। यदि एकत्व का अन्वय व्रीहि में करें तो उसकी उपस्थिति व्रीहित्व रूप अन्वयितावच्छेदक रूप में हो रही है तो उसमें तो पदार्थान्तर का अन्वय युक्त है परन्तु व्रीहित्व शक्यतावच्छेदक होने के कारण स्वरूपतः उपस्थित हो रहा है उसकी उपस्थिति अन्वयितावच्छेदकरूप में तो नहीं हो रही है पुनः उसमें एकत्व रूप पदार्थान्तर का अन्वय कैसे कर सकते हैं। यदि करें तो दो-दो कार्यकारण भावों का उल्लङ्घन होगा। इसका उत्तर देते है मूलकार यदि उपर्युक्त कार्यकारणभाव के कारण व्रीहित्व में अन्वय नहीं करना चाहो तो व्रीहि में ही "स्वाश्रयप्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्व सम्बन्ध से" अन्वय कर लो तो पदार्थः पदार्थेन तथा अन्वयितावच्छेदक रूपेण उपस्थिते एव इन दोनों नियमों का पालन भी हो जाएगा और सम्पन्न के साथ व्रीहि का अभेदान्वय भी बाधित नहीं होगा। यहाँ जिज्ञासा यह हो सकती है कि यदि एकत्व का अन्वय व्रीहि में करेंगे तो वह एकत्वविशिष्ट व्रीहि सम्पन्न कैसे कहलाएगा तो इसका उत्तर यह है कि एकत्व संख्या का साक्षात् अन्वय तो प्रकृत्यर्थतावच्छेदक व्रीहित्व में ही करते हैं परन्तु "पदार्थः पदार्थेनान्वेति तथा "अन्वयितावच्छेदकरूपेणोपस्थित एव" इन दोनों नियमों को देखते हुए "स्वाश्रयप्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्व रूप परम्परा सम्बन्ध से एकत्त्व का अन्वय पदार्थ में अर्थात् व्रीहि में करते हैं जो कि अन्वयितावच्छेदक व्रीहित्वेन उपस्थित हो रहा है। सम्बन्ध का समन्वय इस प्रकार होगा - स्व से लेंगे एकत्व संख्या को (जिसका अन्वय करना है) उसका आश्रय जो प्रकृत्यर्थतावच्छेदक अर्थात् व्रीहित्व, तद्वान्. हुआ व्रीहि, तद्वत्त्व व्रीहि में चला गया। इस प्रकार स्व = एकत्व का सम्बन्ध व्रीहि में भी हो गया। तो यदि इस प्रकार स्वाश्रयप्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्व सम्बन्ध से सम्पन्नो व्रीहिः यहाँ पर प्रत्ययार्थ का अन्वय प्रकृत्यर्थ व्रीहि में करना चाहो तो प्रकृत में अर्थात् जिसका विचार चल रहा था वेदाः प्रमाणम् स्थल में प्रमाण पदोत्तर सुप्रत्ययार्थ एकत्व का भी अन्वय स्वाश्रयप्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्त्व सम्बन्ध से प्रमितिकरण रूप प्रकृत्यर्थ (पदार्थ) में ही मान लो।

यत्तु सम्पन्नो व्रीहिः इत्यादावेकवचनोपस्थितानि नानैकत्वानि प्रत्येकं नाना व्रीहिष्वन्वीयन्ते, इत्युक्त्यैव सामञ्जस्ये जातावेकत्वभानोपगमो निरर्थक इति। तदसत्, यतः स्वसजातीयनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकैकत्वरूपसजातीयद्वितीय रहितत्वमेकवचनार्थो न त्वेकत्वमात्रं तस्य वस्तुमात्रसाधारण्येनार्थत एव लाभात्, अनुपयोगाच्च। अत एव "पशुना

यजेत" इत्यादौ पशुनिष्ठतादृशैकत्वस्य विवक्षितत्वादनेकपशुकरण-कयागान्नादृष्टसिद्धिः ॥

किसी ने सम्पन्नो व्रीहिः में व्रीहि का अभेद सम्बन्ध सम्पन्न से भी हो जाए और उसमें एकत्व का भी अन्वय हो जाए इसके लिए एक अलग मार्ग दिखाते हुए कहा - सम्पन्नो व्रीहिः में व्रीहि पद के आगे जो सु प्रत्यय रूप एकवचन है उससे केवल एक ही एकत्व उपस्थित नहीं होता है अपितु अनेक एकत्व उपस्थित होते हैं और वे एक-एक एकत्व अलग-अलग प्रत्येक व्रीहि के साथ अन्वित होते हैं। अर्थात् सम्पन्नता रूप अनेकता से विशिष्ट अनेक व्रीहि यदि व्रीहि पद का अर्थ है तो सु प्रत्यय का भी अर्थ अनेक एकत्व है। इस प्रकार अनेक एकत्व अनेक व्रीहियों में अलग-अलग अन्वित हो जाएँगे। इस प्रकार व्रीहि का सम्पन्न के साथ अभेद सम्बन्ध भी हो गया और पदार्थ (एकत्व) का पदार्थ (व्रीहि) के साथ अन्वय भी हो गया। पुनः एकत्व का अन्वय व्रीहित्व जाति में मानना व्यर्थ ही है।

ग्रन्थकार इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं तदसत्। अर्थात् उपर्युक्त मत युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि उपर्युक्त स्थल में व्रीहि पद के आगे आये सु प्रत्यय का अर्थ न केवल एकत्व संख्या मात्र है । क्योंकि एकत्व संख्या तो ऐसी संख्या है जो सर्वत्र रहती है, उसका अभाव तो कहीं रहता नहीं। अतः एकत्व संख्या का ज्ञान तो यदि सु प्रत्यय नहीं भी रहता तब भी हो ही जाता क्योंकि वह तो वस्तुमात्र में रहने वाली चीज है। फिर अर्थात्सिद्ध वस्तु को बताने के लिए सु प्रत्यय का प्रयोग करना उचित नहीं। दूसरी बात यह है कि स्वतः सिद्ध एकत्व संख्या का यहाँ कोई उपयोग भी नहीं है। क्योंकि वक्ता सम्पन्नो व्रीहिः कहकर यह बताना चाहता है कि बोये गये अन्य फसलों में व्रीहि केवल सम्पन्न है इस प्रकार वह वक्ता बोए गये अन्य अन्नों की व्यावृत्ति (सम्पन्नत्व का निषेध) करने के लिए ही व्रीहि के आगे एक वचन का प्रयोग करता है। उस प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो पाएगी यदि सु प्रत्यय का अर्थ एकत्व संख्या मात्र करें।

अतः सु प्रत्यय का अर्थ है - स्वसजातीयनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदक एकत्वरूप सजातीयद्वितीयरहितत्व। तात्पर्य यह है कि - जहाँ घटत्व जाति वाले दो घट होंगे वहाँ वे दोनों घट सजातीय हैं परन्तु उन दोनों घटों में परस्पर भेद (भिन्नता) तो है ही, तो प्रथम घट का भेद द्वितीय घट में है, उसी द्वितीय घट में रहने वाले भेद का प्रतियोगी होगा प्रथम घट, क्योंकि उसी का भेद (अन्योन्याभाव) द्वितीयघट में है, इस तरह प्रतियोगी यदि प्रथम घट है तो प्रतियोगिता उसी प्रथम घट में रहेगी उस प्रतियोगिता का अवच्छेदक ही उस प्रथम घट में रहने वाला एकत्व हो जाएगा।

पङ्क्त्यर्थ इस प्रकार है स्वं = प्रथम घट, तत्सजातीय = द्वितीय घट, तन्निष्ठ भेद = प्रथम घट का भेद, तत्प्रतियोगिता = प्रथम घट में रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक प्रथम घट में रहने वाली एकत्व संख्या। अतः जहाँ दो घट रहते हैं वहाँ "घटः" ऐसा सु प्रत्ययान्त प्रयोग नहीं होता। इसी को सरल शब्द में सजातीयद्वितीय से रहित होना भी कहते हैं। जहाँ केवल एक घट होगा वहाँ उस घट का कोई सजातीय ही नहीं है तो उस स्थल पर विद्यमान घट का भेद तो उसी घट में रहेगा नहीं (स्व का भेद स्व में नहीं होता) दूसरा कोई घट है नहीं जिसमें इसका भेद रहे तो जब वहाँ उस घट का भेद ही नहीं है तो भेद का प्रतियोगी भी वह घट नहीं होगा। प्रतियोगिता भी उस घट में नहीं रहेगी तो उस घट में रहने वाला एकत्व उस घट में नहीं रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक भी नहीं होगा अर्थात् उस एकत्व में अनवच्छेदकत्व आ गया। यही एकत्व सु प्रत्यय का अर्थ है।

मोटी भाषा में यह समझें कि जिस पद के आगे सुविभक्ति एकवचन कोई भी आती है वह सुविभक्ति अपने प्रकृत्यर्थ का सजातीय कोई दूसरा नहीं है, इसी बात को बताने के लिए ही आती है केवल एकत्व संख्या को उपस्थित करने के लिए नहीं। इसीलिए अग्निष्टोमयाग में कहा गया "पशुना यजेत" यहाँ पर पशु पद के आगे आया एकवचन (टा विभक्ति) पशुसजातीय द्वितीय में करणत्व का निषेध करने के लिए है। अतः वहाँ अनेक पशुकरणकयाग से अदृष्ट की सिद्धि नहीं मानी जाती है। तात्पर्य यह है कि अदृष्ट रूप फल का साधन तो याग है और याग का करण पशु है इसीलिए पशुना में टा विभक्ति आयी है। परन्तु पशु में करणत्व का बोध टा की तरह भ्याम् तथा भिस् विभक्तियों के द्वारा भी हो सकता है पुनः टा का ही प्रयोग इस बात को बताता है कि एतत् पशुसजातीयद्वितीयपशुरहित अर्थात् केवल एक ही पशु में याग की करणता विवक्षित है। यदि वहाँ दो या तीन पशुओं के द्वारा याग किया जाएगा तो वह अनेक पशु करणक याग हो गया (वहाँ पर सजातीय द्वितीय राहित्य रूप एकत्व नहीं रहा) तो ऐसे किये गये याग से अदृष्ट रूप फल की सिद्धि नहीं मानी जाती क्योंकि श्रुति प्रतिपादित अर्थ के अनुसार याग नहीं किया गया।

तात्पर्य यह है कि जहाँ कहीं भी प्रकृति के आगे एकवचन (सु, अम्, टा) आदि प्रयुक्त होते हैं उसका तात्पर्य प्रकृत्यर्थ में सजातीयद्वितीय राहित्य रूप एकत्व बताना होता है केवल संख्या रूप एकत्व नहीं।

अब यहाँ एक जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से होती है कि एकवचन का अर्थ प्रकृत्यर्थ में सजातीय द्वितीय का राहित्य यदि है तो पुनः प्रकृत्यर्थ का सजातीय कौन होगा? अर्थात् प्रकृत्यर्थ का साजात्य किस रूप में लेना है। इसका समाधान करते हुए मूलकार कहते हैं -

साजात्यञ्चस्वसमभिव्याहृतपदार्थसंसर्गित्वविशिष्टप्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्वरूपेण। अतः "अत्र घटोऽस्ति" इत्यादौ घटनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकैकत्वाप्रसिद्धावपि न क्षतिः - एतद्देशविद्यमानघटनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकैकत्वस्यैव तत्र बोधात्, तस्य च प्रसिद्धत्वात्। एतद्देशे बहुघटसत्त्वदशायां तादृशवाक्यप्रयोगस्तु जात्येकत्वादेव समर्थनीयः।

प्रकृत्यर्थ का साजात्य स्वसमभिव्याहृत पदार्थ संसर्गित्व विशिष्ट प्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्त्व रूप से लेना है। तात्पर्य यह है कि - स्व पद से प्रकृत्यर्थ का ग्रहण करें, उसके समभिव्याहृत अर्थात् समीप में उच्चारित जो पद उसके अर्थ का संसर्गित्व अर्थात् सम्बन्धित्व से विशिष्ट जो प्रकृत्यर्थतावच्छेदक, तद्वान् जो होगा वही स्व = प्रकृत्यर्थ का सजातीय कहलाएगा। जैसे पशुना यजेत यहाँ टा रूप एकवचन का जो प्रकृति है पशु पद उसका अर्थ है पशु (छाग) उसके (उसको कहने वाले प्रकृति के) समीप में उच्चारित पद है यज् धातु उसका सम्बन्धित्व तथा प्रकृत्यर्थतावच्छेदक = पशुत्ववत्व दोनों जिस में होगा वही स्व = अर्थात् पशु का सजातीय कहलाएगा इसको और स्पष्ट रूप में समझें तो जिस पशु को याग में उपयोग के लिए यागस्थल पर लाया गया है उसमें पशुत्व रूप प्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्त्व तो है ही, याग सम्बन्धित्व भी है क्योंकि वह पशु याग सम्बन्धी है। इस प्रकार का यदि यागसम्बन्धित्वविशिष्टपशुत्ववान् कोई दूसरा पशु वहाँ होगा तो सजातीय द्वितीय रहेगा अन्यथा नहीं।

यदि केवल प्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्त्वेन अर्थात् पशुत्वेन ही साजात्य लें तो यदि किसी अन्य कार्य से कोई दर्शक अपने पशु के साथ याग स्थल पर जाता है और अपने पशु को भी यागस्थल में वहीं बाँध देता है जंहाँ याग का पशु बँधा हो तो ऐसी स्थिति में पशुत्व तो उस दर्शक के पशु में भी है ही तो सजातीय द्वितीय राहित्य रूप एकत्व उस पशु में नहीं होने से वह भी याग का करण नहीं बन पायेगा। अतः स्वसमभिव्याहृत पदार्थ संसर्गित्व वैशिष्ट्य भी कहना चाहिए। जब कहते हैं तो अन्य प्रयोजन से याग स्थल में बँधे पशु में प्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्त्व = पशुत्ववत्त्व भले ही हो परन्तु वह पशुत्व, समभिव्याहृतपदार्थ याग सम्बन्धित्व से विशिष्ट नहीं है क्योंकि वह पशु याग सम्बन्धी नहीं है। इसी प्रकार यदि केवल स्वसमभिव्याहृत पदार्थ सांसर्गित्वेन ही साजात्य लें तो उपर्युक्त स्थल में प्रयोजनान्तर से उपस्थित पशु भले ही यागीय पशु का सजातीय न कहलावे, परन्तु याग सम्बन्धी अन्य घृत चरू समिधा आदि वस्तु तो उस यागीय पशु का सजातीय कहलाएँगें ही क्योंकि उनमें भी उस पशु की तरह याग सम्बन्धित्व तो है ही। अतः प्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्त्व भी कहना आवश्यक है। अब घृतादि की व्यावृत्ति हो जाएगी क्योंकि उनमें स्वसमभिव्याहल पदार्थ याग सम्बन्धित्व भले ही हो प्रकृत्यर्थतावच्छेदक =पशुत्ववत्त्व नहीं है क्योंकि

उनमें पशुत्व नहीं रहता। इस प्रकार याग सम्बन्धी पशु का सजातीय वही दूसरा पशु कहलाएगा जो याग सम्बन्धी हो। अग्निष्टोम में ऐसे किसी दूसरे पशु के न होने से उस पशु में सजातीय द्वितीय राहित्य रूप एकत्व के होने से वह पशु याग का करण होता है।

अब ग्रन्थकार स्वसमभिव्याहृतपदार्थ संसर्गित्व विशिष्ट प्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्वेन साजात्य लेना चाहिए। इसका फल स्वयं बताते हुए कहते हैं कि अतः अत्र घटोऽस्ति" इत्यादि। तातपर्य यह है कि यद्यपि यहाँ पर घट में सजातीयनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदक रूप एकत्व अप्रसिद्ध है तथापि चूँकि साजात्य उपर्युक्त स्वसमभिव्याहृत इत्यादि रूप से लेते हैं इसलिए घट में रहने वाला एकत्व भेदीय प्रतियोगिता का अनवच्छेदक हो जाता है। तात्पर्य यह है कि भेद (अन्योन्याभाव) सर्वत्र रहने वाली वस्तु है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें किसी का भेद नहीं रहता है किं बहुना प्रत्येक वस्तु में अपने से अतिरिक्त सभी सजातीयविजातीयों का भेद रहता है। इसी प्रकार एकत्व भी सर्वत्र रहने वाली संख्या है यह पहले बता चुके हैं। ऐसी स्थिति में "अत्र घटोऽस्ति" इस वाक्य में जिस घट का कथन किया जा रहा है उसका भेद तो उसके अतिरिक्त सभी सजातीय घटों (तथा विजातीय पट जलादि) में रहता ही है। ऐसी स्थिति में सजातीय घट में रहने वाले उस (उक्त) घट के भेद का प्रतियोगी तो वह घट होगा ही उसकी प्रतियोगिता उसी घट में रहेगी तो पुनः उस घट में रहने वाला एकत्व उस घट में रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक ही होगा अनवच्छेदक नहीं। इसी रीति से सर्वत्र एकत्व अपने आश्रय में रहने वाली भेदीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक ही होगा क्योंकि एकत्व का आश्रय सभी वस्तु मात्र होगा और भेदीय प्रतियोगिता भी वस्तु मात्र में रहेगी तो सर्वत्र रहने वाली भेदीय प्रतियोगिता का जब अवच्छेदक ही सर्वत्र विद्यमान एकत्व होगा तो उसका अनवच्छेदक होना तो अप्रसिद्ध ही होगा। तथापि जब उपर्युक्त स्वसमभिव्याहृत पदार्थसंसर्गित्व विशिष्ट (प्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्वेन साजात्य लेते हैं तो घट में रहने वाला एकत्व भेदीयप्रतियोगिता का अनवच्छेदक हो जाता है। जैसे "अत्र घटोऽस्ति" यहाँ पर एकवचन सु का प्रकृति घट पद का अर्थ घट है उसके समीप उच्चारित पद दो हैं एक हैं अत्र और दूसरा है अस्ति। इनमें अत्र का अर्थ है एतद्देश और अस्ति का अर्थ है वृत्तित्व। इस प्रकार स्वसमभिव्याहृत पदार्थ हुआ एतद्देशवृत्तित्व उसका सम्बन्धित्व तथा प्रकृत्यर्थतावच्छेदक दोनों से जो विशिष्ट होगा वही उस घट का सजातीय कहलाएगा। ऐसा घट तभी मिल सकता है यदि जहाँ वह घट है वहीं उसी देश में दूसरा घट भी हो। तभी तो उस दूसरे घट में एतद्देशवृत्तित्वविशिष्ट घटत्व रहेगा। अन्यत्र स्थानों पर विद्यमान घट इस घट के सजातीय तो कहलाएँगें नहीं क्योंकि उनमें एतद्देशवृत्तित्व नहीं है, भले ही घटत्व हो। तथापि एतद्देशवृत्तित्व रुप विशेषण के न होने से तत्प्रयुक्त एतद्देशवृत्तित्व विशिष्टघटत्व रूप विशिष्ट का

भी अभाव उन अन्य स्थानों में विद्यमान घट में माना जाएगा। इंस प्रकार अत्र घटोऽस्ति में जिस घट का कथन किया जा रहा है, वह घट जहाँ है उस देश में दूसरे घट के न होने से उस घट का "एतद्देशवृत्तित्व विशिष्टघटत्ववान्" सजातीय दूसरे घट में भेद भी नहीं रहेगा तो उस स्थल पर विद्यमान घट में भेद की प्रतियोगिता भी नहीं रहेगी तो उस घट में रहने वाला एकत्व प्रतियोगिता का अनवच्छेदक हो जाएगा।

मोटी भाषा में यदि कहा जाए तो घटत्वेन रूपेण सभी घट सजातीय भले ही होवें पर एतद्देश वृत्तित्वविशिष्ट घटत्वेन सभी घट सजातीय नहीं हो सकते अपितु एतद्देश में विद्यमान घट ही हो सकते हैं। अतः जब "अत्र घटोऽस्ति" कहते हैं तो यह अर्थ प्रतीत होता है कि इस स्थान पर एक ही घड़ा है दूसरा घड़ा नहीं है अर्थात् "दूसरा कोई घड़ा यहाँ नहीं है" तो इस प्रकार निषेध केवल घट का न होकर उस स्थान में रहने का भी होता है "यहाँ पर दूसरा घड़ा नहीं है तो इस प्रकार यदि हम सजातीयता लेते हैं तो उसका भेद केवलान्वयी न होकर कुत्रचित् स्थल में रहने वाला होता है उसकी प्रतियोगिता का अनवच्छेदक होना प्रसिद्ध ही है।

तब प्रश्न उठता है कि जहाँ बहुत से घट होंगे वहाँ तो "अत्र घटोऽस्ति" ऐसा वाक्य प्रयोग नहीं होना चाहिए क्योंकि वहाँ के घट में रहने वाला एकत्व तो सजातीयनिष्ठभेदप्रतियोगिता का अवच्छेदक ही होगा। भट्टाचार्य कहते हैं कि ऐसे स्थलों पर एकत्व का अन्वय जाति में ही (पदार्थैक देश) में करना चाहिए अर्थात् चूँकि वहाँ विद्यमान सभी घटों में रहने वाली घटत्व जाति एक है। अतः एकवचन का प्रयोग हुआ है ऐसा समझना चाहिए।

अब एक दृष्टि पीछे की ओर डालें तो "सम्पन्नो व्रीहिः" यहाँ पर प्रकृत्यर्थ व्रीहि के समभिव्याहृत पदार्थ = सम्पन्नत्वसम्बन्धित्व विशिष्ट प्रकृत्यर्थतावच्छेदक = व्रीहित्ववान् तो, उस खेत में उगे हुए अनगिनत व्रीहि हैं ही, उन सभी में परस्पर एक दूसरे का भेद रहेगा और प्रत्येक में भेदीयप्रतियोगिता भी रहेगी तो उनमें रहने वाला एकत्व तो प्रतियोगिता का अवच्छेदक ही होगा अनवच्छेदक नहीं होगा। इस प्रकार स्वसमभिव्याहृत पदार्थ संसर्गित्व विशिष्ट प्रकृत्यर्थतावच्छेदक रूप स्वसजातीय निष्ठ भेदप्रतियोगितानवच्छेदक एकत्व के न होने से एकत्व का अन्वय प्रकृत्यर्थ में नहीं करके व्रीहित्व रूप पदार्थैक देश में ही करना चाहिए। इस तरह यत्तु ने जो कहा था "जातावेकत्वोपगमो निरर्थकः" उसका यह कथन खण्डित हो गया।

वस्तुतस्तु जैसा एकत्व का परिष्कार ऊपर किया गया है वैसा करने पर भी जहाँ एक ही अधिकरण में एक पीत घट और दूसरा नील घट होगा वहाँ भी "अत्र नीलघटोऽस्ति" ऐसा प्रयोग नहीं हो पाएगा। जबकि होता है। क्योंकि उस नील घट का सजातीय पीत घट वहाँ पर है ही क्योंकि पीतघट में भी

तद्देशवृत्तित्व विशिष्टप्रकृत्यर्थतावच्छेदक घटत्ववत्त्व तो है ही। इस तरह सजातीय द्वितीय के रहने से सजातीयद्वितीयसहित्य रूप एकत्व नहीं रहेगा। इन सब प्रश्नों का समाधान गुरूपरम्परा से ही प्राप्त करना चाहिए। अस्तु॥

यत्तु एकत्वाविवक्षायामपि भावाख्यातस्थले एकवचनस्य साधुत्वदर्शनात्, संख्याया अविवक्षणेऽपि सम्पन्नो ब्रीहिरित्यादावेक-वचनोपपत्तेरलं जात्येकत्वपरतया तत्र समर्थनेनेति। तदप्यकिञ्चित्करम्-भावाख्यातस्थले गत्यन्तरविरहेण विभक्तेर्निरर्थकत्वोपगमात्। तत्र च सार्थकत्वोपगमसंभवे तत्परित्यागस्यानुचितत्वात्, सति तात्पर्ये तद्बोधस्या-नुभविकत्वाच्चेति।

किसी ने सम्पन्नो व्रीहिः यहाँ पर व्रीहिपदोत्तर आयी सु विभक्ति के द्वारा संख्या को अविवक्षित मानकर कहा कि जब वहाँ सु के अर्थ एकत्व को विवक्षित ही नहीं मानेंगें तो पदार्थः पदार्थेन इस व्युत्पत्ति में संकोच करके उसका व्रीहित्व में अन्वय करने की क्या आवश्यकता? अपनी बात को पुष्ट करने के लिए यत्तु दृष्टान्त दिखाते हुए कहता है कि जैसे-भावाख्यातस्थलों में त्वया स्थीयते मया स्थीयते अस्माभिः स्थीयते इत्यादि में सु प्रत्ययार्थ एकत्व की अविवक्षा होने पर भी एकवचन = ते आदि विभक्तियों का प्रयोग साधु माना जाता है वैसे ही सम्पन्नो व्रीहिः में भी एकवचनार्थ एकत्व संख्या की अविवक्षा होने पर भी एकवचन (सु) का प्रयोग साधु माना जा सकता है। इस प्रकार उसके अन्वय की समस्या ही नहीं रही पुनः एकत्व का अन्वय व्रीहित्व जाति में मानना व्यर्थ ही है।

मूलकार इसका समाधान दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक में विरोध दिखाते हुए देते हैं कि भावाख्यातस्थल में तो एकत्व की अविवक्षा के अतिरिति कोई गति (चारा) ही नहीं है। क्योंकि यह नियम है कि " आख्यातार्थसंख्याप्रकारकशाब्दबोधं प्रति विशेष्यत्वेन प्रथमान्तपदोपस्थाप्यत्वं कारणम्।

तात्पर्य यह है कि - आख्यातार्थसंख्याप्रकारकअन्वयबोध का अर्थ होता है जिस शाब्दबोध में आख्यातार्थसंख्या प्रकार (विशेषण) रूप में भासित हो। इस प्रकार का शाब्दबोध तभी होगा जब उस संख्या रूप विशेषण का विशेष्य प्रथमान्त पद के द्वारा उपस्थापित होगा। तात्पर्य यह है कि कर्तृ प्रत्यय स्थल में आख्यातार्थ संख्या कर्ता में विशेषण होता है और वहाँ कर्ता प्रथमान्त पदोपस्थाप्य होता है। कर्म प्रत्यय स्थल में संख्या कर्म में विशेषण होती है और वहाँ कर्म प्रथमान्त पदोस्थाप्य होता है। इसी बात को ध्यान में रखकर दोनों स्थलों का संग्रह करने के लिए कार्यकारणभाव का स्वरूप कहा "आख्यातार्थ संख्या प्रकारक शाब्दबोध तभी होगा जब कारणीभूत पदार्थोपस्थिति में उस प्रकार रूप संख्या का, विशेष्य प्रथमान्त पदोपस्थाप्य हो"। अतः "देवदत्तः गच्छति" इस कर्तृप्रत्ययस्थल में ति प्रत्ययार्थ संख्या का विशेष्य कर्ता = देवदत्तः इस प्रथमान्त पद के द्वारा उपस्थित

होने से वहाँ पर "एकत्ववान् देवदत्तः" इस प्रकार का संख्या प्रकारक देवदत्त विशेष्यक (कर्तृ विशेष्यक) शाब्दबोध होता है। इसी प्रकार देवदत्तेन ग्रामो गम्यते" इस कर्म प्रत्यय स्थल में ते रूप आख्यात का अर्थ = एकत्व का विशेष्य "ग्राम" रूप कर्म है, जो कि प्रथमान्त "ग्रामः" इस पद के द्वारा उपस्थापित हो रहा है। अतः यहाँ भी एकत्ववत्ग्रामकर्मक" ऐसा संख्याप्रकारक बोध होता है। भावाख्यातस्थल में आख्यातार्थ संख्या को यदि विवक्षित मानें तो वह संख्या होगी तो विशेषण ही, उसके विशेष्य रूप में प्रथमान्त पद से कोई भी पदार्थ उपस्थित तो हो नहीं रहा है। अतः भावाख्यातस्थल में संख्याप्रकारक बोध नहीं होता। वहाँ पर आख्यातार्थ संख्यारूपप्रकार का विशेष्य कर्ता को नहीं मान सकते, क्योंकि वह प्रथमान्त पदोपस्थाप्य नहीं है, वह तो "त्वया स्थीयते" में तृतीयान्तपदोपस्थाप्य है। यदि भावाख्यातस्थल में संख्या प्रकारक शाब्दबोध के लिए कार्यकारणभाव का स्वरूप बदल कर कहें कि - भावाख्यातार्थ संख्या प्रकारकान्वयबोधं प्रति विशेष्यत्वेन तृतीयान्तपदोपस्थाप्यत्वं कारणम्" अर्थात् भावाख्यातार्थसंख्या प्रकारक शाब्दबोध के लिए विशेष्य को तृतीयान्तपदोपस्थाप्य होना आवश्यक है, तो "त्वया स्थीयते" में तृतीयान्त = "त्वया" पदोपस्थाप्य युष्मदर्थ; संख्या का विशेष्य होगा, उसी में आख्यातार्थ संख्या का अन्वय हो सकता है। पुनः उसे अविवक्षित मानकर व्यर्थ क्यों माना जाए?

इस पर विद्वान् लोग कहते हैं कि यदि भावाख्यातस्थल में संख्या को विवक्षित मानकर उसका तृतीयान्तपदोपस्थाप्य विशेष्य में अन्वय मानोगे तो जैसे त्वया स्थीयते यहाँ पर विशेष्य के एक होने से आख्यात का भी अर्थ एकत्व युक्त ही है अन्वय हो जाएगा परन्तु चैत्रमैत्राभ्यां स्थीयते, आवाभ्यां स्थीयते अस्माभिः स्थीयते इन सभी स्थलों पर तृतीयान्त पदोपस्थाप्य विशेष्य (कर्ता) कहीं दो है तो कहीं बहुत ऐसी स्थिति में विशेष्य के अनुसार आख्यातार्थ भी कहीं द्वित्व और कहीं बहुत्व मानना पड़ेगा। इसका अर्थ हुआ कि कर्तृप्रत्ययस्थल की तरह भावाख्यातस्थल में भी एकवचन द्विवचन और बहुवचन का बोध कराने के लिए धातु के आगे त आताम् झ इत्यादि विभिन्न प्रत्यय लाने पड़ेंगे जबकि भावस्थल में कर्ता चाहे जिस पुरूष और जिस वचन का हो आख्यात हमेशा प्रथम पुरूष का एक वचन ही होता है। अतः भावाख्यातास्थल में कर्ता में संख्या का अन्वय मानना उचित नहीं। इतना ही नहीं यदि भावाख्यात स्थल में आख्यातार्थ संख्या का अन्वय कर्ता में मानोगे तो इसका अर्थ हुआ कि आख्यात के द्वारा कर्तृगत संख्या उक्त हो गयी पुनः "कर्तृकरणयोस्तृतीया" से कर्तृवाचक पदों के आगे तृतीया विभक्ति ही नहीं आ पाएगी। क्योंकि यह सूत्र "अनभिहिते" के अधिकार में पढ़ा गया है जिससे कर्तृगत संख्या के अनुक्त होने पर ही तृतीया विभक्ति का विधान होता है यहाँ तो आप भावाख्यातार्थ संख्या को विवक्षित मानकर उसका

कर्ता में अन्वय करना चाहते हैं। इन सब दोषों के कारण भावाख्यातार्थ का विशेष्य कर्ता नहीं हो सकता अर्थात् उसका अन्वय कर्ता में नहीं कर सकते।

यदि कहो जैसे स्वर्गकामो यजेत यहाँ विधिलिङ् का जो अर्थ = इष्टसाधानता, उसका अन्वय जैसे धात्वर्थ याग में करते हैं उसी तरह भावाख्यातार्थ संख्या का भी अन्वय प्रकृत्यर्थ = धात्वर्थ में कर देंगें? तो ऐसा भी नहीं कर सकते क्योंकि धातु का अर्थ कहीं एक और कहीं बहुत भी होता है। तो धात्वर्थ जहाँ बहुत होगा वहाँ संख्या रूप विशेषण का विशेष्य = धात्वर्थ चूँकि बहुत होगा तो तदनुरूप विशेषण आख्यातार्थ बहुत्व संख्या को बताने वाला आख्यात भी त न होकर "झ" होगा जो कि होता नहीं, होता हमेशा एकवचन आख्यात ही है उसका अर्थ एकत्व अनेक धात्वर्थ रूप विशेष्य में कैसे अन्वित होगा? अर्थात नहीं हो पाएगा। इस प्रकार भावाख्यातस्थल में हमने देखा कि आख्यातार्थ संख्या न तो कर्ता में विशेषण रूप से अन्वित हो सकती है और न ही अपने प्रकृत्यर्थ = धात्वर्थ में, तीसरा कोई वहाँ होता नहीं जहाँ उसका अन्वय हो सके। अतः वहाँ आख्यातार्थ संख्या को अविवक्षित मानने के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय ही नहीं है। क्योंकि यदि विवक्षित मानेंगे तो उसके अन्वय का प्रश्न उठेगा जबकि उसका अन्वय कहीं नहीं हो सकता। अतः भावाख्यातस्थल में संख्या अविवक्षित माननी पड़ती है।

परन्तु यहाँ सम्पन्नोव्रीहिः में जब एकत्व का अन्वय व्रीहित्व में हो सकता है और इस प्रकार व्रीहिपदोत्तर सु विभक्ति का सार्थक होना संभव है तो उसका परित्याग करना अर्थात् उसे अविवक्षित मानना अनुचित है। क्योंकि - संख्या के बोध कराने के तात्पर्य से यदि सु प्रत्यय का प्रयोग किया गया हो तो संख्या का ज्ञान वहाँ होता ही है यह अनुभव सिद्ध बात है।

जिज्ञासु जन यहाँ यह पूछ सकते हैं कि - यदि देवदत्तः गच्छति या देवदत्तेन गम्यते इन स्थलों पर आख्यात की शक्ति संख्या को बताने में है। यह मानते हैं तो त्वयास्थीयते इस भावाख्यातस्थल में उसी ते में वह शक्ति क्यों नहीं मान सकते हैं? और यदि वहाँ भी अर्थ बोध कराने की शक्ति उसमें मानते हैं तो फिर उसे व्यर्थ क्यों कह रहे हैं? इतना ही नहीं भावाख्यातस्थल में भी आख्यात के द्वारा काल रूप अर्थ तो बोधित होता ही है पुनः भावाख्यातस्थल में आख्यात को व्यर्थ क्यों कहा गया? इसका उत्तर यह है कि भावस्थल में भी आख्यात को व्यर्थ कहने का तात्पर्य यह है कि "उक्त स्थल में आख्यात का प्रयोग संख्या का बोध कराने के तात्पर्य से नहीं होता है। काल आदि का बोध कराने के तात्पर्य से तो प्रयुक्त होता ही है। अतः काल का बोध होता ही है। भट्टाचार्य ने इसी बात को बताने के लिए व्रीहिपदोत्तर सु विभक्ति का अर्थ विवक्षित है इसको कहने के प्रसंग में तात्पर्य शब्द का प्रयोग करते हुए कहा - "सति तात्पर्ये तद्बोधस्यानुभविकत्वात्"। जिसका बोध कराने में वक्ता का तात्पर्य

हो वहाँ उस अर्थ का बोध होना अनुभव सिद्ध है। अतः सम्पन्नो व्रीहिः में व्रीहित्वगत एकत्व का बोध कराने में सु विभक्ति का तात्पर्य है अतः वह विवक्षित = सार्थक है जबकि भावाख्यातस्थल में संख्या का बोध कराने में तात्पर्य नहीं होता है। अतः वहाँ संख्या अविवक्षित मानी जाती है।

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि व्रीहिपदोत्तर सु विभक्ति का अर्थ विवक्षित है और उसका अन्वय जैसे व्रीहित्व रूप पदार्थैकदेश में होता है उसी प्रकार वेदाः प्रमाणम् में भी प्रमाण पदोत्तर सुविभक्ति का अर्थ एकत्व विवक्षित है और उसका अन्वय पदार्थैकदेश प्रमाणत्व= प्रमितिकरणत्व में होता हैं। चूँकि विशेषण प्रमाणवाचक प्रमाण पदोत्तर विभक्ति के द्वारा बहुत्व विरूद्ध एकत्व विवक्षित है। अतः समानवचनकत्वनियम प्रवृत्त नहीं होता।

एवम् "त्रयः समुदिता हेतुः" इत्यत्र हेतुपदं कार्योत्पादप्रयोजकतावच्छेदक- समुदायत्वावच्छिन्नपरं, तादृशसमुदायत्वान्वितमेकत्वमेकवचनार्थः, अतएव शक्त्यादीनां त्रयाणां तृणारणिमणिन्यायेन हेतुत्वशङ्कानिरासः, तथासत्येषामेकैकसमवधानदशायामपि कार्योत्पत्तेरावश्यकतया तत्त्रितयपर्याप्तसमुदायत्वस्य कार्योत्पत्तिप्रयोजकतानवच्छेदकतया तेषां त्रयाणां तथाविधैकसमुदायत्वाश्रयत्वानुपपत्तेः।

पूर्व में विशेष्य विशेषणवाचक पदों का समानवचनकत्व का नियम यदि समानलिङ्गक स्थल में ही मानोगे तब भी "इति हेतुस्तदुद्भवे" की व्याख्या करते हुए काव्यप्रकाशकार का "इतित्रयः समुदिताः हेतुः" इस कथन की असङ्गति दुर्वार होगी यह कह चुके हैं। परन्तु "यत्र विशेष्यवाचक पदोत्तर इत्यादि नियम के अनुसार "त्रयः हेतुः" यहाँ पर भी विशेषणवाचक हेतु पदोत्तर सु विभक्ति के द्वारा बहुत्व विरूद्ध एकत्व विवक्षित होने से समान वचनकत्व नियम नहीं लगता। तब प्रश्न उठता है कि हेतु पदोत्तर सु विभक्ति के द्वारा जो एकत्व विवक्षित है उसका अन्वय कहाँ होता है और उसके द्वारा विवक्षित क्या है?

प्रस्तुत "एवम्" इत्यादि ग्रन्थ से उसी जिज्ञासा का समाधान ग्रन्थकार करते हुए कहते हैं कि - "त्रयः समुदिता हेतुः" इस काव्यप्रकाश की पंक्ति में भी हेतु शब्द का अर्थ है "काव्योत्पादप्रयोजकतावच्छेदकसमुदायत्वावच्छिन्न"। इस पंक्ति को समझने के लिए यह पहले समझना आवश्यक है कि काव्यप्रकाशकार मम्मट के मत में - "काव्य की उत्पत्ति में (1) शक्ति (2) लोक तथा शास्त्र के परिशीलन से प्राप्त निपुणता (3) एवं कारयित्री भावयित्री दोनों प्रतिभाओं से सम्पन्न काव्यज्ञ गुरूजन की शिक्षा के अनुसार काव्य करने का अभ्यास। ये तीनों मिलकर प्रयोजक होते हैं। इन तीनों में से किसी एक या दो के बल पर ही कोई काव्यरचना नहीं कर सकता।

अब पंक्ति को समझें - काव्योत्पाद = अर्थात् काव्योत्पत्ति, उसमें जो प्रयोजक = शक्ति आदि तीनों का समुदाय, प्रयोजकता रहेगी उस समुदाय में उस प्रयोजकता का अवच्छेदक होगा उसी समुदाय में रहने वाला समुदायत्व, इस प्रकार काव्योत्पादप्रयोजकतावच्छेदक हुआ (उन तीनों के) समुदाय में रहने वाला समुदायत्व उससे अवच्छिन्न (विशिष्ट) हुआ समुदाय यही "हेतु" शब्द का अर्थ है। उस समुदायत्वावच्छिन्नसमुदाय के वाचक हेतु पद के आगे आयी सु विभक्ति के अर्थ एकत्व का अन्वय भी प्रकृत्यर्थतावच्छेदक = समुदायत्व में होता है। इस प्रकार एकत्व का अन्वय कहाँ होगा? इस प्रश्न का समाधान हो गया। अब दूसरा प्रश्न उठता है कि उस समुदायत्व में एकत्व का अन्वय किस विवक्षा से किया गया तो इसका उत्तर देते हुए आगे कहते हैं कि अतएव इत्यादि। तात्पर्य यह है कि - चूँकि एकत्व का अन्वय उपर्युक्त समुदायत्व में किया जाता है। अतः शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास इन तीनों में तृणारणिमणि न्याय से कारणता रहने की आशंका का भी निराश हो गया। यहाँ तात्पर्य यह है कि कारणता के प्रसंङ्ग में दो न्याय बहुत प्रसिद्ध हैं (1) तृणारणिमणि न्याय, और (2) दण्डचक्रचीवरादि न्याय। प्रसंङ्गवश इसे भी समझ लें - आग की कारणता तृण में भी, अरणि में भी और मणि में भी अलग-अलग स्वतन्त्र रहती है अर्थात् केवल तृण से भी आग पैदा होती है और केवल अरणि से भी और केवल मणि (आतिशी शीशा) से भी। अतः तीनों में अलग -अलग कारणता रहती है। दूसरीकारणता दण्डचक्रचीवरादिन्याय से रहती है - जैसे घटरूप कार्य का कारण दण्ड चक्र चीवर आदि मिलकर होते हैं। क्योंकि अकेले दण्ड या अकेले चक्र या अकेले चीवर से घट को उत्पन्न नहीं किया जा सकता। अतः इन तीनों में कारणता अलग-अलग नहीं रहती अपितु तीनों में मिलकर रहती है अर्थात् तीनों में रहने वाली कारणता वहाँ एक होती है।

प्रकृत में काव्योत्पत्ति की प्रयोजकता शक्ति आदि तीनों के समुदाय में रहती है इसीलिए कहा तृणारणिमणिन्यायेन हेतुत्वशङ्कानिरासः। तात्पर्य यह है कि हेतु पदोत्तर सु विभक्त्यर्थ एकत्व का अन्वय समुदायत्व में करने के कारण काव्योत्पत्ति की प्रयोजकता दण्ड चक्रचीवरादिन्यायेन शक्ति आदि तीनों के समुदाय में रहती है यह बात सिद्ध होती है। क्योंकि यदि यहाँ तृणारणिमणिन्यायेन कारणता (प्रयोजकता) मानी जाएगी तो इसका अर्थ होगा कि केवल शक्ति या केवल निपुणता या केवल अभ्यास में से किसी एक के रहने पर भी काव्य की उत्पत्ति होगी तब काव्योत्पत्ति की प्रयोजकता का अवच्छेदक समुदायत्व नहीं होगा। क्योंकि यह नियम है कि अवच्छेदक वही धर्म होता है जोअवच्छेद्य धर्म का न्यूनवृत्ति अर्थात् उससे कम जगह नहीं रहे। परन्तु यहाँ स्थिति यह है कि - काव्योत्पत्ति की प्रयोजकता केवल शक्ति में है (अकेले शक्ति से ही काव्योत्पत्ति मानने पर) परन्तु वहाँ त्रितयपर्याप्तसमुदायत्व नहीं है। अतः वह समुदायत्व प्रयोजकता से कम स्थान

पर रहने वाला धर्म होने से प्रयोजकता का अवच्छेदक नहीं होगा तो वे तीनों (शक्ति, निपुणता और अभ्यास) त्रितय पर्याप्तसमुदायत्व के आश्रय नहीं कहलाएँगे। तात्पर्य यहाँ यह है कि - अवच्छेदक के भेद से अवच्छेद्य भिन्न-भिन्न होते हैं। यदि शक्ति आदि में से एक-एक से स्वतन्त्र रूप में काव्य की उत्पत्ति होगी तो जहाँ काव्य की उत्पत्ति शक्ति से होगी, वहाँ प्रयोजकता शक्ति में रहेगी प्रयोजकतावच्छेदक शक्तित्व होगा तो उसी में प्रयोजकतावच्छेदकता रहेगी। इसी रीति से काव्योत्पत्ति प्रयोजकतावच्छेदकता तीनों में रह सकती है और शक्ति आदि तीनों प्रयोजकतावच्छेदकता का आश्रय तो हो सकते हैं परन्तु उन तीनों में रहने वाली काव्योत्पत्तिप्रयोजकतावच्छेदकता एक नहीं होगी क्योंकि तीनों में रहने वाली प्रयोजकता एक नहीं है क्योंकि प्रयोजकता का अवच्छेदक कहीं शक्तित्व (जहाँ शक्ति मात्र से काव्य उत्पन्न हुआ) तो कहीं निपुणतात्व (जहाँ केवल निपुणता से ही काव्य उत्पन्न हुआ) तो कहीं अभ्यासत्व होगा। इस प्रकार शक्तित्व, निपुणतात्व और अभ्यासत्व रूप अवच्छेदक के भिन्न होने से अवच्छेद्य प्रयोजकता भी भिन्न (तीन) होगी। अतः जब एकत्व का अन्वय प्रयोजकतावच्छेदकसमुदायत्व में करते हैं तो इसका अर्थ यह होता है कि काव्योत्पत्ति की प्रयोजकता का अवच्छेदक समुदायत्व है जो एक है। वह समुदायत्व पर्याप्तिसम्बन्धेन तीनों के समुदाय में ही रहेगा किसी एक में नहीं। समुदायत्व यदि तीनों के समुदाय में है तो उस समुदायघटक प्रत्येक अवयव (शक्ति में भी रहता है) परन्तु उस समुदाय घटक प्रत्येक अवयव में वह समुदायत्व तभी रहेगा जब तीनों समुदित हों। अतः काव्य प्रकाशकार ने कहा "इतित्रयः समुदिताः हेतुः"। इस प्रकार समुदित तीनों में रहने वाला समुदायत्व किसी एक शक्ति या निपुणता में नहीं रहेगा। इस प्रकार यह बात सिद्ध हुई कि एकत्व का अन्वय समुदायत्व में करने से यह बात निकली कि वह समुदायत्व जो कि काव्योत्पत्तिप्रयोजकतावच्छेदक है शक्ति आदि में पर्याप्ति सम्वन्ध से तभी रहेगा जब समुदित उन तीनों में दण्डचक्रादिन्यायेन प्रयोजकता मानेंगे तृणारणिमणि न्यायेन प्रयोजकता मानने पर तो त्रितयपर्याप्तसमुदायत्व प्रयोजकता का अवच्छेदक ही नहीं हो पाएगा फिर प्रयोजकता में एकत्व की सिद्धि नहीं हो पाएगी। अतः एकत्व का समुदायत्व में अन्वय करने से ही शक्तिआदित्रितय में पर्याप्तसमुदायत्व के एक होने से (अवच्छेदक के एक होने से) उन तीनों में भी रहने वाली काव्योत्पत्ति प्रयोजकता का एकत्व सिद्ध होता है। यही तो दण्ड चक्राचीवरादिन्याय है। इस तरह यहाँ दण्डचक्रचीवर न्यायेन शक्ति आदि में रहने वाली प्रयोजकता एक है यह बात जब सिद्ध हो गयी तो अर्थात् तृणारणिमणिन्यायेन प्रयोजकता का अर्थात् प्रयोजकता के अनेकत्व का निराश हो गया।

एवं जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः इत्यत्र त्रितयनिष्ठस्य पदशक्तिरूपपदार्थत्वस्यैकत्वं विवक्षितमिति तत्र विशेष्यपदस्य बहुवचनान्तत्वेऽपि विशेषणपदस्यैकवचनान्ततोपपत्तिः।

इसी प्रकार गौतम के "जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः" इस सूत्र में उक्त जाति-आकृति (सम्बन्ध) व्यक्ति अर्थात् घट (व्यक्ति) घटत्व (जाति) तथा इन दोनों के समवाय सम्बन्ध में रहने वाला पदशक्ति रूप पदार्थत्व एक है यह बात विवक्षित होने के कारण (पदार्थ पदोत्तर सु विभक्त्यर्थ एकत्व विवक्षित होने के कारण) विशेष्य पद जात्याकृतिव्यक्ति के बहुवचनान्त होने पर भी विशेषणवाचक पदार्थ पद की एकवचनान्तता उपपन्न हो जाती है।

तात्पर्य यह है कि विशेष्यवाचक जात्याकृतिव्यक्तिपदोत्तर आयी जस् विभक्ति तात्पर्य विषय बहुत्व संख्या से विरूद्ध एकत्व संख्या विशेषणवाचक पदार्थपदोत्तर सु विभक्ति के द्वारा विवक्षित होने के कारण यहाँ समानवचनकत्व वाला नियम चूँकि प्रवृत्ति नहीं होता अतः विशेष्यवाचक पद से विशेषणवाचक पद के असमान वचन होने पर भी कोई क्षति नहीं। प्रश्न यह है कि पदार्थ पदोत्तर सु विभक्ति के द्वारा जो एकत्व विवक्षित है वह क्यों और उसका अन्वय कहाँ होता है? इस प्रश्न का समाधान ग्रन्थकार ने "त्रितयनिष्ठस्य पदशक्तिरूपस्य पदार्थत्वस्यैकत्वं विवक्षितम्" यह कहकर किया है।

तात्पर्य यह है कि घटरूप व्यक्ति, घटत्वरूप जाति तथा इन दोनों का सम्बन्ध रूप समवाय ये तीनों चूँकि घट पद के अर्थ हैं अतः इन तीनों में रहने वाला पदार्थत्व भी एक है यह सूत्रकार को विवक्षित है। अतः सूत्रकार ने पदार्थ पद के आगे एकवचन (सु) का प्रयोग किया है। अतः एकत्व का अन्वय भी पदार्थरूप प्रकृत्यर्थ में नहीं करके पदार्थत्व रूप प्रकृत्यर्थतावच्छेदक में किया जाता।क्योंकि प्रकृत्यर्थ पदार्थ तो वह तीनों है घट घटव तथा समवाय उनमें एकत्व का अन्वय अयोग्य भी है और उसमें एकत्व का अन्वय करने से यह बात भी नहीं सिद्ध होगी कि इन तीनों में रहने वाला पदार्थत्व एक है। यहाँ जिज्ञासा होगी कि पूर्व में कह आये हैं कि अवच्छेदक के भिन्न होने से अवच्छेद्य भी भिन्न होते हैं। तो यदि घट घटत्व और समवाय में पदार्थता मानेंगे तो उसका अवच्छेदक भी भिन्न-भिन्न होगा घटत्व समवायत्व आदि। इस प्रकार पदार्थतावच्छेदक के भिन्न होने से पदार्थता भी इन तीनों में अलग-अलग ही होगी, अनेक होगी। पुनः उसमें एकत्व का अन्वय कैसे करते हैं? भट्टाचार्य इसी बात को ध्यान में रखकर पदार्थता की व्याख्या स्वयं करते हैं। "पदशक्तिरूपस्य" इति। अर्थात् पदशक्ति ही पदार्थत्व है जो कि एक है। नैयायिकों के मत में "अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्यः" इस तरह की ईश्वरेच्छा ही पदशक्ति मानी जाती है। अब यदि ईश्वरेच्छा के एक होने के कारण पदशक्ति को एक मानते हैं और तद्रूप होने के कारण पदार्थत्व को तो घट पद की पदार्थता जैसे घटादि तीनों में मानी जाती है वैसे पट आदि में भी, कि बहुना सभी अर्थों में एक ही पदार्थता माननी पड़ेगी क्योंकि उसकी नियामिका ईश्वरेच्छा रूप पदशक्ति एक है। अतः यदि ईश्वरेच्छा को पदशक्ति न मानकर ईश्वरेच्छाविषयत्व को पदशक्ति माने तो ईश्वरेच्छा के एक

होने पर भी उसका विषय तो भिन्न-भिन्न होगा तो घट पद की पदार्थता पटादि में नहीं जाएगी, परन्तु विषयता के अलग-अलग होने से घट घटत्व और समवाय में एक पदार्थता कैसे मान सकते हैं।

अतः "एतत्पदजन्यबोधविषयत्वप्रकारता" ही तत् पदशक्ति है ऐसा गुरूजनों का कथन है। तात्पर्य यह है कि - अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्यः" = इस पद से यह अर्थ समझना चाहिए" इस प्रकार की ईश्वरेच्छा में अर्थ विशेष्य रूप से तथा एतत् पदजन्य बोध विषयता प्रकार रूप से भासित हो रहा है। इस तरह ईश्वरेच्छा में प्रकारतया भासित होने वाली जो "एतत्पदजन्यबोधविषयता, उस विषयता में रहने वाली प्रकारता ही शक्ति है। इस प्रकार "एतत्पदजन्य बोध विषयत्वनिष्ठप्रकारता" ही एतत् पदशक्ति है। अब यह प्रकारता रूप एक ही शक्ति विभिन्न सम्बन्धों से घट घटत्व तथा समवाय में रहती है। अतः इन तीनों में एक पदार्थत्व माना गया है। इसका विस्तृत व्याख्यान तो शक्तिवाद या इसी ग्रन्थ के इस स्थल की संस्कृत व्याख्याओं में देखना चाहिए। इस प्रकार उपर्युक्त "पदजन्यबोधविषयत्वनिष्ठ प्रकारता रूप एक ही पदशक्ति घट घटत्व समावय में रहती है अतः उनमें एक ही पदार्थत्व है यही बात पदार्थ पदोत्तर सु विभक्ति के द्वारा विवक्षित है और इसीलिए विवक्षित एकत्व का पदार्थत्व में अन्वय होता है। इस प्रकार यहाँ भी विशेष्यवाचक पदोत्तरविभक्तितात्पर्यविषयबहुत्वसंख्याविरूद्ध एकत्व विशेषणवाचक पदार्थपदोत्तर विभक्ति के द्वारा विवक्षित होने से पदार्थ पद की एकवचनान्तता उपपन्न है (युक्त ही है।)

ग्रन्थकार यहाँ तक तो विभिन्न वचन वाले विशेष्य विशेषणवाचंकपद घटित वाक्यों की साधुता उपपन्न कर रहे थे। अब जहाँ पर विशेष्य वाचक पद और विशेषणवाचक पद समान वचन वाले हैं। वहाँ यह बात सिद्ध करने जा रहे हैं कि इन स्थलों में विशेषण वाचक पदोत्तर आयी विभक्ति के द्वारा ऐसी संख्या विवक्षित नहीं है जो विशेष्यवाचक पदोत्तर विभक्ति के तात्पर्य का विषय न हो। जैसे -

प्रत्यक्षानुमानेत्यादिसूत्रे प्रमाकरणत्वरूपप्रकृत्यर्थतावच्छेदकस्य प्रत्यक्षानुमानादिनिष्ठस्यैकताया बाधितत्वेनाविवक्षितत्वात् प्रमाणपदस्य बहुवचनान्ततेति।

तात्पर्य यह है कि महर्षि गौतम के "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि" इस सूत्र में विशेष्यवाचक शब्द तथा विशेषण वाचक शब्द समान वचन वाले हैं इससे इतनी बात तो निश्चित हो गयी है कि यहाँ विशेषणवाचक प्रमाणपदोत्तर विभक्ति के द्वारा बहुत्व विरूद्ध एकत्व विवक्षित नहीं है। अब प्रश्न यह है कि क्यों विवक्षित नहीं है? प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वारा इस प्रश्न का समाधान किया जा रहा है। जिसका तात्पर्य यह है कि प्रमाण रूप प्रकृति का अर्थ जो प्रमितिकरण है वह चार हैं प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान और शब्द। अतः प्रकृत्यर्थ में तो एकत्व

का अन्वय हो नहीं सकता। तब रही बात प्रकृत्यर्थतावच्छेदक रूप प्रमितिकरणत्व में तो उसमें भी नहीं हो सकता। क्योंकि प्रमितिकरणत्व प्रमितिकरणता का अवच्छेदक है। तात्पर्य यह है कि प्रमितिकरणता रहेगी प्रमितिकरण में अर्थात् प्रत्यक्ष अनुमान उपमान तथा शब्द में इन चारों में रहने वाली प्रमितिकरणता का अवच्छेदक होगा प्रमितिकरणत्व जो प्रत्यक्ष स्थल में इन्द्रिय रूप तो अनुमिति स्थल में लिङ्ग परामर्श रूप, उपमिति स्थलमें सादृश्यज्ञान तथा शाब्दवोध स्थल में पदज्ञान रूप होगा। इस प्रकार प्रमितिकरणातावच्छेदक के भिन्न होने से अर्थात चार होने से उसमें एकत्व का अन्वय बाधित है। अतः प्रमितकरणतावच्छेदक रूप प्रकृत्यर्थतावच्छेदक में भी एकत्व विवक्षित नहीं हो सकता। क्योंकि बाधित अर्थ की विवक्षा करने वाले में अप्रामाण्य आ जाता है अतः सूत्रकार महर्षि गौतम जैसे आप्तपुरूष भला बाधित अर्थ को कैसे कहना चाहेंगे। इसलिए यहाँ विशेषणवाचक प्रमाण पद में बहुवचन (जस्) का प्रयोग उन्होंने किया है।

एवं पितरो देवताः इत्यत्रापि पितृपितामहादीनां सहितानामेकरूपेण देवतात्वविरहेण पितृत्वपितामहत्वादिना पृथगेव त्यागोद्देश्यत्वरूपदेवतात्वम्। उद्देश्यतावच्छेदकभेदेनैवोद्देश्यताभेदात्। तत्रैकत्वस्याविवक्षया देवतापदस्य बहुवचनान्ततेति दिक्॥

इसी प्रकार "पितरो देवताः" यहाँ पर भी मिले हुए (समुदित) पिता पितामहप्रपितामह आदि में एक रूप से देवतात्व न रहने के कारण, पितृत्व पितामह त्वादि रूप से देवतात्व के रहने के कारण, पितृत्व पितामहत्वादि रूप से त्याग की उद्देश्यता रूप देवतात्व भिन्न-भिन्न ही है। क्योंकि उद्देश्यतावच्छेदक के भेद से उद्देश्यता भी भिन्न होती है। अतः पितरो देवताः में देवता रूप विशेषणवाचक पदोत्तर आयी विभक्ति के द्वारा एकत्व अविवक्षित होने से उसमें बहुवचनान्तता है।

तात्पर्य यह है कि जिसको उद्देश्य करके देय वस्तु का (पिण्ड आदि का) त्याग किया जाता है उसे देवता कहा जाता है। पार्वण श्राद्ध आदि में पिण्ड आदि के त्याग की उद्देश्यता यद्यपि पिता, पितामह, प्रपितामह, मातामह, प्रमातामह, वृद्धप्रमामातामहों में सपत्नीकों में रहती है। अतः इन सब में देवतात्व माना जाता है। परन्तु इन बारहों में रहने वाला कोई ऐसा एकरूप नहीं है जिस रूप में इनमें रहने वाली उद्देश्यता को एक माना जा सके अपितु पिता में रहने वाली उद्देश्यता पितृत्वेन और पितामह में रहने वाली उद्देश्यता पितामहत्वेन इसी प्रकार अन्य पितरों में भी भिन्न-भिन्न धर्म ही त्यागोद्देश्यता के अवच्छेदक होते हैं। अवच्छेदक के भेद होने से अवच्छेद्य भी भिन्न हो जाता है यह बात पूर्व में भी बतायी जा चुकी है। यहाँ भी पिता आदि में रहने वाली त्यागोद्देश्यता का अवच्छेदक पितृत्व-पितामहत्व आदि अनेक हैं। अतः अवच्छेद्य = पिता आदि में रहने वाली उद्देश्यता रूप देवतात्व भी भिन्न-भिन्न है अनेक है। उस अनेक देवतात्व रूप

प्रकृत्यर्थतावच्छेदक में एकत्व का अन्वय चूँकि बाधित है। अतः अविवक्षित है। एवं च जब बहुत्व विरूद्ध एकत्व देवता पदोत्तरजस् विभक्ति के द्वारा अविवक्षित है तो उसकी वहुवचनान्तता ही उचित है जो है भी। इतिदिक।

पूर्व में जब अभेदान्वय कैसे पदार्थ का कैसे पदार्थ में होता है यह बताया गया था तो वहाँ पर कहा गया था विशेष्य पदार्थ में, विशेष्य वाचक पद के समान विभक्ति वाले विशेषण वाचक पद के द्वारा उपस्थापित अर्थ का अभेदान्वय होता है। वहाँ प्रश्न उठा था समान विभक्ति का क्या तात्पर्य है? तो उत्तर दिया गया था "स्वप्रकृतिकविभक्तिसजातीयविभक्तिकत्वम्"। ग्रन्थकार उसी स्वप्रकृतिक विभक्तिकत्वम् की व्याख्या अब स्वयं करने जा रहे हैं। इस व्याख्या की आवश्यकताइसलिए हुई क्योंकि स्वप्रकृतिकविभक्तिकत्व का अर्थ यदि करें - स्व = विशेष्यवाचकप्रातिपदिक वह है प्रकृति जिस विभक्ति का, वह विभक्ति स्वप्रकृतिकविभक्ति अर्थात् विशेष्य वाचक पद के आगे विद्यमान विभक्ति तो "दधि सुन्दरम्" यहाँ पर विशेष्य वाचक पद के आगे तो कोई विभक्ति ही नहीं है तब उसकी सजातीयता भला कैसे विशेषणवाचक पदोत्तर विभक्ति में ढूँढ पाएंगे। अतः भट्टाचार्य ने कहा -

स्वप्रकृतिकत्वञ्च स्वाव्यवहितोत्तरत्वेन प्रतिसन्धीयमानत्वम्, तेन दधिसुन्दरम् इत्यादौ विशेष्यपदानन्तरं विभक्तेरसत्त्वेपि न क्षतिः। तत्रविभक्तेरनुसंधानं विना शाब्दबोधानुपगमात्।

तात्पर्य यह है कि स्वप्रकृतिकत्व का अर्थ स्व = विशेष्यवाचक पद के आगे रहने वाली विभक्ति नहीं है अपितु स्व = विशेष्य वाचक पद के अव्यवहित उत्तर में आये हुए के रूप में, प्रतिसन्धीयमानत्व = अर्थात् स्मरण की जाती हुई विभक्ति ही स्व प्रकृतिक विभक्ति है। इसलिए दधि सुन्दरम् यहाँ पर विशेष्यवाचक दधि पद के आगे आयी (सु) विभक्ति का "स्वमोर्नपुंसकात्" से लुप्त हो जाने पर भी, वह लुप्तविभक्ति, शाब्दबोध के समय अर्थात् जब अभेदान्वय कर रहे हैं उस समय स्मरण तो की ही जाती है। अतः दधिपदाव्यवहितोत्तरत्वेन प्रतिसन्धीयमान होने के कारण वह लुप्त सु विभक्ति भी स्वप्रकृतिक विभक्ति कहलाएगी और उसका साजात्य नील पदोत्तर सु विभक्ति में आएगा। इस प्रकार कोई क्षति नहीं है। यदि कहो शाब्दबोध के समय लुप्त विभक्ति का प्रतिसन्धान = स्मरण ही क्यों करें तोभट्टाचार्य कहते हैं कि व्यासस्थल में लुप्तविभक्ति का स्मरण किये बिना शाब्दबोध होता ही नहीं है। अतः जब "सुन्दराभिन्नं दधि" ऐसा अभेदान्वयबोध होता है उस समय दधिपदोत्तर लुप्त सु विभक्ति का अनुसन्धान आवश्यक होता है।

एवं तादृशविभक्तिसजातीयविभक्तिकत्वमपि तथाविधविभक्त्य-व्यवहितपूर्व वर्तितया प्रतिसन्धीयमानत्वम् तेन इदं दधीत्तयादौ विशेषणपदानन्तरं विभक्तेरसत्त्वेऽपि न क्षतिः।

इसी प्रकार विशेषण पद में जो स्वप्रकृतिक विभक्ति सजातीय विभक्तिकत्व होना चाहिए उसका भी अर्थ है कि तादृश = अर्थात् विशेषणवाचक पदाव्यवहितोत्तरत्वेन प्रतिसन्धीयमान जो विभक्ति, उससे अव्यवहितपूर्वरूप में प्रतिसन्धीयमानत्व = अर्थात् स्मरण की जाने वाली होना ही तादृशविभक्ति सजातीयविभक्तिकत्व है। इससे "इदं दधि" यहाँ पर विशेषणवाचकपद = दधि पद के अव्यवहित उत्तर में प्रतिसन्धीयमान विभक्ति होगी लुप्त सु विभक्ति, उसके अव्यवहितपूर्वरूप में दधि पद प्रतिसन्धीयमान हो ही रहा है। अतः इदं दधि में विशेषणवाचक दधि पद, विशेष्यवाचकपदसमानविभक्तिक है। अभेदान्वय हो जाएगा।

अथ "नीलस्य घटः" इत्यादावपि पदार्थोपस्थित्यादि-कारणसमवधानसंभवात् कथं न नीलघटाद्योरभेदान्वयबोधः सामग्रया कार्यजनने उक्तनियमभङ्गप्रसङ्गरूपबाधकस्याकिञ्चित्करत्वादिति चेत्? तथाविधान्वयबोधौपयिकाकाङ्क्षाविरहात्। तथाहि - तादृशान्वयबोधे प्रथमाविभक्त्यन्तघटादिपदसमभिव्याहतप्रथमान्तनीलादिपदत्वमेवासमस्तनील-घटपदाद्याकाङ्क्षा, समासस्थले च घटादिपदाव्यवहितपूर्ववर्तिनीलादिपदत्वं नीलादिपदाव्यवहितोत्तरघटादिपदत्वं वाऽऽकाङ्क्षा। उक्तस्थले तादृश्या एकस्या अप्याकाङ्क्षाया विरहान्नापत्तिः।

कार्यतावच्छेदककोटाव्यवहितोत्तरत्वनिवेशान्नोक्ताकाङ्क्षाज्ञानयोः परस्परबोधे व्यभिचारः।

पूर्व में अभेदसम्बन्ध समानविभक्तिवाले विशेष्य विशेषणवाचक पदों के द्वारा उपस्थापित अर्थ का ही होता है विरूद्ध विभक्ति वाले पदों के द्वारा उपस्थापित अर्थ का नहीं "यह बात कह चुके" हैं। इसी को ध्यान में रखकर प्रश्न पूछा जा रहा है कि - यदि विरूद्ध विभक्ति वाले "नीलस्य घटः" में भी शाब्दबोध को उत्पन्न करने वाली पदार्थोपस्थिति योग्यताज्ञानरूप कारणसामग्री है तो अभेदान्वय बोध क्यों नहीं होता। तात्पर्य यह है कि नीलस्य में नीलपद के द्वारा भी "नीलरूपवान्" रूप पदार्थ तथा "घटः" में घट पद के द्वारा घटरूप पदार्थ उपस्थित होते हैं (जैसे "नीलो घटः" में होता है।) इसी प्रकार नील पदार्थ का घट पदार्थ में अभेद सम्बन्ध योग्य भी है ही (तभी तो "नीलो घटः" में अभेदान्वय होता है।) अतः नील पदार्थ का घट पदार्थ में अभेद सम्बन्ध से अन्वित होने की योग्यता का ज्ञान भी है। इस प्रकार "नीलाऽभिन्नो घट" इस अभेदान्वय बोध की कारणसामग्री जब "नीलस्य घटः" इस वाक्य में भी है तब भला उपर्युक्त

अभेदान्वय बोध क्यों नहीं माना जाता? यदि कहें अभेदान्वय के लिए विशेष्य विशेषणवाचक पदों को समान विभक्तिक होना चाहिए यह नियम है। अतः यदि असमान विभक्ति वाले "नीलस्य घटः" में नीलघट का अभेदान्वय बोध मानेंगे तो उपर्युक्त नियम भङ्ग हो जाएगा। तो ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि कारण सामग्री के द्वारा कार्य (शाब्दबोध) उत्पन्न होने में यदि उपर्युक्त समानविभक्ति वाला नियम भङ्ग भी होता है तो वह अकिञ्चितकर है अर्थात् यदि पदार्थोपस्थिति आदि कारण सामग्री से अभेदान्वय बोध कार्य हो रहा है तो उपर्युक्त समान विभक्तिकत्व वाले नियम का भङ्ग हो जाना कोई महत्त्व नहीं रखता। पुनः वहाँ अभेदान्वय बोध क्यों नहीं मानते? इसका समाधान करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं- उस प्रकार के अन्वय बोध के लिए उपयोगी आकाँक्षा के न होने के कारण वहाँ अभेदान्वय बोध नहीं होता। तात्पर्य यह है कि शाब्दबोध के लिए पदार्थोपस्थिति और योग्यता ज्ञान के अतिरिक्त आकाँक्षा ज्ञान भी कारण होता है। अतः नीलस्य घटः में पदार्थोपस्थिति और योग्यताज्ञान के रहने पर भी अभेदान्वय बोध के लिए जिस प्रकार की आकाँक्षा का ज्ञान आवश्यक होता है वैसी आकाँक्षा के न होने से वहाँ अभेदान्वय बोध नहीं होता है। तब प्रश्न उठेगा कि अभेदान्वय के लिए किस प्रकार की आकाँक्षा आवश्यक होती है? तो इसका उत्तर मूल में तथाहि-इत्यादि से दिया गया है। जिसका तात्पर्य यह है कि - यदि असमस्तस्थल में "नीलाभिन्नो घटः" इस प्रकार का अभेदान्वय होना है तो उसके लिए नील तथा घट पद में, "प्रथमा विभक्त्यन्त "घटः" पद के समीप में उच्चारितप्रथमान्त "नीलः" पद का होना अर्थात् नीलो घटः या घटः नीलः यही आकाँक्षा है। इस प्रकार की आकाँक्षा ज्ञान ही असमस्त स्थल में अभेदान्वयबोध के लिए उपयोगी होता है। समास स्थल में तो "नीलाऽभिन्नो घटः" इस प्रकार के अभेदान्वय बोध के लिए - घट पदाव्यवहितपूर्ववर्तिनीलपदत्व अथवा नीलपदाव्यवहितोत्तरवर्तिघटपदत्व अर्थात् "नीलघट" ही उपयोगी आकाँक्षा है जो नील पद तथा घट पद में रहती है। इस प्रकार उपर्युक्त पद में रहने वाली पदत्व रूप आकाँक्षा का ज्ञान भी अभेदान्वय बोध के लिए उपर्युक्त स्थल में कारण होता है। इस तरह "नीलाऽभिन्नो घटः" इस प्रकार के अभेदान्वय के लिए तीन प्रकार की (वस्तुतः दो प्रकार की) आकाँक्षा कारण हुई -

(1) प्रथमान्तघटपदसमभिव्याहृतप्रथमान्तनीलपदत्व = ("नीलो घटः")

(2) घटपदाव्यहितपूर्ववर्तिनीलपदत्व (नीलघट)

(3) नीलपदाव्यवहितोत्तरवर्तिघटपदत्व (नील घट)

इन दोनों प्रकार की आकाँक्षाओं में से एक भी आकाँक्षा नीलस्य घटः में नहीं है। क्योंकि न तो यहाँ प्रथमान्त घटः पद के समीप में प्रथमान्तः "नीलः" पद ही समभिव्याहृत है यहाँ तो "नीलस्य" ऐसा षष्ठ्यन्त नील पद समभिव्याहृत है, और न ही घटपदाव्यवहित पूर्व में ही नील पद है क्योंकि घट पद और

नील पद के मध्य में नील पदोत्तर आयी ङ्स विभक्ति का व्यवधान है। इस प्रकार दोनों प्रकार की आकाँक्षाओं में से एक भी आकाँक्षा का ज्ञान "नीलस्य घटः" में नहीं हो रहा है। क्योंकि वहाँ उपर्युक्त एक भी आकाँक्षा है ही नहीं।अतः वहाँ नीलाऽभिन्नो घटः ऐसा अभेदान्वय बोध नहीं होता है।

अब यहाँ एक समस्या आती है कि यदि मान लें "प्रथमान्त घटपद समभिव्याहृत प्रथमान्तनीलपदत्व अर्थात् "नीलो घटः" इस प्रकार की आकाँक्षा के ज्ञान से नीलाभिन्नो घटः ऐसा अभेदान्वय बोध हुआ। वहाँ घटपदाव्यवहितपूर्ववर्ति नीलपदत्व = अर्थात् "नील घट" यह आकाँक्षा रूप कारण नहीं है तथापि उपर्युक्त अभेदान्वय तो हो गया। इसलिए उपर्युक्त दो आकाँक्षा में से एक आकाँक्षा रूप कारण के नहीं रहते हुए भी शाब्दबोध रूप कार्य हो गया तो (कारणाभावे कार्याभावः रूप व्यतिरेक व्याप्ति का) व्यभिचार हो गया। इसी प्रकार जहाँ "नील घट" इस आकाँक्षा के ज्ञान से उपर्युक्त अभेदान्वय बोध हो गया .वहाँ पर नीलो घटः रूप दूसरी आकाँक्षा के न होने से वहाँ भी वही व्यतिरेकव्यभिचार हो गया तो उपर्युक्त आकाँक्षा ज्ञान में शाब्द बोध की कारणता रहती है। इस बात का निश्चय नहीं हो सकता क्योंकि कहीं पर भी कारणता का निश्चय अन्वय - व्यतिरेक के द्वारा ही प्रायः होता है। ऐसी स्थिति में यदि शाब्दबोधरूप कार्य के आकाँक्षा ज्ञान रूप कारण में व्यभिचार (व्यतिरेक) निश्चय हो गया तो पुनः उसमें कारणता का निश्चय कैसे हो सकता है। क्योंकि व्यभिचार निश्चय कारणता के ज्ञान का प्रतिबन्धक (रोकने वाला) होता है। सारांश यह निकला कि उपर्युक्त रीति से दोनों प्रकार की आकाँक्षाओं में व्यतिरेक व्यभिचार के होने से उनमें शाब्दबोध की कारणता ही नहीं पुनः उनमें से किसी के भी न होने पर शाब्दबोध को होना ही चाहिए? इस आशंका को ध्यान में रखकर ही भट्टाचार्य जी ने कहा - कार्यतावच्छेदककोटौ इत्यादि। तात्पर्य यह है कि - उपर्युक्त समस्या केवल यहीं नहीं आयी है यह समस्या तो उन सभी स्थलों पर आती है जहाँ एक कार्य के कारण स्वतन्त्र रूप से अनेक होते हैं। अतः ऐसे स्थलों में जिस रीति से उपर्युक्त व्यतिरेक व्यभिचार रूप दोष का वारण किया जाता है वही रीति यहाँ पर भी अपनानी चाहिए और वह रीति है "कार्यतावच्छेदककोटि में "अव्यवहितोत्तरत्व" का निवेश। तात्पर्य यह है कि शाब्दबोध कार्य है और उपर्युक्त दोनों आकाँक्षाएँ कारण तो शाब्दबोध में रहने वाली कार्यता के अवच्छेदक कोटि में शाब्दबोधत्व की तरह अव्यवहितोत्तरत्व का निवेश कर देने से उपर्युक्त व्यतिरेक व्यभिचार दोष का वारण हो जाएगा। इसको और यदि स्पष्ट करें तो - पहले "नीलाभिन्नो घटः" इत्याकारकशाब्दबोधं प्रति, "नीलो घटः" इत्याकारकआकाँक्षाज्ञानं कारणम् तथा "नीलघट" इत्याकारक आकाँक्षा ज्ञानं च कारणम्" ऐसा कार्यकारणभाव था तो एक शाब्दबोध के प्रति दो अलग-अलग आकाँक्षा ज्ञान के कारण होने से उपर्युक्त दोष आया था अब शाब्दबोध में रहने वाली कार्यता के अवच्छेदक रूप में जब

अव्यवहितोत्तरत्व का निवेश कर देंगे तो दोनों आकाँक्षाओं का कार्य भी दो तरह का शव्दबोध हो जाएगा वह एक नहीं रहेगा। जैसे अब कार्यकारणभाव का स्वरूप होगा - "नीलो घटः इत्याकारक आकाँक्षाज्ञानाव्यवहितोत्तर जायमानं" "नीलाभिन्नो घटः" इत्याकारक शाव्दबोधं प्रति, नीलो घटः इत्याकाँक्षाज्ञानं कारणम् तथा नीलघट इत्याकारकआकाँक्षाज्ञानाव्यवहितोत्तरजायमानं "नीलाऽभिन्नो घटः" इत्याकारक शाब्दबोधं प्रति, नीलघट इत्याकाँक्षाज्ञानं कारणम्। यहाँ पर शाब्दबोध रूप कार्य का विशेषण जैसे शांव्दबोधत्व है इसी प्रकार प्रथम कार्यकारण भाव में नीलो घटः इत्याकारकाकाँक्षाज्ञानाव्यवहितोत्तरत्व भी शाब्दबोध में विशेषण है। अतः उपर्युक्त अव्यवहितोत्तरत्व शाब्दबोध में रहने वाली कार्यता का अवच्छेदक है। इस प्रकार "नीलो घटः" इस प्रकार के आकाँक्षा ज्ञान के अव्यहित उत्तर (क्षण) में होने वाले नीलाऽभिन्नो घटः इस अभेदान्वय बोध के लिए "नीलो घटः" इसी आकाँक्षा का ज्ञान कारण है, "नीलघट" इस आकाँक्षा का ज्ञान नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि "नील घट" इस आकाँक्षा का ज्ञान, जब "नीलो घटः" इस आकाँक्षा से होने वाले शाब्दबोध का कारण ही नहीं है तब यदि नीलो घटः इस आकाँक्षा ज्ञान के बाद होने वाले अभेदान्वयबोध स्थल में नहीं भी रहता है तो व्यतिरेक व्यभिचार नहीं हो सकता। क्योंकि कारणाभावे कार्याभावः इसी व्यतिरेक नियम का भङ्ग होना ही तो व्यतिरेक व्यभिचार दोष है। उपर्युक्त स्थल में तो "नील घट" यह कारण ही नहीं तो उसका अभाव कारणाभाव ही नहीं कहलाएगा तो व्यतिरेक व्यभिचार क्यों होगा। उपर्युक्त स्थल में जो नीलो घटः आकाँक्षा ज्ञान कारण है वह तो शाब्दबोध से पूर्व है ही। इसी प्रकार दूसरी आकाँक्षा स्थल में भी व्यतिरेक व्यभिचार दोष का वारण हो जाएगा क्योंकि उस स्थल में "नीलो घटः" यह आकाँक्षा ज्ञान कारण नहीं होगा तो उसका अभाव भी कारणाभाव नहीं कहलाएगा। इतिदिक्।

इसी रीति से जहाँ आकाँक्षा के स्वरूप में विशेष्य वाचक पद के पर्यायों का या विशेषणवाचक पद के पर्यायों का प्रयोग किया जाएगा जैसे - नीलः घटः नीलः कलशः, नीलः कुम्भः या नीलः घटः, कृष्णः घटः, श्यामः घटः। वहाँ भी व्यतिरेक व्यभिचार आएगा उसका भी वारण करना चाहिए।

इस प्रकार नीलो घटः इस असमासस्थल में तथा नीलघटः इस समास स्थल में होने वाले अभेदान्वय के लिए नीलो घटः और नील घट इस प्रकार की दो आकाँक्षाएँ अलग-अलग कारण है यह बात सिद्ध हुई। अब कोई व्यक्ति आकाँक्षा का स्वरूप ऐसा बता रहा है जो कि दोनों स्थलों के लिए चाहे समास हो या व्यास समान रूप से कारण हो सकता है और नीलस्य घटः आदि अनिष्ट स्थलों में अभेदान्वय की आपत्ति भी नहीं रहेगी। जैसे -

यत्तु समासव्याससाधारणं "विशेषणपदस्यविशेष्यवाचकपदा-प्रकृतिकविभक्त्यप्रकृतित्वरूपंविरूद्धविभक्तिराहित्यमेव

तादृशान्वयबोधौपयिकाऽऽकाङ्क्षा, विशेष्यवाचकपदनिष्ठविशेषणवाचक-पदाःप्रकृतिकत्विभक्त्यप्रकृतित्वं च न तथा "नील घटमानय" इत्यादावसंभवादिति। तदसत्। विशेष्यवाचकपदाऽप्रकृतिकत्वस्य तादृशपद ुत्तरत्वरूपस्य तदुत्तरत्वेनाप्रतिसन्धीयमानत्वरूपस्य वा "नीलो घटः" इत्यादौ नीलादिपदसमभिव्याहृतविभक्तौ घटपदसमभिव्याहृतविभक्ति-भिन्नतया सत्वात्।

यत्तु समास और व्यास दोनों के लिए एक ही प्रकार की आकाँक्षा का स्वरूप बताते हुए कहता है कि "विशेषणवाचक पद का विशेष्यवाचक पद नहीं है प्रकृति जिस विभक्ति का ऐसी विभक्ति का प्रकृति न होना, अर्थात् विशेष्यवाचक पद के आगे जो विभक्ति है उससे विरूद्ध विभक्ति से विशेषणवाचक पद का रहित होना, ही दोनों स्थलों में अभेदान्वय बोध के लिए उपयोगी आकाँक्षा है। अब चाहे नीलो घटः से अभेदान्वय वोध होवे या नीलघटः से दोनों जगह उपर्युक्त आकाँक्षा है ही। जैसे पहले नीलो घटः को लेते हैं - यहाँ पर विशेष्यवाचक घट पद के आगे जो सु विभक्ति आयी है उसका प्रकृति घटपद नहीं है प्रकृति जिन विभक्तियों का ऐसी विभक्तियाँ होगी अम् औट् शसादि, तो ऐसी अम् आदि विभक्तियों का प्रकृति विशेषणवाचक नील पद भी नहीं ही है। अतः विशेष्यवाचक पदोत्तरविभक्तिविरूद्धविभक्तिराहित्य नील पद में है ही अर्थात् आकाँक्षा रूप कारण है। अतः वहाँ अभेदान्वय बोध हो जाता है। इसी प्रकार नीलघटः यहाँ पर भी विशेष्य वाचक घट पद नहीं है प्रकृति जिस विभक्ति का ऐसी विभक्ति सु (प्रथमा) को छोड़कर अन्य सभी अम् आदि विभक्ति होगी तो ऐसी विभक्ति की प्रकृति विशेषण वाचक नील पद नहीं है। क्योंकि यहाँ तो नील पद के आगे कोई विभक्ति ही नहीं है।अतः विशेष्यवाचक पदोत्तरविभक्ति विरूद्ध विभक्ति राहित्य यहाँ पर भी नील पद में होने से यहाँ भी आकाँक्षा है ही अभेदान्वय बोध होता है। इस तरह एक ही आकाँक्षा से दोनों स्थलों पर जब अभेदान्वय हो सकता है तब दोनों स्थलों के लिए दो अलग-अलग आकाँक्षा मानने की क्या आवश्यकता? यत्तु के मत से प्रदर्शित आकाँक्षा को मानने पर नीलस्य घटः में अभेदान्वय की आपत्ति भी नहीं रहेगी क्योंकि वहाँ विशेष्य वाचक घट पद नहीं है प्रकृति जिस विभक्ति की ऐसी ङस् विभक्ति की प्रकृति ही विशेषण वाचक नील पद है। अतः वहाँ उपर्युक्त आकाँक्षा रूप कारण के न होने से अभेदान्वयबोध रूप कार्य की आपत्ति भी नहीं है।

उपर्युक्त आकाँक्षा के विषय में यह बात भी ध्यान रहे कि जैसे "विशेष्य वाचकपदाप्रकृतिकविभक्त्यप्रकृतित्व विशेषणवाचक पद में होना अपेक्षित है अभेदान्वय के लिए, वैसे ही "विशेषणवाचकपदाप्रकृतिकविभक्त्यप्रकृतित्व विशेष्य वाचक पद में रहे, ऐसा नहीं समझना चाहिए। क्योंकि यदि विशेष्यवाचक पद में विशेषणवाचक-

पदोत्तरविभक्तिविरूद्धविभक्तिराहित्य अभेदान्वय के लिए अपेक्षित मानोगे तो "नीलघटमानय" इत्यादि स्थलों में जहाँ कि अभेदान्वय सर्वानुभवसिद्ध है उपर्युक्त आकाँक्षा का मिलना असंभव ही हो जाएगा। क्योंकि नीलघटमानय यहाँ पर विशेषण वाचक नील पद के आगे तो कोई विभक्ति है नहीं, तो सभी विभक्तियाँ विशेषणवाचकनीलपदाप्रकृतिक ही होंगी इस प्रकार अम् विभक्ति भी नीलपदाप्रकृतिक विभक्ति है उस नीलपदाप्रकृतिक अम् विभक्ति की प्रकृति ही है विशेष्यवाचक घट पद तो उसमें विरूद्धविभक्तिराहित्यरूप आकाँक्षा नहीं रहने से अभेदान्वय बोध नहीं होगा। अतः विशेष्यवाचक पद में विशेषणवाचक पदोत्तरविभक्ति-विरूद्धविभक्तिराहित्य को आकाँक्षा नहीं मानना चाहिए।

इस प्रकार विशेष्यवाचकपदोत्तरविभक्तिविरुद्धविभक्तिराहित्यरूप एक ही आकाँक्षा से जब समास तथा व्यासस्थल में अभेदान्वय बोध हो सकता है तब दोनों स्थलों के लिए दो प्रकार की आकाँक्षा का स्वरूप मानने की क्या आवश्यकता?

भट्टाचार्य उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए यह सिद्ध करते हैं कि दोनों स्थलों के लिए दोआकाँक्षा मानना आवश्यक है। क्योंकि उपर्युक्त आकाँक्षा मानने पर नीलो घटः इत्यादि स्थल में उपर्युक्त आकाँक्षा के न होने से सर्वानुभव सिद्ध अभेदान्वय बोध नहीं उपपन्न हो पाएगा। क्योंकि उपर्युक्त आकाँक्षा के स्वरूप में जो "विशेष्यवाचक पदाऽप्रकृतिक विभक्ति" कहा गया है इसका तात्पर्य तो यही है कि - विशेष्यवाचक - पद के उत्तर में जो विभक्ति नहीं हो अर्थात् विशेष्यवाचक पद के उत्तर में आयी हुई के रूप में जो विभक्ति प्रतिसन्धीयमान (स्मरण की जाती हुई) न हो वही विभक्ति कहलाएगी - विशेष्यवाचक पदाऽप्रकृतिक विभक्ति इस तरह की विभक्ति की प्रकृति .विशेषणवाचक पद को नहीं होना चाहिए। परन्तु न्याय मत में शब्द के अनित्य होने से प्रत्येक शब्द एक दूसरे से भिन्न होते हैं, व्याकरण मत में भी व्यक्तिवाद सिद्धान्तानुसार प्रत्युच्चरितः शब्दो भिद्यते ऐसा माना गया है। ऐसी स्थिति में "नीलोः घटः" यहाँ पर विशेषणवाचकनील पद जिस सु विभक्ति की प्रकृति है वह और विशेष्यवाचक घट पद प्रकृति है जिस सु विभक्ति की वह, ये दोनों सु विभक्तियाँ वस्तुतः भिन्न ही हैं। अतः विशेष्य वाचक घट पद के उत्तरत्वेन नील पदोत्तर आयी सु विभक्ति अप्रतिसन्धीय मान ही है। इस तरह विशेष्यवाचक घट पदोत्तरत्वेन अप्रतिसन्धीयमान जो नील पदोत्तर आयी सु विभक्ति उसकी प्रकृति ही है विशेषणवाचक नील पद; तो उसमें विरूद्ध विभक्ति राहित्य रूप आकाँक्षा नहीं रही, तो वहाँ अभेदान्वय बोध नहीं हो पाएगा। किं बहुना कहीं पर भी उपर्युक्त प्रत्युच्चरितः शब्दो भिद्यते सिद्धान्तानुसार विरूद्ध विभक्ति राहित्य रूप आकाँक्षा नहीं मिलेगी तो अभेदान्वय कहीं पर भी नहीं हो पाएगा। अतः उपर्युक्त मत के युक्तियुक्त न होने से दो आकाँक्षा स्वरूप दोनों स्थलों के लिए मानना ही चाहिए।

अब कोई दूसरा व्यक्ति उभयस्थल साधारण इस आकाँक्षा के स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहता है कि -

अथ विशेष्यवाचकपदोत्तरावृत्तिविभक्तिविभाजकधर्मवद्विभक्ति-राहित्यस्य विवक्षणान्न दोष इति चेत्?

तर्हि विभक्तित्वादिकमजानतः पुरुषस्य तादृशधर्मज्ञानासंभवात् शाब्दबोधानुपपत्तिः। नीलो घटः इत्यादावपि सुपदस्यअमपद्त्वादिभ्रमदशायां तादृशबोधस्यानुदयात् नीलस्य घटःइत्यादावपि षष्ठ्यादेः सुपदत्वादि-भ्रमदशायां शाब्दबोधोत्पत्त्या स्वरूपतो विरुद्धविभक्तिराहित्यस्या-प्रयोजकत्वात्।

इसका तात्पर्य है कि - विरूद्धविभक्तिराहित्य का तात्पर्य यह है कि - विशेष्यवाचक पद के उत्तर आयी हुई वभक्ति में जो विभक्ति विभाजक धर्म नहीं रहता, उस विभक्ति विभाजक धर्म वाली विभक्ति से विशेषण वाचक पद को रहित होना चाहिए। दृष्टि यहाँ है कि - प्रत्युच्चरितः शब्दो भिद्यते के अनुसार घट तथा नील पदों के आगे आयी हुई सुविभक्तियाँ भले ही भिन्न-भिन्न हों, परन्तु उनमें रहने वाला विभक्ति विभाजक धर्म प्रथमात्व तो एक ही है। इस तरह विशेष्यवाचक घट पदोत्तर आयी सु विभक्ति में नहीं रहने वाला विभक्ति विभाजक धर्म है द्वितीयात्व आदि, उस द्वितीयात्व आदि विभक्तिविभाजक धर्म वाली विभक्तियाँ होगीं अम्, औट् आदि विभक्तियाँ उनसे रहित ही है विशेषणवाचक नील पदोत्तर विभक्ति समास और व्यास दोनो स्थलों में। इस प्रकार विशेषणवाचक पद का विरूद्ध विभक्ति राहित्य रूप एक ही आकाँक्षा का स्वरूप मान लो दो आकाँक्षाओं को मानने की क्या आवश्यकता?इस व्याख्या का भी खण्डन करते हुए गदाधर भट्टाचार्य कहते हैं कि - जिस पुरूष को विभक्तित्व का ज्ञान नहीं है अर्थात् जो 'विभक्ति किसे कहते हैं' इस बात को नहीं जानता उस पुरूष को उपर्युक्त आकाँक्षा का ज्ञान नहीं हो पाएगा क्योंकि विशिष्ट ज्ञान में विशेषण का ज्ञान आवश्यक होता है और उपर्युक्त आकाँक्षा ज्ञान विशिष्ट ज्ञान है जिसमें "विभक्तिविभाजक" धर्म विशेषण है तो विशेषण रूप विभक्ति का ज्ञान जब तक नहीं होगा तब तक आकाँक्षा ज्ञान नहीं होगा और यदि उपर्यक्त विभक्तित्व घटित आकाँक्षा का ज्ञान नहीं होगा तो शाब्दबोध रूप कार्य भी नहीं हो पाएगा।

इस पर यदि कोई कहे कि नीलो घंटः इत्यादि स्थलों में उपर्युक्त विरूद्ध विभक्तिराहित्य आकाँक्षा तो है भले ही जो पुरूष विभक्तित्व को न जानता हो उसे वहाँ विद्यमान आकाँक्षा का ज्ञान न होवे तथापि शाब्दबोध रूप कार्य क्यों नहीं हो सकता? जैसे यदि कोई पुरुष वह्नि को नहीं जानता है तथापि यदि उसे छू लेता है तो उसका अङ्ग तो जल ही जाता है, जिस अङ्ग का अग्नि से स्पर्श हुआ था। इस तरह जैसे जलन (दाह) रूप कार्य के लिए वह्नि का ज्ञान होना

आवश्यक नहीं, अपितु वह्नि का स्वरूपतः होना ही अपेक्षित है। इसी को शास्त्र में "दाह के प्रति वह्नि में स्वरूपतः कारणता रहती है" ऐसा कहा जाता है। इस तरह जैसे दाह के प्रति वह्नि में स्वरूपतः कारणता मानते हैं अर्थात् वह्नि के रहने से ही कार्य हो जाता है, दाहरूप कार्य के लिये वह्निरूप कारण का ज्ञान होना आवश्यक नहीं वैसे ही शाब्दबोध की कारणता भी आकाँक्षा में स्वरूपतः ही मानेंगे अर्थात् जहाँ अभेदान्वय होता है वहाँ उसके कारण उपर्युक्त विभक्तित्व घटित आकाँक्षा का रहना मात्र अपेक्षित है जो रहता ही है उस आकाँक्षा के ज्ञान को हम शाब्दबोध के प्रति कारण ही नहीं मानेंगे तो यदि किसी व्यक्ति को विभक्तित्व के ज्ञान न होने से आकाँक्षा ज्ञान नहीं भी होता है तो कोई क्षति नहीं, आकाँक्षा तो स्वरूपतः वहाँ है ही अभेदान्वय बोध हो ही जाएगा। कोई आपत्ति नहीं? इसी आशड्का का समाधान करने के लिए भट्टाचार्य आगे - नीलोघटः इत्यादावपि सुपदस्य आदि कहते हैं। जिसका तात्पर्य यह है कि जैसे दाह की कारणता वह्नि में स्वरूपतः रहती है वैसे ही शाब्दबोध की कारणता स्वरूपतः आकाँक्षा में नहीं रहती। इसी बात को अन्वय व्यतिरेक के द्वारा कहते हैं कि - यदि किसी व्यक्ति को "नीलो घटः" यहाँ पर नीलपदोत्तर आयी सुविभक्ति में अम् पदत्व का भ्रम हो जाए अर्थात् सु पद को अम् पद समझ ले तो उस पुरूष को वहाँ पर अभेदान्वय बोध नहीं होता जवकि वहाँ पर उपर्युक्त विभक्तित्व घटित आकाँक्षा है ही, और यदि किसी पुरूष को "नीलस्य घटः" यहाँ के नील पद के आगे आयी ङस् विभक्ति में सुपदत्व का भ्रम हो जाए अर्थात् ङस् को सु समझ ले तो स्वरूपतः उपर्युक्त आकाँक्षा के वहाँ पर नहीं रहने पर भी अभेदान्वय होता है। इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि जहाँ पर विरूद्ध विभक्ति राहित्य रूप आकाँक्षा स्वरूपतः है तथापि उसका ज्ञान नहीं हो रहा है; (क्योंकि उसने सु को अम् समझ लिया है) तो शाब्दबोध नहीं हो पाता और जहाँ विरूद्ध विभक्ति राहित्य रूप आकाँक्षा स्वरूपतः नहीं है तथापि यदि उसका ज्ञान हो जाता है; (क्योंकि ङस् को भी सु समझ रहा है) तो उसको अभेदान्वय बोध हो जाता है। इस प्रकार आकाँक्षा ज्ञान के रहने पर शाब्दबोध का होना और आकाँक्षा ज्ञान के न होने पर शाब्दबोध के न होने से (अन्वय-व्यतिरेक इसी को कहते हैं) शाब्दबोध की कारणता आकाँक्षा ज्ञान में सिद्ध होती है। इसका यह अर्थ है कि शाब्दबोध की कारणता ज्ञायमान आकाँक्षा में है, न कि स्वरूपतः आकाँक्षा में। इसलिए उपर्युक्त अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा यह बात सिद्ध हो गयी कि शाब्दबोध के लिए आकाँक्षा का रहना ही पर्याप्त नहीं है अपितु उसका ज्ञान आवश्यक है। ऐसी स्थिति में जो पुरूष विभक्तित्व को नहीं जानता उसे आकाँक्षा का ज्ञान भी नहीं होगा तो नीलो घटः में उसे अभेदान्वय बोध नहीं होना चाहिए; जबकि होता है। अतः आकाँक्षा का उपर्युक्त विभक्ति घटित स्वरूप मानना उचित नहीं। अपितु मैंने जो दो आकाँक्षा स्वरूप बताए हैं वही मानो।

अथ नीलो घटः नीलघटः इत्यादिद्विविधबोधसाधारणं "स्वोत्तरसुपदभिन्न पदानुत्तरत्वविशिष्टस्वोत्तरत्वादिरूपस्वाव्यविहतोत्तर-त्वसम्बन्धेन नीलादिपदवत्सुबन्तघटादिपदत्वमेव तथास्तु इति चेत्? न, नीलघटरूपम् इत्यादिवाक्य साधारण्यानुरोधेनान्यादृश्या अपि आकाँक्षायाः समासस्थलेउपगन्तव्यतयोपदर्शितसमासव्याससाधारणानुगताकाङ्क्षानुसरण-स्याप्रयोजकत्वादिति।

कोई व्यक्ति नीलो घटः और नीलघटः इन दोनों स्थलों पर होने वाले अभेदान्वय बोध के लिए उपयोगी एक ही आकाँक्षा का स्वरूप बताते हुए कहता है कि - "स्वोत्तर सु पद भिन्नपदानुत्तरत्व विशिष्ट स्वोत्तरत्वरूप स्वाव्यवहितोत्तरत्व सम्बन्ध से नील पद वाला सुबन्तघटपदत्व ही समास और व्यास दोनों सथलों के लिए एक आकाँक्षा है, इसी के ज्ञान से दोनों स्थलों पर अभेदान्वय हो जाएगा, इसके लिए दो आकाँक्षा क्यों मानना? पूर्वपक्षी के उपर्युक्त आकांक्षा का समन्वय इस प्रकार होगा - घट पद में नील पदवत्त्व ले जाना है अर्थात् नील पद वाला घट पद को होना चाहिए। वह घट पद नील पद वाला जो होगा उसके लिए पूर्व पक्षी ने सम्बन्ध बताया "स्वाव्यहितोत्तरत्व", अब यहाँ स्व-पद से नील पद को पकड़ेंगें तो उस नील पद के अव्यवहित उत्तर में यदि घट पद रहेगा तो घट पद नील पद वाला कहलाएगा। तथापि नीलघटः में तो नील पद के अव्यवहित उत्तर में घट पद है, परन्तु नीलो घटः में तो नील पद के अव्यवहित उत्तर में घट पद नहीं है अपितु मध्य में नील पदोत्तरआयी सु विभक्ति का व्यवधान है, तो वहाँ का घट पद नील पद वाला न होने से वहाँ आकाँक्षा नहीं होगी। अतः पूर्व पक्षी ने स्वाव्यहितोत्तरत्व सम्बन्धका तात्पर्य बताते हुए कहा कि - स्व = नीलपद, उससे उत्तर विद्यमान जो सु पद, उससे भिन्न पद का उत्तरत्व घट पद में नहीं होना और नील पद के उत्तर में भी होना ही घट पद में नीलपदाव्यवहितोत्तरत्व है। अब नीलो घटः में स्व पद से गृहीत नील पद के उत्तर में विद्यमान जो सु पद है उससे भिन्न = अतिरिक्त कोई दूसरा पद तो है नहीं जिसका उत्तरत्व घट पद में हो; तो नीलपदोत्तरसुपदभिन्नपदानुत्तरत्व भी घट पद में है और नील पदोत्तरत्व तो है ही। इस प्रकार नीलपदोत्तर सुभिन्न पदानुत्तरत्व विशिष्ट नीलपदोत्तरत्व ही नील पदाव्यवहितोत्तरत्व घट पद में अपेक्षित है अभेदान्वय के लिए जो कि है ही। यह तो हुआ व्यास (असमस्त) स्थल में समास स्थल में तो काई समस्या ही नहीं वहाँ तो नील पद और घट पद के मध्य किसी का व्यवधान ही नहीं है तो स्वाव्यवहितोत्तरत्व है ही यदि इस पद की व्याख्या का भी यहाँ समन्वय करना चाहें, तो स्व =नील पद उसके उत्तर में घट पद के अतिरिक्त कोई दूसरा पद तो है नहीं, तो घट पद में नील पदोत्तर सुपदभिन्न पदानुत्तरत्व आ गया और नील पदोत्तरत्व तो है ही तो इस प्रकार नीलपदाव्यवहितोत्तरत्व आ जाने से घट

पद में नीलपदवत्त्व रूप आकाँक्षा रह गयी, अभेदान्वय हो जाएगा। यहाँ पर यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि वाणी विलास प्रेस, वाराणसी से विक्रमाब्द 2041 (2041) में आदर्श व्याख्या सहित जो व्युत्पत्तिवाद पुस्तक छपी है। उसमें यहाँ "स्वोत्तर सुप्पदभिन्नपदानुत्तरत्व" ऐसा पाठ मुद्रित है, जो कि प्रामादिक है। क्योंकि नीलस्य घटः में अभेदान्वय बोध के वारण के प्रसङ्ग में ही तो आकाँक्षा का प्रदर्शन करके कहा गया कि वहाँ अभेदबोधोपयोगी आकाँक्षा के न होने से अभेदान्वय बोध नहीं होता। ऐसी स्थिति में यदि उपर्युक्त आकाँक्षा के स्वरूप में स्वोत्तर सुप् पद भिन्न पदानुत्तरत्व कहेंगे तो नीलस्य घटः में स्व = अर्थात् नील पद, उसके उत्तर में विद्यमान् सुप्पद अर्थात् ङस् पद, उससे भिन्न का अनुत्तरत्व और नीलपदोत्तरत्व दोनों घटः इस स्वन्तघट पद में है ही तो आकाँक्षा के होने से अभेदान्वय बोधापत्ति रह ही जाएगी। अतः स्वोत्तर सुपदभिन्न ही पाठ होना चाहिए। अस्तु। इस प्रकार उपर्युक्त एक ही आकाँक्षा से जब समास और व्यास दोनों स्थलों में शाब्दबोध हो जाएगा पुनः दो आकाँक्षा स्वरूप क्यों? इसका उत्तरभट्टाचार्य देते हुए कहते हैं - उपर्युक्त आकाँक्षा से सर्वत्र शाब्दबोध उपपन्न नहीं होगा क्योंकि "नीलघटरूपम्" इस तरह के समस्त वाक्य से होने वाले अभेदबोधान्वय के लिए समास स्थल में ऊपर प्रदर्शित आकाँक्षा से भिन्न किसी अन्य प्रकार की भी आकाँक्षा माननी पड़ेगी क्योंकि वहाँ स्वाव्यवहितोत्तर सम्बन्ध से नील पदवत्व स्वन्त घट पद में नहीं है। वहाँ स्वन्त तो "घटरूप" पद है। यदि कहो कि वहाँ स्वन्त घटपदत्व के स्थान पर स्वन्त घटरूपपदत्वम् कर देंगे तो आकाँक्षा उपपन्न हो जाएगी तो ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि नैयायिक लोग समास में शक्ति (वृत्ति) नहीं मानते और उनके यहाँ पद का लक्षण है "शक्तं पदम्" तो जब "घटरूप" शब्द में शक्ति ही नहीं तो शक्त नहीं कहलाएगा तो उसमें पदत्व भी नीं रहेगा और जिस घट में पदत्व है और अव्यवहितोत्तरत्व भी है उसमें स्वन्तत्व नहीं। अतः वहाँ पर आकाँक्षा का दूसरा स्वरूप मानना पड़ेगा।

यहाँ पर कोई कह सकता है "नीलघटरूपम्" यहाँ विग्रह कैसा करेंगे - यदि नीलश्चासौ घटः, नीलघटः पश्चात् उस नीलघट समस्त पद का रूप पद के साथ नीलघटस्य रूपम् ऐसा षष्ठी तत्पुरूष समास करें, तो ऐसी स्थिति में "नील घट" इस समस्त पद घटक घट" पद की लक्षणा घटीय घटसम्बन्धी में अवश्य करनी पड़ेगी, क्योंकि "निपाततिरिक्तनामार्थयोः भेदेन साक्षादन्वयबोधस्य अव्युत्पन्नत्वम्" इस नियमानुसार घट रूप नामार्थ का "रूप" नामार्थ के साथ आधेयता रूप भेद सम्वन्ध से अन्वय नहीं कर सकते। अतः घट पद की लक्षणा करनी पड़ेगी जिससे रूप पदार्थ के साथ अभेदान्वय हो सके। ऐसी स्थिति में यदि घट पद की लक्षणा घटीय में (घट सम्वन्धी रूप में) करें तो उसका अभेद सम्बन्ध से रूप पद के अर्थ रूप के साथ तो हो जाएगा, परन्तु नील पदार्थ का अभेदान्वय घट पदार्थ के साथ नहीं हो पाएगा, क्योंकि तब घट पद के लक्ष्यार्थ

= "घटीय" रूप पदार्थ का एक देशे हो जाएगा घट, तो पदार्थः पदार्थेन अन्वेति इस नियम का विरोध होगा।

ऐसी स्थिति में घट पद की लक्षणा "नीलाऽभिन्नघटीय" में करनी पड़ेगी। अब यहाँ पर नील पद तात्पर्य का ग्राहक मान लेंगे। इस प्रकार घट पद के लक्ष्यार्थ = नीलाभिन्नघटीय, का अभेद सम्बन्ध से रूप पदार्थ में अन्वय हो जाएगा। अब यहाँ शाब्दबोध में जो नील और घट का अभेद सम्बन्ध भासित हो रहा है वह तो लक्षणा वृत्ति से ही। अतः यहाँ नील घट का अभेदान्वय वृत्ति भास्य होने से उसके लिए उपर्युक्त आकाँक्षा अपेक्षित ही नहीं पुनः उसके लिए दूसरे प्रकार की आकाँक्षा की कल्पना करनी पड़ेगी ऐसा भट्टाचार्य ने क्यों कहा? यदि कहो - घटस्य रूपम् घटरूपम् ऐसा समास करके पश्चात् नीलं च तद् घटरूपम् ऐसा समास करेंगे, तो नील का अन्वय घट के साथ न करके घटरूपम् के साथ करेंगे और आकाँक्षा के स्वरूप में अव्यवहितोत्तरसम्बन्धेन नीलपदवत् सुबन्त घटरूपपदत्व कर देंगे तो आकाँक्षा का लाभ हो ही जाएगा, पुनः अन्यादृश आकाँक्षा की कल्पना करनी पड़ेगी ऐसा भट्टाचार्य ने कैसे कहा तो - इसका उत्तर यह है कि नील पद का पहले घटीय (घटरूप) अर्थ में लाक्षणिक घट पद के साथ कर्मधारय समास करेंगे नीलं च घटम् (घटीयम्) उसके पश्चात् उस समस्त नीलघट पद का रूप पद के साथ कर्मधारय समास जब करेंगें उस समय जो नील और घट का अभेदान्वय भासित होता है उसके लिए अन्य आकाँक्षा की कल्पना करनी पड़ेगी। अब इस विग्रह में घटीय अर्थ के बोधक घट पद में नील पदोत्तरसुभिन्न पदानुत्तरत्व और नील पदोत्तरत्व तो है इस प्रकार नीलपदवत्व तो है परन्तु उसमें सुबन्तत्व नहीं है क्योंकि रूप पद के साथ समास होने पर उसका लोप हो गया है तो सुबन्त घटपदत्व न होने से नीलपदवत्सुबन्तघटपदत्व रूप आकाँक्षा नहीं है। अतः उसके लिए अन्य आकाँक्षा की कल्पना करनी ही पड़ेगी। यद्यपि "घटो नीलः" इस वाक्य में भी उपर्युक्त आकाँक्षा नहीं है क्योंकि यहाँ पर नील पदोत्तरत्व घट पद में नहीं है। अतः गदाधरभट्टाचार्य को यहीं दोष दिखाना चाहिए था नीलघटरूपम् में दोष क्यों दिया यह प्रश्न हो सकता है? परन्तु यहाँ यह समझना चाहिए कि पूर्वपक्षी ने जो आकाँक्षा का उपर्युक्त स्वरूप वताया है उसमें उसका तात्पर्य यह है कि - समासस्थल के लिए अतिरिक्त आकाँक्षा का स्वरूप नहीं बनाना पड़ेगा। व्यासस्थल के लिए जो आकाँक्षा का स्वरूप है वही समास स्थलों में भी रहेगा इसलिए यद्यपि "घटो नीलः" "नीलोऽस्ति घटः" नीलस्य घटस्य इत्यादि स्थलों में उपर्युक्त आकाँक्षा के नहीं रहने के कारणअभेदान्वय बोधानुपपत्ति दोष है यह जानते हुए भी गदाधर भट्टाचार्य ने पूर्वपक्षी के अभिमत को ध्यान में रखकर समासस्थल "नीलघटरूपम्" में ही दोष दिया। अस्तु।

यहाँ तक तो नीलो घटः में नील पदार्थ और घट पदार्थ के मध्य भासित होने वाले अभेद को सम्बन्ध मानकर उसके आकाँक्षाभास्यत्व होने के सम्बन्ध में चर्चा की गयी। यहाँ से आगे किसी के मत में नील और घट के मध्य भासित होने वाले अभेद को प्रकार (विशेषण) जो माना गया है उसकी चर्चा की जाएगी। प्रस्तुत अग्रिम ग्रन्थ उसी की भूमिका है -

अथ नीलं घटमानय" इत्यादौ नीलादेर्घटादावन्वयोपगमे नीलादिपदोत्तरविभक्त्यर्थकर्मत्वादेः कुत्रान्वय इति चेत्? न कुत्रापि, विभक्तिपदं साधुत्वार्थमेव प्रयुज्यते। अभेद एव वा विशेषणविभक्तेरर्थः, अभेदस्य संसर्गमर्यादया भानं तु समासस्थले एव, तत्र लुप्तविभक्तेरनुसंधानं विनापि शाब्दबुद्धेरानुभविकत्वादित्यपि वदन्ति।

अब कोई प्रश्न पूछ रहा है कि "नीलं घटमानय" इत्यादि स्थलों में नील पदार्थ का घट पदार्थ में अन्वय स्वीकार करने पर, विशेषण वाचक नील पदोत्तर आयी द्वितीया विभक्ति का जो अर्थ कर्मत्व है उसका अन्वय कहाँ पर होगा। प्रश्न पूछने वाले मीमांसक का यहाँ तात्पर्य यह है कि - विशेषणवाचक नील पद के आगे आयी द्वितीया का विधान करने वाला कोई ऐसा विशेष सूत्र तो है नहीं जिससे कि उस द्वितीया विभक्ति का कर्मत्व से भिन्न अर्थ माना जा सके, अतः द्वितीया विभक्ति का अर्थ तो कर्मत्व ही मानना पड़ेगा ऐसी स्थिति में कर्मत्व है कारक विभक्ति और क्रियान्वयित्वंकारकत्वम् इस नियम के अनुरोध से द्वितीया विभक्त्यर्थ कर्मत्व का क्रिया में ही अन्वय होना उचित है। परन्तु केवल "अम्" (द्वितीया विभक्ति) प्रत्यय के अर्थ कर्मत्व का आनयन क्रिया में अन्वय होना सम्भव नहीं। क्योंकि नियम है "प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वं प्रत्ययानाम्" अर्थात् प्रकृत्यर्थ से अन्वित प्रत्ययार्थ को ही प्रत्यय बोधित कराता है, स्वतन्त्र केवल अपने (प्रत्यय) अर्थ को नहीं। इसका अर्थ हुआ कि आनयन क्रिया में अन्वित होने के लिए अम् प्रत्ययार्थ का प्रकृत्यर्थ नील के साथ अन्वय होना आवश्यक होगा। परन्तु प्रकृत्यर्थ नील पदार्थ प्रत्ययार्थ = कर्मत्व के साथ अन्वित नहीं हो सकता क्योंकि नील का अभेद सम्बन्ध से घट में अन्वय सर्वानुभव सिद्ध है तो जब एक बार नील पदार्थ अभेद सम्बन्ध से घट में विशेषण हो गया तो पुनः वही नील पदार्थ (प्रकृत्यर्थ) प्रत्ययार्थ कर्मत्व में भी स्ववृत्तित्व सम्बन्ध से विशेषण नहीं होगा, क्योंकि नियम है "एकत्र विशेषणत्वेनान्वितस्यान्यत्र विशेषणत्वायोगः"। यहाँ यदि कहो एक ही नील पद दो नील पदार्थ की उपस्थिति कराएगा उसमें से एक नील पदार्थ घट का, तथा दूसरा प्रत्ययार्थ कर्मत्व का विशेषण बनेगा तो ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि नियम है "सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति" अर्थात् एक बार उच्चरित शब्द एक ही पदार्थ का बोधकराता है। अतः एक बार उच्चरित नील पद दो नील पदार्थों की उपस्थिति

नहीं करा पाएगा। इस प्रकार प्रकृत्यर्थ नील से अन्वित न होने के कारण विभक्त्यर्थ कर्मत्व का (स्वतन्त्र रूप से) क्रिया में अन्वय होना तो संभव है नहीं। यदि कोई कहे यदि प्रत्ययार्थ का आनयन क्रिया में अन्वय सम्भव नहीं है तो उसका प्रकृत्यर्थ में ही अन्वय कर दो। प्रकृत्यर्थ नील भले ही घट में विशेषण होने से प्रत्ययार्थ में अन्वित नहीं हो सकता परन्तु प्रत्ययार्थ तो कहीं अन्यत्र विशेषण नहीं है तो उसी का अन्वय प्रकृत्यर्थ नील में कर दो कर्मत्ववन्नीलाऽभिन्न घट कर्मकानयनानुकूल भावना भाव्या" ऐसा शाब्दबोध हो जाएगा तो ऐसा भी नहीं कर सकते। क्योंकि प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ के अन्वय के विषय में यह नियम है कि केवल संख्या ही एक ऐसा प्रत्ययार्थ है जो प्रकृत्यर्थ में विशेषण होता है, अन्य सभी प्रत्ययार्थ तो प्रकृत्यर्थ के विशेष्य ही होते हैं अर्थात् संख्या से अतिरिक्त प्रत्ययार्थ में ही प्रकृत्यर्थ विशेषण रूप से अन्वित होता है, प्रकृत्यर्थ में संख्यातिरिक्त प्रत्ययार्थ नहीं। प्रकृत में कर्मत्व तो अम् प्रत्ययार्थ है अतः वह प्रकृत्यर्थ नील में विशेषण रूप से अन्वित नहीं हो सकता। इस प्रकार द्वितीया विभक्त्यर्थ का न तो क्रिया में अन्वय सम्भव है और न ही प्रकृत्यर्थ में पुनः उसका अन्वय कहाँ होगा? यदि कहीं अन्वय सम्भव नहीं है तो द्वितीया विभक्ति (अम्) को निरर्थक ही मान लें, तो ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि निरर्थक पद का उच्चारण करना प्रामाणिक व्यक्ति के लिए उचित नहीं। अतः उसे सार्थक मानना तो आवश्यक है। एवं च जब अम् को सार्थक मानना ही है तो उसका कर्मत्व अर्थ मानना ही पड़ेगा और जब कर्मत्व अर्थ मानते हैं तो उसका अन्वय न तो क्रिया में और न तो प्रकृत्यर्थ में सम्भव है तो उसका अन्वय कहाँ करोगे। मीमांसक का हृद्य यहाँ यह है कि उपर्युक्त रीति से चूँकि कर्मत्व का अन्वय नहीं हो पा रहा है। अतः प्रथम प्रकृत्यर्थ नील का प्रत्ययार्थ कर्मत्व में तथा प्रकृत्यर्थ घट का प्रत्ययार्थ कर्मत्व में अन्वय करो और इस प्रकार प्रकृत्यर्थान्वित दोनों कर्मत्व का आनयन क्रिया में अन्वय करो "नीलकर्मकघटकर्मक आनयन इत्यादि", नील और घट का अभेदान्वय तो उपर्युक्त शाब्दबोध हो जाने के बाद होने वाला मानसबोध है। अब चूँकि नील और घट का होने वाला अभेदान्वय मानस बोध शब्द से होने वाले बोध के पश्चात् होता है। अतः उसे भी लक्षणया शाब्दबोध कहते हैं।

गदाधर भट्टाचार्य मीमांसकों के उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए कहते हें - न कुत्रापि। तात्पर्य यह है कि कर्मत्व का अन्वय कहीं नहीं किया जाता। तब प्रश्न उठेगा कि यदि द्वितीया विभक्ति का अर्थ कर्मत्व है तो उसका कहीं न कहीं तो अन्वय मानना पड़ेगा केवल "कहीं नहीं" कह देने से तो काम नहीं चलेगा। इसीलिए आगे भट्टाचार्य कहते है - यहाँ विशेषण वाचक नील पद के आगे आयी द्वितीया विभक्ति का कर्मत्व या कोई भी अर्थ विवक्षित नहीं है। तब प्रश्न उठेगा कि यदि अम् प्रत्यय का कोई अर्थ यहाँ नहीं है तो फिर वह निरर्थक हो गया और निरर्थक पद का उच्चारण करना उचित नहीं। इस प्रश्न

का उत्तर देते हैं कि अम् प्रत्यय निरर्थक नहीं अपितु वह प्रकृतिभूत नील पद के साधुत्व संपादनार्थ आया है उसका कर्मत्व आदिअर्थ नहीं जिससे कि उसके अन्वय का प्रश्न उठे। क्योंकि नियम है "नकेवला प्रकृतिप्रयोक्तव्या नाऽपि केवलः प्रत्ययः "अतः यहाँ नील पद के आगे अम् प्रत्यय का प्रयोग हुआ जिससे कि नीलं पद का प्रयोग हो सके। तब प्रश्न यह उठेगा कि यदि प्रयोगसाधुत्वसम्पादन मात्र के लिएही विभक्ति (अम्) आयी है तो प्रथमोपस्थित प्रथमा विभक्ति (सु) ही नील पदोत्तर ले आते अम् लाने की क्या आवश्यकता? इसका उत्तर यह है कि पहले अन्वय व्यतिरेक के द्वारा यह बात सिद्ध हो चुकी है कि अभेदान्वय बोध के लिए विशेष्य विशेषणवाचक पदों में समान विभक्तिकत्व होना चाहिए। अतः "घटम्" इस विशेष्यवाचक पद के अनुसार नील पदोत्तर द्वितीया विभक्ति का प्रयोग आवश्यक है। क्योंकि वक्ता यहाँ नील और घट का अभेद सम्बन्ध बताना चाहता है। इस पर यदि कहो कि यह किस अनुशासन से सिद्ध है कि विशेषणवाचक पद के आगे वही विभक्ति आनी चाहिए जो विशेष्य वाचक पद के आगे आयी हो तो इस पर यह कहा जा सकता है कि जैसे प्रामाणिक प्रयोगों के आधार पर मीमांसकों ने क्रियाविशेषणानां नित्यनपुंसकत्वं "द्वितीयैकवचनत्वम्" इस नियम की कल्पना की है उसी तरह अभेदान्वय बोध स्थलों को देखकर यह नियम भी कल्पित किया ही जा सकता है कि "अभेदान्वय बोध के लिए विशेष्य विशेषणवाचक पदों को समान विभक्ति वाला होना ही चाहिए। अतः यहाँ नील पदोत्तर साधुत्वमात्र के लिए प्रथम प्राप्त प्रथमा विभक्ति का परित्याग कर द्वितीया विभक्ति का प्रयोग किया गया।

पद साधुत्वार्थक आयी विभक्ति भी निरर्थक मानी जाती है। अतः भट्टाचार्य मीमांसकों को दूसरा उत्तर देते हुए कहते हैं कि विशेषणवाचक (नील) पद के आगे आई विभक्ति को पदसाधुत्वार्थ यदि नहीं मानना चाहते तो उसका अभेद ही अर्थ मान लो (कर्मत्व नहीं)। तब प्रश्न उठेगा कि - यदि विशेषणवाचक नील पदोत्तर अम् विभक्ति का अर्थ अभेद मानोगे, तो वह अभेद पदार्थ कहलाएगा क्योंकि उसमें अम् पद की शक्ति आपने स्वीकार की है तो जैसे नील पद का अर्थ होने से नील प्रकारत्वेन (विशेषण रूप में) भासित होता है वैसे ही अब अभेद भी प्रकारत्वेन शाब्दबोध में भासित होगा, इसका अर्थ यह निकला कि प्रकारत्वेन शाब्दबोध में भासित होने वाला यह अभेद वृत्ति भास्य होगा आकाँक्षा भास्य नहीं। जबकि प्रारम्भ में आपने प्रतिज्ञा की थी "शाब्दबोध में एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ का भासित होने वाला सम्बन्ध आकाँक्षा भास्य होता है"। आपकी उस प्रतिज्ञा का क्या होगा? गदाधर भट्टाचार्य उत्तर देते हैं कि मैंने जो प्रतिज्ञा की थी वह ठीक है मैंने तो कहा था एक पदार्थे अपर पदार्थस्य संसर्गः यहाँ तो भासित होने वाला अभेद संसर्ग ही नहीं यह तो प्रकार है (विशेषण है) तब प्रश्न उठेगा कि यदि नीलम् घटम् में विशेषण वाचक नील पदोत्तर अम् विभक्ति

का अर्थ अभेद है तो सभी व्यास स्थल में विशेषणवाचक पद के आगे चाहे जो भी विभक्ति होगी उसका अर्थ अभेद ही होगा, तो पुनः व्यासस्थल में विशेष्य विशेषण का अभेद सम्बन्ध कहीं भी भासित नहीं होगा, सर्वत्र प्रकारत्वेन ही भासित होगा। भट्टाचार्य ऊपरी मन से उपर्युक्त आपत्ति को स्वीकार करते हुए कहते हैं -हाँ। व्यासस्थल में सर्वत्र अभेद प्रकारत्वेन ही भासित होता है, संसर्गमर्यादा (आकाँक्षा) से तो वह (अभेद) समासस्थल में ही भासित होता है। क्योंकि समासस्थल में विभक्ति का लोप हो गया रहता है और उस लुप्त विभक्ति के अनुसन्धान के बिना भी अभेदान्वय बोध होना अनुभव सिद्ध है। चूँकि वहाँ अभेद अर्थ को बताने वाली कोई विभक्ति या कोई अन्य पद नहीं रहता। अतः वहाँ भासित होने वाले अभेद में पदार्थत्व नहीं होने से उसे आकाँक्षाभास्य मानना आवश्यक है। व्यासस्थल में विशेषण पदोत्तर आयी विभक्ति अभेद अर्थ को कहती है। अतः इन स्थलों में अभेद प्रकारतया ही भासित होता है।

भट्टाचार्य - इत्यपि वदन्ति कहकर यहाँ अपनी अरूचि दिखाते हैं। इसीलिए मैंने भी "ऊपरी मन से स्वीकारने वाली बात लिखी है। इसका कारण यह है कि - स्वयं ग्रन्थकार आगे अभेद को सम्बन्ध रूप में व्यास स्थलों पर भी मानने में लाघव है यह बात सिद्ध करेंगे। अस्तु।

अभेद यदि विशेषण विभक्ति का अर्थ होने के कारण प्रकार (विशेषण) रूप में भासित होता है यह मानेंगे तो पहले बता चुके हैं कि विशिष्ट बुद्धि में विशेषण का ज्ञान आवश्यक है तो प्रकृत में भी अभेद रूप विशेषण का क्या अर्थ है अर्थात् अभेद किसे कहते हैं इस बात का ज्ञान होना आवश्यक है।अतः अग्रिम ग्रन्थ से उसी अभेद की व्याख्या प्रश्न के माध्यम से किया जा रहा है-

अथैतन्मते -अभेदो यदि भेदत्वावच्छिन्नाभावस्तदाऽ प्रसिद्धिः, यदि च भेदप्रतियोगिकोऽभावस्तदा "नीलं जलम्" इत्यादिवाक्यस्यापि प्रामाण्यापत्तिः, जले द्वित्वादिना नीलभेदाद्यभावस्य सत्वात्। नीलभेदत्वावच्छिन्नाभावस्य विभक्त्यर्थत्वेन नीलादिपदार्थानन्वयप्रसङ्गः।

अभेद यदि विशेषण विभक्ति "अम्" पद का अर्थ है तो उस मत में प्रकार रूप अभेद का क्या अर्थ है - भेदस्य अभावः अभेदः इस व्युत्पत्ति के अनुसार अभेद का अर्थ "भेदत्वावच्छिन्नाभाव" करेंगे तो अप्रसिद्धि दोष होगा। तात्पर्य यह है कि भेदत्वावच्छिन्नाभाव का तात्पर्य है भेदत्व से अवच्छिन्न जो प्रतियोगिता, उस प्रतियोगिता का निरूपक अभाव, अर्थात् जिस अभाव की प्रतियोगिता भेदत्व से अवच्छिन्न हो, उस अभाव को यदि अभेद शब्द का अर्थ मानोगे तो ऐसा अभेद अप्रसिद्ध ही हो जाएगा। क्योंकि भेदत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाला अभाव तो "भेदो नास्ति" यही अभाव होगा क्योंकि, भेदो नास्ति इस अभाव का प्रतियोगी है भेद, और उस प्रतियोगी (भेद) में रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक है भेदत्व, तो भेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता वाला (निरूपक) अभाव हो

गया "भेदो नास्ति" यह अभाव, परन्तु यह अभाव अप्रसिद्ध है क्योंकि पहले ही बता चुकें हैं कि भेद केवलान्वयी है सर्वत्र रहता है। ऐसी स्थिति में जबकि भेद सर्वत्र रहता है तो उसका अभाव कहीं भी कैसे मिलेगा? अर्थात् कहीं पर भी भेदो नास्ति" यह अभाव नहीं मिलेगा इस प्रकार उपर्युक्त अभाव रूप अभेद अप्रसिद्ध हो जाएगा परन्तु अभेद का अर्थ यदि भेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकअभाव करें तो भट्टाचार्य जी ने जो ऐसे अभाव को अप्रसिद्ध कहा है, सो उनका यह कथन असंगत हो जाएगा। क्योंकि "नीलभेदो नास्ति" इस अभाव का प्रतियोगी है नीलभेद, प्रतियोगिता रहेगी नीलभेद में, प्रतियोगिता का अवच्छेदक होगा नीलभेद में विशेषण = नील और भेदत्व तो इस प्रकार भेदत्व से अवच्छिन्न तो "नीलभेदो नास्ति" इस अभाव की प्रतियोगिता भी हो गयी तो यह अभाव भी भेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता निरूपक (वाला) अभाव हो गया और नीलभेदो नास्ति यह अभाव तो प्रसिद्ध ही है। क्योंकि नीलभेद रहेगा पीत में, और उसका अभाव नील में रहेगा ही तो नीलभेदाभाव जो कि भेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता निरूपक अभाव है प्रसिद्ध है ता उसे भट्टाचार्य जी का "तदाऽप्रसिद्धिः" यह कथन असंगत हो जाएगा। अतः भेदत्वावच्छिन्नाभाव काअर्थ भेदत्वावच्छिनन प्रतियोगिताक अभाव नहीं करना चाहिए, अपितु भेदत्वपर्याप्त अवच्छेदताकप्रतियोगिताकअभाव" करना चाहिए जिसका तात्पर्य यह है कि भेदत्व में पर्याप्त अर्थात् केवल भेदत्व में रहने वाली अवच्छेदकता है जिस प्रतियोगिता की ऐसी प्रतियोगिता वाला अभाव ही भेदत्वावच्छिन्नाभाव का तात्पर्यार्थ है। अब नीलभेदो नास्ति इस अभाव की प्रतियोगिता नीलभेद में रहती है और उस प्रतियोगिता का अवच्छेदक भेदत्व मात्र नहीं है अपितु नील विशिष्ट भेदत्व है। अतः अवच्छेदकताभेदत्व मात्र में पर्याप्त नहीं है अपितु नील में भी है। अतः भेदत्वपर्याप्तावच्छेदकताक प्रतियोगिताक अभाव पद से नील भेदो नास्ति यह अभाव नहीं ले सकते। इस प्रकार का अभाव तो "भेदो नास्ति" यही अभाव होगा, इसी अभाव की प्रतियोगिता की अवच्छेदकता भेदत्व मात्र में पर्याप्त है और इस प्रकार का (भेदो नास्ति) अभाव तो अप्रसिद्ध ही है।

इस अप्रसिद्धि दोष के कारण अभेद का अर्थ यदि भेदत्वपर्याप्तअवच्छेदकताकप्रतियोगिताकअभाव नहीं करके "भेदप्रतियोगिक अभाव" अर्थात् जिस अभाव का प्रतियोगी भेद हो, ऐसा अभाव ही अभेद है ऐसा करें तो "नीलं जलम्" इस वाक्य को भी प्रामाणिक मानना पड़ेगा, जो कि नहीं है।

तात्पर्य यह है जल का रूप शुक्ल ही होता है यह बात "वर्णः शुक्लः रसस्पर्शौ जले मधुरशीतले" इस कारिका के द्वारा कारिकावली में सिद्ध है। अब चूंकि जल नील नहीं होता (वह तो शुक्ल ही होता है) अतः उसमें नील का भेद ही रहता है और जिस जल में नील का भेद रहेगा उसमें नीलभेद का अभाव कैसे रहेगा? अर्थात् नहीं रहता है। अतः जल में नील का अभेद नहीं रहता है, अतः नीलं जलम् यह वाक्य अप्रामाणिक है। परन्तु यदि अभेद का अभेद प्रतियोगिक

अभाव माना जाए तो नील का इस प्रकार का अभेद जल में भी रहता हैं तो उपर्युक्त वाक्य में भीप्रामाण्य की आपत्ति आ जाएगी। क्योंकि अभेद का अर्थ यदि "भेद प्रतियोगिक अभाव" मानें और उसकी व्याख्या करें" भेद में रहती है प्रतियोगिता जिस अभाव की, वह है भेद प्रतियोगिक अभाव अर्थात् अभेद तो जल में नील का भेद भले ही रहता हो परन्तु द्वित्वादिना तो नीलभेद जल में नहीं रहता। अतः द्वित्वादिना नीलभेद का अभाव ही जल में रहेगा और इस अभाव की प्रतियोगिता भी नील भेद में रहती है अर्थात् भेद में रहती ही है तो भेदनिष्ठप्रतियोगिताकाभाव = द्वित्वादिना नीलभेदाभाव भी हो गया जो कि जल में रहता ही है। यहाँ पर द्वित्वादिना जो नीलभेद का अभाव जल में रहता है यह कहा गया इसका तात्पर्य यह है कि -जिस भूतल में घट है वहाँ पर घटत्वेन (घट रूप में) घट का अभाव तो नहीं रहेगा क्योंकि वहाँ घटत्वेन घट ही है। परन्तु पटत्वेन घट का अभाव उसी भूतल में रहता है क्योंकि वहाँ जो घट है वह घटत्वेन है न कि पटत्वेन। इसी प्रकार जो वस्तु एक है वह जहाँ भी रहेगा एकत्वेन तो रहेगा परन्तु द्वित्वेन तो उसका अभाव ही वहाँ रहेगा क्योंकि उस एक वस्तु में जिस समय वह एक ही वस्तु वहाँ है एकत्व ही रहेगा द्वित्व तो रहेगा नहीं। प्रकृत में भी नीलभेद जो कि जल में रहता है वह एक है, अतः एकत्वेन रूपेण तो नीलभेद जल में भले ही रहे, द्वित्वेन तो नीलभेद का अभाव ही रहेगा। इसी को भट्टाचार्य ने कहा द्वित्वादिना नीलभेदाद्यभावस्य सत्वात्।" इस प्रकार द्वित्वेन रूपेण जल में रहने वाला नीलभेद का अभाव भी भेदनिष्ठ प्रतियोगिता निरूपक अभाव हो गया क्योंकि उपर्युक्त अभाव की प्रतियोगिता भी भेद में रहती है। इस तरह का नीलभेदाभाव रूप अभेद जल में रहने से नीलं जलम् इस वाक्य में भी प्रामाण्यापत्ति आ जाएगी। यदि भेद प्रतियोगिक अभाव की व्याख्या भेदनिष्ठप्रतियोगिताक अभाव नहीं करके भेदत्वनिष्ठअवच्छेदकताक प्रतियोगिताक अभाव करें, तब तो द्वित्वेन नीलभेदाभाव भेदप्रतियोगिक अभाव नहीं कहलाएगा, क्योंकि उपर्युक्त द्वित्वेन नीलफ्भेदाभाव की प्रतियोगिता भले ही नीलभेद (भेद) में रहे परन्तु उस प्रतियोगिता की अवच्छेदकता, भेदत्व में नहीं रहती, अपितु द्वित्व में रहती है क्योंकि जिस रूप में किसी वस्तु का अभाव लिया जाता है उस अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक वही रूप लिया जाता है। यहाँ द्वित्वेन नीलभेदाभाव लिया गया था तो इस अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक भी वही रूप "द्वित्व" होगा भेदत्व नहीं, तो भेदत्व मेंअवच्छेदकता के नहीं रहने से भेदत्व निष्ठ अवच्छेदकताक प्रतियोगिताक अभाव पद से "द्वित्वेन नीलभेदाभाव" नहीं लियाजा सकता। परन्तु तब "नीलभेद जलभेदोभयं नास्ति" यह अभाव भी भेदत्व निष्ठ अवच्छेदकताक प्रतियोगिताक अभाव पदेन लिया जा सकता है। क्योंकि उस अभाव का प्रतियोगी होगा नीलभेद और जलभेद (उभय) प्रतियोगिता रहेगी उन दोनों भेद में, प्रतियोगिता का अवच्छेदक होगा भेदत्व तो, अवच्छेदकता भेदत्व

निष्ठ हो गयी। इस प्रकार भेदत्व निष्ठ अवच्छेदकताक प्रतियोगिताक अभाव पद से जब नीलभेद जलभेदोभयाभाव लिया जा सकता है तो यह उभयाभाव तो जल में रहता ही है। क्योंकि जल में नीलभेद के रहने से नीलभेद का अभाव भले ही न रहे परन्तु जलभेद तो जल में रहता नहीं, तो जलभेद का अभाव ही रहता है "एकसत्वेऽपि द्वयं नास्ति" इस न्यायानुसार नीलभेद के रहने पर भी जलभेद के न रहने से नीलभेदजलभेदोभयाभाव जल में रहता है, और यह अभाव भी भेद प्रतियोगिकाभाव होने से अभेद शब्द का अर्थ कहलाएगा तो इस प्रकार का नील का अभेद जल में रहेगा तो नीलं जलम् इस वाक्य मेंभी प्रामाण्य की आपत्ति आ जाएगी। पुनः अभेद का क्या अर्थ है? यह आपत्ति रह ही गयी। यदि विशेषणवाचक नील पदोत्तर आयी द्वितीया विभक्ति का अर्थ "नीलभेदत्वावच्छिन्नाभाव" मान लें अर्थात् नीलभेदत्वावाच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव ही, नील का अभेद है ऐसा यदि मानें तो "नीलं जलम् इस वाक्य में प्रामाण्य की आपत्ति नहीं रह जाएगी। क्योंकि जल में; नीलभेद जब रहता है तो पुनः उसमें नीलभेदत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाला अभाव अर्थात् नीलभेदाभाव = नील का भेदाभाव नहीं रहेगा तो नीलं जलम् यह वाक्य प्रामाणिक नहीं कहलाएगा। तथापि नीलपदोत्तर अम् विभक्ति का अर्थ नीलभेदत्वावच्छिन्नाभाव करने पर नीलं जलम् इस वाक्य में प्रामाण्य की आपत्ति का वारण तो हो जाएगा, परन्तु उस अम् प्रत्यय का प्रकृति भूत जो नील पद है उसके अर्थ = नील का अन्वय कहीं नहीं हो पाएगा। क्योंकि नीलरूप अर्थ का लाभ तो अर्थात् नील रूप पदार्थ की उपस्थिति तो अम्-प्रत्यय ही करा चुका है और उसका अन्वय भेद में हुआ है, तब पुनः प्रकृतिभूत नील पद के अर्थ नील का अन्वय कहाँ करोगे? एक ही नील पदार्थ का (प्रकृत्यर्थ का) नील पदार्थ (प्रत्ययार्थ में) अन्वय नहीं हो सकता। यही आशय "नीलपदार्थानन्वय प्रसङ्ग" का है।

न च भेदप्रतियोगिकाभाव एव विभक्त्यर्थः नीलपदसमभिव्याहारान्नीलभेदत्वावच्छिन्नाभावः प्रतीयते इति वाच्यम् पदार्थद्वयसंसर्गभानस्यैवाकाङ्क्षानियम्यत्वान्नीलभेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगितान्तर्भावेण वृत्तिं विना भेदरूपपदार्थतावच्छेदकस्याभावे तादृशसम्बन्धेन भानासंभवात्।

अभेद को द्वितीया विभक्ति का अर्थ मानने वाले नीलं जलम् इस वाक्य में प्रामाण्य की आपत्ति भी न आवे तथा नील पदार्थ के अनन्वय का प्रसंग भी न रहे इस तात्पर्य से अभेद का अर्थ करते हुए कहते हैं कि भेद प्रतियोगिक अभाव अर्थात् प्रतियोगिता सम्बन्ध से भेद विशिष्ट अभाव ही द्वितीया विभक्त्यर्थ = अभेद का तात्पर्य है। तात्पर्य यह है कि नील रूप प्रकृत्यर्थ का नीलत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध से प्रत्ययार्थ = भेद में अन्वय करेंगे और प्रकृत्यर्थ नील से अन्वित भेद का प्रतियोगिता सम्बन्ध से अभाव में अन्वय करेंगे। इस प्रकार नील पदार्थ के अम् प्रत्ययार्थ न होने के कारण उसका अन्वय प्रत्ययार्थ = भेद

विशिष्ट अभाव के घटक भेद में हो जाने से; नील पदार्थ के अनन्वय का प्रसंग भी नहीं रहा तथा प्रकृत्यर्थ नील से अन्वित भेद का अभाव के साथ प्रतियोगिता सम्बन्ध से ही अन्वय होता है। क्योंकि "भेद विशिष्ट अभाव" रूप अर्थ, अम् विभक्ति के द्वारा जो उपस्थित हो रहा है उस उपस्थिति में भेद का वैशिष्ट्य = सम्बन्ध, प्रतियोगितात्वेन प्रतियोगिता ही अभाव में भासित होती है। परन्तु भेद प्रतिपादक अम् विभक्ति के समीप में नील पद का समभिव्याहार होने के कारण उपस्थिति में सामान्यतः प्रतीत होने वाली प्रतियोगिता शाब्दबोध में नीलत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता रूप (विशेष रूप में) भासित होने लगती है। अब चूँकि शाब्दबोध में भेद की नीलत्वावच्छिन्न ही प्रतियोगिता अभाव में भासित होती है। अतः द्वित्वादिना नीलभेदाभाव शाब्दबोध का विषय नहीं होता अर्थात् भेद की द्वित्वावच्छिन्न प्रतियोगिता अभाव में नहीं होती। इसलिए द्वित्वेन नीलभेदाभाव को लेकर नीलं जलम् इस वाक्य की आपत्ति भी नहीं रही।

सारांश यह निकला कि अभेद का अर्थ तो भेद प्रतियोगिक अभाव ही है परन्तु भेद और अभाव का सम्बन्ध केवल प्रतियोगिता मात्र शाब्दबोध में भासित होना नहीं मानते जिससे कि द्वित्वावच्छिन्न या उभयत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता भी पकड़ में आ जाए और उस प्रतियोगिता का निरूपक अभाव = द्वित्वेन नीलभेदाभाव या नीलभेद जलभेदाभाव को लेकर नीलं जलम् वाक्य में प्रामाण्यापत्ति दोष दिया जा सके। अपितु नीलपद समभिव्याहारात् भेद और अभाव का सम्बन्ध "नीलभेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता" ही है और उस प्रतियोगिता का निरूपक अभाव नीलभेदाभाव ही होगा द्वित्वेन नीलभेदाभाव नहीं। तो नीलं जलम् में प्रामाण्य की आपत्ति भी नहीं रहेगी क्योंकि जल में नीलभेद ही रहता है नीलभेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव नहीं।

गदाधरभट्टाचार्य उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि अलग-अलग शक्तियों के द्वारा उपस्थापित दो पदार्थों का संसर्ग ही आकाँक्षाभास्य हुआ करता है, न कि एक ही शक्ति से उपस्थापित पदार्थ और पदार्थतावच्छेदक का सम्बन्ध। पदार्थ तथा पदार्थतावच्छेदक एक पद से एक ही शक्ति के द्वारा अन्वित ही उपस्थापित होते हैं। अतः पदार्थ और पदार्थतावच्छेदक का सम्बन्ध वृत्तिभास्य ही होता है। प्रकृत में अम् पद का अर्थ है = प्रतियोगिता सम्बन्धेन भेद विशिष्ट अभाव अर्थात् भेद, अभाव तथा इन दोनों का सम्बन्ध प्रतियोगिता। इन तीनों में अम् पद की शक्ति रहती है अतः ये तीनों वृत्तिभास्य हैं तो भेद और अभाव का सम्बन्ध जो प्रतियोगिता है वह भी पदार्थतावच्छेदक = भेद तथा पदार्थ = अभाव का सम्बन्ध है तो (आकांक्षा इस प्रतिशेगिता का) प्रतियोगितात्वेन रूपेण अर्थात् सामान्य रूप में भी जब भान कराने में समर्थ नहीं है/तो पुनः नीलत्वावच्छिन्न प्रतियोगितात्वेन अर्थात् विशेष रूप में कैसे भान करा पाएगा। इस प्रकार पूर्वपक्षी ने जो कहा था नीलपदसमभिव्याहार रूप आकाँक्षा के कारण भेद की नीलत्वावच्छिन्न

प्रतियोगिता शाब्दबोध में भासित होती है अर्थात् अम् पद की शक्ति तो प्रतियोगिता सामान्य में है परन्तु आकाँक्षावशात् नीलत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता शाब्दबोध में भासित होती है। अतः यह नीलत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता आकाँक्षा भास्य है, सो उसका यह कथन खण्डित हो गया। ऐसी स्थिति में जैसे अम् पद के द्वारा शक्त्या उपस्थिति में भेद तथा अभाव का सम्बन्ध प्रतियोगितात्वेन प्रतियोगिता सामान्य ही भासित होती है वैसे शाब्दबोध में भी भेद का सम्बन्ध प्रतियोगितात्वेन प्रतियोगिता सामान्य ही भासित होगी तो पुनः द्वित्वावच्छिन्न प्रतियोगिता भी भासित होने से नीलं जलम् इस वाक्य में प्रामाण्य का वारण नहीं हो सकेगा।

तात्पर्य यह है कि अम् विभक्ति के अर्थ भेद विशिष्ट अभाव में भेद विशेषण है अर्थात् पदार्थतावच्छेदक है और अभाव विशेष्य है अर्थात् पदार्थ है। अतः पदार्थतावच्छेदक भेद तथा पदार्थ = अभाव का सम्बन्ध प्रतियोगितात्वेन प्रतियोगिता सामान्य ही होगी जो कि वृत्तिभास्य होगी। अर्थात् अम् प्रत्यय की शक्ति भेद तथा अभाव की तरह प्रतियोगिता में भी माननी पड़ेगी। अब इस वृत्तिभास्य सम्बन्ध प्रतियोगिता को यदि भेदत्वावच्छिन्न मानकर भेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता में अम्विभक्ति की शक्ति मानें अर्थात् भेदत्व पर्याप्त अवच्छेदकताक प्रतियोगिता मानें तो अप्रसिद्धि दोष होगा। यदि उस प्रतियोगिता को भेदत्वनिष्ठ अवच्छेदकताक प्रतियोगिता मानकर उसमें सु प्रत्यय की शक्ति मानें तो नीलभेद जलभेदोभयाभावीय प्रतियोगिता के भी भेदत्व निष्ठ अवच्छेदकताक प्रतियोगिता होने से एतादृश उभयाभावीय प्रतियोगिता निरूपक अभाव जल में भी रहने से नीलं जलम् में प्रामाण्यापत्ति आएगी। यदि उपर्युक्त सम्बन्ध रूप प्रतियोगिता को नीलभेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता मानकर उसमें सु विभक्ति की शक्ति मानें तो नील अर्थ की प्रतीति शाब्दबोध में सु प्रत्यय जन्य उपस्थिति द्वारा हो गयी पुनः प्रकृत्यर्थ नील पदार्थ के अनन्वय का प्रसङ्ग रह ही जाएगा। यह आशय उपर्युक्त नचैतन्मते से प्रारब्ध ग्रन्थ का है।

मैवम् भेदोऽभावश्च विशेषणविभक्तेरर्थो विशिष्टलाभस्त्वाकाँक्षादिवशात्। एतेन भेदे नीलपदार्थान्वये एकदेशान्वयप्रसङ्ग इति निरस्तम्।

नीलपदोत्तर अम् विभक्ति की एक शक्ति "प्रतियोगिता सम्बन्ध से भेद विशिष्ट अभाव" में मानने पर भेद तथा अभाव का सम्बन्ध प्रतियोगिता, आकाँक्षा भास्य नहीं हो सका जिसका परिणाम यह हुआ कि उपस्थिति तथा शाब्दबोध में भेद का अन्वय अभाव में भेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक सम्बन्ध से मानना पड़ा और भेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता द्वित्वेन नीलभेद में रहने वाली तथा नीलभेद जलभेदोभय में रहने वाली प्रतियोगिता भी होगी तो उसका अभाव जल में होने से नीलं जलम् में प्रामाण्यापत्ति रह गयी। दूसरा दोष यह भी आएगा कि नीलपदार्थ का नीलत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध से जो भेद में अन्वय करते थे तो पदार्थः पदार्थेन अन्वेति इस नियमका उल्लंघन भी करना पड़ता है। इसलिए भट्टाचार्य

मैवम् के द्वारा कहते हैं कि विशेषणवाचक नील पदोत्तर आयी द्वितीया (अम्) विभक्ति का अर्थ भेद विशिष्ट अभाव नहीं है अपितु भेद और अभाव है। कहने का तात्पर्य यह है कि भेद तथा अभाव में अम् प्रत्यय की एक शक्ति नहीं है अपितु भेद में तथा अभाव में खण्डशः (अलग-अलग) है। अब चूँकि भेद तथा अभाव दो‍ाों अनन्वित स्वतन्त्र पदार्थ हैं, अतः इन दोनों का सम्बन्ध आकाँक्षाभास्य ही कहना पड़ेगा तो नीलपदार्थ का अन्वय नीलत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता सम्बन्ध से भेद पदार्थ में करेंगे पश्चात् नीलान्वितभेद = नीलविशिष्ट भेद का नीलपद के समभिव्याहार के कारण नीलभेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध से अभाव पदार्थ में अन्वय करेंगें और उस "नीलत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव" का, स्वरूप सम्बन्ध से जल में अन्वय नहीं हो सकता। क्योंकि जल में नीलत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद (नीलभेद) ही रहता है तो उसमें नीलभेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगगिताक अभाव कैसे रहेगा नहीं रहेगा? तो नीलं जलम् यह वाक्य अप्रामाणिक ही होगा।

इस प्रकार विशेषण विभक्ति की शक्ति जब भेद तथा अभाव में खण्डशः मानते हैं तो भेद भी स्वतन्त्र पदार्थ हो गया तो उसमें नील का अन्वय पदार्थैक देश में किया गया अन्वय नहीं हुआ, अपितु पदार्थ में पदार्थ का अन्वय हुआ तो पदार्थः पदार्थेनान्वेति" वाले नियम के भङ्ग होने का जो दोष दिया गया था वह भी निरस्त हो गया। दूसरी बात यह हुई कि नीलरूप प्रकृत्यर्थ पदार्थ का अन्वय नीलत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध से भेद रूप दूसरे पदार्थ में करेंगें तो नील और भेद का यह सम्बन्ध आकाँक्षाभास्य होगा और इस सम्बन्ध का अर्थ होगा नीलत्वपर्याप्तअवच्छेदकताक प्रतियोगिता। ऐसे सम्बन्ध से नील विशिष्ट भेद "नीलं न" इत्याकारक भेदमात्र ही होगा। पुनः इस नील विशिष्ट भेद रूप पदार्थ का, अभाव रूप दूसरे पदार्थ में अन्वय करेंगें। अब नील विशिष्ट भेद और अभाव का भी जो प्रतियोगिता सम्बन्ध है वह पदार्थ का पदार्थ के साथ होने वाला सम्बन्ध होने के कारण् आकाँक्षाभास्य है, जो कि नील पदसमभिव्याहार रूप आकाँक्षा के कारण नीलभेदत्वावच्छिन्नप्रतियोगितारूप है और इसका भी अर्थ है नीलभेदत्वपर्याप्त अवच्छेदकताक प्रतियोगिता। अब ऐसे सम्बन्ध से नीलभेद विशिष्ट अभाव "नीलभेदोनास्ति" यही अभाव होगा, जो कि जल में नहीं रहता। हाँ जल में नीलभेदजलभेदोभयाभाव भले ही रहे, परन्तु इस अभाव की प्रतियोगिता की अवच्छेदकता नीलभेदत्व पर्याप्त नहीं है। अतः इस उभयाभाव को लेकर दोष नहीं दे सकते। नीलभेदत्वपर्याप्तअवच्छेदकताकप्रतियोगितानिरूपक अभाव "नीलभेदोनास्ति" जल में नहीं रहता, क्योंकि जल में "नीलं न" यह नीलत्व पर्याप्तअवच्छेदकताक भेद ही रहता है। इस प्रकार जल में नीलभेदाभाव रूप नीलाभेद नहीं रहने से "नीलं जलम्" इस वाक्य में न तो प्रामाण्य की आपत्ति

दे सकते हैं और न ही नीलपदार्थानन्वयप्रसङ्ग ही रहा क्योंकि हमने नील को विभक्त्यर्थ के भीतर माना ही नहीं।

न च विशेषणविभक्तेरभेदार्थकत्वे "नीलं घटः" इत्यादावप्य-भेदान्वयबोधापत्तिः धांन्येन धनवान् इत्यादौ तृतीययाभेदबोधनात् अभेदप्रकारकबोधे विरूद्धविभक्तिराहित्यस्यानपेक्षणादितिवाच्यम्; द्वितीयादिनाभेदबोधने द्वितीयाद्यन्त विशेष्यवाचकपदसमभिव्याहारस्य प्रयोजकत्वमित्युपगमात्।

ऊपर किये गये विवेवचन से यह बात सिद्ध हो गयी कि "नीलं घटमानय" यहाँ पर विशेषणवाचक नील पदोत्तर आयी द्वितीया विभक्ति का अर्थ अभेद है, और अभेद का अर्थ है = भेद तथा अभाव। परन्तु यदि विशेषणवाचक पदोत्तर आयी विभक्ति का अर्थ अभेद माना जाएगा तो "नीलं घटः" इस वाक्य में नील पद विशेषणवाचक है तो उसके आगे आई अम् विभक्ति का भी अर्थ अभेद होगा और इस प्रकार इस वाक्य से भी नील और घट का अभेदान्वय बोध होना मानना पड़ेगा जबकि होता नहीं है। यदि कहो अभेदान्वय बोध के लिए विशेष्य विशेषणवाचक पदों को समान विभक्तिक होना चाहिए यहाँ तो विशेषणवाचक नीलपद द्वितीयान्त है तो घटपद प्रथमान्त। अतः यहाँ अभेदान्वय बोध नहीं होगा, तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि "धान्येन धनवान्" यहाँ पर धान्य पदार्थ का धन पदार्थ के साथ अभेदान्वय होता है, परन्तु यहाँ विशेषण वाचक धान्य पद तृतीयान्त है और धनवत् पद प्रथमान्त, इस प्रकार दोनों विभिन्न विभक्ति वाले हैं तथापि अभेदान्वय होता है। अतः अभेद प्रकारक अन्वय के लिए समान विभक्तिकत्व कोई आवश्यक नियम नहीं है तो नीलं घटः में भी अभेदान्वय की आपत्ति तो दी ही जा सकती है। तात्पर्य यह है कि अभेद जब संसर्ग रूप में भासित होता है वहाँ भले ही विशेष्य विशेषण वाचक पदों का समान विभक्तिकत्व आवश्यक हो परन्तु अभेद का प्रकार (विशेषण) रूप से शाब्दबोध में भासित होने के लिए विशेष्य विशेषणवाचक पदों का समानविभक्तिक होना आवश्यक नहीं है।

गदाधर भट्टाचार्य उपर्युक्त आपत्ति का वारण करने के लिए कहते हैं कि द्वितीयादि के द्वारा जहाँ अभेद का बोध कराना हो वहाँ द्वितीयान्त विशेष्यवाचक पद का समभिव्याहार प्रयोजक होता है। भट्टाचार्य जी के उत्तर का तात्पर्य यहाँ यह है कि - धान्येन धनवान् में "प्रकृत्यादिभ्यः उपसंख्यानम्" से धान्य शब्द से तृतीया विभक्ति का विधान किया गया है। अतः द्वितीया तथा प्रकृत्यादिभ्यः सूत्र से विहित तृतीया के अतिरिक्त तृतीया, एवं चतुर्थी आदि विभक्ति यदि विशेषणवाचक पद के आगे आयी हों और उन द्वितीया तृतीया आदि विभक्तियों का अर्थ यदि अभेद करना हो तो आवश्यक है कि विशेष्यवाचक पद के आगे भी द्वितीयादि

विभक्ति रहे। सारांश यह निकला कि विशेषणवाचक पदोत्तर द्वितीया विभक्ति का अर्थ अभेद तभी होगा यदि विशेष्यवाचक पद भी द्वितीयान्त हो।

इसी प्रकार विशेषणवाचक पदोत्तर तृतीया विभक्ति (यदि वह तृतीया विभक्ति प्रकृत्यादिभ्यः सूत्र से विहित नहीं है तो) का अर्थ अभेद तभी होगा यदि वहाँ विशेष्यवाचक पद भी तृतीयान्त हो। प्रकृत में विशेष्य वाचक घट पद प्रथमान्त है, अतः विशेषणवाचक नीलपदोत्तर द्वितीया का अर्थ अभेद नहीं माना जाता। अतः वहाँ अभेद प्रकारकान्वय बोध नहीं होता। इस प्रकार यहाँ कार्यकारणभाव होगा। "विशेषणपदोत्तर द्वितीयार्थाभेदप्रकारक शाब्दबोधं प्रति द्वितीयान्त विशेष्यवाचक पद समभिव्याहारः कारणम्।" इसी प्रकार विशेषण पदोत्तर प्रकृत्यादिविहित तृतीयातिरिक्ततृतीयार्थाभेदप्रकारकशाब्दबोधं प्रति तृतीयान्त विशेष्यवाचक-पदसमभिव्याहारः कारणम्।

अथ "प्रमेयो घटः" इत्यादौ प्रमेयत्वावच्छिन्नभेदाप्रसिद्ध्या; लघुधर्मसमनियतगुरूधर्मस्याभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वे "कम्बुग्रीवादिमान् घटः" इत्यादावपि कम्बुग्रीवादिमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाप्रसिद्ध्या विशेषणविभक्तेरभेदार्थकत्वासंभवः। एवं नीलपटादिपरनीलादिपदघटितस्य "नीलो घटः" इत्यादिवाक्यस्यापि प्रामाण्यापत्तिः -नीलत्वादिना पटादेः भेदाभावस्य नीलघटादौ सत्वात्। एतेन विशेषणतावच्छेदकी-भूतनीलत्वप्रमेयत्वादिकमेव विशेषणविभक्त्यर्थः, नीलत्वादेर्नीलत्वावच्छिन्न-भेदाभावरूपतयाऽभेदार्थकत्वप्रवादोपपत्तिरित्यपि निरस्तम्। नीलत्वादौ नीलत्वादिमतः स्ववृत्तित्वसम्बन्धेनान्वये आकाँक्षाविरहाच्च। यथाहि तद्विशिष्टेऽधिकरणे आश्रयतया तदधिकरणतया तदन्वयोऽनुभवविरुद्धस्तथा तद्धर्मे आधेयतया तद्धर्मवदन्वयोऽपि, अत एव कर्म गच्छति इति वाक्यस्य निराकाङ्क्षता।

विशेषण विभक्ति का अर्थ यदि भेदाभाव (अभेद) मानें तो प्रमेयो घटः यहाँ पर प्रमेयत्वावच्छिन्न भेद के अप्रसिद्ध होने से प्रमेय का अभेद घट में नहीं जाएगा। तात्पर्य यह है कि प्रमा का अर्थ है यथार्थ-अनुभव, तो प्रमेय का अर्थ होगा यथार्थ -अनुभव का विषय, ईश्वर के यथार्थअनुभव का विषय है सम्पूर्ण जगत् इसका अर्थ है कि सम्पूर्ण जगत् प्रमेय है तो प्रमेय का भेद "प्रमेयो न" कहीं भी नहीं मिलेगा इसी को कहा प्रमेयत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदाभाव रूप प्रमेयाभेद भी अप्रसिद्ध हो जाएगा इसलिए अभेद का अर्थ भेदाभाव मानना उचित नहीं। दूसरा दोष यह होगा कि अभावीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक लघुधर्म समनियतगुरूधर्म नहीं हुआ करता है तो कम्बुग्रीवादिमान् घटः यहाँ पर विशेषणवाचक कम्बुग्रीवादिमत् पद से आयी प्रथमा विभक्ति का जो अर्थ भेद और अभाव है

उसमें, प्रथमार्थ भेदाभाव घटक भेद की प्रतियोगिता कम्बुग्रीवादिमान् में रहेगी क्योंकि कम्बुग्रीवादिमान् रूप प्रकृति का अर्थ कम्बुग्रीवादिमान् (घट) का ही अन्वय प्रतियोगिता सम्बन्ध से भेद में करना इष्ट है। इस प्रकार कम्बुग्रीवादिमद् भेद का प्रतियोगी जो कम्बुग्रीवादिमान् अर्थात् घट है, उसमें रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक कम्बुग्रीवादिमत्व नहीं होगा क्योंकि कम्बुग्रीवादिमत्व और घटत्व दोनों समनियत धर्म हैं अर्थात् जहाँ जहाँ घटत्व रहेगा सर्वत्र कम्बुग्रीवादिमत्व (कम्बुग्रीवा) भी रहेगा ही। ऐसी स्थिति में जबकि कम्बुग्रीवादिमत्व और घटत्व समनियत धर्म हैं तो इसका अर्थ हुआ कि कम्बुग्रीवादिमान् रूप प्रतियोगी में कम्बुग्रीवादिमत्व और घटत्व दोनों धर्म रहते हैं, तो कम्बुग्रीवादिमत् भेद की कम्बुग्रीवादिमान् में रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक जब लघु धर्म घटत्व हो सकता है तो कम्बुग्रीवादिमत्व रूप गुरू धर्म को प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानना उचित नहीं। अतः कम्बुग्रीवादिमत्व को प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं माना जाता, जब कम्बुग्रीवादिमत्त्व प्रातियोगिक का अवच्छेदक ही नहीं होता तो स्वतः सिद्ध हो गया कि कम्बुग्रीवादिमत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता भी अप्रसिद्ध हो गयी और कम्बुग्रीवादिमत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता यदि अप्रसिद्ध हो गयी तो उसका निरूपक भेद तो अप्रसिद्ध ही हो गया। इसी को मूल में कहा "कम्बुग्रीवादिमत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिकभेदाऽप्रसिद्धया" तो जब उपर्युक्त कम्बुग्रीवादिमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद अप्रसिद्ध है तो उसका अभाव रूप अभेद भला कैसे प्रसिद्ध होगा जो कि घट में रहेगा अर्थात् नहीं रहेगा तो कम्बुग्रीवादिमान् घटः में जो कम्बुग्रीवादिमान् का अभेद घट में प्रकार रूप से भासित होता है वह उपपन्न नहीं हो पाएगा यदि अभेद का अर्थ भेद और अभाव माना जाए।

भेद और अभाव को विशेषण विभक्ति का अर्थ मानने में तीसरा दोष यह होगा कि - जहाँ पर नीलपट के तात्पर्य से नीलः शब्द का उच्चारण किया गया और नील घट का बोध कराने के लिए घटः शब्द का भी उच्चारण किया गया वहाँ पर उच्चरित नीलो घटः वाक्य से भी नील पदार्थ का (नील पट का) अभेद प्रकारक अन्वय घट पदार्थ = घट में होने लगेगा। क्योंकि नीलत्वेन रूपेण नील पट और नील घट एक है तो नीलत्वावच्छिन्न नीलपट का भेद नीलघट में नहीं रहेगा। यद्यपि पट तथा घट में रहने वाला नील रूप भिन्न-भिन्न है। क्योंकि जो नीलरूप पट में है वही नीलरूप घट में नहीं तथापि रूपत्व की व्याप्य जाति जो नीलत्व जाति उस का अधिकरण नीलपट में रहने वाला नीलरूप भी है और नीलघट में रहने वाला नीलरूप भी समान रूप से है। इसीलिए नीलत्वेन रूपेण नीलपट और नीलघट को एक कहा गया। इस प्रकार नीलत्वेन रूपेण नील पट और नीलघट के एक होने से नीलत्वेन रूपेण पट के भेद का अभाव ही नीलघट में रहेगा तो नीलपट के तात्पर्य से नीलः और नीलघट के

तात्पर्य से घटः का जहाँ एक साथ "नीलो घटः" ऐसा उच्चारण किया गया हो वहाँ पर भी नीलपट का अभेद घट में भासित होने लगेगा जबकि होता नहीं।

इसीलिए जहाँ पर नीलो घटः में नील पद का अर्थ नील पट है वहाँ पर भी अभेद प्रकारकबोध की आपत्ति हो जाने से जो लोग "नील पदोत्तर आयी विभक्ति का अर्थ नीलत्व मानते थे और नीलत्व चूँकि नीलत्वावच्छिन्नभेदाभाव रूप है। अतः विशेषण विभक्ति का अर्थ अभेद है यह प्रवाद (परम्परा से चला आ रहा कथन) की भी उपपत्ति हो गयी "ऐसा कहते थे सो उनका यह कथन भी निरस्त हो गया। तात्पर्य यह है कि जैसे विशेषण वाचक नील पदोत्तर आयी विभक्ति का अर्थ भेदाभाव मानने से नीलपट तात्पर्य से उच्चरित नीलः पद के साथ घटः पद जहाँ पढ़ा गया है वहाँ पर भी नील पट का अभेदान्वय नीलघट में होने लगेगा यह आपत्ति थी। वैसे ही यही आपत्ति नील पदोत्तर आयी विभक्ति का अर्थ विशेषणतावच्छेदक = नीलत्व मानने में आएगी। यहाँ प्रश्न यह हो सकता है कि जो लोग विशेषण विभक्ति का अर्थ विशेषणतावच्छेदकनीलत्व आदि को मानते हैं उनके मत में नीलो घटः इत्यादि में नील का जो अभेदान्वय घट में होना सभी मानते आ रहे हैं, उसका क्या होगा अर्थात् परम्परा से तो नीलो घटः में नील और घट का अभेदान्वय शाब्दबोध में भासित होना मानकर विशेषण विभक्ति का अर्थ अभेद माना जाता रहा है। अब आप विशेषण विभक्ति का अर्थ विशेषणतावच्छेदक = नीलत्व को मानते हैं तो आपके मत का परम्परा से चले आ रहे मत के साथ विरोध हो गया। इस विरोध का परिहार करते हुए उपर्युक्त मत वाला कहता है कि - विशेषण विभक्ति का अर्थ तो विशेषणतावच्छेदक = नीलत्व आदि ही हैं परन्तु वह नीलत्व, नीलत्वावच्छिन्नभेदाभाव रूप है क्योंकि नीलत्वावच्छिन्नभेद = नील भेद रहता है पीत आदि में, उसका अभाव नील में रहता है। इसलिए नीलत्व, भेदाभाव रूप होने से नीलो घटः में नील का अभेद घट में रहता है ऐसा प्रवाद जो चला आ रहा है उसका भी समन्वय हो गया। सो उनका यह सारा कथन असंगत हो गया नीलपटपरक नीलः पदयुक्त घटः = नीलोघटः में, अभेदबोधापत्ति के कारण। क्योंकि यदि विशेषण विभक्ति का अर्थ नीलत्व करें तो वह नीलत्व, नील पट के नील में भी रहता है और नीलघट के नील में भी इस प्रकार नीलत्वेन रूपेण दोनों एक ही होंगे तो उपर्युक्त स्थल में भी जहाँ दोनों पदों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं, उनमें भी अभेदान्वय होने लगेगा।

विशेषण विभक्ति का अर्थ विशेषणतावच्छेदक मानें तो एक और दोष यह भी होगा कि तब उस विभक्त्यर्थ रूप नीलत्व का अन्वय प्रकृत्यर्थ नील में स्ववृत्तित्व सम्बन्ध से करना पड़ेगा जबकि नीलत्व का नील में स्ववृत्तित्व सम्बन्ध से अन्वय होने में आकाँक्षा नहीं है। क्योंकि जैसे - तद्वान् = अधिकरण में, तत् = उस का, तदधिकरणतया = उसकी अधिकरणता रूप सम्बन्ध से अन्वय होना अनुभव विरुद्ध है, वैसे ही उस धर्म मे, आधेयता (स्ववृत्तित्व) सम्बन्ध से

उस धर्मवान् का अन्वय भी अनुभव विरूद्ध है। तात्पर्य यह है कि - तद्विशिष्टे में तत् पद से धर्म को लेंगे जैसे घटत्व, उससे विशिष्टे = घट में तदधिकरणतया = घटत्वाधिकरणता सम्बन्ध अर्थात् समवाय सम्बन्ध से तदन्वयो = घटत्व का अन्वय अनुभव विरूद्ध है क्योंकि इस संसर्ग में आकाँक्षा नहीं है। क्योंकि घटत्व का घट में यदि घटत्वाधिकरणता सम्बन्ध से अन्वय करेंगे तो, शाब्दबोध घटत्ववान् घटत्वान् ऐसा होने लगेगा क्योंकि - घटत्व विशिष्ट घट को उद्देश्य करके उसके विशेषण रूप में समवाय (अधिकरणता) सम्बन्ध से घटत्व का ही विधान कर रहे हैं। इस प्रकार उद्देश्यतावच्छेदक भी घटत्व हो जाएगा और विधेय भी घटत्व हो जाएगा तो शाब्दबोध नहीं हो पाएगा इसलिए तद्विशिष्ट अधिकरण में = घटत्वविशिष्ट (घटत्वान्) घट में, तदधिकरणतया = अधिकरणता सम्बन्ध से तदन्वयः = घटत्व का अन्वय अनुभव विरूद्ध होने से नहीं होता है उसी प्रकार तद् धर्मे = घटत्व में, आधेयतया = स्ववृत्तित्व सम्बन्ध से, तद्वतः = घटत्ववान् का अन्वय भी अनुभव विरूद्ध होने से नहीं होता। क्योंकि "घटवत् घटत्वम्" ऐसा अन्वय बोध किसी को नहीं होता। इसलिए प्रकृत में भी नीलत्व रूप प्रत्ययार्थ का भी आधेयता (स्ववृत्तित्व) सम्बन्ध से प्रकृत्यर्थ नीलपदार्थ में अन्वय नहीं होगा। इसलिए विशेषणवाचक नील पदोत्तर विभक्ति का अर्थ नीलत्व नहीं कर सकते। इसीलिए कर्म गच्छति इस वाक्य को निराकाँक्ष माना जाता है। क्योंकि यहाँ भी कर्म पदोत्तर आयी द्वितीया विभक्ति के अर्थ = कर्मत्व में, स्ववृत्तित्व सम्बन्ध से कर्म पद रूप प्रकृति के अर्थ = कर्म का अन्वय नहीं होता। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि विशेषण विभक्ति का अर्थ अभेद नहीं मान सकते अर्थात् अभेद का भान प्रकार विधया नहीं मान सकते। क्योंकि अभेद को यदि विभक्त्यर्थ (प्रकार) मानें तो उसका अर्थ न तो भेदत्वावच्छिन्न अभाव कर सकते हैं, न हीं भेद प्रतियोगिक अभाव और नहीं भेद तथा अभाव और न हीं प्रकृत्यर्थतावच्छेदक नीलत्व आदि। अतः अभेद का भान संसर्ग विधया ही मानना चाहिए।

न चैवं संसर्गतामतेऽप्यनिस्तारः, नीलो घट इत्यादौ स्ववृत्तिनीलत्त्वादेः संसर्गतास्वीकारे उक्तस्थले प्रामाण्यापत्तेर्दुवारत्वादितिवाच्यम्। स्ववृत्तिनीलत्वादेः स्वस्मिन् सम्बन्धतोपगमेन पटादिवृत्तिनीलत्वादेर्घटादौ पटादिसम्बन्धताविरहेन तादृशातिप्रसंगाभावात्।

अभेद को विशेषण विभक्त्यर्थ मानने वाला प्रकारतावादी आक्षेप करता है कि यदि अभेद को संसर्ग भी मानें, तब भी तो ऊपर दी गयी आपत्तियाँ होंगी ही। क्योंकि अभेद को चाहे प्रकार मानो या संसर्ग अर्थ तो उसका वही होगा जो ऊपर भेदत्वावच्छिन्नाभाव या भेद प्रतियोगिक अभाव या भेद विशिष्ट अभाव या प्रकृत्यर्थतावच्छेदक बताये गये हैं। एवं च अभेद को प्रकार मानने पर, अभेद का उपर्युक्त अर्थों को मानने में जो अप्रसिद्धि आदि दोष आये थे, वे सब दोष तो अभेद को संसर्ग मानने पर भी होगा ही उनसे छुटकारा तो अभेद को संसर्ग

मानने पर भी नहीं मिलेगा। क्योंकि अभेद का अर्थ यदि प्रकृत्यर्थतावच्छेदक = नीलत्व मानकर उसे संसर्ग मानें तो "नीलो घटः" इस वाक्य में जहाँ कि नील पद नीलपट का बोध कराने के लिए प्रयुक्त है, उस नील पदोत्तर सु विभक्ति का अर्थ जो नीलत्व रूप अभेद है उस स्व = नील; वृत्ति = जो नीलत्व वह तो नीलपट तथा नीलघट दोनों में है तो नीलपट में रहने वाले नीलत्व के नीलघट में भी रहने से नीलपट का अभेद नीलघट में भी रह गया तो इस प्रकार वहाँ पर अभेदान्वयबोधापत्तिरूप दोष तो अभेद को संसर्ग मानने पर भी रह ही गया। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि प्रकारतावादी प्रश्न करते हुए अभेदरूप संसर्ग का प्रकृत्यर्थतावच्छेदक रूप अर्थ मानकर दोष दे रहा है भेदत्वावच्छिन्नाभाव या भेद प्रतियोगिक अभाव या भेद विशिष्ट अभाव को नहीं। अतः अभेद को संसर्ग मानने वाला संसर्गतावादी भी उसी प्रकृत्यर्थतावच्छेदक नीलत्व आदि को अभेदरूप संसर्ग मानकर पहले उत्तर देते हुए कहता है कि नीलपटपरक नीलपद घटित नीलो घटः इस वाक्य में आपाद्यमान जो अभेद संसर्ग है उसका अर्थ यदि स्ववृत्तिनीलत्व करें तो इस प्रकार का अभेदरूप संसर्ग तो स्व में ही रहेगा अन्यत्र नहीं। क्योंकि - यद्यपि रूप, पृथ्वी-जल तथा तेज तीनों में रहता है, तथापि पृथ्वी वृत्तित्व विशिष्ट रूप जैसे केवल पृथ्वी में ही रहेगा, जलआदि में नही। वैसे ही नीलत्व (नीलरूप) यद्यपि पट तथा घट दोनों में उपर्युक्त स्थल में है परन्तु स्ववृत्तिनीलत्व तो स्व में ही रहेगा। अतः उपर्युक्त नीलो घटः वाक्य घटक विशेषणवाचक नील पदार्थ नील पट में वृत्ति नीलत्व रूप अभेद सम्बन्ध तों नील पदार्थ = नील पट में ही रहेगा नीलघट में नहीं। अतः वहाँ अभेदान्वयबोधापत्तिरूप दोष नहीं दिया जा सकता।

यहाँ एक बात समझनी चाहिए - मूल में भट्टाचार्य ने लिखा है "पटादिवृत्तिनीलत्वादेः" अर्थात् पट आदि में रहने वाला नीलत्व आदि। आपाततः भट्टाचार्य का उपर्युक्त कथन अटपटा सा लगता है क्योंकि नीलत्व नील में रहता है वह भला पटादि में कैसे रहेगा जो नीलत्व में पटादिवृत्तित्व विशेषण लगाया? तो इसका तात्पर्य यह है कि गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति इस कोश के अनुशासन के कारण उपर्युक्त स्थल में नील पद का अर्थ है = नील रूप वाला पट, एवं च नीलपद का अर्थ यदि नीलपट रूप द्रव्य है तो वहाँ पर नीलत्व का अर्थ होगा नीलरूप। एवं च नीलरूप अर्थात् नीलत्व का पटादि में रहना युक्तियुक्त ही है। तो पटवृत्ति नीलत्व अर्थात् पटवृत्तिनीलरूप को यदि पट के अभेद सम्बन्ध का अर्थ मानें तो इस प्रकार का अभेद तो पट में ही रहेगा घट में पटवृत्तिनीलत्व तो नहीं रहेगा तो पटवृत्तिनीलत्व रूप पटाभेद की आपत्ति घट में नहीं दी जा सकती। इस प्रकार अभेद को सम्बन्ध मानने में कोई आपत्ति नहीं।

वस्तुतस्तु तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभाव एव नीलत्वादिप्रकारेण भासमानानां तत्तद्व्यक्तीनां स्वस्मिन् सम्बन्धतया भासत इति न काप्यनुपपत्तिः। सम्बन्धता च तस्य भेदप्रतियोगिताकाभावत्वेन तत्तद्व्यक्तिभेदप्रतियोगिताकाभावत्वेन वेत्यन्यदेतत्।

भट्टाचार्य ने अभेद को संसर्ग मानने पर प्रकारतावादी द्वारा दी गयी आपत्तियों का वारण, प्रकारतावादी द्वारा स्वीकृत विशेषणतावच्छेदक नीलत्व को अभेद रूप मानकर यद्यपि ऊपर दे दिया है तथापि नीलत्व आदि अर्थ में अभेद शब्द के पारिभाषिक हो जाने के कारण लोक प्रसिद्ध भेदाभाव रूप अर्थ अभेद का मानकर वस्तुतः इत्यादि के द्वारा उत्तर दे रहे हैं। - नीलत्वादिप्रकारेण = नीलत्व विशिष्ट अर्थात् "नीलः" इस रूप में, भासमानानाम् = भासित होने वाले, तत् तद्व्यक्तीनाम् = उन-उन नील (नील घट) व्यक्तियों का, स्वस्मिन् - अपने आप में, तत् तद् व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभाव एव= तत् तद्व्यक्तित्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिताक जो भेद, उस भेद का अभाव ही, सम्बन्धतया = सम्बन्ध रूप में भासित होता है, इति = इस प्रकार न काप्यनुपपत्तिः = कोई आपत्ति नहीं है।

भट्टाचार्य जी के उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि - सम्बन्धरूप अभेद का अर्थ भेदाभाव ही है। परन्तु विशेषण का अभेद जो विशेष्य में भासित होता है उसमें विशेषण के अभेद का अर्थ है विशेषण के भेद का अभाव। जैसे - नीलो घटः में नील के भेद काअभाव घट में, प्रमेयो घटः में प्रमेय के भेद का अभाव घट में, कम्बुग्रीवादिमान् घटः में कम्बुग्रीवादिमान् के भेद का अभाव घट में। परन्तु नीलादि विशेषंण के भेद का; प्रतियोगी जो विशेषण नील, प्रमेय, या कम्बुग्रीवादिमान् हैं, उनमें रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक नीलत्व (नील रूप) या प्रमेयत्व, या कम्बुग्रीवादिमत्त्व नहीं होता अपितु उन नील (नील घट) व्यक्ति, या प्रमेय व्यक्ति या कम्बुग्रीवादिव्यक्ति में रहने वाला तद्व्यक्तित्व ही होता है। क्योंकि जब कोई नीलो घटः इस वाक्य का प्रयोग करता है तो उस समय वह वाक्य प्रयोग करने वाला पुरूष "नील" इस पद के द्वारा जिस नील घट विशेष को कहना चाहता है, उसी का अभेद = भेद का अभाव, घट में बोध कराना चाहता है, न कि नीलत्वेन रूपेण जितने नीलघट हैं सभी का अभेद। इसी प्रकार प्रमेयो घटः में प्रमेय पद के द्वारा जिस प्रमेय व्यक्ति (घट) को कहना चाहता है उसी का अभेद घट में बताना चाहता है। तात्पर्य यह निकला कि - नील; नीलत्वेन रूपेण घट का विशेषण नहीं है अपितु तद्व्यक्तित्वेन इसी प्रकार प्रमेय भी प्रमेयत्वेन रूपेण विशेषण नहीं है अपितु तद्व्यक्तित्वेन इसी प्रकार कम्बुग्रीवादिमान् भी। इस प्रकार नीलो घटः में विशेषण जो नील पदार्थ = नील (घट व्यक्ति) है, उसके भेद का प्रतियोगी भी वही नील (घट व्यक्ति) होगा, प्रतियोगिता भी उसी नील (घट व्यक्ति) में रहेगी उस प्रतियोगिता का अवच्छेदक उस नील (नील घट व्यक्ति) में रहने वाला नीलत्व (नील रूप) न होकर उस

नील (नील घट व्यक्ति) में रहने वाला तद् व्यक्तित्व होगा। इस प्रकार उस नील व्यक्ति में रहने वाले तद्व्यक्तित्व सेअवच्छिन्न प्रतियोगिताक भेद होगा उस नील व्यक्ति का भेद, जो कि उस नील (घट) व्यक्ति से अन्यत्र सर्वत्र रहेगा, इस तरह उस नील घट व्यक्ति को छोड़कर अन्यत्र सभी जगह रहने वाले तद्व्यक्ति भेद का अभाव, उस नीलघटव्यक्ति में रहता ही है जो कि "घटः" में घटपद के द्वारा कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि नीलो घटः में जो नील घट व्यक्ति नील पद के द्वारा कहा जा रहा है वही नील घट व्यक्ति घट पद के द्वारा भी कहा जाता है। अतः नीलपदोपस्थाप्यनीलघटव्यक्ति का, तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न तद् व्यक्तिनिष्ठप्रतियोगिताक भेद, उसी का अभाव घटपदोपस्थाप्य = तन्नीलघट व्यक्ति में भासित होता है। इसी प्रकार प्रमेयो घटः यहाँ पर भी अभेद का अर्थ जो भेदाभाव है उसमें भेद का प्रतियोगी भले ही विशेषण प्रमेय होवे, परन्तु उस प्रमेय में रहने वाली भेदीयप्रतियोगिता का अवच्छेदक प्रमेयत्व नहीं है, जिससे कि अप्रसिद्धि दोष होवे, अपितु उस प्रमेयव्यक्ति में (जिस प्रमेय विशेष को उपर्युक्त स्थल में प्रमेय शब्द से कहना चाहता है) रहने वाला तद्व्यक्तित्व ही है इस तरह प्रमेयत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेद भले ही अप्रसिद्ध होवे प्रमेयनिष्ठतद्व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेद तो प्रसिद्ध ही है। क्योंकि उपर्युक्त स्थल में प्रमेय बोध्य जो प्रमेयव्यक्ति है उसका भेद तो उस प्रमेय व्यक्ति (घट विशेष) के अलावा सर्वत्र रहता ही है, उस भेद का अभाव; उसी प्रमेय व्यक्ति में जो कि उपर्युक्त स्थल में "घटः" पद के द्वारा कहा जा रहा है भासित होता ही है। अतः प्रमेयो घटः में भी अभेदान्वयबोध होने में कोई आपत्ति नहीं रही। इसी प्रकार कम्बुग्रीवादिमान् घटः में भी भेद का प्रतियोगी भले ही कम्बुग्रीवादिमान् होवे परन्तु उसमें रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक कम्बुग्रीवादिमत्त्व नहीं है अपितु उसमें रहने वाला तद्व्यक्तित्व ही। इस प्रकार कम्बुग्रीवादिमत्व या घटत्व के प्रतियोगिताकवच्छेदक न होने से गुरु धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता के अप्रसिद्धि होने का प्रसंग भी नहीं रहा तो वहाँ भी कम्बुग्रीवादिव्यक्तिनिष्ठ तद् व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक जो कम्बुग्रीवादिमद्व्यक्तिभेद उसका अभाव उस कम्बुग्रीवादि व्यक्ति में रहता ही है। अतः वहाँ भी अभेदान्वयबोध होने में कोई कंठिनाई नहीं है।

अब नीलपटपरक नील पद घटित नीलो घटः में भी अभेदान्वय बोध की आपत्ति नहीं रह गयी। क्योंकि अभेदार्थ भेदाभाव घटक भेद का प्रतियोगी जो विशेषण नील (नील पट विशेष) व्यक्ति है उसमें रहने वाला नीलत्व (नीलरूप) तो उसमें रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं है, जिससे कि नीलत्वेन रूपेण नील पदार्थ = नीलपट और घट पदार्थ = नील घट में अभेदान्वयबोध की आपत्ति दी जा सके। अपितु विशेषणीभूत उस (वही नील पट विशेष) व्यक्ति (जो कि प्रतियोगी है) में रहने वाला तद्व्यक्तित्व। उस नीलव्यक्ति निष्ठतद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद होगा उस नील (नीलपट) व्यक्ति का

भेद, यह भेद तो उस नीलपट व्यक्ति को छोड़कर सर्वत्र रहेगा तो उपर्युक्त वाक्य घटक घटपदोपस्थाप्य नील घट में भी रहेगा ही। ऐसी स्थिति में जब नीलघट में उस नीलपट व्यक्ति का भेद ही रहता है तो उस भेद का अभाव कैसे रह सकता है? अर्थात् नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त स्थल में नीलपट और नीलघट के अभेद की आपत्ति कैसे दी जा सकती है। अर्थात् नहीं दी जा सकती। इस प्रकार तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिक भेदाभाव को अभेद का अर्थ मानने पर उसका संसर्ग विधयाभान मानने में कोई आपत्ति नहीं रही। भट्टाचार्य आगे कहते हैं कि -अभेद संसर्ग का अर्थ जो मैंने भेदाभाव बताया है उसमें भेद तो तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक ही लेना है, परन्तु भेद का अभाव (जो कि सम्बन्ध का स्वरूप है) किस रूप में लिया जाय, भेद प्रतियोगिक अभाव रूप में या तत् तद्व्यक्तिभेद प्रतियोगिक अभावरूप में? इसका विचार करना यहाँ कोइ आवश्यक नहीं है। अतः भेदाभाव में संसर्गता भेदप्रतियोगिकअभावत्वेन या तत् तद्व्यक्तिभेदप्रतियोगिक अभावत्वेन माना जाए यह अलग से विचारणीय है। सम्प्रति उसके विचार की कोई आवश्यकता नहीं। इसलिए कहा -इति अन्यदेतत्।

न चैवं विशेषणविभक्तेरभेदार्थकत्वमतेऽपिं तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नाभेदएव विभक्त्यर्थो वक्तव्य इति वाच्यम्, तथा सत्यपूर्वव्यक्तिनिष्ठतत्तद्व्यक्तित्वस्य कथंचिदपि भानांसंभवेन, तदवच्छिन्नभेदाभावे शक्तिग्रहासंभवेनाऽपूर्वव्यक्तीनामभेदान्वय बोधानुपपत्तेः। संसर्गज्ञानस्य विशिष्टबुद्धावहेतुत्वेनाऽनुपस्थितस्यापि संसर्गतया भानसंभवेन संसर्गतामतेऽनुपपत्त्यभावात्।

संसर्गतावादी के द्वारा अभेद का तद्व्यक्तित्वावचछिन्न भेदाभाव अर्थ करके आपत्तियों का वारण करने पर प्रकारतावादी भी कहता है कि यदि अभेद को विशेषणविभक्ति का अर्थ भी मानें अर्थात् प्रकार भी मानें तो उस अभेदरूप प्रकार का अर्थ हम भी "तत् तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदाभाव" करेंगें, तो उपर्युक्त नीलपटपरक नीलपदघटित नीलोघटः में अभेदान्वय बोध की आपत्ति का वारण हो ही जाएगा। अतः विशेषण विभक्ति का अर्थ ही अभेद मानो और इस प्रकार विशेषण रूप में भासित होने वाले अभेद का अर्थ तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभाव ही मान लें। भट्टाचार्य संसर्गतावाद का पक्ष लेते हुए कहते हैं कि - अभेद को यदि विशेषण मानकर उसका अर्थ तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभाव मानेंगें तो इसका अर्थ यह हुआ कि विशेषण विभक्ति की शक्ति तत् तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न भेदाभाव में मानेंगें। ऐसी स्थिति में अपूर्व व्यक्ति में रहने वाले तद्व्यक्तित्व का किसी भी प्रकार से ज्ञान नहीं हो सकने के कारण, उस अपूर्व व्यक्ति में रहने वाले तद्व्यक्तित्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदाभाव रूप अभेद में विशेषण विभक्ति का शक्तिग्रह न हो पाएगा तो जहाँ नीलो घटः में नील पद तथा घट पद के

द्वारा अपूर्व घटव्यक्ति का बोध कराना वक्ता को अभीष्ट है वहाँ पर अपूर्वनील (नीलघट व्यक्ति) का अभेदान्वय घटपदप्रतिपाद्य उसी अपूर्व नीलघटव्यक्ति में नहीं हो पाएगा।

भट्टाचार्य जी के उत्तर का तात्पर्य यह है कि - विशिष्ट बुद्धि में विशेषण (प्रकार) का ज्ञान आवश्यक होता है। ऐसी स्थिति में जबकि अभेद को विशेषणविभक्ति का अर्थ मानकर उसे प्रकार (विशेषण) मान रहे हैं और उसका अर्थ तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभाव मान रहे हैं तो विशेषणरूप तत् तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभाव का ज्ञान जब तक नहीं होगा, तब तक विशिष्ट बुद्धि नहीं होगी। अतः तत् तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभाव रूप विशेषण का ज्ञान आवश्यक है अभेद प्रकार बोध के लिए। जहाँ पर नीलघट व्यक्ति सामने विद्यमान हो तो वहाँ उस घट व्यक्ति का भान (उपस्थिति) तो नीलो घटः में नील पद तथा घटपद के द्वारा हो जाएगा तो उस नीलघट व्यक्ति में रहने वाले तद्व्यक्तित्व का भी ज्ञान होगा और उससे अवच्छिन्न भेदके अभाव का भी ज्ञान घटादि में हो जाएगा। परन्तु "नीलो घटो भविष्यति" यहाँ पर जो नीलपद के द्वारा नील (नील घट) व्यक्ति कहा जा रहा है वह तो अपूर्व है (अनुत्पन्न है) उस अपूर्व (अनुत्पन्न) घट व्यक्ति में रहने वाला तद्व्यक्तित्व का भान तो किसी भी प्रकार से संभव नहीं है क्योंकि जब वह अपूर्व व्यक्ति ही अभी उपस्थित नहीं है या पहले भी उपस्थित (ज्ञात) नहीं हुआ है तो उसमें रहने वाले तद्व्यक्तित्व का भान (उपस्थिति) तो हो ही नहीं सकती। ऐसी स्थिति में यदि उस अपूर्व घट व्यक्ति में रहने वाले तद्व्यक्तित्व का ही ज्ञान संभव नहीं है तो उस तद्व्यक्तित्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदाभाव में विशेषण विभक्ति के अर्थ का शक्तिग्रह भी संभव नहीं है। क्योंकि अभाव ज्ञान में प्रतियोगी का ज्ञान होना आवश्यक है तो तद् व्यक्तित्वावच्छिन्नभेद अर्थात् तद्व्यक्तिभेद का प्रतियोगी जो तद् व्यक्ति है उसी का जब भान संभव नहीं है तो उस तद्व्यक्ति के भेद का ज्ञान कैसे संभव होगा और जब तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न भेद रुप प्रतियोगि का ज्ञान नहीं होगा तो उस तद्व्याक्तित्वावच्छिन्न भेद के अभाव रूप अभेद का (विशेषण का) ज्ञान कैसे होगा? इस प्रकार जहाँ अपूर्व व्यक्ति में "नीलो घटो भविष्यति" यहाँ पर अभेदान्वयबोध कराना वक्ता को अभीष्ट होगा वहाँ पर अपूर्वव्यक्तिनिष्ठतद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभाव रूप अभेद का ज्ञान संभव नहीं होने से अभेदप्रकारक वोध नहीं हो पाएगा। तब प्रश्न उठता है कि - अभेद को यदि संसर्ग मानें तव कैसे अपूर्व व्यक्ति का अभेद सम्बन्ध अपूर्व व्यक्ति में भासित होगा? क्योंकि संसर्गतावादी के मत में भी तो अभेद का अर्थ तत्तद्व्यक्तित्वावाच्छिन्न भेदाभाव ही है तो उनके मत में भी अपूर्व व्यक्ति का भान संभव नहीं होने से उपर्युक्त भेदाभाव का ज्ञान संभव नहीं है। भट्टाचार्य संसर्गतावादी के पक्ष से इस मत में दोष का वारण करने के लिए कहते हैं कि - विशिष्ट बुद्धि में,

विशेषण का ज्ञान होना तो आवश्यक है, परन्तु संसर्ग (सम्बन्ध) का ज्ञान होना आवश्यक नहीं है। इसलिए "नीलो घटो भविष्यति" यहाँ पर अपूर्व नीलघट व्यक्ति में रहने वाले तद्व्यक्तित्व के ज्ञान न हो पाने से तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभाव रूप अभेद सम्बन्ध का ज्ञान भले ही न हो पाए, तब भी अर्थात् अज्ञात भी उपर्युक्त स्वरूप वाला अभेद उपर्युक्त स्थल में संसर्गरूप में भासित हो सकता है। क्योंकि संसर्गरूप से भासित होने के लिए अभेद का ज्ञान होना आवश्यक नहीं। जबकि प्रकार रूप में भासित होने के लिए उसका ज्ञान होना आवश्यक है, जो कि नीलो घटो भविष्यति में संभव नहीं। अतः अभेद को संसर्ग मानकर आकाँक्षा भास्य ही मानो उसे विशेषणविभक्त्यर्थ मानकर प्रकार मत मानो।

न च विभक्त्यर्थेऽपि भेदे तत्तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिता-कत्वसम्बन्धेन नीलत्वादिना तत्तद्व्यक्तीनामन्वयः, तादृशभेदानामपि तत् तद्व्यक्तिभेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्वसम्बन्धेनाभावेऽवय उपेयते, तावतैव तत् तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नाऽभेदलाभ इति न किंचिदनुपपन्न-मितिवाच्यम्।

विशिष्ट बुद्धि में विशेषण का ज्ञान आवश्यक होने, तथा सम्बन्ध के ज्ञान के आवश्यक नहीं होने को देखते हुए प्रकारतावादी कहता है कि विशेषण विभक्ति का अर्थ जो अभेद है उस अभेद का अर्थ भेदाभाव रूप विशिष्टाभाव नहीं है अपितु भेद तथा अभाव है अर्थात् भेद तथा अभाव में विशेषण विभक्ति की खण्डशः शक्ति है। उस विभक्त्यर्थ भेद में नीलत्वेन रूपेण नील व्यक्ति का (विशेषण का) नीलव्यक्तिनिष्ठ तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व सम्बन्धेन अन्वय करेंगे और इस सम्बन्ध से नीलान्वितभेद का अर्थात् नीलव्यक्तिभेद का नीलव्यक्तिभेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से अभाव में अन्वय स्वीकार करेंगे। इस प्रकार तत् तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न अभेद रूप विशेषण का ज्ञान हो जाने से अपूर्व व्यक्ति का अभेदप्रकारकअन्वयबोध हो जाएगा।

प्रकारतावादी का तात्पर्य यह है कि - जैसे संसर्गतावादी ने तत् तद् व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभाव को अभेद संसर्ग मानकर तद् व्यक्ति के अपूर्व होने के कारण ज्ञान नहीं होने पर भी संसर्गविधया उसका शाब्दबोध में भान होना उपपन्न कर दिया क्योंकि विशिष्ट बुद्धि में संसर्ग का ज्ञान अपेक्षित नहीं माना जाता है। उसी प्रकार अभेद को प्रकार मानने पर भी तत् व्यक्तित्व को हम विभक्त्यर्थ = भेद या अभाव का विशेषण नहीं मानते है अपितु हम भी तद्व्यक्तित्व को संसर्ग मानते हैं। अतः नीलो घटो भविष्यति यहाँ पर नील पदोत्तर सु विभक्ति का अर्थ जो भेद है उसमें; उस अपूर्व नील व्यक्ति का सम्बन्ध उस अपूर्वनील व्यक्ति में रहने वाले तद्व्यक्तित्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से करेंगे। इस प्रकार उस अपूर्व नीलघट व्यक्ति में रहने वाले तद्व्यक्तित्व के भान नहीं

होने पर भी अब कोई आपत्ति नहीं रह जाएगी। क्योंकि वह तद्व्यक्तित्व नील व्यक्ति और भेद के सम्बन्धकुक्षि में प्रविष्ट हो गया है और सम्बन्ध का ज्ञान होना तोआवश्यक है नहीं तो नीलव्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से नीलपदोपस्थाप्य अपूर्व नील (घट) व्यक्ति का अन्वय भेद में हो जाएगा और उस नीलव्यक्तिभेद का नीलव्यक्तिभेदत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से अभाव में अन्वय कर देंगे तो नीलव्यक्तित्वावच्छिन्न भेदाभाव रूप अभेद का ज्ञान संभव होने से, सम्बन्धविधया शाब्दबोध में अपूर्व व्यक्ति का भी भान होगा ही। कोई आपत्ति नहीं है तो अभेद को प्रकार ही मान लें। विशेषण विभक्ति को निरर्थक (साधुत्वार्थक) नहीं मानना पड़ेगा।

विशेषणतावच्छेदकावच्छिन्नाया एव प्रतियोगितायां अभावे प्रतियोगिनः सम्बन्धतया भानात्। अन्यथा विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्वानुपपत्तेः। प्रतियोगिविशेषिताभावज्ञानं च विशिष्टवैशिष्ट्यबोधमर्यादां नातिशेते इति दर्शनात्, केवलं विशेष्ये विशेषणमितिरीत्या न कश्चिदभ्युपैतीति चेत्।

अभेद को विशेषणविभक्ति का अर्थ मानने वाले प्रकारतावादी ने नीलपटपरक नीलपदघटित नीलो घटः वाक्य में अभेद प्रकारक बोध की आपत्ति रूप अतिव्याप्ति न होवे, तथा नीलो घटो भविष्यति में अपूर्व नील व्यक्ति का शाब्दबोध में भान की अनुपपत्ति रूप अव्याप्ति भी न होवे इसके लिए विशेषणीभूत नील पदार्थ (नील रूप वाले) का तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिता (कत्व) सम्बन्ध से विशेषणविभक्त्यर्थ भेद में अन्वय ऊपर में माना है। उसका खण्डन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि - प्रतियोगी का प्रतियोगिता सम्बन्ध से जो भेद में अन्वय होता है अर्थात् प्रतियोगी और अभाव के बीच जो प्रतियोगिता सम्बन्ध होता है, वह प्रतियोगिता विशेषणतावच्छेदक से जब अवच्छिन्न होती है तभी वह प्रतियोगी और अभाव (भेद) का सम्बन्ध कहलाती है। इस प्रकार विशेषणतावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगिता ही प्रतियोगी का अभाव में संसर्ग रूप में भासित होती है। आप प्रकारतावादी ने तो नीलरूप प्रतियोगी का भेद में तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध से अन्वय किया है जिसका अर्थ है कि आपने नील रूप प्रतियोगी का; विशेषणतावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगिता को; भेद में (अभाव में) सम्बन्ध नहीं माना। क्योंकि तद्व्यक्तित्व विशेषणीभूत नील में रहने वाली विशेषणता का अवच्छेदक नहीं है। क्योंकि तद्व्यक्तित्व नील निष्ठ विशेषणता से अतिरिक्त स्थान पर भी रहती है अर्थात् जहाँ विशेषणता नीलनिष्ठा नहीं है पीतादि निष्ठा है वहाँ पर भी तद्व्यक्तित्व रहता है। अतः तद्व्यक्तित्व नीलनिष्ठविशेषणता का अवच्छेदक नहीं होने से विशेषणतावच्छेदक नहीं है। नीलनिष्ठविशेषणता का अवच्छेदक तो नील निष्ठ विशेषणता का अन्यून अनतिरिक्त वृत्ति धर्म नील में रहने वाला नीलत्व है। अतः अभाव में विशेषणीभूत नील रूप प्रतियोगि का भेद में नीलत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता ही सम्बन्ध होगा और जब आप नील रूप विशेषण (प्रतियोगी) का,

नीलत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध से विभक्त्यर्थ भेद में अन्वय करेंगें तो नीलपट परक नीलपद घटित नीलो घटः वाक्य से भी अभेदप्रकारक बोध की आपत्ति तो रह ही जाएगी। प्रकारतावादी इस पर प्रश्न कह सकता है कि -"प्रतियोगी का भेद (अन्योन्याभाव) में विशेषणतावच्छेदकावच्छिन्न ही प्रतियोगिता सम्बन्ध रूप में भासित होती है" ऐसा क्यों मान लिया जाये? भट्टाचार्य इसका उत्तर देते हैं कि - यदि विशेषणतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिता को ही प्रतियोगी का अभाव में सम्बन्ध न माना जाए तो, प्रतियोगीविशेषितअभाव का ज्ञान विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ज्ञान नहीं कहलाएगा। जबकि ऐसा देखा जाता है कि प्रतियोगी से विशेषित अभाव का ज्ञान विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ज्ञान की रीति का अतिक्रमण नहीं करता। अब यहाँ पुनः प्रश्न हो सकता है कि यदि विशेषणतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिता ही प्रतियोगी और अभाव का सम्बन्ध न होवे तो अभाव ज्ञान विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान क्यों नहीं कहलाएगा और यदि विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ज्ञान न भी कहलाए तो उससे हानि क्या होगी?

मूल में यद्यपि इन दोनों प्रश्नों का उत्तर भट्टाचार्य जी ने नहीं दिया है। तथापि गुरू परम्परा में यह उत्तर दिया जाता है कि विशिष्ट ज्ञान दो प्रकार का होता है - (1) विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही विशिष्ट ज्ञान, तथा (2) उपलक्षित वैशिष्ट्यावगाही विशिष्ट ज्ञान। इनमें प्रतियोगी तथा प्रतियोगितावच्छेदक अथवा यों कह लीजिए विशेषण तथा विशेषणतावच्छेदक दोनों के सम्बन्ध का अवगाहन करने वाला ज्ञान विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान कहलाता है। अर्थात् जहाँ विशेषण का तथा विशेषणतावच्छेदक का, (दोनों का) सम्बन्ध विशेष्य में भासित हो रहा हो. उस विशिष्ट ज्ञान को विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान कहते हैं परन्तु विशेष्य में विशेषण, उस विशेषण में भी विशेषण इस रीति से केवल विशेषण का सम्बन्ध विशेष्य में भासित हो परन्तु विशेषणतावच्छेदक विशेषण) का सम्बन्ध विशेष्य में भासित न होकर केवल विशेषण में भासित हो उस विशिष्ट ज्ञान को उपलक्षित वैशिय्यटयावगाही ज्ञान कहते हैं तथा जहाँ पर विशेषण (प्रतियोगी) का विशेष्य (अभाव) में विशेषणतावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध से अन्वय न हो वह ज्ञान भी उपलक्षित वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान कहलाता है।

उदाहरण के माध्यम से इन दोनों ज्ञानों को यदि समझा जाए तो बात और स्पष्ट हो जाएगी। जैसे "घटोनास्ति" इस अभाव स्थल में उपर्युक्त घटाभाव के ज्ञान में अभाव विशेष्य है और उस अभाव का प्रतियोगी घट अभाव में विशेषण है, तथा विशेषणीभूत घट में स्वरूपतः भासित होने वाला घटत्व विशेषणता वच्छेदक या प्रतियोगितावच्छेदक है। उपर्युक्त घटेनास्ति से होने वाला जो अभावज्ञान है, यह ज्ञान घट रूप प्रतियोगी के प्रतियोगिता रूप सम्बन्ध का, तथा घटत्व रूप प्रतियोगितावच्छेदक के, स्वावच्छिन्नप्रतियोगिता सम्बन्ध का अभाव में (विशेष्य में) निश्चित रूप से अवगाहन करता है। इस प्रकार यहाँ पर अभाव रूप विशेष्य

में घट रूप प्रतियोगी तथा घटत्व रूप प्रतियोगितावच्छेदक, दोनों का सम्बन्ध भासित हो रहा है। अतः इस ज्ञान को विशिष्टवैशिष्टयावगाही ज्ञान कहते हैं एवं च "गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तावान् गुणः" इस ज्ञान को जब उपलक्षित वैशिष्टयावगाही मानते हैं तो यह ज्ञान प्रमा कहला सकता है परन्तु यदि इस ज्ञान को भी विशिष्टवैशिष्टयावगाही ज्ञान माना जाए तो यह ज्ञान भ्रम कहलाएगा। जैसे विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणम् इस रीति से गुण रूप विशेष्य में सत्ता विशेषण है और सत्ता में गुणकर्मान्यत्व विशेषण है जो कि यथार्थ है। क्योंकि गुण में सत्ता रहती ही है इसी प्रकार सत्ता में भी गुणकमन्यित्व रहता ही है क्योंकि सत्ता, गुण तथा कर्म दोनों से अन्य (भिन्न) है ही। इसलिए विशेष्ये विशेषणम्, तत्रापि विशेपणम् इस उपलक्षित रीति से तो यह ज्ञान यथार्थ ही है। परन्तु इसे यदि विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही बोध मानें तो इसका अर्थ यह हुआ कि विशेष्य गुण में जैसे सत्ता का सम्बन्ध भासित होना मानेंगें वैसे ही गुणकर्मान्यत्व का भी। जबकि गुण में सत्ता का विशेषण होना तो युक्त है परन्तु गुण में गुणकर्मान्यत्व विशेषण नहीं हो सकता परन्तु गुण में गुणकर्मान्यत्व का सम्बन्ध भी भासित होगा। इस प्रकार ये ज्ञान भ्रमात्मक हो जाएगा। अस्तु।

अभावस्थल में वह्निर्नास्ति" इस ज्ञान को यदि विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ज्ञान न मानकर उपलक्षितवैशिष्टयावगाही मानें तो इसका अर्थ यह हुआ कि या तो विशेषणतावच्छेदक = वह्नित्व, का सम्बन्ध अभाव में नहीं मान रहे हैं या वह्नि रूप प्रतियोगी का सम्बन्ध अभाव में विशेषणतावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगिता = अर्थात् वह्नित्वावच्छिन्न प्रतियोगिता को नहीं मान रहे हैं। ऐसी स्थिति में जिस पर्वत में वह्नि है उसमें भी वह्निर्नास्ति ऐसा ज्ञान होने लगेगा। क्योंकि "वह्निर्नास्ति" यहाँ पर अभाव में प्रतियोगितावच्छेदक = वह्नित्व का सम्बन्ध यदि स्वावच्छिन्न प्रतियोगिता को न मानकर स्वसमानाधिकरणप्रतियोगिता को मानें तो, उभयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता सम्बन्ध से वह्नि विशिष्ट अभाव = अर्थात् वह्नि घटोभयाभाव में स्वसमानाधिकरणप्रतियोगिता सम्बन्ध से विशेषणतावच्छेदक वह्नित्व का सम्बन्ध होने से वह्निमत्पर्वत में भी वह्निर्नास्ति ऐसा ज्ञान होने लगेगा। क्योंकि - वह्निघटोभयाभाव की प्रतियोगिता वहिनघटोभयत्व से अवच्छिन्न है, यह वह्नि घटोभयत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता; उभयघटक वह्नि में भी रहती है तो यह उभयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता, वह्नि का अभाव में सम्बन्ध हो गया। इस तरह उपर्युक्त उभयत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध से वह्नि रूप प्रतियोगि का सम्बन्ध = वैशिष्ट्य; अभाव (उभयाभाव) में रह गया और उसी वह्निविशिष्ट अभाव (उभयाभाव) में वह्नित्व का भी स्वसमानाधिकरणप्रतियोगिता सम्बन्ध है ही। क्योंकि स्व = से लेंगें वह्नि में भासितहोने वाले वह्नित्व को, उसका अधिकरण है वह्नि और वही वह्नि उपर्युक्त उभयत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता का भी अधिकरण है। इस प्रकार वह्नित्व का सामानाधिकरण्य उपर्युक्त उभयत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता में हो गया, तो

वह्नित्वसमानाधिकरण प्रतियोगिता, उभयाभाव की वह्नि में रहने वाली प्रतियोगिता हो गयी, और इस प्रतियोगिता का निरूपक अभाव उपर्युक्त वह्नि विशिष्ट अभाव (वह्नि घटोभयाभाव) है ही। इस प्रकार उपर्युक्त उभयत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध से वह्निविशिष्ट अभाव में स्वसमानाधिकरण प्रतियोगिता सम्बन्ध से वह्नित्व का भी सम्बन्ध होने से वह्निमत् पर्वत में भी (वह्निघटोभयाभावरूप उभयत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव के रहने के कारण वह्निर्नास्ति ऐसा अप्रमात्मक ज्ञान होने की आपत्ति आएगी। एवं च यदि वह्निर्नास्ति इस अभाव ज्ञान में प्रतियोगी के रूप में भासित होने वाले वह्नि में; भासित होने वालें वह्नित्व को विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणम् इस रीति से उपलक्षण मानें तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह्नित्व का सम्बन्ध वह्नि में ही मानेंगें अभाव में नहीं तो पुनः वह्निमत् पर्वत में उपर्युक्त रीति से उभयत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध से वह्नि विशिष्ट अभाव (वह्नि घटोभयाभाव) के रहने के कारण वह्निर्नास्ति इस प्रकार के ज्ञान के होने की आपत्ति तो रहेगी ही। अतः यह आवश्यक है कि उपर्युक्त आपत्तियों का वारण करने के लिए - अभाव में विशेषणीभूत प्रतियोगी में भासित होने वाले धर्म का भी, अभाव में अन्वय मानें और वह अन्वय भी स्वावच्छिन्नं प्रतियोगिताकत्व सम्बन्ध से ही किसी अन्य से नहीं। तब जबकि वह्नित्व रूप विशेषणतावच्छेदक का अभाव में स्वावच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध मानेंगें, तो उस सम्बन्ध रूप वह्नित्वावच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक अभाव होगा उपर्युक्त प्रतियोगिता सम्बन्ध से वह्नि विशिष्ट अभाव। अब वह्नि रूप प्रतियोगी का, अभाव में यदि उभयत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध मानें तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह्निर्नास्ति में प्रतीत होने वाला एक ही अभाव भिन्न भिन्न दो प्रतियोगिताओं का निरूपक होगा। एक तो वह्नत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता का (वह्नित्व के सम्बंन्ध का) तथा उभयत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता (वह्नि के सम्बन्ध का) का भी। जबकि ऐसा होता नहीं। एक अभाव किसी एक ही प्रतियोगिता से निरूपित होती है। ऐसी स्थिति में यदि वह्नि का उभयत्वावच्छिन्न प्रतियोगितासम्बन्ध ही अभाव में मानें, तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह अभाव वह्नित्वावच्छिनन प्रतियोगिता का निरूपक नहीं होगा, तो पुनः वह्नित्व में उपलक्षणत्व आ जाएगा क्योंकि आपने प्रतियोगिता को वह्नित्व रूप विशेषणता से अवच्छिन्न होना माना ही नहीं है, आपने तो उभयत्व से अवच्छिन्न होना माना है तो जब वह्नित्व रूप विशेषणतावच्छेदक, प्रतियोगी में रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक ही नहीं होगा तो उसका स्वावंच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध से अभाव में अन्वय कैसे हो पाएगा, अर्थात् नहीं हो पाएगा तो वह उपलक्षण ही माना जाएगा अर्थात् तब वह्निर्नास्ति यह अभाव ज्ञान उपलक्षित वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान कहलाएगा विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ज्ञान नहीं कहलाएगा। इसका दुष्परिणाम जो होगा वह तो ऊपर वता ही चुके हैं कि तब वह्नि वाले पर्वत में भी वह्निर्नास्ति यह प्रतीति माननी पड़ेगी। अतः आवश्यक है कि (वह्नित्व के समान) वह्निरूप प्रतियोगी का

भी अभाव में विशेषणतावच्छेदक = वह्नित्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता को ही सम्बन्ध मानें। इस प्रकार वह्नित्व रूप विशेषतावच्छेदक का भी अभाव में स्व=वह्नित्वावच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध हुआ और वह्नि रूप विशेषण (प्रतियोगी) का भी वह्नित्वावच्छिन्न प्रतियोगिता ही सम्बन्ध हुआ तो "वह्निर्नास्ति" यह ज्ञान - प्रतियोगी (विशेषण), तथा प्रतियोगितावच्छेदक (विशेषणतावच्छेदक) दोनों के "वह्नित्वावच्छिन्न प्रतियोगिता" रूप एक ही सम्बन्ध का अवगाहन करने के कारण विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ज्ञान कहलाता है।

इसीलिए भट्टाचार्य जी ने कहा कि प्रतियोगी का विशेषणतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध ही अभाव में भासित होता है, क्योंकि प्रतियोगी से विशेषित अभावज्ञान विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ज्ञान होता है।

अब वह्निमत् पर्वत में वह्निर्नास्ति इस ज्ञान की आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि वह्नित्वावच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध से अभाव में न तो वह्नित्व का और न ही वह्नि का सम्बन्ध है तो उपर्युक्त सम्बन्ध से वह्नि विशिष्ट अभाव पर्वत में नहीं रहा तो वह्निर्नास्ति यह ज्ञान वहाँ नहीं होगा। प्रकृति में यदि विशेषणीभूत नील (नीलघट) का तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध से भेद (अभाव) में अन्वय मानें तो प्रतियोगी का सम्बन्ध रूप यह प्रतियोगिता चूँकि विशेषणतावच्छेदक नीलत्व से अवच्छिन्न नहीं है अपितु उपलक्षणीभूत तद्व्यक्तित्व से अवच्छिन्न है, तो यह नील और भेद के सम्बन्ध का अवगाहन करने वाला ज्ञान विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान नहीं कहलाएगा, जबकि प्रतियोगी से विशेषित अभाव ज्ञान विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहन की मर्यादा का उल्लघन नहीं करते, ऐसा देखा जाता है। यदि उल्लघन करें तो जो आपत्ति आएगी उसका कथन ऊपर कर चुके हैं। इसलिए नील (नीलघट व्यक्ति) के भेद (अभाव) ज्ञान के विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहित्व की उपपत्ति के लिए आवश्यक है कि नील का नीलत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध से (विशेषणतावच्छदेकावच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध से) ही भेद में अन्वय मानें। एवं च यदि नीलत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध से नील का भेद में अन्वय करेंगे तो नीलपटपरक नीलपदघटित नीलो घटः में अभेद प्रकारक बोध की आपत्ति होगी ही।

यहाँ एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि अभाव ज्ञान सदा विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही ही नहीं होता उपलक्षितवैशिष्ट्यावगाही भी होता है। जैसे "रक्तदण्डो नास्ति" इस अभाव ज्ञान में रक्तत्व रूप उपलक्षण का अभाव में सम्बन्ध प्रतीत नहीं हो रहा है अपितु मात्र दण्ड रूप प्रतियोगी में ही। इसलिए यह अभावज्ञान उपलक्षित वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान ही है। इसीलिए भट्टाचार्य ने अभाव ज्ञानं विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि एव भवति ऐसा न कहकर विशिष्टवैशिष्ट्यबोध मर्यादां नातिशेते ऐसा कहा है इसका अर्थ यह निकला कि अभाव की प्रतीति के समय अभाव के विशेषण (प्रतियोगी) में विशेषण रूप से भासित होने वाले धर्म का सम्बन्ध

भी यदि अभाव में भासित हो और प्रतियोगी का सम्बन्ध तो भासित हो ही तो ऐसे अभाव ज्ञान को विशिष्टवैशिष्टयावगाही ज्ञान कहते हैं और उस अभाव में प्रतियोगी का सम्बन्ध विशेषणतावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगिता ही होती है। ऐसे स्थल में विशेष्ये विशेषणम् तत्रापि विशेषणम् इस रीति से; प्रतियोगी में भासित होने वाले धर्म के सम्बन्ध का, भान कोई नहीं मानता अपितु स्वावच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध से ही। इस प्रकार नीलो घटः में अभेद को विभक्त्यर्थ मानकर उसे प्रकार मानने में नीलपटपरक नीलपद घटित नीलो घटः इस वाक्य से अभेद प्रकारक बोध की आपत्ति रह ही गयी।

सत्यम्; अभेदस्तादात्म्यम्। तच्च स्ववृत्यसाधारणो धर्मः। असाधारण्यं च एकमात्रवृत्तित्वम्। तच्च स्वसामानाधिकरण्य-स्वप्रतियोगिवृत्तित्वोभयसम्बन्धेन भेदविशिष्टं यत्तदन्यत्वम् इत्येकमात्रवृत्तिधर्म एव विशेषणविभक्तेरर्थः। वृत्तिश्च तत्र प्रकृत्यर्थस्य संसर्गमर्यादया भासते, तादृशधर्मस्तत्तद्व्यक्तित्वादिरूप एव। अपूर्वव्यक्तिनिष्ठतादृशधर्मस्य विशिष्य ज्ञातुमशक्यत्वेऽप्येकमात्रवृत्तिधर्मत्वादिना सामान्यप्रत्यासत्तितः सुग्रहत्वमेव।

भट्टाचार्य ने "अभेद एव वा विशेषण विभक्तेरर्थः यह कहकर अभेद को पूर्व में प्रकार माना है। मध्य में अभेद को प्रकार मानने में कई दोष भी दिखाए और अन्त में उस दोष को उन्होंने स्वीकार करते हुए कहा कि अभेद का अर्थ यदि भेद और अभाव मानें तथा भेद में नील पदार्थ का तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध से अन्वय मानें तो उपर्युक्त नीलप्रकारक भेद विशेष्यकज्ञान विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ज्ञान नहीं हो पाएगा। यह बात सत्य है। परन्तु अभेद का अर्थ है तादात्म्य और तादात्म्य है स्व = अर्थात् नील घट व्यक्ति, में रहने वाला असाधारण धर्म। इस पर जिज्ञासा होती है कि स्व में रहने वाले धर्म को किस आधार पर असाधारण धर्म कहेंगे अर्थात् धर्म में असाधारणता क्या है? क्योंकि जब तक असाधारणता का ज्ञान नहीं होगा तब तक कौन सा धर्म असाधारण धर्म है? इसका ज्ञान नहीं हो पाएगा। इसलिए भट्टाचार्य धर्म में असाधारण्य क्या है? इस बात को असाधारण्यं च से कह रहे हैं। जिसका तात्पर्य यह है कि असाधारण्य का अर्थ है एकमात्र में वृत्ति =अर्थात् रहना। तात्पर्य यह है जो धर्म एक व्यक्तिमात्र में रहे उस धर्म को असाधारण धर्म कहेंगे। पुनः जिज्ञासा होगी कि एकमात्र में वृत्ति होने का तात्पर्य क्या है? तो इसको कहते हैं - स्व सामानाधिकरण्य तथा स्वप्रतियोगिवृत्तित्व इन दोनों सम्बन्धों से जो भेद विशिष्ट है, उससे अन्य होना ही उस धर्म का एकमात्र वृत्तित्व है। तात्पर्य यह है कि जो भेद के अधिकरण में भी रहे और भेद के प्रतियोगी के अधिकरण में भी रहे उसे कहेंगें भेद विशिष्ट, उस भेद विशिष्ट से अन्य धर्म ही एकमात्र वृत्तिधर्म

है, और वही एकमात्र वृत्तिधर्म = तद्व्यक्तित्व, विशेषणविभक्तिका अर्थ है। जैसे स्व= पद से यदि नीलघट व्यक्ति के भेद को लेते हैं तो उसका अधिकरण होगा जो नील घट व्यक्ति से भिन्न है, ऐसा अधिकरण हम द्रव्यत्व को पकड़ सकते हैं। एवं च वही द्रव्यत्व नीलघट व्यक्ति के भेद का प्रतियोगी जो नीलघटव्यक्ति है उसमें भी रहता है। इस प्रकार द्रव्यत्व नीलघट व्यक्ति के भेद के अधिकरण में भी रहने वाला धर्म है और नीलघटव्यक्तिभेद के प्रतियोगी के अधिकरण में भी रहने वाला है। अतः स्वसामानाधिकरण्य स्वप्रतियोगिवृत्तित्व इन दोनों सम्बन्धों से नीलघट व्यक्ति भेद से विशिष्ट हो गया द्रव्यत्व उस द्रव्यत्व से भिन्न है नीलघट व्यक्ति में रहने वाला तद्व्यक्तित्व। यही तद्व्यक्तित्व नीलपदोत्तर सुविभक्ति का अर्थ है जिसे अभेद कहा जाता है। इस तरह उपर्युकत स्वसामानाधिकरण्य तथा स्वप्रतियोगिवृत्तित्व सम्बन्ध से तद्व्यक्तित्व को छोड़कर सभी घटत्व आदि धर्म भेद विशिष्ट ही होंगे। जैसे - स्वपद से यदि नीलघटव्यक्ति भेद को पकड़ते हैं तो उसका अधिकरण उस नीलघट व्यक्ति से भिन्न कोई दूसरा नीलघट व्यक्ति होगा वहाँ घटत्व रहता ही है, इस प्रकार तन्नील घट व्यक्ति भेद सामानाधिकरण्य घटत्व में आ गया। इसी प्रकार तन्नीलघट व्यक्ति भेद का प्रतियोगी होगा तन्नीलघट व्यक्ति; घटत्व उसमें भी रहता ही है तो घटत्व भी भेद विशिष्ट ही हो गया। इसी प्रकार उस नील घट व्यक्ति में रहने वाला नीलत्व (नीलरूप) भी भेदविशिष्ट ही होगा। मोटी भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि विशेषण में रहने वाला जो भी धर्म विशेषणीभूत व्यक्तिसे भिन्न में भी रहेगा वह असाधारण धर्म नहीं कहलाएगा। नीलत्व भी उस नीलघट व्यक्ति के अलावा दूसरे नीलघट नीलपट में रहता है अतः वह असाधारण धर्म नहीं कहलाएगा।

परन्तु उस नीलघट व्यक्ति में रहने वाला तद्व्यक्तित्व उपर्युक्त उभय सम्बन्ध से भेद विशिष्ट नहीं है। क्योंकि स्व = अर्थात् तन्नीलघटव्यक्तिभेद उसका अधिकरण होगा उस घट से भिन्न कोई दूसरा घटपटादि उसमें स्वपद से गृहीत नीलघट व्यक्ति में रहने वाला तद्व्यक्तित्व नहीं रहेगा उसमें रहने वाला तद्व्यक्तित्व तो उसी स्वपदगृहीत नीलघटव्यक्ति में ही केवल रहेगा। इस प्रकार तद्व्यक्तित्व में तन्नीलघटव्यक्तिभेदसामानाधिकरण्य नहीं गया भले ही उसमें उपर्युक्त भेद के प्रतियोगि तन्नीलघटव्यक्ति में वृत्तित्व रूप एक सम्बन्ध रह जाए। परन्तु दोनों सम्बन्धों के नहीं रहने से उभय सम्बन्ध से तन्नीलघट व्यक्ति भेद से तद्व्यक्तित्वविशिष्ट नहीं हुआ तो विशिष्टान्यत्व तद्व्यक्तित्व में रह गया। इस प्रकार तन्नीलघटव्यक्ति (नीलपदोपस्थाप्य) में रहने वाला तद्व्यक्तित्व ही एकमात्र वृत्ति धर्म रूप उसमें रहने वाला असाधारण धर्म है। यही तद्व्यक्तित्व रूप असाधारण धर्म विशेषण विभक्ति का अर्थ अर्थात् अभेद है। इस नीलपदोत्तर सु विभक्त्यर्थ तद्व्यक्तित्व रूप असाधारण धर्म में प्रकृत्यर्थ नील पदार्थ का आधेयता सम्बन्ध से अन्वय होता है। यह आधेयता सम्बन्ध चूंकि प्रकृत्यर्थ रूप पदार्थ का प्रत्ययार्थ

रूप पदार्थ में होने वाला सम्बन्ध है। अतः यह आकाँक्षाभास्य है। इस प्रकार नीलो घटः में नीलनिष्ठतद्व्यक्तित्ववान् घटः" इस प्रकार का शाब्दबोध होगा। अब यहाँ प्रश्न यह उठेगा कि यदि अभेद का अर्थ तद्व्यक्तित्व मानेंगे और चूँकि वह तद्व्यक्तित्व विशेषणविभक्त्यर्थ होने के कारण प्रकार है तो उसका ज्ञान होना शाब्दबोध के लिए आवश्यक है। परन्तु नीलो घटो भविष्यति यहाँ पर विशेषणीभूत अपूर्वनीलघट व्यक्ति में रहने वाले तद्व्यक्तित्व का ज्ञान तो किसी भी प्रकार से संभव नहीं, तो पुनः शाब्दबोध में उसका भान न हो पाने से अभेद प्रकारक शाब्दबोध उपर्युक्त स्थल में कैसे हो पाएगा? तात्पर्य यहाँ यह है कि अभेद को तद्व्यक्तित्व मान लेने से नीलपटपरकनीलपदघटित नीलोघटः में तो अभेदप्रकारकबोधापत्ति नहीं रही। क्योंकि जो तद्व्यक्तित्व नीलपदोपस्थाप्य नीलपट व्यक्ति में है, वह तद्व्यक्तित्व रूप अभेद नीलघट में नहीं रहेगा। परन्तु अपूर्वव्यक्ति का अभेद = तद्व्यक्तित्व प्रकारक बोध कैसे हो पाएगा? इस प्रश्न का समाधान भट्टाचार्य करते हैं कि - यद्यपि विशेषणीभूत अपूर्व व्यक्ति में रहने वाले तद्व्यक्तित्व का भान तद्व्यक्तित्वेन रूपेण तो नहीं हो सकता परन्तु उस तद्व्यक्तित्व का ज्ञान "एकव्यक्तिमात्रवृत्ति धर्मत्वेन" रूपेण सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष से हो सकता है। तात्पर्य यह है कि नीलो घटोभविष्यति में नीलपदोपस्थाप्य नीलव्यक्ति चूँकि उपस्थित नहीं है। अतः उसमें रहने वाला तद्व्यक्तित्व का भान तद्व्यक्तित्वेन (विशेष रूप से) नहीं हो सकता, परन्तु एकव्यक्तिमात्रवृत्तिधर्मत्वेन रूपेण उसका भान सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति से संभव है। क्योंकि जो घट व्यक्ति या अन्य कोई व्यक्ति वहाँ पर उपस्थित है उसमें भी रहने वाले तद्व्यक्तित्व में एक मात्रव्यक्तिवृत्तिधर्मत्व तो है ही और वहाँ पर तद्व्यक्तित्व का भान एकमात्रवृत्तिधर्मत्वेन तो हो ही रहा है तो वही एकमात्रवृत्तिधर्मत्व सामान्य (जाति) नामक संसर्ग बनेगा और यह एकमात्रवृत्ति धर्मत्व रूप संसर्ग (प्रत्यासत्ति) अनुपस्थित तद्व्यक्तित्व में भी रहता है। अतः इस "एकमात्रवृत्तिधर्मत्व रूप सामान्यलक्षणासन्निकर्ष से अनुपस्थित तद्व्यक्तित्व भी सम्बद्ध होने से शाब्दबोध में भासित हो ही सकता है। कोई दोष नहीं है। तात्पर्य यह है कि - जैसे कहा जाता है कि "सभी मनुष्य मरणशील है"। यहाँ पर कहने वाले व्यक्ति ने संसार में जितने भी मनुष्य हैं सभी को तो देखा नहीं देख सकता भी नहीं है, तथापि कहता है सभी मनुष्य मरणशील हैं। जब तक उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन उद्देश्य का ज्ञान न हो तब तक विधेय का अन्वय उसमें कैसे हो सकता है। अतः वहाँ यह माना जाता है कि जिन मनुष्यों को वह व्यक्ति देखता है उनमें रहने वाले मनुष्यत्व का भी ज्ञान उसे चक्षु से ही हो जाता है, तत्पश्चात् चक्षु द्वारा ज्ञात वह मनुष्यत्व ही सन्निकर्ष बन जाता है और उस मनुष्यत्व रूप सामान्य प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) से जो सम्बद्ध होते हैं उन सभी की उपस्थिति (ज्ञान) वक्ता को वहाँ होता है, उपर्युक्त मनुष्यत्व रूप सामान्य नामक सन्निकर्ष से सभी मनुष्य सम्बद्ध हैं, क्योंकि मनुष्यत्व सभी मनुष्यों में रहता

है। इस प्रकार उद्देश्यतावच्छेदक मनुष्यत्वेन रूपेण सभी मनुष्य की उपस्थिति हो जाने से उसमें मरणशीलत्व रूप विधेय का अन्वय (कथन) उपपन्न होता है। वैसे ही प्रकृत में भी तद्व्यक्तित्व सभी तद्व्यक्ति में रहने वाला धर्म है और सभी में रहने वाला तद्व्यक्तिथ्व एकमात्र वृत्तिधर्म है यह बात ऊपर बतायी जा चुकी है। तो जो तद्व्यक्ति सामने उपस्थित है उसमें रहने वाले तद्व्यक्तित्व का ज्ञान भी एकमात्रवृत्तिधर्मत्वेन हो ही रहा है। इस प्रकार उपस्थित तद्व्यक्तित्व में ज्ञात एकमात्रवृत्तिधर्मत्व सामान्य नामक प्रत्यासत्ति कहलाएगा। अव इस एकमात्रवृत्तिधर्मत्व रूप प्रत्यासत्ति से जो भी सम्वद्ध होगा उन सभी की उपस्थिति होगी तो, अनुपस्थित तद्व्यक्ति में रहने वाला तद्व्यक्तित्व भी उस एकमात्रवृत्तिधर्मत्व रूप सामान्यप्रत्यासत्तिं से सम्बद्ध ही है क्योंकि अनुपस्थित तद्व्यक्तित्व भी तो एकमात्र वृत्तिधर्म ही है। इस प्रकार अनुपस्थित तद्व्यक्तित्व की भी उपस्थिति हो ही सकती है। अतः अभेद का अर्थ तद्व्यक्तित्व मानने में कोई आपत्ति नहीं।

भट्टाचार्य अभेद को संसर्ग मानने वाले को कहते हैं कि -

अभेदस्य संसर्गतामतेऽप्येतादृशानुगताभेदस्यैव तथात्वमुचितम्। तत्तद् व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभावकूटस्य विशिष्य तथात्वे "घटो न नीलः" इत्यादिवाक्यजन्यबोधे "प्रतियोग्यभावान्वयौच तुल्ययोगक्षेमौ" इतिन्यायेन तादृशाननुगतसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाननुगताभावा एव भासेरन् न तु नीलवृत्तिरेकोऽभावः, तथा सति यत् किंचित् तादृशाभावतात्पर्येणप्रयुक्तस्य नीलेऽपि "न नीलः इत्यादिवाक्यस्य प्रामाण्यं स्यात्।"

जो लोग नीलो घटः स्थल में प्रतीत होने वाले अभेद को संसर्ग मानते हैं उन्हें भी अभेद को; इस अनुगत एकमात्रवृत्तिधर्मत्व रूपेण, तद्व्यक्तित्व रूप में ही संसर्ग मानना चाहिए। क्योंकि यदि एकमात्रवृत्तिधर्मत्वेन अर्थात् भेदविशष्टान्यत्व रूप में अनुगत तद्व्यक्तित्व को अभेदसंसर्ग नहीं मानेंगे और तत् तद् व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेदाभाव कूट को अभेद संसर्ग का स्वरूप मानेंगे तो "घटो न नीलः" इस वाक्य से होने वाले ज्ञान में "प्रतियोग्यभावान्वयौ तुल्ययोगक्षेमौ" इस न्याय के अनुसार अननुगतसम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाले अननुगत अभाव ही भासित होंगे, न कि नीलघट में एक अभाव। क्योंकि वैसा मानने पर जिस किसी एक नीलाभाव के तात्पर्य से नीले घट में भी "न नीलः" ऐसा वाक्य प्रयुक्त हो सकता है और उस वाक्य में भी प्रामाण्य मानना पड़ेगा।

भट्टाचार्य जी के कथन का तात्पर्य यह है कि अभेद को भले ही संसर्ग मानो परन्तु उसका स्वरूप अनुगत मानो और वह अनुगत स्वरूप है एकमात्र वृत्तिधर्मत्वेन तद्व्यक्तित्व, न कि तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकभेदाभावत्व। क्योंकि तद्व्यक्तित्वत्वेन तद्व्यक्तित्व अननुगत धर्म है क्योंकि वह तद्व्यक्ति में रहता है। तद्व्यक्ति तो अननुगत वस्तु है। अतः उस अननुगत तद्व्यक्ति में

रहने वाला तद्व्यक्तित्व भी तद्व्यक्तित्वत्वेन रूपेण अननुगत ही है। हाँ वह तद्व्यक्तित्व चूँकि एकमात्र व्यक्ति में रहता है, अतः एकमात्रवृत्तिधर्मत्वेन चूँकि सभी तद्व्यक्तित्व में रहता है। अतः एकमात्रवृत्तिधर्मत्वेन रूपेण तद्व्यक्तित्व का भी अनुगम हो सकता है। अतः इसी एकमात्रवृत्तिधर्मत्वरूप में जो कि अनुगत रूप है तद्व्यक्तित्व को अभेद का स्वरूप मानकर उसे सम्बन्ध मानना चाहिए। अन्यथा तद्व्यक्तित्वेन तद्व्यक्तित्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदाभाव को यदि अभेद सम्बन्ध का स्वरूप मानोगे तो घटो न नीलः यहाँ पर अननुगत (अनन्त) अभाव का भासित होना मानना पड़ेगा। क्योंकि नियम है कि - प्रतियोगी और अभाव का अन्वय (सम्बन्ध) तुल्य योगक्षेम वाले होते हैं। यद्यपि इस न्याय का तात्पर्य भट्टाचार्य स्वयं आगे "येन संबधेन यत्र धर्मिणि इत्यादि ग्रन्थ से बताएँगे। तथापि यहाँ के ग्रन्थ का भावावबोध के लिए यहीं उसका तात्पर्य वर्णन आवश्यक. मानकर लिखा जा रहा है। उपर्युक्त प्रतियोग्यभाव न्याय का तात्पर्य यह है - नञ् पद के नहीं रहते जिन पदों के समभिव्याहार से - जिस रूप में जिस धर्मी में जिस सम्बन्ध से जिसकी सत्ता प्रतीत होती है, नञ् पद के प्रयोग होने पर उन्हीं समभिव्याहृत पदों से उसी रूप में, उसी धर्मी में, उसी सम्बन्ध से, अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाला उसी का अभाव प्रतीत होता है जैसे "घटवद्भूतल" यहाँ पर नञ् का प्रयोग नहीं है तो नञ् के बिना घटवद् और भूतल पद के समभिव्याहार के कारण भूतल में, संयोग सम्बन्ध से घटत्वेन रूपेण घट की सत्ता प्रतीत होती है। अतः उसी समभिव्याहृत पदों को जब नञ् के साथ बोलेंगे "भूतलं न घटवद्" तो उसी भूतल में संयोग सम्बन्ध से = अर्थात् संयोग संम्बन्धावच्छिन्न, घटत्वेन रूपेण = अर्थात् घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता वाला घट का अभाव प्रतीत होगा। ऐसी स्थिति में यदि नञ् रहित नीलो घटः इस समभिव्याहृत पदों से घट में, तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदाभाव (अभेद) सम्बन्ध से नील की सत्ता मानोगे तो नञ् सहित "घटो न नीलः" इस समभिव्याहृत पदों से भी घट में, तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदाभाव सम्बन्ध से, अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाला नीलाभाव का भासित होना मानना पड़ेगा। यदि कहो ऐसा मान लेते हैं, क्या आपत्ति है मानने में तो ऐसा मानने में? आपत्ति यह है कि प्रतियोगी के भेद से या प्रतियोगितावच्छेदक के भेद से अभाव भिन्न माने जाते हैं। यहाँ जो नील रूप प्रतियोगी का नञर्थ अभाव में प्रतियोगिता सम्बन्ध है उस प्रतियोगिता का अवच्छेदक सम्बन्ध है "तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाभाव"। इस सम्बन्ध के कुक्षि में पड़ा हुआ जो भेद है, उस भेद की प्रतियोगिता का अवच्छेदक है तद्व्यक्तित्व, जो अननुगत धर्म है। इस प्रकार तद्व्यक्तित्व रूप अवच्छेदक के अननुगत होने से, उससे अवच्छिन्न प्रतियोगिताक भेद भी अननुगत होगा और जव सम्बन्ध कुक्षि में प्रविष्ट भेद अननुगत होगा तो उसका अभाव भी अननुगत हो गया। इस प्रकार पूरा का पूरा "तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेदाभाव

(अभेद) सम्बन्ध अननुगत हो गया। इस अननुगत सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाला नील का अभाव भी अननुगत ही होगा जो कि घट में भासित होगा। इसी को मूल में कहा - अननुगतसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताका : - अननुगता अभावा भासेरन्। इस प्रकार "घटो न नीलः" इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध में घट में अननुगत (अनन्त) नीलाभाव का भासित होना मानना पड़ेगा, न कि एक नीलाभाव। यदि कहो नीलो न घटः कहने से यदि घट में अननुगत (अनन्त) नीलाभाव की प्रतीति होती है तो होने दो इससे हानि क्या है? तो इस पर भट्टाचार्य ने कहा तथासति इत्यादि। जिसका तात्पर्य यह है कि यदि नीलो न घटः कहने से अननुगत नीलाभाव की प्रतीति होना मान लोगे तो जहाँ पर घट नील ही है वहाँ पर भी नीलो न घटः इस वाक्य का प्रयोग कोई कर सकता है और उस वाक्य को आपको प्रामाणिक भी मानना पड़ेगा। क्योंकि आपने यह मान लिया है कि घटो न नीलः कहने से अननुगत नीलाभाव की प्रतीति होती है तो जहाँ पर नीलघट है वहाँ पर भी उन अननुगत नीलाभावों में से कोई न कोई नील का अभाव तो रहता ही है जिसको बताने के लिए "घटो न नीलः" इस वाक्य का प्रयोग उस व्यक्ति ने किया और इस वाक्य से उस यत् किञ्चित् नीलाभाव की प्रतीति वहाँ पर माननी पड़ेगी। इस तरह वह वाक्य प्रामाणिक वाक्य कहलाने लगेगा। अतः अभेद सम्बन्ध का स्वरूप अननुगत तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदाभाव न मानकर, अनुगतएकमात्रवृत्तिधर्मत्वेन रूपेण तद्व्यक्तित्व रूप तादात्म्य को मानो। जब अनुगत तद्व्यकतित्व को अभेद सम्बन्ध मानते हैं तो नीलो घटः में जैसे एक व्यक्ति मात्र धर्मत्वेन रूपेण अभेद सम्बन्ध से नील की सत्ता घट में प्रतीत होगी वैसे ही घटो न नीलः इस वाक्य से भी उपर्युक्त अनुगत रूप में अभेद सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अनुगत एक नीलाभाव की ही प्रतीति होगी तो नील घट के रहने पर नीलो न घटः इस वाक्य का प्रयोग नहीं होगा।

इदं तु बोध्यम् - विशेषणविभक्तेरभेदार्थकत्वे घटो न नीलः इत्यादौ नञा नीलाद्यभेदाभाव एव प्रत्याययिष्यते न तु नीलादिभेदः, यादृशसमभिव्याहारस्थले येन सम्बन्धेन यत्र धर्मिणि येन रूपेण यद्वत्त्वं नञसत्त्वे प्रतीयते तादृशस्थले नञा तद्धर्मिणितादृशसम्बन्धावच्छिन्नतादृशधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकतदभावबोधस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात्। प्रतियोग्यभावान्वयौ चेत्यादेरप्ययमेवार्थः। एवं च नञो भेदबोधकत्वं न कुत्रापि संभवतिअनीलं घटमानय इत्यादौ घटपदसामानाधिकरण्यानुरोधेनाअनीलपदस्य नीलभिन्नपरतया नञो भेदवत्येव लक्षणाया उपगन्तव्यत्वात्। इदं त्वत्रावधेयम् - अभेदस्य प्रकारतामतेऽपि घटो न

नीलः" इत्यादिवाक्यस्य नीलाभेदाभावबोधकत्वेऽपि तृतीयाभावस्य प्रतियोगिस्वरुपतया नञो भेदबोधकत्वं नानुपपन्नं परंतु भेदत्वप्रकारेण भेदबोधो न वेत्यन्यदेतत्, इदं तु तत्त्वम् - नीलो घटः इत्याद्यसमासस्थलेऽभेदस्य संसर्गतोपगमेऽपि गौरवविरहात् तत्र विशेषण विभक्तेर्वृत्तिकल्पनमनुचितम्।

भट्टाचार्य जी ने "अभेद को तादात्म्यस्वरूप या तद्व्यक्तित्व स्वरूप मानकर उसका भान संसर्गविधया अथवा प्रकार विधया मानने में कोई दोष नहीं है" यह बात सिद्ध कर दी।

अब इदं तु बोध्यम् इस ग्रन्थ से अभेदार्थ विवेचन का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि - यदि अभेद को विशेषण विभक्ति का अर्थ मानोगे तो घटो न नीलः इत्यादि नञ् घटित वाक्यों में नञ् के द्वारा नीलादि अभेदाभाव ही बोधित होगा, न कि नीलभेद। क्योंकि यह नियम है कि जिन पदों के समभिव्याहार में नञ् के नहीं रहने पर जिस सम्बन्ध से, जिस धर्मी में, जिस रूप से जिसकी सत्ता प्रतीत होती है, उसी समभिव्याहार स्थल में नञ् का प्रयोग होने पर नञ् के द्वारा उसी धर्मी में, उसी सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाले उसी रूप से उसका अभाव बोधित होता है, यह बात व्युत्पित्त सिद्ध है और यही प्रतियोग्यभावान्वयौ तुल्ययोगक्षेमौ इस न्याय का भी अर्थ है। उदाहरण द्वारा इस न्याय के अर्थ का स्पष्टीकरण पहले किया जा चुका है। इस प्रकार नञ् के द्वारा भेद का बोध कहीं पर भी संभव नहीं होगा। अनीलं घटमानय यहाँ पर भी घट पद के सामानाधिकरण्य के अनुरोध से नञ् की भेदवान् में ही लक्षणा मानी जाती है।

उपर्युक्त ग्रन्थ का तात्पर्य यह है कि यदि अभेद को विशेषण विभक्ति का अर्थ मानकर उसे प्रकार (विशेषण) मानेंगे तो इसका अर्थ यह होगा कि घटो नीलः में अभेद रूप विशेषण की आधेयता सम्बन्ध से घट में सत्ता, आप मान रहे हैं तो प्रतियोग्यभावान्वयौ इस न्याय के अनुसार घटो न नीलः इस नञ् घटित वाक्य में भी नञ् पद के द्वारा उसी सम्बन्ध से अभेद रूप विशेषण का अभाव घट में बोधित होगा। इसका अर्थ यह निकला कि नञ् के द्वारा अभेदाभाव ही सर्वत्र बोधित होगा, भेद कहीं भी नहीं। तात्पर्य यह है कि नञ् - भेद का अर्थात्. अन्योन्याभाव का बोधक है यह बात सर्वविदित है और अन्योन्यभाव का अनुयोगी तथा प्रतियोगी वाचक पद दोनों समान विभक्तिक ही होते हैं, जहाँ अनुयोगीवाचक पद तथा प्रतियोगी वाचक पद समान विभक्तिक होते हैं वहीं नञ् के द्वारा अन्योन्याभाव का बोध होना माना जाता है। दूसरी ओर अनुयोगी (विशेष्य) तथा प्रतियोगी (विशेषण) वाचक पद यदि नञ् रहित हों तो वहाँ पर आप विशेषण विभक्ति का अर्थ सर्वत्र अभेद मानते हैं। इसका अर्थ तो यही निकला कि नञ् के द्वारा सर्वत्र अभेद का अभाव ही बोधित होगा, भेद का कहीं नहीं, जबकि

नञ् को भेद बोधक माना जाता है। यदि कहें अनीलं घटम् यहाँ पर समास की कुक्षि में प्रविष्ट नञ्; भेद का बोध कराएगा तो नहीं कह सकते। क्योंकि वहाँ पर घट पद के साहचर्य से नील पद का अर्थ नीलभिन्न है। अतः वहाँ पर नञ् पद अपने स्वार्थ (भेद) का परित्याग कर (नील) भेदवान् अर्थ को लक्षणया बोधित कराता है। इस प्रकार यह बात सिद्ध हुई कि अभेद को प्रकार मानने में नञ् के द्वारा भेद का बोधन संभव नहीं है अपितु अभेदाभाव का ही सर्वत्र बोध होगा। भट्टाचार्य आगे इदं त्वत्रावधेयम् के द्वारा यह कहते हैं कि अभेद को प्रकार मानने में नञ् के द्वारा भेद का बोध होगा ही नहीं यह तो नहीं कहा जा सकता। क्योंकि तीसरा अभाव प्रतियोगिस्वरूप होता है। जैसे घटाभावाभावाभाव = घटाभाव स्वरूप होता है उसी प्रकार अभेद = अर्थात् भेदाभाव का अभाव भी भेद स्वरूप ही होगा तो नञ् यदि भेदाभावाभाव का ही बोध करायेगा तो भेद का बोधक तो वह हो ही गया। इस प्रकार नञ् में भेद बोधकत्व तो उपपन्न हो गया। परन्तु यह बात अलग है कि नञ् भेद का बोध भेदत्वप्रकारेण अर्थात् भेदत्वेन कराता है या भेदाभावभावत्वेन। तात्पर्य यह निकला कि नञ् भेदत्वेन भेद का बोध नहीं करा सकेगा हाँ भेदाभावाभावत्वेन भले हीं करावे। भट्टाचार्य अन्त में प्रकारतावाद तथा संसर्गतावाद का निष्कर्ष कहते हैं कि इदं तु तत्त्वम्। वास्तविक बात तो यह है कि नीलो घटः इस असमासस्थल में भी (जहाँ कि अभेद को प्रकार माना जा सकता है) अभेद को संसर्ग मानने में उसे आकाँक्षाभास्य मानने में कोई गौरव नहीं है। अतः उस अभेद में विशेषण विभक्ति की शक्ति की कल्पना करना गौरवग्रस्त होने से अनुचित ही हैं। अतः उसे प्रकार नहीं मानना चाहिए अपितु उसका संसर्गतया ही भान मानने में लाघव है क्योंकि अभेद बोध के लिए अतिरिक्त शक्ति की कल्पना नहीं करनी पड़ती है।इस प्रकार यहाँ तक अभेदार्थ या अभेद के स्वरूप का निर्वचन सम्पूर्ण हुआ। अब आगे अभेद को प्रकार मानने या संसर्ग मानने में लाघव - गौरव का विचार कर रहे हैं।

न च यत्राभेदे विशेषणविभक्तेः शक्तिभ्रमः स्वारसिकलक्षणाग्रहो वा तत्र सर्वमते एवाऽभेदप्रकारकबोधस्य नीलोघटः इत्यादिवाक्यादुत्पत्तया तादृशसमभिव्याहारज्ञानस्य द्विविधबोधे हेतुताद्वयं कल्पनीयमभेदस्य संसर्गतावादिनेतिगौरवम्।

एवं तादृशसमभिव्याहारज्ञानघटितसामग्र्या भिन्नयोग्यताज्ञान-घटितत्वेन द्वैविध्यमिति भिन्नविषयकप्रत्यक्षादिकं प्रति तादृशशाब्द-सामग्रीप्रतिबन्धकताया अप्याधिक्यमिति वाच्यम् संसर्गतावादिनोक्तस्थलेऽपि तत्संसर्गक बोधस्यैवोपगमादिति दिक्।

ऊपर भट्टाचार्य जी नेअभेद को संसर्ग मानने में ही लाघव है यह बात कही है। इस पर प्रकारतावादी प्रश्न करता है कि जिस पुरूष को विशेषण विभक्ति

की शक्ति अभेद में है ऐसा भ्रम हो जाए अथवा तात्पर्यानुपपत्तिमूलक स्वारसिकलक्षणाग्रह हो ऐसे स्थल में नीलो घटः इस वाक्य से अभेद प्रकारक ही शाब्दबोध होता है " यह सर्वसम्मत है। इस प्रकार "नीलो घटः" इस समभिव्याहार (आकाँक्षा) ज्ञान में अभेद प्रकारक तथा अभेद संसर्गक दो प्रकार के शाब्दबोध की दो कारणता माननी पड़ेगी संसर्गतावादी को। तात्पर्य यह है कि - जो लोग नीलो घटः इस समभिव्याहारज्ञान से अभेद संसर्गक शाब्दबोध होता है, ऐसा मानते हैं उनके मत में -अभेद संसर्गकशाब्दबोध की कारणता "नीलो घटः" इस समभिव्याहार ज्ञान में तो पहले से ही स्वीकृत है इस प्रकार अभेद संसर्गकशाब्दबोध की एककारणता उपर्युक्त समभिव्याहार ज्ञान में रहती है। परन्तु इसके साथ ही यदि नीलपदोत्तर सुविभक्ति की शक्ति अभेद में है। यह भ्रम या अभेद अर्थ में इस विशेषण विभक्ति की स्वारक्षिकलक्षणा हो जाए तो इसका अर्थ हुआ कि तब अभेद प्रकारतया ही शाब्दबोध में भासित होगा। इसलिए ऐसी स्थिति में नीलो घटः इस समभिव्याहार ज्ञान से अभेद प्रकारक शाब्दबोध का होना सभी मानते हैं। तो इस प्रकार अभेद प्रकारक शाब्दबोध की दूसरी कारणता भी नीलो घटः इस समभिव्याहार ज्ञान में माननी पड़ेगी। जबकि यदि अभेद को प्रकार मानें तो भ्रम तथा प्रमा दोनों ही स्थिति में अभेद प्रकारक शाब्दबोध ही होने से मात्र एक ही अभेदप्रकारक शाब्दबोध की कारणता उपर्युक्तसमभिव्याहार ज्ञान में माननी पड़ेगी इस तरह चूँकि अभेद को प्रकार मानने में ही लाघव होने से अभेद को प्रकार ही मानना चाहिए। प्रकारतावादी आगे कहता है कि अभेद को संसर्ग मानने से दो प्रकार के शाब्दबोध की दो कारणता ही केवल उपर्युक्त समभिव्याहार ज्ञान में नहीं माननी पड़ेगी (अपितु प्रत्यक्ष सामग्री की प्रतिबन्धकता भी दो माननी पड़ेगी।) तात्पर्य यह है कि -यद्यपि प्रथमान्त नीलपदसमभिव्याहृत प्रथमान्त घटपदत्व रूप समभिव्याहार के एक होने से उपर्युक्त समभिव्याहार ज्ञान एक ही प्रतीत होता है। परन्तु ऊपर बताये गये दो प्रकार के शाब्दबोध के अनुसार भिन्न-भिन्न दो प्रकार के योग्यता ज्ञान रूप सामग्री से घटित (युक्त) होने के कारण उपर्युक्त नीलो घटः इस समभिव्याहार का ज्ञान भी दो प्रकार का हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि यदि प्रत्यक्ष का विषय और शाब्दबोध का विषय भिन्न न हो तब तो प्रत्यक्ष की सामग्री ही बलवती होने से शाब्दसामग्री की प्रतिबन्धिका होती है। परन्तु यदि प्रत्यक्ष का विषय भिन्न हो और शाब्दबोध का विषय भिन्न, तब शाब्दबोध की सामग्री ही प्रबल होने से प्रत्यक्ष सामग्री की प्रतिबन्धिका होती है। यह वस्तु स्थिति है। अब यह कल्पना कीजिये कि "नीलो घटः" यह समभिव्याहार ज्ञान जो कि शाब्दबोध की सामग्री है किसी भिन्नविषयक प्रत्यक्षसामग्री की प्रतिबन्धिका है, तो इस नीलो घटः समभिव्याहार ज्ञान में रहने वाली प्रतिबन्धकता भी दो माननी पड़ेगी संसर्गतावादी को। क्योंकि ऊपर बता चुके हैं कि उपर्युक्त नीलो घट इस असमास समभिव्याहार ज्ञान से एक प्रमात्मक नीलाभिन्नो घटः ऐसा

अभेद संसर्गक शाब्दबोध होता है और दूसरा भ्रमात्मक या लाक्षणिक नीलनिष्ठ अभेदवान् घटः इस प्रकार का अभेद प्रकारक शाब्दबोध (संसर्गतावादियों के मत में)। इस प्रकार शाब्दबोध के द्वैविध्य के कारण यह भी मानना पड़ेगा कि नीलो घटः इस समभिव्याहार में अभेद संसर्गक शाब्दबोध की भी योग्यता है और अभेद प्रकारक शाब्दबोध की भी योग्यता है। इस प्रकार प्रथमान्त नील पदाव्यहितोत्तर प्रथमान्त घटपदत्व रूप एक ही समभिव्याहार का ज्ञान रूप शाब्दबोध की सामग्री; दो प्रकार के योग्यता ज्ञान रूप दो सामग्री से घटित होने के कारण दो मानी जाएगी। इसी को मूल में कहा "भिन्न योग्यता ज्ञान घटितत्वेन तादृशसमभिव्याहार ज्ञान घटित सामग्रया द्वैविध्यम्"। इस प्रकार अभेद संसर्गक तथा अभेद प्रकारक दो भिन्न योग्यता ज्ञान से घटित होने के कारण उपर्युक्त समभिव्याहार ज्ञान रूप शाब्दबोध सामग्री के भी दो हो जाने से उनमें रहने वाली प्रत्यक्षसामग्री की प्रतिबन्धकता भी संसर्गतावादियों को दो माननी पड़ेगी। प्रकारतावादी के मत में तो एक ही अभेद प्रकारक योग्यता ज्ञान से घटित होने के कारण उपर्युक्त समभिव्याहार रूप शाब्दबोध की सामग्री एक ही होगी तो उसमें एक ही प्रतिबन्धकता माननी पड़ेगी।इस तरह अभेद को प्रकार मानने में ही लाघव है तो उसे प्रकार ही क्यों नहीं मानते?

गदाधर भट्टाचार्य प्रकारतावादी की उपर्युक्त आशंका का समाधान करते हुएकहते हैं कि जहाँ विशेषण विभक्ति में अभेद शक्तिभ्रम या स्वारसिकलक्षणाग्रह भी होता है वहाँ भी अभेदसंसर्गक ही बोध होता है।

"स्तोकं पचति" "मृदु पचति" इत्यादौ विरूद्धविभक्त्यवरूद्धपदोपस्थापितस्यापि स्तोकमृद्वादेर्धात्वर्थपाकादावभेदान्वयोऽपि व्युत्पत्तिसिद्धः। तदनुरोधेन च "द्वितीयान्तपद धातुपदयोःसमभिव्योहारस्याप्यभेदान्वयबोधौपयिकाऽऽकाँक्षात्वमुपगम्यते, क्रियाविशेषणस्थले च नं द्वितीयातिरिक्तविभक्तिरुत्पद्यते "क्रियाविशेषणानां क्लीबत्वं कर्मत्वञ्च इत्यनुशासनेन तत्र कर्मत्वातिदेशात्।

इससे पूर्व सुबन्त विशेष्य विशेषणवाचक पदों के रहने पर समास तथा व्यास स्थल में अभेदान्वय बोध केलिए दो प्रकार की (नीलो घटः तथा नीलघटः इत्यादि) समभिव्याहार रूप आकाँक्षा का ज्ञान कारण होता है यह बताया गया। अब प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वारा जहाँ विशेषणवाचक पंद तो सुबन्त हो और विशेष्यवाचक पद तिङन्त हो वहाँ भी अभेदान्वय बोध जो होता है उसके लिए उपयोगी आकाँक्षा का स्वरूप बताते हैं।

ग्रन्थ का तात्पर्य यह है कि "स्तोकं पचति" "मृदु पचति" इत्यादि स्थलों में जहाँ कि विशेषणवाचक स्तोक पद तथा मृदु पद, विशेष्यवाचक तिङन्त = पचति पद की ति विभक्ति से विरूद्ध = अम् विभक्ति से अवरूद्ध है; ऐसे

विरूद्ध विभक्ति से अवरूद्ध विशेषणवाचक स्तोकं तथा मृदु पद के द्वारा उपस्थापित स्तोक तथा मृदु अर्थ (विशेषण) का अभेद सम्बन्ध से धात्वर्थ पाक में अन्वय होता है। इस प्रकार ऐसे स्थल में स्तोकाभिन्नः पाकः मृद्वभिन्नः पाकः ऐसा अभेदान्वय बोध होना व्युत्पत्ति सिद्ध (अनुभव सिद्ध) है। अतः इस व्युत्पत्ति सिद्ध शाब्दबोध रूप कार्य को देखते हुए ऐसे (तिङन्त) स्थलों के लिए अभेदान्वय बोधोपयोगी आकाँक्षा ज्ञान की कल्पना करेंगे - सुबन्तपदार्थप्रकारक अभेद संसर्गक धात्वर्थविशेष्यक" शाब्दबोध के लिए "द्वितीयान्तपद तथा धातु पद का" समभिव्याहार ही आकाँक्षा है और यही आकाँक्षा ज्ञान तादृश शाब्दबोध में उपयोगी कारण है। अब यहाँ जिज्ञासा यह हो सकती है कि आकाँक्षा के स्वरूप में द्वितीयान्त पद विशेषकर देने की क्या आवश्यकता थी? सामान्य रूप से - सुबन्त पद तथा धातु पद के समभिव्याहार को ही आकाँक्षा का स्वरूप मान लेते। इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि "क्रिया विशेषणानां क्लीबत्वं कर्मत्वञ्च" (अर्थात् क्रिया के विशेषण नपुंसक लिङ्ग तथा कर्म ही होते हैं) इस अनुशासन के द्वारा क्रिया के विशेषण में क्लीबत्व तथा कर्मत्व का अतिदेश होने से धात्वर्थ के विशेषण को कहने वाले पद के आगे द्वितीया के अतिरिक्त कोई अन्य विभक्ति चूंकि आती ही नहीं। अतः हमने अभेदौपयिक उपर्युक्त आकाँक्षा के स्वरूप में द्वितीयान्त पद का विशेषकर निवेश किया है। स्तोकं पचति में स्तोक रूप विशेषण का वाचक स्तोकपद के आगे द्वितीया विभक्ति है ही। अतः स्तोकरूप पदार्थ (विशेषण) का पच् धात्वर्थ पाक में अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है। क्योंकि - अभेदान्वय बोधौपयिक द्वितीयान्त स्तोकं पद तथा पच् धातु का समभिव्याहार है ही। इसी प्रकार मृदु पचति में भी।

न चैवं स्तोकः पाकः इत्यादावपि द्वितीयाप्रसङ्गः तत्रापि स्तोकादेः क्रियायामेव विशेषणत्वात्, भावकृतां प्रयोगसाधुत्वमात्रार्थकतया धातुनैव पाकादिप्रतिपादनादिति वाच्यम्, क्रियापदस्य तत्रसार्थकप्रत्ययान्तधातूपस्थाप्यार्थपरत्वात्। स्तोकं स्थीयते "इत्यादावाख्यातस्यापि वर्तमानत्वार्थकतया सार्थकत्वात्। न च वर्तमानत्वाद्यविवक्षायां द्वितीयानुपपत्तिरितिवाच्यम्, वर्तमानत्वादिविवक्षास्थल इवार्थबोधस्वरूपयोग्यताप्रयोजिकाकाँक्षाशालित्वेनैव तदविवक्षास्थलेऽपि भावाख्यातस्यार्थवत्वात्।

यदि क्रिया विशेषणानां क्लीबत्वं कर्मत्वम् इस अनुशासन के आधार पर क्रियाविशेषणवाचक पदों से द्वितीया विभक्ति ही केवल आती है ऐसा माना जाये तो स्तोकः पाकः यहाँ पर भी स्तोक तो पच् धात्वर्थ पाक में ही विशेषण है। अतः यहाँ पर भी स्तोक पद के आगे द्वितीया विभक्ति ही आनी चाहिए थी प्रथमा का प्रयोग कैसे किया जाता है? यदि कहें प्रकृत्यर्थ-प्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव

प्राधान्यम् इस नियमानुसार पाकः में कृत् प्रत्ययार्थ पाक में ही स्तोक विशेषण है, न कि धात्वर्थ में। इसलिए धात्वर्थ क्रिया में विशेषण न होने के कारण स्तोकः प्रयोग हुआ है द्वितीयान्त नहीं, तो ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि भाव में आये कृत् प्रत्यय केवल प्रयोग के साधुत्व के लिए ही आते हैं, उनका कोई अर्थ नहीं होता है। अतः स्तोकः पाकः में विशेष्य रूप से भासित होने वाला पाक, पच् धातु का अर्थ है कृत प्रत्यय का नहीं। इस प्रकार यहाँ भी धात्वर्थ पाक में स्तोक के विशेषण होने से स्तोक पद के आगे द्वितीया विभक्ति आने का प्रसङ्ग तो है ही। भट्टाचार्य पूर्व पक्षी के इस आक्षेप का समाधान करते हुए कहते हैं कि क्रिया विशेषणानां क्लीबत्वं कर्मत्वं च इस नियम के स्वरूप में आये क्रियापद का तात्पर्य सार्थकप्रत्ययान्तधातु के अर्थ क्रिया में है। अर्थात् जिस धातु के आगे सार्थक प्रत्यय आये हों, उस धातु का अर्थ जो क्रिया, उस क्रिया में जो विशेषण होता है वही नपुंसक तथा कर्म कहलाता है। स्तोकः पाकः में जो पच् धातु है वह सार्थक प्रत्ययान्त नहीं है यहाँ तो भाव में कृत् (घञ्) प्रत्यय आया है और वह कृत् प्रत्यय प्रयोग साधुत्व मात्र के लिए आया है यह तो आपने स्वयं कहा है। इस प्रकार यहाँ का कृत् (घञ्) प्रत्यय निरर्थक ही है। अतः इस निरर्थक घञ् प्रत्ययान्त पच् धातु से उपस्थाप्य क्रिया में स्तोक के विशेषण होने पर भी उसमें कर्मत्व का अतिदेश नहीं होने से द्वितीया नहीं आती है।

पूर्व पक्षी इस पर पुनः प्रश्न कर सकता है कि - यदि सार्थक प्रत्ययान्त धात्वर्थ क्रिया के विशेषण में ही कर्मत्व का अतिदेश होता है भावप्रत्ययान्त में नहीं, तो पुनः "स्तोकं स्थीयते" यहाँ पर भी तो स्थीयते में स्था धातु से आया ते प्रत्यय भाव में ही आया है तो इस भावप्रत्ययान्त स्थाधात्वर्थ = गतिनिवृत्ति में विशषणीभूत स्तोकवाचक स्तोक पद में कर्मत्व का अतिदेश कैसे किया जाता है जिससे यहाँ द्वितीया विभक्ति आयी है? भट्टाचार्य इस प्रश्न का समाधान "स्तोकं स्थीयते" इत्यादि के द्वारा देते हैं। जिसका तात्पर्य यह है कि स्थीयते भाव प्रत्ययान्त भले ही होवे, परन्तु वह निरर्थक नहीं है। अपितु यहाँ "ते" प्रत्यय के द्वारा वर्तमानकाल रूप अर्थ उपस्थापित होता है। अतः यहाँ का स्था धातु चूँकि वर्तमानकाल रूप अर्थ का प्रतिपादन करने वाले सार्थक "ते" प्रत्ययान्त है। अतः इसके अर्थ में विशेषणीभूत स्तोकपदार्थ वाचक स्तोक पद द्वितीयान्त है।

पूर्वपक्षी पुनः प्रश्न करता है कि - यदि स्थीयते मेंआये "ते" प्रत्यय के द्वारा वर्तमानकाल रूप अर्थ विवक्षित न हो, तब तो "स्थीयते" निरर्थक प्रत्ययान्त ही होगा ऐसी स्थिति में तो उस निरर्थक ते प्रत्ययान्त स्था धातु के अर्थ में विशेषणीभूत स्तोक में कर्मत्वाति देश नहीं होगा और द्वितीया विभक्ति नहीं आनी चाहिए? इस प्रश्न का समाधान भट्टाचार्य यंह कहते हुए करते हैं कि - स्थीयते के ते में वर्तमानत्व की अविवक्षा कर देने मात्र से वह निरर्थक प्रत्ययान्त नहीं

हो सकता क्योंकि स्था धातु तथा उसके अव्यवहित उत्तर में विद्यमान भावार्थ में ते प्रत्यय रूप प्रकृति प्रत्यय समभिव्याहार में सम्प्रति भले ही वर्तमानत्व कीअविवक्षा कर दें, परन्तु उस समभिव्याहार में वर्तमानकाल विशिष्ट गति निवृत्ति रूप अर्थ का बोध कराने की स्वरूप योग्यता रूप कारणता रहने के कारण, जैसे वर्तमानकाल की विवक्षा रहने पर स्तोकं स्थीयते इस समभिव्याहार रूप आकाँक्षा से युक्त होने के कारण स्थीयते का ते अर्थवान् माना जाता है, वैसे ही वर्तमान काल रूप अर्थ की अविवक्षा रहने पर भी वर्तमान काल रूप अर्थ बोध के लिए उपयोगी "स्तोकं स्थीयते" इस समभिव्याहार से युक्त होने के कारण "ते" अर्थवान् ही है निरर्थक नहीं। अतः स्तोकं स्थीयते में स्था धातु के सार्थक प्रत्यायान्त होने के कारण तदुपस्थाप्य क्रिया के विशेषणीभूत स्तोक अर्थ में कर्मत्व का अतिदेश होने से उसके वाचक स्तोक पद से द्वितीया विभक्ति आती है।

केचित्तु धातोरिव घञन्तस्यापि पाकादौ शक्तिरुपेयते, अन्यथा सुब्विभक्त्यर्थ संख्याकर्मत्वादीनां तत्र पाकादावन्वयानुपपत्तेः, "प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वं प्रत्ययानाम्" इति व्युत्पत्तेः, धातूनां च सुब्विभक्त्यप्रकृतित्वात्। प्रकृत्येकदेशार्थेऽपि प्रत्ययार्थान्वयोपगमे, पचन्तं पश्यति, इत्यादितः "पचमानं पश्यति" इत्यादितश्च पाकादौ द्वितीयाद्यर्थकर्मत्वाद्यन्वयबोधप्रसङ्गात्।

ऊपर भाव में विहित प्रत्यय को जो प्रयोगसाधुत्वमात्र के लिए माना गया है। उस पर केचित्तु इत्यादि ग्रन्थ से प्रश्न किया जा रहा है। इस केचित्तु का सम्बन्ध आगे आने वाले "वदन्ति" के साथ है। अतः वहाँ तक का ग्रन्थ पूर्वपक्षाभिप्राय से है। अस्तु। आक्षेप का तात्पर्य यह है कि जैसे पच् धातु की शक्ति पाक अर्थ में मानी जाती है, वैसे ही घञन्त "पाक" शब्द की भी शक्ति पाक अर्थ में मानी जाती है। अन्यथा यदि घञन्त "पाक" शब्द की शक्ति पाक अर्थ में नहीं मानेंगे तो पाकः पाकम् इत्यादि स्थलों में सु प्रत्यय का अर्थ एकत्व संख्या अथवा अम् प्रत्यय के अर्थ कर्मत्व का अन्वय पाक में नहीं हो पाएगा। जबकि नियम यह है कि - प्रकृत्यर्थ से अन्वित प्रत्ययार्थ का ही बोध प्रत्यय कराते हैं, प्रकृत्यर्थ से अनन्वित केवल प्रत्ययार्थ का नहीं। ऐसी स्थिति में पाकः पाकम् में पाक पदोत्तर आयी सु विभक्ति (प्रत्यय) प्रकृतिभूत पाक पद के अर्थ पाक में अन्वित ही अपने संख्या या कर्मत्व आदि अर्थ का प्रतिपादन कर सकते हैं। तब यदि पाक रूप अर्थ घञन्त पाक शब्द का नहीं मानेंगे तो, पाक प्रकृत्यर्थ नहीं कहलाएगां क्योंकि सु, अम् प्रत्यय का प्रकृति तो घञन्त पाक ही है। पच् धातु तो सुप (सु या अम्) की प्रकृति है नहीं, हो भी नहीं सकती। तो पाक जब प्रकृत्यर्थ नहीं कहलाएगा तो उसके साथ प्रत्ययार्थ = संख्या कर्मत्व आदि का अन्वय भी नहीं हो पाएगा। क्योंकि प्रत्ययार्थ का अन्वय तो प्रकृत्यर्थ में ही

होता है। इस प्रकार संख्या या कर्मत्व आदि प्रत्ययार्थ, प्रकृत्यर्थ से यदि अनन्वित हो गये तो उनका बोधक सु अम् आदि प्रत्यय नहीं कहलाएंगें। यह आपत्ति आएगी। इस पर कोई कहता है कि - घञन्तं "पाक" पद की शक्ति यदि पाक अर्थ में नहीं है तो क्या हुआ? सु या अम् प्रत्यय की प्रकृतिभूत जो घञन्त पाक शब्द है, उसके एकदेश = पच् धातु के अर्थ पाक में प्रत्ययार्थ संख्या कर्मत्व आदि का अन्वय होना मान लेंगें। अर्थात् प्रकृत्यर्थान्वित स्वार्थबोधकत्वं प्रत्ययानाम् की तरह प्रकृत्येकदेशार्थान्वितस्वार्थबोधकत्व भी प्रत्ययों में मान लेंगे। इस प्रकार सु अम् आदि प्रत्ययों में स्वार्थबोधकत्व उपपन्न हो जाएगा। इसके लिए घञन्त पाक में पाक अर्थ की शक्ति मानने की क्या आवश्यकता? इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि यदि प्रकृति के एकदेश के अर्थ में भी प्रत्ययार्थ का अन्वय होना मान लिया जाए तो पचन्तं पश्यति, पचमानं पश्यति यहाँ भी अम् प्रत्यय की प्रकृतिभूत जो, शतृ प्रत्ययान्त "पचत्" तथा शानच् प्रत्ययान्त "पचमान" शब्द है, उसके एकदेश = पंच् धातु, के अर्थ पाक में ही अम् प्रत्ययार्थ = कर्मत्व का अन्वय बोध होने लगेगा अर्थात् पचन्तं पश्यति पचमानं पश्यति का अर्थ " पाक को देखता है" ऐसा होने लगेगा, जबकि ऐसा अर्थ उपर्युक्त वाक्यों का होता नहीं है। उपर्युक्त पचन्तं पश्यति तथा पचमानं पश्यति का अर्थ तो "पकाते हुए (पुरूष को) देखता है" ऐसा होता है। अतः प्रकृति के एक देश के अर्थ में प्रत्ययार्थ का अन्वय नहीं माना जा सकता अपितु प्रकृत्यर्थ में। अतः घञन्त पाक पद की ही शक्ति पाक में माननी चाहिए।

एकत्र विशेषणत्वेनोपस्थितस्यान्यत्र विशेषणत्वेनान्वयस्याव्युत्पन्नतया, तत्र प्रत्ययार्थविशेषणपाकादेर्न कर्मत्वे विशेषणतयाऽन्वय इति चेत्? तथापि पाकादिविशेषणतया सुबर्थसंख्यायाःअन्वयसंभवात्, यत्र पाककर्त्रादेर्द्वित्वादिकं बाधितं पाकादेश्च तदबाधितं तत्र पचन्तौ पश्यति" "पचमानौ पश्यति" इत्यादिप्रयोगप्रसङ्गस्य दुर्व्वारत्वात्। धातूपस्थाप्यार्थे सुबर्थान्वयबोधं प्रति तत् तद्धातूत्तर प्रत्ययधर्मिककिञ्चिदर्थपरत्वज्ञानस्य प्रतिबन्धकतामुपगम्य, एतादृशातिप्रसङ्गवारणे च गौरवात्। एवम् शोभनं पचनम् इत्यादौ धातुमात्रेण पाकाद्युपस्थितौ च तत्र शोभनाद्यभेदान्वय बोधानुपपत्तिः - विशेषणविभक्तिसजातीयविभक्तिप्रकृत्यनुपस्थाप्यत्वात्।

ऊपर प्रकृत्येकदेशार्थ में प्रत्ययार्थ का अन्वय मानने पर पचन्तं पश्यति तथा पचमानं पश्यति में दोष दिया था कि यहाँ पर भी कर्मत्व का अन्वय प्रकृत्येकदेशार्थ पाक में होने से दर्शन क्रिया का कर्म पाककर्ता न होकर पाक होने लगेगा। इस आपत्ति का वारण करते हुए कोई कहता है कि - एकत्रविशेषणत्वेन इत्यादि। तात्पर्य यह है कि - "जो पदार्थ कहीं पर विशेषण रूप में अन्वित हो चुका है, वही पदार्थ पुनः दूसरे पदार्थ में विशेषण रूप में अन्वित नहीं होता",

ऐसा नियम है व्युत्पत्ति है। ऐसी स्थिति में - पचन्तं या पचमानम् में पच् धात्वर्थपाक, शतृ प्रत्यय तथा शानच् प्रत्यय के अर्थ = कर्ता में जब एक बार विशेषणत्वेन अन्वित हो चुका तो पुनः वही पच् धात्वर्थ पाक अम् प्रत्ययार्थ कर्मत्व में विशेषण कैसे होगा? अर्थात् नहीं होगा, और जब पाक कर्मत्व का विशेषण नहीं होगा तो आपने जो आपत्ति दी थी वह भी नहीं हो सकती। पूर्वपक्षी समाधाता से कहता है कि - अच्छा भाई! पच् धात्वर्थ पाक भले ही कर्मत्व में विशेषण रूप में अन्वित नहीं हो सकता क्योंकि वह अन्यत्र कर्ता अर्थ में विशेषण बन चुका है, परन्तु पच् धात्वर्थ पाक में तो अम् प्रत्ययार्थ संख्या विशेषण बन ही सकती है। क्योंकि यह अम् प्रत्ययार्थ संख्या न तो कहीं अन्यत्र विशेषणत्वेन अन्वित है और न ही पाक में उसके अन्वित होने में कोई बाधा ही है। क्योंकि आपने प्रकृत्येकदेशार्थ में भी प्रत्ययार्थ का अन्वय होना स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में जहाँ पर पाक के कर्ता में द्वित्व बाधित है और धात्वर्थ पाक में अबाधित अर्थात् जहाँ पाक तो दो हो रहा है परन्तु दोनों पाक करने वाला पुरूष एक ही है, वहाँ पर भी पचन्तौ पश्यति पचमानौ पश्यति इस प्रकार के वाक्य के प्रयोग का प्रसङ्ग तो दुर्वार ही हो जाएगा। क्योंकि आपने प्रत्ययार्थ का अन्वय प्रकृति के एकदेश के अर्थ में होना अभ्युपगम किया है तो पचन्तौ पश्यति या पचमानौ पश्यति यहाँ पर पचन्तौ तथा पचमानौ में आयी द्वितीया विभक्ति औ (ट्) के अर्थ द्वित्व संख्या का भी अन्वय, इस औ विभक्ति की प्रकृति भूत पचत् तथा पचमान के एकदेश पच् धातु के अर्थ पाक में हो ही सकता है। क्योंकि पाक दो हो रहा है। अतः उसमें द्वित्व का अन्वय होने में कोई बाधा तो नही।

यदि पाक के दो तथा पाककर्ता के एक रहने पर पचन्तौ पश्यति या पचमानो पश्यति इन वाक्यों के प्रयोग की आपत्ति का वारण करने के लिए आप "धातु से उपस्थाप्य अर्थ में, सुबर्थ का अन्वय होने में, उन-उन धातु के आगे आये प्रत्ययों में किञ्चिदर्थपरत्व का ज्ञान होना प्रतिबन्धक हैं ऐसा मानें तो इस प्रकार की प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भाव की कल्पना करने में गौरव दोष आएगा। उपर्युक्त प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभाव का तात्पर्य यह है कि - जिस धातु के अर्थ में आप सुबर्थ = संख्या, कर्मत्व आदि का अन्वय करना चाहते हैं, उस धातु के आगे आये प्रत्ययों के विषय में यदि किञ्दिर्थपरत्व ज्ञान होगा अर्थात् "उस धातु के आगे आये हुए प्रत्यय का कोई अर्थ है" ऐसा ज्ञान यदि हो गया तो यह ज्ञान उस धातु के अर्थ में सुप् प्रत्ययार्थ संख्या कर्मत्व आदि का अन्वय होने में प्रतिबन्धक हो जाएगा अर्थात वहाँ पर धात्वर्थ में संख्या का अन्वय नहीं हो पाएगा। प्रकृत में पचन्तौ या पचमानौ में औ प्रत्यय के अर्थ द्वित्व संख्या का अन्वय पच् धात्वर्थ पाक में करके आपने आपत्ति दी है, जो अब आप नहीं दे सकते। क्योंकि यहाँ पर पच् धातु के आगे आए हुए शतृ प्रत्यय तथा शानच् प्रत्यय कर्ता अर्थ को कह रहे हैं। अतः इन प्रत्ययों के विषय में - कर्तृ रूप

अर्थ परत्व का ज्ञान है अर्थात् ये दोनों प्रत्यय कर्ता रूप अर्थ परक हैं इस बात का ज्ञान है और यही तो "शतृशानच् प्रत्यय धर्मिक किञ्चदर्थपरत्व ज्ञान" धात्वर्थ पाक में सुबर्थ संख्या का अन्वय होने में प्रतिबन्धक होगा तो धात्वर्थ में संख्या का अन्वय होगा ही नहीं। आप आपत्ति कैसे दे सकते हैं? पूर्वपक्षी कहता है कि इस प्रकार प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव की कल्पना करने में गौरव आयेगा। अतः पूरे घञन्त "पाक" पद में ही पाक की शक्ति मानो धातु मात्र में नहीं क्योंकि भावप्रत्ययान्त पाक में यदि शक्ति नहीं मानोगे तो एक तो दोष ऊपर बताया ही जा चुका है कि सुबर्थ का अन्वय प्रकृत्यर्थ में नहीं हो पाएगा दूसरा दोष यह होगा कि शोभनं पचनम् इत्यादि भावल्युडन्त "पचन" में भी आप पच् धातु का ही अर्थ पाक मानेंगें तो उस धात्वर्थ पाक में शोभन पदार्थ का अभेदान्वय नहीं हो पाएगा, क्योंकि पहले यह बात बतायी जा चुकी है कि विशेषण वाचक पद की विभक्ति तथा विशेष्य वाचक पद की विभक्ति समान होनी चाहिए अर्थात् विशेषण वाचक पद के आगे आयी हुई विभक्ति की सजातीय विभक्ति की प्रकृतिभूत जो पद, (अर्थात् विशेष्य वाचक पद) उसके द्वारा उपस्थापित अर्थ में ही विशेषण का अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है। शोभनं पचनम् में तो विशेषणवाचक शोभनपदोत्तर आयी सु विभक्ति की सजातीय जो पचन पदोत्तर सु विभक्ति है उसकी प्रकृतिभूत "पचन" पद के द्वारा तो पाक रूप अर्थ की उपस्थिति आप मानते ही नहीं आप, तो पच् धातु के द्वारा पाक अर्थ की उपस्थिति मान रहे हैं। इस प्रकार शोभन रूपविशेषण का जिस पाक अर्थ में अभेद सम्बन्ध से अन्वय होना है वह सु प्रत्यय की प्रकृति द्वारा उपस्थापित अर्थ नहीं है और जिस पच् धातु के द्वारा पाकरूप अर्थ उपस्थित हो रहा है वह सुविभक्ति की प्रकृति नहीं है। अतः पाकरूप अर्थ चूँकि विशेषणवाचक शोभन पदोत्तर आयी सुविभक्ति की सजातीय पचन पदोत्तर सुविभक्ति की प्रकृतिभूत पद के द्वारा उपस्थापित नहीं होगा तो उसमें शोभन पदार्थ का अभेद सम्बन्ध से अन्वय नहीं हो पाएगा। इसलिए भी "पचन" इस पूरे ल्युडन्त (भाव प्रत्ययान्त) की ही शक्ति पाक अर्थ में माननी चाहिए। तब सजातीय सु विभक्ति के प्रकृतिभूत पचनपदोपस्थाप्य होने के कारण पाक अर्थ में शोभन पदार्थ का अन्वय भी उपपन्न हो जाएगा।

प्रकृत्येकदेशसाधारणतादृशविभक्तिप्रकृतित्वस्य प्रयोजकत्वे तत्र ल्युडादेरधिकरणपरत्वेऽपि तथाविधान्वयबोधापत्तेः। कस्यचित् प्रतिबन्धकतां कल्पयित्वा तद्वारणे च गौरवात्।

शोभनं पचनम् में अभेदान्वय बोध की उपपत्ति के लिए उपयोगी विशेषण पदोत्तरविभक्तिसजातीयविभक्तिप्रकृत्युपस्थाप्य रूप आकाँक्षा के स्वरूप में आयी प्रकृति शब्द की व्याख्या ऐसी करें जिससे प्रकृति तथा उसके एकदेश में भी प्रकृतित्व रह जाए। जैसे स्वनिष्ठविधेयता निरूपित उद्देश्यतावत्पदत्वम्" तो स्व से लेंगें विशेषण पदोत्तर विभक्ति सजातीय विभक्ति को (पचन पदोत्तर सु विभक्ति

को) उसमें रहने वाली विधेयता से निरूपित उद्देश्यता जैसे पचन पद में है, वैसे ही पचन के एकदेश पच् धातु रूप पद में भी है तो तादृशउद्देश्यतावत् पद = पच् पद भी है ही। इस प्रकार पच् धातु भी पचन पदोत्तर आयी सु विभक्ति कि प्रकृति कहलाएगा तो तदुपस्थाप्य होने के कारण "पाक" में शोभन रूप विशेषण का अभेदान्वय हो जाएगा। कोई आपत्ति नहीं होगी। इस पर पूर्व पक्षी कहता है कि - यदि प्रकृतित्व की ऐसी व्याख्या करें जिससे विभक्ति से अव्यवहितपूर्व में विद्यमान पद तथा उसका एक भाग दोनों ही प्रकृति कहलाएँगे, तब तो जहाँ पर पच् धातु से अधिकरण अर्थ में "ल्युट्" प्रत्यय होगा वहाँ भी पचन के आगे आने वाली सु विभक्ति की प्रकृति पचन तथा उसका एकदेश पच् धातु दोनों कहलाएँगे तो ऐसे अधिकरण अर्थ में विहित ल्युट् प्रत्ययान्त पचन पद घटित शोभनं पचनम् वाक्य से होने वाले शाब्दबोध में भी शोभन पदार्थ का अभेद सम्बन्ध पच् धात्वर्थ पाक में होने लगेगा। क्योंकि वह पाक तादृश सजातीय विभक्ति की प्रकृति से उपस्थापित हुआ है। इस प्रकार शोभनाभिन्नः यः पाकः तदधिकरणम् ऐसा अनिष्ट शाब्दबोध होने लगेगा। जबकि वहाँ शोभन पदार्थ का पाकाधिकरण में अभेद अन्वय विवक्षित है। अतः प्रत्ययान्त "पचन" ही सु प्रत्यय की प्रकृति मानी जाती है न कि तद्घटक पच् धातु। इस प्रकार भावार्थक ल्युडन्त पचन ही सु प्रत्यय की प्रकृति कहलाएगी, पाक रूप अर्थ को यदि तदुपस्थाप्य नहीं मानोगे तो अभेद बोध की अनुपपत्ति रह ही जाएगी।

यदि अधिकरण अर्थ में विहित ल्युट् प्रत्ययान्त पचन पद घटक पच् धातु के अर्थ पाक में शोभन पदार्थ का अभेदान्वयवारण के लिए पूर्व की तरह यहाँ भी किसी ज्ञान में प्रतिबन्धकता की कल्पना करें। जैसे "धात्वर्थ में द्वितीयान्त भिन्न सुपप्रत्ययान्त के अभेद अन्वय होने में, उस धातु से अव्यवहित उत्तर में विद्यमान प्रत्यय के विषय में "किञ्चिदर्थपरत्वज्ञान" अर्थात् यह प्रत्यय अमुक अर्थ में है इस बात का ज्ञान", प्रतिबन्धक होता है। ऐसे प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभाव की कल्पना करें, तो अधिकरण अर्थ में विहित ल्युट् प्रत्ययान्त पचनपदघटक पच् धातु के अर्थ पाक में पदार्थान्तर शोभन पदार्थ का अभेदान्वय का वारण तो हो जाएगा। क्योंकि जिस पच् धात्वर्थ में शोभन रूप पदार्थान्तर के अन्वय की आपत्ति दी जा रही है, उस धातु के अव्यवहित उत्तर में विद्यमान ल्युट् प्रत्यय धर्मिककिञ्चिदर्थपरत्व ज्ञान अर्थात् "ल्युट् प्रत्यय अधिकरण अर्थपरक है इस बात का ज्ञान तो है ही तो यह ल्युट्प्रत्यय धर्मिक किञ्चिदर्थपरत्वज्ञान उस धात्वर्थ में शोभन रूप पदार्थान्तर के अन्वय होने में प्रतिबन्धक हो जाएगा तो उसका (शोभन पदार्थ का) पाक में अन्वय नहीं हो पाएगा। परन्तु इस प्रकार की प्रतिबन्धकता की कल्पना करने में गौरव दोष होगा।

न चैवम् - उपकुम्भार्धपिप्पल्यादिरूपपूर्वपदार्थप्रधानसमासपदात् कुम्भसमीप पिप्पल्यर्धादौ विभक्त्यर्थान्वयस्य प्रातिपदिकान्तरार्थाभेदान्वयस्य

चानुपपत्तिः, पूर्वपदस्य समासोत्तरविभक्त्यप्रकृतित्वादिति वाच्यम्, तदनुरोधेनैव तत्र कुम्भपिप्पल्यादिपदानामेव कुम्भसमीपपिप्पल्यर्धादौ लक्षणायाः पूर्वपदस्य तात्पर्यग्रहमात्रोपयोगितायाश्च स्वीकारात्।

पूर्व पक्षी के उपर्युक्त उत्तर से असंतुष्ट होते हुए कोई कहता है कि यदि प्रकृति के एकदेश के अर्थ में पदार्थान्तर का अन्वय नहीं होगा, तो पुनः उपकुम्भम् तथा अर्धपिप्पली इन स्थलों पर भी जहाँ कि पूर्व पदार्थ प्रधान वाला अव्ययी भाव समास हुआ है उपकुम्भ के अर्थ कुम्भसमीप, तथा अर्धपिप्ली के अर्थ पिप्पली का आधा में भी विभक्त्यर्थ का अन्वय तथा दूसरे पदार्थ के अभेद सम्बन्ध का अन्वय अनुपपन्न हो जाएगा क्योंकि सुबर्थ संख्या का जिस सामीप्य या अर्ध में अन्वय करना है अथवा पदार्थान्तर का अन्वय करना है, वे दोनों सामीप्य तथा अर्ध, उप तथा अर्ध पद के अर्थ हैं जो समास में पूर्वपद हैं और वे पूर्वपद सुप् प्रत्यय की प्रकृति नहीं है। तात्पर्य यह है कि - उपकुम्भम् में सुबर्थ एकत्व संख्या का अन्वय उपकुम्भ शब्द के अर्थ कुम्भ समीप के घटक समीप में होता है इसी प्रकार शोभनमुपकुम्भम् यहाँ भी शोभन पदार्थ का (पदार्थान्तर, का) अभेद सम्बन्ध से उपकुम्भ शब्दार्थ = कुम्भ समीप के घटक समीप में होता है अर्थात् कुम्भ की समीपता को शोभन बताना वक्ता का अभीष्ट है इसी प्रकार अर्धपिप्पली में अर्धपिप्पली शब्द का अर्थ पिप्पल्यर्ध है उसके एक भाग "अर्ध" में अर्धपिप्पलीपदोत्तर आयी सु विभक्ति के अर्थ एकत्व संख्या का अन्वय होता है, इसी तरह शोभना अर्धपिप्पली यहाँ भी शोभन पदार्थ का अन्वय अर्धपिप्पली शब्द के अर्थ पिप्पल्यर्ध के एक देश "अर्ध" में अभेद सम्बन्ध से करना वक्ता को अभीष्ट है। जो कि आपके मतानुसार नहीं हो पाएगा; क्योंकि उपकुम्भम् तथा अर्धपिप्पली पूर्व पदार्थ प्रधान समास होने के कारण जिन प्रधान अर्थों में (सामीप्य तथा अर्ध में) विभक्त्यर्थ का या पदार्थान्तर का अन्वय होना है वे दोनों पूर्वपद के अर्थ हैं जो कि विभक्ति की प्रकृति नहीं है विभक्ति की प्रकृति तो उपकुम्भ है तथा अर्धपिप्पली यह समस्त पद है तो उसके एक देश उप तथा अर्ध के द्वारा उपस्थापित सामीप्य तथा अर्ध रूप अर्थ सजातीय विभक्ति प्रकृति के द्वारा उपस्थापित अर्थ नहीं है तो उनमें एकत्व संखया, या शोभन रूप पदार्थान्तर का अन्वय कैसे हो पाएगा। अर्थात् नहीं हो पाएगा। पूर्वपक्षी; प्रश्न करने वाले से कहता है - इसीलिए तो चूँकि एकत्व संख्या तथा शोभन आदि पदार्थान्तर का अन्वय उपर्युक्त पूर्व पदार्थ प्रधान समास में सामीप्य तथा अर्ध में होता है, इस कारण से ऐसे स्थलों में कुम्भ पद की ही लक्षणा से कुम्भसमीप तथा पिप्पली का लक्षणा से पिप्पल्यर्ध अर्थ माना जाता है तथा उपकुम्भम् में उप पद को तथा अर्ध पिप्ली में अर्ध पद को तात्पर्यग्रह कराने मात्र में उपयोगी माना जाता है अर्थात् उप तथा अर्ध पद तात्पर्यग्राहक माने जाते हैं। इस तरह कुम्भसमीप तथा पिप्पल्यर्ध चूँकि सु विभक्ति के प्रकृति उपकुम्भ तथा अर्धपिप्पली के द्वारा उपस्थापित

है, उप या अर्ध के द्वारा नहीं वे दोनों तो तात्पर्य ग्राहक मात्र हैं अतः उनमें पदार्थान्तर का (सुबर्थ संख्या तथा शोभन का) अन्वय हो जाता है।

वस्तुतस्तु तत्रोत्तरपदार्थविशेषितपूर्वपदार्थसमीपार्धादौ प्रत्ययार्थान्वय-बोधे तादृशसमस्तपदप्रत्ययपदयोरव्यवहितपूर्वापरीभावोऽप्याकाँक्षा एवं तत्र प्रातिपदिकान्तरार्थाभेदान्वयबोधे समानविभक्तिकयोस्तादृशसमस्तपद-पदान्तरयोश्च समभिव्याहारोऽप्याकाँक्षा, तथा सति अतिप्रसङ्गविरहात्।

प्रत्ययान्तसमुदाय में शक्ति मानने वाला पूर्वपक्षी वस्तुतः इत्यादि के द्वारा कहता है कि - वस्तुतः उपकुम्भ अर्धपिप्पली आदि पूर्व पदार्थ प्रधान समास स्थल में जहाँ कि उत्तर पदार्थ से विशेषित (विशिष्ट) पूर्व पदार्थ समीप, अर्ध में, यदि प्रत्यार्थ का अन्वय करना हो, तो उसके लिए, उस प्रकार के समस्त पद (पूर्व पदार्थ प्रधान समास से समस्त पद) के अव्यवहित उत्तर में प्रत्यय का रहना, अथवा उस प्रत्यय के अव्यवहित पूर्व में तादृश समस्त पद का होना, इस प्रकार तादृश समस्त पद तथा प्रत्ययों का अव्यवहित पूर्वापरीभाव ही आकाँक्षा है, और इस आकाँक्षा का ज्ञान ही कारण होता है। उपकुम्भम् तथा अर्धपिप्पली में उपकुम्भ तथा अर्ध पिप्पली इस समस्त पद के अव्यवहित उत्तर में सु प्रत्ययत्व रूप आकाँक्षा का ज्ञान हो ही रहा है। अतः वहाँ पर उत्तर पदार्थ कुम्भ तथा पिप्पली से विशेषित पूर्व पदार्थ समीप तथा अर्ध में एकत्व का अन्वय होता है।

इसी प्रकार उपर्युक्त स्थल में उत्तर पदार्थ से विशेषित पूर्व पदार्थ में अन्य प्रतिपादिक के अर्थ का अभेद समबन्ध से यदि अन्वय करना हो तो उसके लिए समान विभक्ति वाले तादृश (पूर्व पदार्थ प्रधान समास से) समस्त पद तथा प्रातिपदिकान्तर का समभिव्याहार ही आकाँक्षा है और इस आकाँक्षा का ज्ञान ही कारण होता है। शोभनम् उपकुम्भम् या शोभना अर्धपिप्पली में उपकुम्भम् तथा अर्ध पिप्पली रूप प्रथमान्त (पूर्वप्रधान समास से) समस्त पद, तथा शोभन रूप प्रथमान्त प्रातिपदिक का समभिव्याहार रूप आकाँक्षा का ज्ञान हो ही रहा है। अतः यहाँ पर शोभन रूप प्रातिपदिकार्थ का; कुम्भ रूप उत्तर पदार्थ से विशेषित "समीप" रूप पूर्व पदार्थ में तथा पिप्पली रूप उत्तर पदार्थ से विशेषित "अर्ध" रूप पूर्व पदार्थ में; अभेद सम्बन्ध से अन्वय बोध होता है। कोई अतिप्रसंङ्ग नहीं।

धात्वर्थपाकादौ प्रत्ययार्थान्वयबोधे, प्रातिपदिकान्तरार्थाभेदान्वयबोधे च, ल्युड्घञाधन्ततसमुदायप्रत्ययोरव्यवहितपूर्वापरीभावस्य; समानविभक्ति-कयोस्तादृश समुदायपदपदान्तरयोः समभिव्याहारस्य च, आकाँक्षात्वोपगमे, दर्शिताधिकरणार्थकल्युट्प्रत्ययस्थलीयातिप्रसङ्गस्य दुरूद्धरतया न तत्सम्भवः।

समुदाय में शक्ति नहीं मानकर धातुमात्र में शक्ति मानने वाले यदि कहें पाकः पाकम् इत्यादि स्थल में धात्वर्थ में प्रत्ययार्थ = संख्या - कर्मत्व आदि का अन्वय के लिए, तथा दूसरे प्रातिपदिक के अर्थ का अभेदान्वय के लिए, ल्युडन्त

या घञन्त (भाव प्रत्ययान्त) समुदाय अर्थात् पाक या पचन इस समुदाय का तथा उसके अव्यवहित उत्तर में प्रत्यय का होना रूप अव्यवहितपूर्वापरीभाव; तथा समान विभक्तिवाले ल्युडन्त या घञन्त समुदाय तथा दूसरे प्रातिपदिक (पद) का समभिव्याहार रूप आकाँक्षा का ज्ञान ही कारण है। तो पूर्व में प्रदर्शित अधिकरणार्थकल्युट्प्रत्ययान्त पचन आदि स्थल में सुबर्थ कर्मत्व के अन्वय तथा प्रातिपदिकान्तरार्थ के अभेदान्वय होने में अतिव्याप्ति दुरुद्धर हो जाएगा। अतः इस प्रकार की आकाँक्षा की कल्पना नहीं कर सकते।

उपर्युक्त ग्रन्थ का तात्पर्य यह है कि धात्वर्थ में प्रत्ययार्थ का अन्वय करने के लिए यदि (भावार्थक) ल्युट् प्रत्ययान्त पचन या (भावार्थक) घञन्त पाक समुदाय तथा उसके अव्यवहित उत्तर में सुप् प्रत्यय का होना ही आकाँक्षा है और यही आकाँक्षा ज्ञान कारण है तो पाकः पचनम् इत्यादि में सुबर्थ संख्या, कर्मत्व का अन्वय धात्वर्थ पाक में हो जाएगा इस प्रकार प्रकृत्यर्थान्वित स्वार्थबोधकत्व उन प्रत्ययों में रह जाएगा। तो इस प्रकार की आकाँक्षा के ज्ञान को, धात्वर्थ में प्रत्ययार्थ के अन्वय होने में कारण नहीं मान सकते। क्योंकि ऐसा मानने पर जब अधिकरण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय होकर पचन शब्द वनता है वहाँ पर भी पचनम् में,ल्युट् प्रत्ययान्त पचन तथा सु प्रत्यय का पूर्वापरीभाव रूप आकाँक्षा का ज्ञान तो होगा ही, तो वहाँ भी सुप्रत्यार्थ कर्मत्व का धात्वर्थ पाक में अन्वय होने लगेगा तो पचनं पश्यति में पाक अधिकरण दर्शन क्रिया का कर्म न होकर पाक ही दर्शन क्रिया का कर्म होने लगेगा। यह अतिप्रसङ्ग दुरुद्धर हो जाएगा। इसी प्रकार धात्वर्थ में पदार्थान्तर का अभेद सम्बन्ध से अन्वय होने के लिए, समान विभक्ति वाले ल्युडन्त घञन्त समुदाय और पदान्तर का होने रूप आकाँक्षा के ज्ञान को यदि कारण माना जाए तो शोभनं पचनम् शोभनः पाकः इत्यादि स्थल में प्रथमान्त ल्युडन्त = पचनम् का तथा प्रथमान्त पदान्तर शोभनम् का एवं प्रथमान्त घञन्त = पाकः का तथा प्रथमान्त पदान्तर शोभनः का समभिव्याहार रूप आकाँक्षा का ज्ञान होने से शोभन पदार्थान्तर का धात्वर्थ पाक में अन्वय हो जाएगा। ऐसा यदि कहो, तो अधिकरणार्थकल्युट् प्रत्ययान्त पचन पद जहाँ प्रथमान्त होगा वहाँ भी प्रथमान्तपदान्तर के अर्थ का शोभनं पचनम् में शोभन पदार्थ का, धात्वर्थ पाक में अभेदान्वय बोध की आपत्ति दुरुद्धर हो जाएगी। अतः उपर्युक्त दो प्रकार के अन्वय के लिए दो प्रकार की आकाँक्षा की कल्पना संभव नहीं

अथ घञन्तसमुदायस्य पाकाद्यर्थकत्वे, घञन्तसमुदायस्य संयोगविभागत्वादिविशिष्टावाचकत्वं व्युत्पाद्य संयोगविभागादिपदानां नैमित्तिकसंज्ञात्वनिराकरणं दीधितिकृतां विरुद्धमिति चेत्? का क्षतिः। नहि कस्यचित् ग्रन्थकृतो विपरीतलेखनं युक्तिबलाद् वस्तुसिद्धौ बाधकम्।

केचितु से प्रारम्भ हुए पूर्वपक्ष का "अथ घञन्तसमुदायस्य" इस ग्रन्थ से उपसंहार करते हुए - पूर्वपक्षी स्वयं प्रश्न उठाते हुए उसका समाधान करने जा

रहा है। - यहाँ प्रश्न का आशय यह है कि केचित्तु ने जो पूर्व ग्रन्थ में घञन्त "पाक" शब्द में ही पाक अर्थ की शक्ति है यह बात युक्ति के आधार पर सिद्ध की है, उसका दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि के ग्रन्थ से विरोध हो रहा है। क्योंकि दीधितिकार ने घञन्त "संयोग" तथा "विभाग" इस समुदाय की शक्ति क्रमशः संयोगत्वावच्छिन्न संयोग में या विभागत्वावच्छिन्न विभाग में नहीं रहती है इस बात कों युक्ति के आधार पर सिद्ध करके, संयोग विभाग आदि पदों के नैमित्तिक संज्ञात्व का खण्डन कर दिया है। दीधितिकार के ग्रन्थ में दी गयी युक्ति का आशय यह है कि - यदि संयोग इस घञन्त समुदाय की शक्ति संयोगत्वावच्छिन्न संयोग अर्थ में मानी जाएगी तो, "संयुज्यते" संयुनक्ति ये समुदाय तो घञन्त नहीं है, तो इस संयुज्यते संयुनक्ति समुदाय से संयोगत्वावच्छिन्न संयोग अर्थ की प्रतीति नहीं होनी चाहिए थी, जवकि वैसी प्रतीति तो होती है। अतः संयुज्यते संयुनक्ति या संयोग सर्वत्र संयोगत्वावच्छिन्नसंयोग अर्थ की प्रतीति को देखते हुए यह मानना चाहिए कि तीनों समुदाय में समान रूप से रहने वाले "युज्" धातु की ही शक्ति संयोगत्वावच्छिन्न संयोग में रहती है। इसी प्रकार "विभज्यते" इस घञ् रहित समुदाय तथा विभाग इस घञन्त समुदाय से भी विभागत्वावच्छिन्न विभाग अर्थ की प्रतीति के अनुरोध से यह मानना चाहिए कि दोनों समुदाय (विभज्यते, विभाग) में रहने वाले "भज्" धातु का अर्थ ही विभागत्वावच्छिन्न विभाग है। इस प्रकार संयोग पद की शक्ति चूँकि संयोगत्व रूप जाति से अवच्छिन्न संयोग अर्थ में नहीं रहती अतः संयोग पद को नैमित्तिक संज्ञा नहीं मानी जा सकती। क्योंकि जात्यवच्छिन्न में संकेत वाली संज्ञा ही नैमित्तिक संज्ञा कहलाती है। इसी प्रकार विभाग रूप घञन्त समुदाय की शक्ति विभागत्वावच्छिन्न विभाग अर्थ में नहीं रहने के कारण विभाग पद को भी नैमित्तिक संज्ञा नहीं माननी चाहिए। ऐसी स्थिति में केचित्तु ने जो घञन्त पाक समुदाय में पाक अर्थ की शक्ति मानी है, उसका दीधितिकार से स्पष्ट विरोध हो रहा है। क्योंकि उन्होंने घञन्त संयोग विभाग पद में संयोग विभाग अर्थों की शक्ति नहीं मानी है और आप घञन्त पाक समुदाय में शक्ति मान रहे हैं।

केचित्तु इस विरोध पर अपनी इष्टापत्ति दिखाते हुए कहता है कि जब हमने युक्तिबल से घञन्तसमुदाय में पाक आदि अर्थ की शक्ति रहती है यह बात सिद्ध कर दी है, तो, यदि दीधितिकार से विरोध हो ही रहा है तो उससे हानि क्या है? अर्थात् कोई नहीं। क्योंकि किसी ग्रन्थकार का विपरीत लेखन युक्ति के आधार पर किसी वस्तु की सिद्धि में बाधक नहीं हो सकता। अतः दीधितिकार ने नैमित्तिक संज्ञात्व के निराकरण के लिए यदि घञन्त संयोग विभाग पद में शक्ति नहीं मानी है तो एतावता पूर्व प्रदर्शित युक्तियों के आधार पर घञन्त पाक समुदाय में पाक अर्थ की शक्ति की सिद्धि होने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

एवं च यत्र धातुमात्रस्यैव पाकादौ तात्पर्यं तत्र तद्विशेषणवाचकपदाद् द्वितीयैव। यत्र तु कृदन्तसमुदायस्य पाकादौ तात्पर्यं तत्र तादृशपदं तथाविधकृदन्तसमुदाय समानविभक्तिकमेव। तदुक्तं कातन्त्रपरिशिष्टकृता-कथं स्तोकः पाकः? कृदन्तविशेषणत्वात्, धात्वर्थैकाधिकरण्ये तु स्तोकमोदनस्य पाकः इति स्यादवेति वदन्ति।

इस प्रकार जहाँ पर (जिस समुदाय में) पच् आदि धातु मात्र का तात्पर्य पाक आदि अर्थ में रहता है, वहाँ पर तो उस पाक रूप अर्थ के विशेषण वाचक पद के आगे द्वितीया विभक्ति ही आती है जैसे स्तोकं पचति स्तोकं स्थीयतें में। जहाँ पर कृदन्तसमुदाय का तात्पर्य पाक अर्थ में रहता है वहाँ तो उस कृदन्त समुदाय से उपस्थाप्य अर्थ के विशेषण को कहने वाला पद, विशेष्यवाचक कृदन्त समुदाय के समान विभक्ति वाला ही होता है। जैसे स्तोकः पाकः स्तोकं पाकम् इत्यादि में। इसीलिए कातन्त्रपरिशिष्टकार ने कहा भी है कि - "स्तोकः पाकः" यह प्रयोग कैसे होता है? उत्तर दिया - स्तोक चूंकि कृदन्तसमुदाय "पाक" का विशेषण है अर्थात् विशेष्यवाचक पाकः पद प्रथमान्त है, अतः तदनुसार विशेषणवाचक स्तोक पद से भी प्रथमा विभक्ति आयी है। हाँ जहाँ पर कृदन्त समुदाय में भी धात्वर्थ में स्तोक आदि का एकाधिकरण्य अर्थात् सामानाधिकरण्य रहता है अर्थात् पाक घटक पच् धात्वर्थ पाक में स्तोक का विशेषणत्वेन अन्वय होता है, वहाँ पर तो विशेषणवाचक स्तोक पद से द्वितीया विभक्ति आती ही है। जैसे "स्तोकम् ओदनस्य पाकः" यहाँ पर।

इस प्रकार केचित्तु ने तिङन्त स्थल में तो पच् आदि धातु में पाक आदि अर्थ की शक्ति मानी और कृदन्त स्थल में सम्पूर्ण कृदन्त समुदाय में। भट्टाचार्य जी केचित्तु के इस मत में अपनी अरूचि दिखाने के लिए अन्त में कहते हैं, इति वदन्ति।

भट्टाचार्य की अरूचि का बीज (कारण) यह है कि कृत् प्रत्यय के अनेक होने से कृदन्त समुदाय भी अनेक होंगे तो अनेक कृदन्त समुदाय में शक्ति मानने से एक पाक अर्थ की अनेक शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी। किं बहुना - स्तोकमोदनस्य पाकः इत्यादि स्थलों में जहाँ धात्वर्थ मात्र में पदार्थान्तर का विशेषणत्वेन अन्वय करना अभीष्ट होगा वहाँ समुदाय को छोड़कर उसके एक देश धातुमात्र में शक्ति माननी पड़ेगी। इससे अच्छा तो यह होगा कि समुदाय चाहे तिङन्त हो या कृदन्त सर्वत्र समान रूप से जिस धातु की उपस्थिति आवश्यक रूप में रहती ही है उसी धातु में पाक आदि अर्थ की शक्ति माननी चाहिए जिससे अनेक शक्ति की कल्पना करने की अपेक्षा एक शक्ति की ही कल्पना करनी पड़ेगी, यह लाघव होगा। अब रही बात धात्वर्थ में सुप् प्रत्ययार्थ के अन्वय की तो उसके लिए अभी-अभी जो आकाँक्षा की कल्पना की है कि "ल्युडन्त घञन्त

समुदाय तथा सुप् प्रत्यय का पूर्वापरीभाव"। इस आकाँक्षा को कारण मान लेने से सुबर्थ का अन्वय धात्वर्थ में हो जाएगा। इसी प्रकार शोभन आदि पदार्थान्तर के अन्वय के लिए भी "ल्युडन्त घञन्त समुदाय तथा विशेषणवाचक पदान्तर का समान विभक्तिक होने को ही आकाँक्षा मानकर अभेदान्वय बोध की उपपत्ति भी हो जाएगी। तव रही आपत्ति पचन्तौ पश्यति पचमानौ पश्यति में जहाँ पाक दो है और पाककर्ता एक, वहाँ पर सुबर्थ द्वित्व संख्या का अन्वय धात्वर्थ में हो जाने की। तो इस आपत्ति का वारण भी "धात्वर्थे सुबर्थान्वयं प्रति तद्‌तद् धातूत्तरप्रत्यय धर्मिक किञ्चिदर्थपरत्व" ज्ञान को प्रतिबन्धक मानकर हो जाएगा। यदि कहें इस प्रकार के प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभाव की कल्पना करने में गौरव होगा तो फलमुखगौरव दोषाधायक नहीं हुआ करता। अतः अनेक समुदाय में शक्ति मानने की अपेक्षा धातुमात्र में ही शक्ति मानने में लाघव होने से धातु मात्र में ही पाक आदि अर्थ की शक्ति मानो घञन्त समुदाय में नहीं।

तदर्थकपदोत्तरविभक्त्या संख्याबोधने अभेदसंसर्गावच्छिन्न-प्रकारताभिन्नतदर्थ विशेष्यताशालिशाब्दबोधसामग्री अपेक्षिता, तादृशश्च बोधः तदर्थविशेष्यकः तदर्थनिरूपितभेदान्वयविषयकश्च। नीलौ घटौ इत्यादौ च विशेष्यवाचकपदोत्तरविभक्त्यैव द्वित्वादिकं प्रत्याय्यते। एवं च क्रियाविशेषणवाचकपदोत्तरविभक्त्याऽबाधितयोरपि द्वित्वबहुत्वयोः प्रत्यायनाऽसंभवात् तादृशपदोत्तरमौत्सर्गिक मेकवचनमेव भावाख्यातस्थल-वदित्यवधेयम्।

इससे पूर्व जहाँ समानविभक्ति वाले दो पदों से उपस्थाप्य अर्थ का अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है वहाँ पर विशेषण वाचक पद के आगे आने वाली विभक्ति प्रयोग साधुत्व मात्र के लिए होती है। यह बात भट्टाचार्य ने "विभक्ति पदं साधुत्वार्थमेव प्रयुज्यते" के द्वारा कही थी प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वारा भट्टाचार्य अपनी उसी बात को कार्यकारणभाव के प्रदर्शन द्वारा दृढ़ कर रहे हैं। कार्यकारण भाव का तात्पर्य यह है तदर्थकपद = प्रकृत्यर्थक पद के, उत्तर विभक्त्या = उत्तर आयीविभक्ति के द्वारा, संख्याबोधने = संख्या अर्थ का बोध कराने के लिए, अभेदसम्बन्धावच्छिन्न = अभेद सम्बन्ध से अवच्छिन्न जो, प्रकारता =विशेषणता, उससे भिन्नतदर्थविषयता = भिन्न प्रकृत्यर्थ में रहने वाली विषयता (विशेष्यता) शाब्दबोध सामग्री = आकाँक्षाज्ञान, अपेक्षिता =अपेक्षित होती है, कारण होती है।

उपर्युक्त कार्यकारणभाव का आशय यह है कि - जिस पद के आगे आयी विभक्ति के द्वारा संख्या का बोध कराना हो, उस पद के अर्थ में अभेदसम्बन्धा वच्छिन्न प्रकारता रूप विषयता नहीं रहनी चाहिए अपितु उससे भिन्न विषयता अर्थात् विशेष्यता रूप विषयता होनी चाहिए, तभी उस पद के आगे आयी विभक्ति

के द्वारा संख्या का बोध होता है। जैसे - "घटः" यहाँ पर घट पद के आगे आयी सुविभक्ति के द्वारा एकत्व संख्या रूप अर्थ बोधित होता है। क्योंकि यहाँ घट रूप पद का जो अर्थ घट है या घटत्वविशिष्ट घट है, उसमें अभेद सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रकारता नहीं है, क्योंकि यहाँ पर घट पदार्थ अभेद सम्बन्ध से कहीं पर विशेषण रूप में भासित नहींहो रहा है। ऐसे ही जव केवल "नीलः" ऐसा प्रयोग करते हैं तो नील पद का अर्थ जो "नील" है वह अभेद सम्बन्ध से कहीं विशेषण नहीं है तो नील रूप प्रकृति के अर्थ नील में चूंकि अभेदसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता से भिन्न - वृत्तित्व सम्बन्ध से अवच्छिन्न एकत्व में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता ही है। अतः यहाँ पर नील पदोत्तर विभक्ति के द्वारा संख्या का बोध होता है। अतः नीलौ नीलाः इत्यादि प्रयोग होते हैं। परन्तु जब हम "नीलो घटः" ऐसा प्रयोग करते हैं तो नील पदोत्तरसु विभक्ति के द्वारा तो संख्या का बोध नहीं होता परन्तु घट पदोत्तर आयी सुविभक्ति के द्वारा होता है। इसका कारण यही है कि एक जगह शाब्दबोध की "अभेद सम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता भिन्न विषयता रूप सामग्री है, जबकि दूसरी जगह नहीं है। जैसे - नीलो घटः इस वाक्य में आये "घटः पद की प्रकृति घट पद के अर्थ घट में अभेद सम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता नहीं है। क्योंकि वहघट अभेद सम्बन्ध से कहीं प्रकार नहीं है, अपितु अभेद सम्बन्धावच्छिन्न विशेष्यता ही उसमें रहती है, क्योंकि अभेद सम्बन्ध से प्रकार (विशेषण) रूप में भासित होने वाली नील का वह विशेष्य है। अतः अभेद सम्बन्धावच्छिन्न नीलत्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपितविशेष्यता घट में रहती है। अतः उस घट रुप प्रकृति के आगे आयी सु विभक्ति के द्वारा संख्या का बोध होता है। परन्तु उसी नीलो घटः वाक्य घटक नील पदोत्तर आयी सुविभक्ति के द्वारा संख्या का बोध नहीं होता। क्योंकि नीलः में प्रकृतिभूत नीलपद के अर्थ नील में संख्या बोध के लिए अपेक्षित अभेद सम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता भिन्न विषयता रूप शाब्दबोध की सामग्री नहीं है। क्योंकि यहाँ नीलपद रूप प्रकृति के अर्थ नील में अभेदसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता ही है; क्योंकि नील अभेद सम्बन्ध से घट में प्रकारतया भासित हो रहा है, तो नील में प्रकरता तो है ही साथ ही वह प्रकारता अभेद सम्बन्ध से भी अवच्छिन्न है। क्योंकि नील अभेद सम्बन्ध से घट में प्रकार है। इस प्रकार चूंकि नील पद रूप प्रकृत्यर्थ नील में अभेदसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता ही रहती है, उससे भिन्न विषयता नहीं, जो कि संख्या बोध के लिए अपेक्षित शाब्द सामग्री है। अतः नीलपदोत्तर सुविभक्ति के द्वारा संख्या बोधित नहीं होती। सारांश यह निकला कि - जिस पद के आगे आयी विभक्ति के द्वारा आप संख्या बोध कराना चाहते हैं उस पद के अर्थ में अभेद सम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता को नहीं रहना चाहिए। इस प्रकार प्रकृत्यर्थ में अभेदसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता का ज्ञान, प्रत्यय से संख्या के बोध में प्रतिबन्धक होता है, यह समझना चाहिए। भट्टाचार्य आगे स्वयं कहते हैं कि

तादृशश्च बोधः = अर्थात् संख्या प्रकारक बोध, तदर्थ विशेष्यकः = प्रकृत्यर्थ विशेष्यक, तथा - तदर्थनिरूपित भेदान्वय विषयकश्च = अर्थात् प्रकृत्यर्थ निरूपित भेद सम्बन्ध विषयक होता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकृतिभूत पद के आगे आयी विभक्ति के द्वारा संख्या का बोध होता है, वहां पर विभक्ति के द्वारा बोधित होने वाली संख्या चूँकि प्रकार रूप में तथा उस विभक्ति की प्रकृति का अर्थ विशेष्य रूप में एवं संख्या रूप विशेषण तथा प्रकृत्यर्थ रूप विशेष्य का सम्बन्ध भेदात्मक सम्बन्ध होता है। जैसे राज्ञः पुरूषः यहाँ पर राजन् पदोत्तर ङ्स् विभक्ति के द्वारा एकत्व संख्या का बोध होता है। क्योंकि राजन् रूप प्रकृत्यर्थ में यद्यपि प्रकारता है तथापि वह प्रकारता निरूपितत्व रूप भेद सम्बन्ध से अवच्छिन्न है। अतः राजपदार्थ में अभेदसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता के नहीं रहने से तत्पदोत्तर डस् विभक्ति के द्वारा संख्या रूप अर्थ बोधित होता है।

नीलौ घटौ में विशेष्यवाचक घट पद के आगे आयी औ विभक्ति के द्वारा ही द्वित्व संख्या का बोधन होता है, क्योंकि वहाँ भी विशेषण नीलपदार्थ में अभेदसम्बन्धावच्छिन्न ही प्रकारता रहती है जिसका ज्ञान औ प्रत्ययार्थ = द्वित्व संख्या के बोध में प्रतिबन्धक है। अतः विशेषण वाचक नील पदोत्तर आयी औ विभक्ति के द्वारा द्वित्व संख्या का बोध होना नहीं माना जाता। इस प्रकार जब विशेषणवाचक पदों के आगे आयी विभक्तियों के द्वारा संख्या का बोध होना कहीं संभव ही नहीं तो, जहाँ पर द्वित्व बहुत्व संख्या विशेष्य में (क्रिया में) भले ही अबाधित हों परन्तु उन द्वित्व बहुत्व संख्या का बोध विशेषण पदोत्तर विभक्ति के द्वारा करा पाना असंभव ही है। क्योंकि संख्या बोध के लिए अपेक्षित सामग्री "अभेद सम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता भिन्न विषयता" वहाँ नहीं रहती। इसलिए सर्वत्र क्रिया विशेषणवाचक पद के आगे औत्सर्गिक एकवचन ही होता है। जैसे भावाख्यातस्थल में। तात्पर्य यह है कि जहाँ कहीं भी स्तोक आदि विशेषण धात्वर्थ क्रिया में होंगें; सर्वत्र स्तोक आदि का धात्वर्थ में अभेद सम्बन्ध से ही अन्वय होगा तो स्तोक आदि में रहने वाली प्रकारता अभेदसम्बन्धावच्छिन्न ही होगी। अतः उन स्तोक आदि क्रिया विशेषण वाचक पदों के आगे आयी विभक्ति के द्वारा संख्या का बोध हो पाना संभव ही नहीं होगा तो, द्वित्व बहुत्व संख्या विशेष्य रूप क्रिया में भले ही अबाधित हो उन अबाधित द्वित्व बहुत्व संख्या का बोध विशेषणपदोत्तर विभक्ति जब करा ही नहीं सकती तो सर्वत्र औत्सर्गिक एकवचन ही क्रिया विशेषण पदों के आगे आएगा जैसे भावाख्यात स्थल में सर्वत्र एकवचन ही आता है। हाँ भावाख्यात और क्रिया विशेषण में इतना अन्तर अवश्य है कि - भावाख्यात स्थल में द्वित्व बहुत्व का अन्वय ही असंभव है और क्रिया विशेषण स्थल में द्वित्व बहुत्व का बोध ही क्रिया विशेषण पदोत्तर विभक्ति के द्वारा असंभव है। अस्तु।

इस तदर्थ पदोत्तर विभक्त्या — से इत्यवधेयम् ग्रन्थ की उपस्थापना करते हुए कई संस्कृत व्याख्याकारों ने कहा है, और उन लोगों का ही अनुसरण करते हुए मैंने स्वयं भी लिखा है कि पूर्व में जो विशेषण विभक्तिः साधुत्वार्थमेव प्रयुज्यते कहा गया है इसी की उपपत्ति के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ है। परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है, इतना पीछे जाकर इस ग्रन्थ के सम्बन्धी को खोजने की अपेक्षा यदि यह माना जाए कि - स्तोकं पचति मृदु पचति आदि क्रियाविशेषणवाचक पदों में क्रियाविशेषणानां क्लीबत्वं कर्मत्वम् इस अनुशासन के द्वारा लिङ्ग तथा कारक का (विभक्ति का) तो अनुशासन कर दिया परन्तु उसमें नियत एकवचनत्व का अनुशासन नहीं किया गया था कि - क्रिया का विशेषण सर्वदा एकवचन ही क्यों होता है? इसी प्रश्न का समाधान प्रस्तुत ग्रन्थ से करने में भट्टाचार्य का उद्देश्य रहा हो। यह बात भिन्न है कि अधिकरण सिद्धान्तानुसार सभी विशेषणवाचक पदोत्तर विभक्तियों में संख्या के बोध कराने की कारणता का निषेध भी इसी ग्रन्थ से हो गया और इस प्रकार उसकी पद साधुत्व मात्रार्थकता की भी सिद्धि हो गयी। परन्तु भट्टाचार्य का "एवं च क्रियाविशेषणवाचकपदोत्तर विभक्त्याऽबाधितयो रपिद्वित्व-बहुत्वयोः प्रत्ययनासंभवात् तादृशपदमौत्सर्गिकमेकवचनमेव" यह कथन इस बात को निश्चित रूप से ध्वनित करता है कि - यहाँ का ग्रन्थ क्रिया विशेषण वाचक पदों के वचन के अनुशासन के लिए उपपत्तिपरक है॥

अभेदान्वयबोधश्च विरूपोपस्थितयोरेवेति व्युत्पत्तिः। घटो घटः दण्डवान् दण्डवान् पाकं पचति इत्यादौ घटत्वदण्डवत्त्वपाकत्वाद्यवच्छिन्ने तत्तद्रूपावच्छिन्नस्य तथाविधान्वयबोधानुदयात्।

इससे पूर्व अभेदान्वय बोध के लिए विशेष्य - तथा विशेषणीभूत पदार्थों का समानविभक्तिकपदोपस्थाप्य होना प्रयोजक बताया गया। अब यहाँ अभेदान्वय बोध के लिए विशेष्य तथा विशेषणीभूत पदार्थों के विरूद्धरूप में अर्थात् विरूद्ध धर्म से उपस्थित होना भी एक दूसरा प्रयोजक है, इस बात को बताने जा रहे है। घटो घटः में घटत्वेन रूपेण घट ही विशेष्य है और घटत्वेन रूपेण घट ही प्रकार। अतः ऐसे स्थल में घटत्वावच्छिन्न में घटत्वावच्छिन्न का अभेद सम्बन्ध से अन्वय नहीं होता अर्थात् अभेदसम्बन्धावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रकारता निरूपित घटत्वावच्छिन्नविशेष्यताशाली शाब्दबोध नहीं होता। इसी प्रकार दण्डवान् दण्डवान् में अभेद सम्बन्ध से दण्डवत्त्वावच्छिन्न का अन्वय दण्डवत्त्वावच्छिन्न में नहीं होता, अर्थात अभेदसम्बन्धावच्छिन्नदण्डवत्त्वावच्छिन्नप्रकारता निरूपित दण्डवत्त्वावच्छिन्नविशेष्यताक शाब्दबोध नहीं होता और न हीं पाकं पचति में पाकत्वावच्छिन्न पाक का अभेद सम्बन्ध से पच् धात्वर्थ पाकत्वावच्छिन्न पाक में अन्वय होता है। अतः वहाँ पर भी अभेदसम्बन्धावच्छिन्नपाकत्वावच्छिन्नप्रकारता निरूपित पाकत्वावच्छिन्नविशेष्यताकशाब्दबोध नहीं होता है। अतः यह माना जाता है कि विरूपोपस्थित पदार्थों का ही अभेदान्वय बोध होता है। विरूप शब्द का अर्थ

विरूद्ध रूप अर्थात् विरूद्ध धर्म है। विरूद्धधर्माभ्यां उपस्थितयोः अर्थात् विरूद्ध धर्म से उपस्थित (समानविभक्तिक पदोपस्थाप्य) पदार्थों का ही अभेद अन्वय होता है। इसलिए नीलो घटः में यद्यपि नील पद तथा घट पद से उपस्थित पदार्थ एक ही है परन्तु उनकी उपस्थिति विरूद्ध रूप में होती है अर्थात् नील की उपस्थिति नीलत्वेन रूपेण, तथा विशेष्य घट की उपस्थिति घटत्वेन रूपेण होती है। इस प्रकार नीलत्व तथा घटत्व रूप विशेषणतावचछेदक तथा धटत्व रुप विशेष्यतावच्छेदक रूप के विरूद्ध होने से नीलो घटः में अभेदान्वय बोध होता है। घटो घटः में तो प्रकारतावच्छेदक भी घटत्व है और विशेष्यतावच्छेदक भी घटत्व। इस प्रकार विशेष्य तथा विशेषण की उपस्थिति एक ही घटत्वेन रूपेण होती है। अतः वहाँ अभेदान्वय बोध नहीं होता।

अथ तत्प्रयोजकसमानविभक्तिकत्वादेः सत्त्वात् कथं न तादृशअन्वयबोधः अत्राहुः - यादृशं फलं क्वचित् प्रसिद्ध्यति तादृशस्यैवापत्तिः संभवतिक्लृप्तसामग्रीबलात्। यादृशं च सर्वथैवाप्रसिद्धं तादृशस्य चापादकाऽप्रसिद्धेरापत्तिरशक्यैवेति घटत्वाद्यवच्छिन्न विशेष्यताकाऽभेदसंसर्गकघटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारकशाब्दबोधस्य क्वचिदप्यनुदयात् कथं तदापत्तिः।

भट्टाचार्य जी ने पदार्थों की विरूपोपस्थिति को जो अभेदान्वय बोध के लिए प्रयोजक बताया उसमें उन्होंने हेतु दिया घटो घटः इत्यादि स्थलों में अभेदान्वय का नहीं होना। इस पर कोई आपत्ति देता है कि जब अभेदान्वय के प्रयोजक (उपयोगी सामग्री) विशेष्य विशेषणवाचक पदों का समानविभक्तिकत्व रूप आकाँक्षा, पदार्थोपस्थिति, योग्यता ज्ञान आदि सामग्री घटो घटः आदि स्थलों में हैं, तो पुनः उन स्थलों में अभेदान्वय बोध क्यों नहीं होता? भट्टाचार्य; प्रश्नकर्ता के प्रश्न करने को ही अनुचित बताते हुए कहते हैं कि - "घटो घटः में अभेदान्वयबोध क्यों नहीं होता" आपकी यह आपत्ति ही असंभव है = नहीं दी जा सकती। क्योंकि जिस प्रकार का फल = शाब्दबोध, कहीं पर प्रसिद्ध होता है, उसी प्रकार के फल = शाब्दबोध की; आपत्ति, आवश्यक सामग्री = आकाँक्षा योग्यता ज्ञान आदि के बल पर दी जा सकती है। परन्तु जिस प्रकार का फल = शाब्दबोध, सर्वथा अप्रसिद्ध है उस प्रकार के फल की आपत्ति नहीं दी जा सकती, क्योंकि वहाँ आपादक ही अप्रसिद्ध होता है।

तात्पर्य यह है कि - आपत्ति के लिए, आपाद्य के न होने का निश्चय तथा आपाद्यव्याप्य-आपादक के होने का निश्चय; कारण होता है। प्रकृत में आपत्ति तो यही है कि - शाब्दबोध अभेदसंसर्गक घटप्रकारकघट विशेष्यक होवे। इस आपत्ति के द्वारा आपाद्य (अपादनीय) है, शाब्दबोध में, अभेदसंसर्गकघटप्रकारक घट विशेष्यकत्व। परन्तु शाब्दबोध में अभेदसंसर्गक घटप्रकारक घटविशेष्यकत्व अप्रसिद्ध

है क्योंकि अभेद संसर्गक घट प्रकारक घटविशेष्यक शाब्दबोध खरगोश की सींग की तरह होता ही नहीं। इस पकार आपाद्य ही जब अप्रसिद्ध है तो उसके अभाव का निश्चय भी नहीं हो सकता। क्योंकि अभाव ज्ञान वहीं होता है जहाँ प्रतियोगी प्रसिद्ध हो। जब आपाद्य रूप प्रतियोगी ही अप्रसिद्ध है तो उसके अभाव का (न होने का) निश्चय कैसे होगा? अर्थात् नहीं होगा। एवञ्च जब आपाद्य अप्रसिद्ध है, तो उससे व्याप्य आपादक के भी अप्रसिद्धा हो जाने से आपादंक के होने का भी निश्चय नहीं होगा। इस प्रकार आपत्ति के लिए आवश्यक आपाद्यव्यतिरेकनिश्चय तथा आपादकवत्तानिश्चय, इन दोनों कारणों के न होने से घटो घटः में अभेद संसर्गक घटप्रकारक घटविशेष्यक शाब्दबोध की आपत्ति ही आप कैसे दे रहे हैं। मूल में "घटत्वावच्छिन्न विशेष्यताक अभेदसंसर्गक घटत्वावच्छिन्नप्रकारक शाब्दबोध कहीं भी (उदित) नहीं होता है, यह जो कहा गया है, वह आपाद्य की अप्रसिद्धि दिखायी गयी है, जिससे पूर्व में कहे गये - आपादकाप्रसिद्धेः की सिद्धि होती है अर्थात् आपाद्य के अप्रसिद्ध होने से आपादक भी अप्रसिद्ध होता है। इसलिए आपादकाप्रसिद्धेः कहकर उसमें हेतु दिया - घटत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यताक - इत्यादि से। इस प्रकार आपाद्य के अप्रसिद्ध होने से जब आपादक ही अप्रसिद्ध है तो सुतरां सिद्ध हो गया कि आपादकक्तानिश्चय रूप आपत्ति का कारण नहीं है, एवं जब आपादकवत्तानिश्चय रूप कारण नहीं है तो तादृशअभेदान्वय बोध की आपत्ति ही आप कैसे दे रहे हैं? अर्थात् आपकी आपत्ति ही अनुचित है। यहाँ यह बात जान लेना आवश्यक है कि आपाद्य है घटत्वावच्छिन्नप्रकारताक अभेदसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वांवच्छिन्नविशेष्यकशाब्दबोध और आपादक है उस शाब्दबोध की कारण सामग्री। इस पर पूर्वपक्षी शाबदबोध में अभेदसंसर्गावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपित घटत्वावच्छिन्नविशेष्यताकत्व रूप आपाद्य को प्रसिद्ध बताकर, यह कहता है कि जब आपाद्य अर्थात् उपर्युक्त शाब्दबोध प्रसिद्ध है तो उससे व्याप्य, उसका कारण सामग्री रूप आपादक भी प्रसिद्ध ही हैं तो घटो घटः में उपर्युक्त आपत्ति दी ही जा सकती है।

अथ घटो नीलघटः दण्डवान् रक्तदण्डवान् इत्यादौ तादृशशाब्दबोधस्य प्रसिद्धिः विधेयकोटावधिकावगाहिनः शाब्दबोधस्य नवीनैः स्वीकारादिति चेत्। तर्हि घटाद्यंशे विशेषणतावच्छेदकविधया नीलादिभाननियामकनीलाद्युपस्थितितात्पर्यज्ञानविशेषादिघटितैव सामग्री घटत्वावच्छिन्नविशेष्यकनीलघटत्वाद्यवच्छिन्नाभेदान्वयबोधप्रयोजिका, तदभावादेव घटो घटः इत्यादिषु न तादृशशाब्दबोधापत्तिरिति केचित्।

पूर्वपक्षी शाब्दबोध में अभेद संसर्गक घट प्रकारक घट विशेष्यकत्व प्रसिद्ध है इस बात को उदाहरण द्वारा प्रस्तुत करते हुए कहता है कि घटो नीलघटः में अभेदसम्बन्धावच्छिन्न नीलघटत्वावच्छिन्नप्रकारता निरूपित घटत्वावच्छिन्न

विशेष्याताकशाब्दबोध तथा दण्डवान् रक्तदण्डवान् इस वाक्य से अभेद सम्बन्धावच्छिन्न रक्तदण्डवत्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपित दण्डवत्वावच्छिन्न विशेष्यताक शाब्दबोध होता है। क्योंकि नवीनों (नैयायिकों) ने विधेयकोटि में अधिक अंश का अवगाहन करने वाले शाब्दबोध को स्वीकार किया है। प्रकृत में भी विधेय = विशेषण अंश में नील रूप अधिक अंश का अवगाहन हो रहा है। अतः उपर्युक्त शाब्दबोध का होना मानना ही पड़ेगा। मूल में जो नवीनैः स्वीकारात् भट्टाचार्य ने कहा है उससे लगता है प्राचीन लोग वैसा नहीं मानते। जिसका तात्पर्य यह है कि - अज्ञात का ज्ञापक ही विधेय कहलाता है। घटो नीलघटः में घट को उद्देश्य करके नीलघटत्व का विधान किया जा रहा है। इसमें विधेयकोटि में भासित होने वाला घट तो उद्देश्य वाचक "घट" पद से पहले ही उद्देश्य रूप से ज्ञात ही है तो घट तो अज्ञात रहा नहीं, अज्ञात मात्र नील रहा। अतः प्राचीन लोग घटो नीलघटः में नील मात्र को विधेय मानते हैं। इसलिए उनके मत में घटो नीलघटः वाक्य से नीलाऽभिन्नो घटः यही शाब्दबोध होना माना जाता है।

नवीन लोग इस प्रसङ्ग में कहते हैं कि - वाक्य का प्रयोग दो प्रयोजनों से किया जाता है। (1) एक तो प्रवृत्ति के लिए उपयोगी विशिष्टज्ञान कराने के लिए (2) दूसरा संशय की निवृत्ति कराने के लिए। ऐसी स्थिति में यदि "घटः नीलघटो न वा" ऐसा संशय है तो, इस प्रकार के संशय की निवृत्ति "घटः नीलघटः" से होने वाला "नीलघटाऽभिन्नो घटः" इस शाब्दबोधात्मक निश्चय से होगा। क्योंकि यह नियम है कि संशय ज्ञान में जो प्रकारतया भासित होता है अर्थात् जिसके प्रकार होने में संशय है, उसकी निवृत्ति उसी निश्चय (ज्ञान) से होगा जिसमें वह प्रकारतया भासित हो। तो घटो नीलघटो न वा इस संशय ज्ञान में नील घट ही प्रकारतया भासित हो रहा है। अतः उसकी निवृत्ति नीलघटत्वप्रकारक ज्ञान "नीलघटः" इसी ज्ञान से होगा। अतः घट में मात्र नील के प्रकारतया भासित होने मात्र से अर्थात् नीलाऽभिंन्नो घटः इस ज्ञान से घट में होने वाले नीलघटत्व के संशय की निवृत्ति नहीं हो सकती, उसकी निवृत्ति तो नीलघटाऽभिन्नो घटः इसी निश्चय से होगी। अतः घटो नीलघटः से नीलघटाऽभिन्नो घटः इसी प्रकार का शाब्दबोध होना मानना चाहिए।

इस प्रकार नवीनों के मत में अभेदसम्बन्धावच्छिन्न नीलघटत्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपित घटत्वावच्छिन्नविशेष्यताक शाब्दबोध होना जब स्वीकृत है, तो शाब्दबोध में अभेद संसर्ग की प्रकारता भी घटत्व से अवच्छिन्न भासित हो रही है और विशेष्यता भी। चूँकि अभेद सम्बन्ध की प्रकारता यदि नीलघटत्व से अवच्छिन्न है तो घटत्व से अवच्छिन्न होगी ही। इस प्रकार जब घटत्व से अवच्छिन्न प्रकारताक तथा घटत्व से अवच्छिन्न विशेष्यताक शाब्दबोध घटो नीलघटः में होता है तो आपाद्य के प्रसिद्ध हो जाने से उसका आपादक भी प्रसिद्ध हो गया तो अभेदसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपित घटत्वावच्छिन्न विशेष्यताक

शाब्दबोध की आपत्ति घटो घटः में दी ही जा सकती है कि ऐसा शाब्दबोध वहाँ क्यों नहीं होता? प्रश्नकर्ता के प्रश्न को अङ्गीकार करते हुए कोई उत्तर देता है तर्हि - इत्यादि। तात्पर्य यह है कि जिस शाब्दबोध में प्रकारता तथा विशेष्यता दोनों घटत्व से अवच्छिन्न हैं उस "अभेदसम्बन्धावच्छिन्न नील घटत्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपित घटत्वावच्छिन्न विशेष्याताक" शाब्दबोध में विशेषणतावच्छेदक (प्रकारतावच्छेदक) रूप में भासित होने वाले "नील" के भान की जो नियामक समाग्री है नील आदि की उपस्थिति, नीलान्विततात्पर्यज्ञानविशेष आदि घटित सामग्री, वह सामग्री घटो घटः में नहीं है। अतः वहाँ पर अभेदसंसर्गक घट प्रकारकघटविशेष्यक शाब्दबोध नहीं होता। समाधान करने वाले का आशय यह है कि - घटो नीलघटः में नीलघटाऽभिन्नो घटः ऐसा शाब्दबोध होने से, यह बात ठीक है कि वहाँ भासित होने वाले अभेद संसर्ग की विशेष्यता भी घटत्व से अवच्छिन्न है कयोंकि घट विशेष्य है और प्रकारता भी नीलघटत्व से अवच्छिन्न है, क्योंकि नीलघट प्रकार है = विशेषण है। अब चूंकि प्रकारता नील घटत्व से अवच्छिन्न हो रही है तो घटत्व से अवच्छिन्न भी हो रही है तो प्रकारता को घटत्व से अवच्छिन्न मानना पड़ रहा है। परन्तु उपर्युक्त नीलघटाऽभिन्नो घटः में अभेद सम्बन्ध से घट के विशेषणरूप में भासित होने वाला जो घट है, उस विशेषणीभूत घट के भी विशेषण रूप में नील भासित हो रहा है। इसलिए इस नील को विशेषण का विशेषण होने के कारण मूल में कहा विशेषणतावच्छेदक विधया भासित होने वाला। अस्तु। तो, विशेषणतावाच्छेदक विधया नीलघटाभिन्नो घटः इस शाब्दबोध में जो नील पदार्थ भासित हो रहा, सो उसके भान की (भासित होने का) नियामिका = प्रयोजिका जो सामग्री है (1) नीलपदजन्य नील की उपस्थिति (2) घटपदं नीलघटान्वितस्वार्थं बोधयतु, यह तात्पर्य ज्ञान (3) घटः नीलघटाभेदसंसर्गवान् ऐसा योग्यता ज्ञान (4) प्रथमान्त घटपदाव्यवहितोत्तर प्रथमान्त नीलघटपदत्वसमभिव्याहार रूप आकाँक्षा ज्ञान।

ये चारों सामग्री जब रहती हैं तभी उपर्युक्त शाब्दबोध में नील का भान होता है, और जब नील का भान विशेषणतावच्छेदक विधया होता है तभी वहाँ अभेद संसर्ग की प्रकारता तथा विशेष्यता दोनों घटत्व से अवच्छिन्न होती हैं। जैसे घटो नील घटः में। घटो घटः में चूँकि नील के भान की नियामकसामग्री नहीं है, तो नील विशेषणतावच्छेदक विधया भासित नहीं होता है। अतः वहाँ पर अभेद संसर्गक घट प्रकारक घट विशेष्यक शाब्दबोध नहीं होता। तात्पर्य यह निकला कि घटो नीलघटः में जो अभेद सम्बन्ध भासित हो रहा है उस अभेद सम्बन्ध की प्रकारता शुद्ध (केवल) घटत्व से अवच्छिन्न नहीं है अपितु नील विशिष्ट घटत्व से अवच्छिन्न है। अतः वहाँ अभेदान्वय बोध होता है। अभेद सम्बन्ध की प्रकारता तथा उससे निरूपित विशेष्यता दोनों केवल घटत्व से अवच्छिन्न नहीं हुआ करती। अस्तु।

उपर्युक्त रीति से घटो घटः में अभेदान्वय बोध की आपत्ति का वारण कर दिये जाने पर भी पूर्व पक्षी पुनः प्रकारान्तर से यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि - जहाँ अभेद सम्बन्ध की विशेष्यता घटत्व से अवच्छिन्न होती हैं वहाँ पर प्रकारता भी शुद्ध घटत्व से अवच्छिन्न हो सकती है। अतः वहाँ यदि विशेषणतावच्छेदक नीलादि का भान नहीं होता क्योंकि नीलादि की भाननियामक सामग्री नहीं होती। तथापि अभेद सम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न विशेष्यता निरूपित शुद्ध घटत्वावच्छिन्न प्रकारताक शाब्दबोध में यदि कहीं भासित हो सकती है तो घटो घटः में क्यों नहीं? इस पर जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से हो सकती है कि उपर्युक्त शाब्दबोध कहाँ और कैसे होता है? तो इसी को पूर्वपक्षी अग्रिम ग्रंथ द्रव्यत्वादौ के द्वारा प्रस्तुत कर रहा है -

अथ द्रव्यत्वादौ धर्मितावच्छेदकतासंसर्गेण प्रसिद्धस्य शुद्धघटत्वावच्छिन्न प्रकारकाभेदान्वयबोधस्य घटत्वादावापत्तिसंभवात्।

पूर्व पक्षी के उपर्युक्त ग्रन्थ के तात्पर्य को समझने के लिए पहले यह जान लेना आवश्यक है कि शाब्दबोध में कार्यकारणभाव दो प्रकार के सम्बन्ध से विद्वत् समाज में प्रस्तुत किया जाता है। उनमें (1) प्रथम सम्बन्ध है "समवाय", और (2) दूसरा सम्बन्ध है "विषयता"। जिसका अभिप्राय यह है कि यह बात सर्वविदित है कि - जहाँ कार्य को उत्पन्न होना है वहाँ कारण को भी होना चाहिए। कारण कहीं अन्यत्र रहे और कार्य अन्यत्र हो, ऐसा कहीं देखा नहीं जाता। प्रकृत में शाब्दबोध उत्पन्न होता है अतः वह कार्य है, और उसका कारण उपस्थिति आकाँक्षा-योग्यता-तात्पर्यज्ञानादि है, यह बात भी सर्वविदित है। इस प्रकार शाब्दबोधरूप कार्य भी ज्ञान है और उसका कारण पदार्थोपस्थिति - तात्पर्यज्ञानादि भी ज्ञान ही है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में ज्ञान समवाय सम्बन्ध से आत्मा में रहता है यह स्वीकृत सिद्धान्त है। अब यदि शाब्दबोध रूप कार्य की समवाय सम्बन्ध से उत्पत्ति में समवाय सम्बन्ध से पदार्थोपस्थिति कारण होते हैं इस प्रकार का कार्यकारणभाव माना जाए समवायसम्बन्धेन शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति, समवायसम्बन्धेन पदार्थोपस्थित्यादि कारणम्", तो समवाय सम्बन्ध से शाब्दबोध आत्मा में ही उत्पन्न होगा। अतः इसका तात्पर्य यही निकला कि जिस आत्मा में शाब्दबोध उत्पन्न होना हो, वहाँ समवाय सम्बन्ध से पदार्थोपस्थिति को होना चाहिए अर्थात् उसी आत्मा में पदार्थोपस्थिति आदि कारण सामग्री को होना चाहिए। इस प्रकार शाब्दबोध रूप कार्य की उत्पत्ति का भी सम्बन्ध समवाय हुआ और उसके कारण पदार्थोपस्थिति आदि की उत्पत्ति का भी या यह कह लें कि रहने का भी सम्बन्ध समवाय हो तो कार्यतावच्छेदक तथा कारणतावच्छेदक सम्बन्ध भी समवाय ही। इस तरह समवाय को प्रत्यासत्ति अर्थात् सम्बन्ध मानने से शाब्दबोध रूप कार्य तथा पदार्थोपस्थिति आदि कारण, दोनों की स्थिति एकत्र आत्मा में हो जाने से

शाब्दबोध होता है। इसी समवाय सम्बन्ध से होने वाले कार्यकारणभाव को ही आत्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या अथवा पुरूषनिष्ठप्रत्यासत्या कार्यकारणभाव भी कहा जाता है।

शाब्दबोधरूप कार्य तथा पदार्थोपस्थिति आदि कारण की एकत्र स्थिति कराने वाला एक और सम्बन्ध है विषयता। यह विषयता विषय में रहती है यह तो सर्वविदित है, और यह भी सर्वविदित है कि - जिस वस्तु का ज्ञान होता है, वह वस्तु उस ज्ञान का विषय कहलाती है। जैसे "घटज्ञान" का विषय कहलाता है घट, तथा पटज्ञान का विषय होता है पट। अस्तु। ज्ञान जैसे समवाय सम्बन्ध से आत्मा में रहता है, वैसे ही वह विषयता सम्बन्ध से विषयों पर भी रहता है। ज्ञान के विषय जितने होंगे उन सभी पर ज्ञान विषयता सम्बन्ध से रहता है। अब शाब्दबोध रूप कार्य भी ज्ञान है तो वह विषयता सम्बन्ध से विषय में रहेगा और उसके कारण पदार्थोपस्थिति आदि भी ज्ञान है, तो वे भी विषयता सम्बन्ध से विषय में रहेंगे। इस प्रकार विषयता सम्बन्ध से शाब्दबोध रूप कार्य तथा उसके कारणों की एकत्र विषय में स्थिति होने से उनका परस्पर कार्यकारणभाव उपपन्न हो जाता है। विषयता सम्बन्ध के विषय में एक बात और जान लेनी चाहिए कि ज्ञान में भासित होने वाले जितने विषय होते हैं उन सभी में विषयता तो रहती है परन्तु विषय की भिन्नता के कारण उनमें रहने वाली विषयता भी भिन्न-भिन्न होती है। जैसे नीलो घटः इस वाक्य से होने वाला जो "नीलाऽभिन्नोघटः यह शाब्दबोधरुप ज्ञान है उसमें नील नीलत्व उसका समवाय, घट घटत्व उसका समवाय तथा नील और घट का अभेद सम्बन्ध ये सभी विषय रूप में भासित होते हैं। उनमें नील में रहने वाली विषयता प्रकारता रूपा तथा नीलत्व में रहने वाली विषयता प्रकारतावच्छेदकता रूपा, उन नील नीलत्व के समवाय सम्बन्ध में रहने वाली प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदकता रूपा या वृत्तिप्रयोज्यसंसर्गतारूपा घट में धर्मिता रूपा या विशेष्यता रूपा, घटत्व में धर्मितावच्छेदकता या विशेष्यतावच्छेदकता रूपा, घट तथा घटत्व के समवाय सम्बन्ध में धर्मितावच्छेदकतावच्छेदकता या वृत्तिप्रयोज्यसंसर्गता रूपा तथा नील और घट के सम्बन्ध रूप में भासित होने वाले अभेद में आकाँक्षाभास्यसंसर्गतारूपा विषयता रहती है। अतः उन-उन विषयता सम्बन्ध से शाब्दबोध तथा उसके कारण पदार्थोपस्थिति आदि उन-उन विषयों पर रहते हैं। जैसे विशेष्यता रूप विषयता सम्बन्ध से उपर्युक्त शाब्दबोध घट में ही रहेगा तो प्रकारता सम्बन्ध से नील पर धर्मितावच्छेदकता रूप विषयता सम्बन्ध से घटत्व पर रहेगा तो प्रकारतावच्छेदकता रूप विषयतासम्बन्ध से नीलत्व पर, अस्तु।

अब प्रश्न यहाँ यह है कि धर्मितावच्छेदकसम्बन्धेन द्रव्यत्वादौ इत्यादि के द्वारा पूर्वपक्षी विषयता सम्बन्ध से शाब्दबोध की आपत्ति क्यों देने जा रहा है? जबकि ज्ञान के रहने का प्रसिद्ध सम्बन्ध समवाय है तो इस जिज्ञासा की शान्ति के लिए यह जानना आवश्यक है कि विषयता सम्बन्ध से शाब्दबोध मानने में लाभ क्या है?

उपर्युक्त रीति से इतनी बात तो सिद्ध हो गयी कि समवाय तथा विषयता दोनों सम्बन्धों से शाब्दबोध और पदार्थोपस्थिति आदि का कार्यकारण भाव हो सकता है। परन्तु समवाय सम्बन्ध से कार्यकारण भाव मानने में अर्थात् समवाय सम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति समवायसम्बन्धेन पदार्थोपस्थित्यादि कारणम्." यदि ऐसा मानें तो, बोद्धा पुरूष का नाम नहीं लेना पड़ेगा। क्योंकि जब समवाय सम्बन्ध से ही कार्यकारण भाव मान रहे हैं तो जहाँ पर अर्थात् जिस आत्मा में समवाय सम्बन्ध से पदार्थोपस्थिति आदि कारण होंगे, उसी आत्मा में समवाय सम्बन्ध से शाब्दबोध होगा। परन्तु इस कार्यकारणभाव को मानने में आपत्ति यह होगी कि - यदि किसी को समवाय सम्बन्ध से घट पदार्थ की उपस्थिति (ज्ञान) है तो उसे पटविषयक भी शाब्दबोध हो सकता है। क्योंकि उपर्युक्त कार्यकारणभाव में आपने यह तो कहा नहीं था कि समवाय सम्बन्ध से घट विषयक शाब्दबोध के लिए समवाय सम्बन्ध से घट विषयक उपस्थिति कारण है। आपने तो सीधे कह दिया था कि समवाय सम्वन्ध से शाब्दबोध के प्रति समवाय सम्बन्ध से उपस्थिति कारण है अर्थात् जिस आत्मा में पदार्थोपस्थिति होगी उस आत्मा में शाब्दबोध होगा तो उपस्थिति भले ही घटविषयक है तो पट विषयक शाब्दबोध होना चाहिए। इस आपत्ति से बचने के लिए कार्यकारणभाव में विषय का प्रवेश करना आवश्यक होगा। अर्थात् समवायसम्बन्धेन घटविषयकशाब्दबोधं प्रति समवायसम्बन्धेन घटविषयकोपस्थितिः कारणम्" ऐसा विषय का नाम लेकर कार्यकारणभाव कहना पड़ेगा। तब उपर्युक्त आपत्ति नहीं होगी।

उधर यदि विषयता सम्बन्ध से कार्यकारणभाव मानें तो विषय का नाम नहीं लेना पड़ेगा अपितु उस विषय में रहने वाली विषयता को सम्बन्ध बनाकर कार्यकारण भाव कहना पड़ेगा। जैसे "नीलो घटः" से होने वाले "नीलोभिन्नो घटः" इस शाब्दबोध के लिए कार्यकारण भाव यदि कहना पड़े तो मान लीजिए घट पर शाब्दबोध को उत्पन्न करना है तो धर्मितासम्बन्धेन अभेद सम्बन्धावच्छिन्न नीलत्वावच्छिन्नप्रकारताशालिशाब्दबोधं प्रति धर्मितासम्बनेन अभेदसम्बन्धावच्छिन्ननीलत्वावच्छिन्नप्रकारताक उपस्थितिः कारणम्। इस कार्यकारण भाव में जिस घट में शाब्दबोध तथा उसके कारण की स्थिति बतानी थी उसका नाम नहीं लेना पड़ा। जबकि समवाय सम्बन्ध से यदि यही कार्यकारण भाव कहते तो उसका नाम लेना पड़ता। परन्तु इस विषयता सम्बन्ध से कार्यकारणभाव मानने पर विषय का प्रवेश न करने से लाघव भले ही हो, परन्तु आपत्ति यह आएगी कि यदि - देवदत्त को - अभेदसम्बन्धावच्छिन्नीलत्वावच्छिन्नप्रकारक उपस्थिति धर्मिता सम्बन्धेन है, तो उसी धर्मिता सम्बन्ध से यज्ञदत्त को अभेदसम्बन्धावच्छिन्न नीलत्वावच्छिन्नप्रकारताक शाब्दबोध होने लगेगा। क्योंकि आपने कार्य कारण भाव में किसी पुरूष का नाम तो लिया नहीं है कि - धर्मिता सम्बन्ध से देवदत्तीय अभेदसम्बन्धावच्छिन्नीलत्वावच्छिन्नप्रकारताक शाब्दबोध के लिए धर्मितासम्बन्ध से

देवदत्तीय अभेदसम्बन्धावच्छिन्ननीलत्वावच्छिन्नप्रकारताक उपस्थितिः कारणम् आपने तो सीधे यह कह दिया था धर्मिता सम्बन्ध से - अभेदसंसर्गक नीलप्रकारक शाब्दबोध के लिए धर्मिता सम्बन्ध से - अभेद संसर्गनील प्रकारक शाब्दबोध के लिए धर्मिता सम्बन्ध से - अभेदसंसर्गकनीलप्रकारकपदार्थोपस्थिति कारण है तो नीलो घटः में घट पद से ज्ञात होने वाला जो घट है उसका ज्ञान जैसे यज्ञदत्त को हो रहा है वैसे ही देवदत्त को भी, क्योंकि घट तो विषय है सर्वसामान्य वस्तु है तो धर्मिता सम्बन्धेन यज्ञदत्त तथा देवदत्त सभी का ज्ञान घट पर रह सकता है, ऐसी स्थिति में यदि यज्ञदत्त को धर्मितासम्बन्धेन पदार्थोपस्थिति हो रही है तो कारण = घट पर रह गया तो वहाँ पर धर्मितासम्बन्धेन देवदत्त को शाब्दबोध भी होना चाहिए। क्योंकि यदि देवदत्त को धर्मिता सम्बन्ध से उपर्युक्त प्रकारताशाली शाब्दबोध होगा तो वह शाब्दबोध भी घट पर ही रहेगा। इस प्रकार कार्य और कारण की एकत्र स्थिति हो जाएगी। अतः विषयता सम्बन्ध से कार्यकारणभाव मानने पर कार्यकारणभाव के स्वरूप में तत्पुरूषीयत्व का निवेश करना पड़ेगा जैसे - धर्मितासम्बन्धेन देवदत्तीय अभेदसम्बन्धावच्छिन्न नीलत्वावच्छिन्न प्रकारताक शाब्दबोधं प्रति, धर्मिता सम्बन्धेन देवदत्तीय नीलत्वावच्छिन्नप्रकारताक पदार्थोपस्थितिः= कारणम्। इस प्रकार समवाय सम्बन्ध से कार्यकारण भाव मानने पर विषय का प्रवेश करना पड़ेगा तत्पुरूषीयत्व का नहीं। इसी प्रकार विषयता सम्बन्ध से कार्यकारणभाव मानने पर तत्पुरूषीयत्व का निवेश करना पड़ेगा, विषय का नहीं। इस तरह दोनों प्रकार के कार्यकारण भाव में किसी में कोई लाघव दिखाई नहीं देता। परन्तु कल्पना कीजिए जहाँ विशेष्य वाचक पद एक हो और विशेषण वाचक पद अनेक - जैसे नीलः घटः, पीतः घटः, शोभनः घटः इत्यादि। यहाँ इन तीनों वाक्यों के लिए समवाय सम्बन्ध से कार्यकारण भाव मानने पर तीन कार्यकारण भाव मानने पड़ेंगे (1) समवाय सम्बन्धेन अभेद सम्बन्धावच्छिन्न नीलत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितघटत्वावच्छिन्नविशेष्यताकशाब्दबोधं प्रति समवाय सम्बन्धेन - अभेदसम्बन्धावच्छिन्न नीलत्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपित घटत्वावच्छिन्न विशेष्यताकउपस्थितिः कारणम्।

(2) समवाय सम्बन्धेन - अभेदसम्बन्धावच्छिन्न पीतत्वावच्छिन्नप्रकारता निरूपित घटत्वावच्छिन्नविशेष्यताकशाब्दबोधं प्रति, समवायसम्बन्धेन अभेद संसर्गावच्छिन्न पीतत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितघटत्वावच्छिन्न उपस्थितिः कारणम्।

(3) समवाय सम्बन्धेन - अभेदसंसर्गावच्छिन्न शोभनत्वावच्छिन्नप्रकारता निरूपित घटत्वावच्छिन्नविशेष्यताकशाब्दबोधं प्रति, समवायसम्बन्धेन अभेद संसर्गावच्छिन्न शोभनत्वांवच्छिन्नप्रकारतानिरूपितघटत्वावच्छिन्नविशेष्यताक पदार्थोपस्थितिः कारणम्। इस प्रकार यदि विशेषण अनेक हों विशेष्य एक तब भी विशेषणं की संख्यानुसार कार्यकारणभाव अनेक मानने पड़ेंगे। यदि विशेषण एक और विशेष्य अनेक तो वहाँ भी विशेष्य की संख्यानुसार अनेक कार्यकारण भाव

मानने पड़ेंगें। क्योंकि इस कार्यकारणभाव में विषय का प्रवेश करना आवश्यक है। परन्तु ऐसे स्थल पर यदि विषयता सम्बन्ध से कार्यकारणभाव मानें तो - विशेषण की संख्या यदि अनेक हैं और विशेष्य एक, जैसे ऊपर के एक ही घट के नील, पीत, तथा शोभन ये तीन विशेषण हैं, तो वहाँ पर विशेष्य का तो नाम लेंगें परन्तु विशेषण का नामतः उल्लेख न करके उन विशेषणों में रहने वाली विषयता (प्रकारता) को सम्बन्ध बनाकर कहेंगे - प्रकारता सम्बन्धेन - अभेदसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्नविशेष्यताक शाब्दबोधं प्रति प्रकारता सम्बन्धेन अभेदसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्नविशेष्यताक उपस्थितिः कारणम्। अब उपर्युक्त नीलो घटः पीतो घटः शोभनः घटः इन तीनों वाक्यों से होने वाले शाब्दबोध में अभेद सम्बन्ध की विशेष्यता तो घट में रहने से घटत्व से अवच्छिन्ना ही हैं, प्रकारता कहीं नील में तो कहीं पीत में तो कहीं शोभन में, तो प्रकारता पदेन, नील पीत तथा शोभन में रहने वाली सभी प्रकारताएं ली जा सकती हैं तो अभेद सम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न विशेष्याताक शाब्दबोध या उपस्थिति दोनों ही प्रकारता रूप विषयता सम्बन्ध से तीनों विशेषणों में रह सकते हैं। इस प्रकार तीनों के लिए अलग-अलग कार्यकारणभाव की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी अपितु केवल एक ही कार्यकारणभाव प्रदर्शक वाक्य से तीनों प्रकार के वाक्यों से होने वाले शाब्दबोध और उनके कारण की एकत्र स्थिति होनी चाहिए यह बात सिद्ध हो जाएगी। यही लाघव है विषयता सम्बन्ध से कार्यकारणभाव मानने में।

उपर्युक्त ग्रन्थ से यह बात तो ज्ञात ही हो गयी कि विषयता सम्बन्ध से कार्यकारणभाव मानने में विषय का नामतः उल्लेख नहीं करना पड़ता। अब ग्रन्थ की पंक्ति के ऊपर ध्यान दें - "द्रव्यं घटः" इस वाक्य से होने वाला "द्रव्याऽभिन्नो घटः" इस आकार का शाब्दबोध धर्मितावच्छेदकता रूप विषयता समबन्ध से द्रव्यत्व में रहता है। क्योंकि उपर्युक्त शाब्दबोध में धर्मी (विशेष्य) रूप में द्रव्य भासित हो रहा है तो धर्मितावच्छेदकता द्रव्यत्व में ही रहेगी तो धर्मितावच्छेदकतासम्बन्ध से उपर्युक्त "द्रव्याऽभिन्नो घटः" शाब्दबोध द्रव्यत्व में रहता है। उपर्युक्त शाब्दबोध में घट प्रकार रूप में तथा अभेद संसर्ग रूप में भासित हो रहा है। अतः इस शावदबोध को अभेदान्वय बोध तो कहेंगें ही शुद्ध घटत्वावच्छिन्न प्रकारक भी कहेंगें। क्योंकि उपर्युक्त "द्रव्याऽभिन्नो घटः" शाब्दबोध में "घट" अभेद सम्बन्ध से द्रव्य में प्रकार रूप में भासित हो रहा है, उसमें रहने वाली प्रकारता शुद्ध घटत्व (नील आदि यहाँ विशेषणतावच्छेदक रूप में भासित नहीं हो रहा है) से अवच्छिन्न है। इस प्रकार से उपर्युक्त शाब्दबोध अभेदसम्बन्धावच्छिन्न शुद्ध घटत्वावच्छिन्नप्रकारताक शाब्दवोध कहलाएगा। यह शाब्दबोध अर्थात् द्रव्याभिन्नो घटः शाब्दबोध अभेदसंसर्गावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रकारक शाब्दबोध है यह धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से जैसे द्रव्यत्व में हो सकता है वैसे घटत्व में भी हो सकता है क्योंकि घटत्व में भी धर्मितावच्छेदकता तो घटो घटः में है ही। इस

प्रकार अभेदसंसर्गक घटत्वप्रकारक शाब्दबोध धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से घटत्व में हो सकता है।

यदि सिद्धान्ती पूर्वपक्षी के इस बात को मान लें कि - अभेदसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्नप्रकारताक शाब्दबोध जैसे द्रव्यं घटः में धर्मितावच्छेदकतासम्बन्ध से द्रव्यत्व में रहता है वैसे ही उपर्युक्त शाब्दबोध धर्मितावच्छेदकतासम्बन्ध से घटत्व में रह सकता है। तो इसका अर्थ यह निकला कि उपर्युक्त अभेदसंसर्गकशाब्दबोध में भासित होने वाले अभेद संसर्ग की प्रकारता तथा विशेष्यता दोनों घटत्व से अवच्छिन्न हो सकती है। क्योंकि उपर्युक्त शाब्दबोध में घटत्वावच्छिन्न प्रकारता को अभेदसम्बन्धावच्छिन्न तो कह ही रहे हैं जिससे यह तो सिद्ध हुआ कि अभेदसंसर्ग की प्रकारता घटत्व से अवच्छिन्न है, अब इस प्रकार की प्रकारता वाला शाब्दबोध यदि धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से घटत्व में रहता है, यह भी मान लें तो इसका अर्थ हुआ कि उपर्युक्त शाब्दबोध की धर्मिता घट में रहती है और धर्मितावच्छेदकता (विशेष्यतावच्छेदकता) घटत्व में, तभी तो धर्मितावच्छेदकता, सम्बन्ध से शाब्दबोध घटत्व में रहेगा। तो इस प्रकार धर्मिता (विशेष्यता) भी घटत्व से अवच्छिन्न है, यह बात सिद्धान्ती ने स्वीकार कर ली है ऐसा मानना पड़ेगा। अतः आगे कहते हैं कि द्रव्यं घटः में अभेदसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्नप्रकारताकशाब्दबोध धर्मितावच्छेदकतासम्बन्ध से द्रव्यत्व में भले ही रहता हो, परन्तु वह घटत्व में नहीं रह सकता। पूर्वपक्षी इस पर कहता है क्यों? घटत्व में जब धर्मितावच्छेदकता है तो उस सम्बन्ध से घटत्व में शाब्दबोध क्यों नहीं रह सकता? इसी पर सिद्धान्ती कहता है -

न च तत्रापादकाभावः, तात्पर्यज्ञानविशेषादिघटितायाधर्मितावच्छेदकतासम्बन्धेन द्रव्यत्वादौ तदुत्पादकनियामकसामग्रया एवापादकत्वात्।

अभेदसम्बन्धावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रकारताक शाब्दबोध धर्मितावच्छेदकता सम्बन्धेन घटत्व में जो उत्पन्न होगा सो उसके लिए आपादक = कारण सामग्री नहीं है अर्थात् द्रव्यं घटः में अभेद सम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न प्रकारताकशाब्दबोध को धर्मितावच्छेदकता सम्बन्धेन द्रव्यत्व में उत्पन्न करने के लिए तो पदार्थोपस्थिति आदि कारण हैं, परन्तु उपर्युक्त शाब्दबोध उसी धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से घटत्व में भी उत्पन्न हो सके, ऐसी सामग्री (आपादक) ही नहीं है, तो कैसे उपर्युक्त आपत्ति दी जा सकती है? पूर्वपक्षी इस पर कहता है कि जिन तात्पर्यज्ञान योग्यता ज्ञान पदार्थोपस्थिति समभिव्याहार रूप आकाँक्षा ज्ञान रूप सामग्री से अभेद संसर्गक घट प्रकारक शाब्दबोध धर्मितावच्छेदकता रूप विषयता सम्बन्ध से द्रव्यत्व में "द्रव्यं घटः" वाक्य से उत्पन्न होता है, उन्हीं "सामग्रियों से उपर्युक्त अभेद संसर्गकघटप्रकारक शाब्दबोध धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से घटत्व में भी उत्पन्न हो ही सकता है इस पर प्रश्न यह पूछा जा सकता है कि द्रव्यं घटः वाक्य से अभेद संसर्गक घट प्रकारक शाब्दबोध जो धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से द्रव्यत्व में उत्पन्न होता है,

उसकी उत्पादक सभी सामग्री द्रव्यघटित ही होंगी जैसे द्रव्यं घटः में द्रव्यपदार्थः घटत्वावच्छिन्नाभेदसंसर्गवान् ऐसा योग्यताज्ञान, घटत्वावच्छिन्न प्रकारकद्रव्यत्वावच्छिन्नविषयताशालिशाब्दबोधविषयकइच्छावान् अयं द्रव्यं घटः इति वाक्यप्रयोक्ताइत्याकारक तात्पर्यज्ञान; घटपदं द्रव्यपदार्थान्वितर्स्वाथं बोधयतु ऐसा तात्पर्यज्ञान आदि सभी सामग्री, द्रव्य घटित होने से; धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से द्रव्यत्व में रहेंगी घटत्व में तो रहेंगी नहीं। पुनः ये सामग्रियाँ द्रव्यत्व में भले हीं तादृश घटप्रकारकशाब्दबोध को उत्पन्न करें, घटत्व में तो कथमपि उत्पन्न नहीं कर सकती। पुनः पूर्वपक्षी कैसे कह रहा है कि जिन सामग्रियों से द्रव्यत्व में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से उपर्युक्त शाब्दबोध उत्पन्न होगा उन्हीं से घटत्व में भी।

इस पर पूर्वपक्षी अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कहता है कि - मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार की योग्यताज्ञान आदि घटितसामग्री द्रव्यत्व में उपर्युक्त शाब्दबोध को उत्पन्न करती है, वैसी ही योग्यता ज्ञानादिघटितसामग्री घटत्व में उपर्युक्त शाब्दबोध को उत्पन्न करेगी। क्योंकि जैसे अभेद सम्बन्ध से द्रव्य विशेष्यक घट प्रकारक ज्ञान होने से घटोद्रव्यम् यह योग्यता ज्ञान कहलाता है, वैसे ही घटो घटः यह ज्ञान भी अभेद सम्बन्ध से घट विशेष्यक घटप्रकारक ज्ञान होने से योग्यता ज्ञान है ही, इसी प्रकार जैसे द्रव्य तथा घट के बोधक द्रव्यं तथा घटः इन समान विभक्तिक दोनों पदों का समभिव्याहार आकाँक्षा है और घटोद्रव्यम् इस समभिव्याहृत वाक्यज्ञान को आकाँक्षा ज्ञान माना जाता है वैसे ही घटो घटः इस समान विभक्तिक पदों के समभिव्याहार का ज्ञान भी आकाँक्षा ज्ञान है ही, जैसे द्रव्यपदार्थान्वित घट पदार्थ को कहने वाले द्रव्यं घटः इस वाक्य के ज्ञान को तात्पर्य ज्ञान कहते हैं वैसे ही घटान्वित घट पदार्थपरक होने से घटो घटः यह वाक्य ज्ञान भी तात्पर्य रूप है, इसी प्रकार द्रव्य पद से द्रव्य की तथा घट पद से घट की एक काल में उपस्थिति के कारण, इन दोनों की उपस्थिति को आसत्ति मानते हैं, वैसे ही घट पद से घट की तथा दूसरे घट पद से भी घट की एक काल में उपस्थिति होने के कारण इन उपस्थितियों को भी आसक्ति मानी जा सकती है। इस प्रकार जैसे तात्पर्य ज्ञान आदि सभी सामग्री विषयता सम्बन्ध से द्रव्यत्व में रहने के कारण, धर्मितावच्छेदकता रूप विषयता सम्बन्ध से द्रव्यत्व में शाब्दबोध को उत्पन्न करता है वैसे ही वे सभी सामग्री धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से घटत्व में भी रहेंगे ही तो धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से घटत्व में अभेदसंसर्गक घटप्रकारक शाब्दबोध को उत्पन्न तो कर ही सकती हैं। इस प्रकार सामग्री रूप आपादक के प्रसिद्ध होने से आपत्ति रह ही गई।

सिद्धान्ती उपर्युक्त आपत्ति का वारण करने के लिए कहता है कि -

न च धर्मितावच्छेदकतासम्बन्धेन द्रव्यत्वादौ तादृशान्वयबोधोत्पत्तिप्रयोजिका द्रव्यपदजन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नविशेष्यकोपस्थितितद्वच्छिन्न-

विशेष्यकयोग्यताज्ञानादिघटितसामग्र्येव, धर्मितावच्छेदकतायास्तत्कार्यतावच्छेदकसंसर्गताविरहेऽपि द्रव्यत्वादिनिष्ठायास्तत्कार्यतावच्छेदकधर्मघटकत्वात्।

इस ग्रन्थ को समझने के पहले एक बात यह समझ लेनी चाहिए कि सिद्धान्ती घटो घटः में उपर्युक्त अभेदान्वय बोध की आपत्ति का वारण करने के लिए, पूर्वपक्षी द्वारा उपर्युक्त शाब्दबोध के लिए जो आपादक सामग्री प्रदर्शित किया गया है, उसे समवाय सम्बन्ध से कारण मान रहा है। जैसा कि भट्टाचार्य स्वयं कह रहे हैं "धर्मितावच्छेदकतायाः तत्कार्यतावच्छेदकसंसर्गताविरहेऽपि" इससे यह बात तो निकलती है कि सिद्धान्ती धर्मितावच्छेदकता को कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध नहीं मानकर अर्थात् समवाय सम्बन्ध को कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध मानकर उपर्युक्त आपत्ति के वारण का प्रयास कर रहा है। ऐसी स्थिति में जबकि धर्मितावच्छेदकता कार्यतावच्छेदक समबन्ध नहीं है तो पुनः धर्मितावच्छेदकतासम्बन्धेन द्रव्यत्वादौ तादृशान्वयबोधोत्पत्तिप्रयोजिका कहना असंगत लगता है। क्योंकि कार्य जिस सम्बन्ध से कहीं उत्पन्न होता है उसे कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध कहते हैं। ऐसी स्थिति में सिद्धान्ती जब समवायसम्बन्ध को कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध मान रहा है तो उस समवायसम्बन्ध से कार्य = अर्थात् शाब्दबोध तो आत्मा में उत्पन्न होगा द्रव्यत्व में तो उत्पन्न हो ही नहीं सकता। पुनः द्रव्यत्वादौ तादृशान्वयबोधोत्पत्तिप्रयोजिका, यह कथन तो असंगत ही प्रतीत होता है। अतः यहाँ यह समझना चाहिए कि द्रव्यत्वादौ में जो सप्तमी विभक्ति आयी है, उसका अर्थ है अवच्छेदकत्व उस अवच्छेदकत्व का अन्वय शाब्दबोध में नहीं है अपितु उसकी उत्पत्ति में है। इस प्रकार वाक्यार्थ बनेगा - द्रव्यत्वावच्छिन्नायां तादृशान्वयबोधोत्पत्तौ धर्मितावच्छेदकता सम्बन्धेन प्रयोजिका द्रव्यपदजन्य . . . . . . इत्यादि सामग्री एव। तात्पर्य यह निकला कि उपर्युक्त शाब्दबोध की उत्पत्ति का अवच्छेदक देश है द्रव्यत्व। अब समस्या यहाँ यह है कि कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध से कार्य का अधिकरण जो देश होता है, उसी देश को कार्योत्पत्ति का अवच्छेदक माना जाता है। इसी प्रकार कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से कारण का जो देश अधिकरण होता है उसे कारणतावच्छेदक देश कहा जाता है। इस तरह कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध से कार्य के अधिकरण रूप देश से अवच्छिन्न - कार्योत्पत्ति में ही, कारणतावच्छेदकावच्छिन्न कारण साग्री को प्रयोजक माना जाता है। प्रकृत में कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध चूंकि समवाय है तो समवाय सम्बन्ध रूप कार्यतावच्छेदकसम्बन्ध से, उपर्युक्त अभेद सम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न प्रकारताक शाब्दबोध रूप कार्य, का अधिकरण तो आत्मा ही होगा। अतः आत्मा रूप देश से अवच्छिन्न जो उपर्युक्त शाब्दबोध की उत्पत्ति, उसी में द्रव्यत्वावच्छिन्न विशेष्यक घटत्वावच्छिन्न प्रकारक योग्यताज्ञान आदि घटित सामग्री प्रयोजक हो सकती है। अर्थात् आत्मा में यदि उपर्युक्त शाब्दबोध उत्पन्न हो तो उपर्युक्त द्रव्यत्वावच्छिन्न विशेष्यक घटत्व प्रकारक योग्यता

ज्ञान आदि भले ही प्रयोजक होवें, द्रव्यत्व में तो नहीं हो सकते। क्योंकि द्रव्यत्व तो उपर्युक्त शाब्दबोध की उत्पत्ति का अवच्छेदक देश ही नहीं है अर्थात् वहाँ कार्यतावच्छेदक समवाय सम्बन्ध से शाब्दबोध उत्पन्न नहीं होता है। यदि धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से द्रव्यत्व रूप धर्मितावच्छेदक में शाब्दबोध चूँकि उत्पन्न होता है। अतः द्रव्यत्व भी अधिकरण हो सकता है, तो धर्मितावच्छेदकता तो कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध ही नहीं है। इस प्रकार जब द्रव्यत्व उपर्युक्त शाब्दबोध की उत्पत्ति का अवच्छेदक देश नहीं है तो पुनः सिद्धान्ती का द्रव्यत्वादौ धर्मितावच्छेदकसम्बन्धेन तादृशकार्योत्पत्तौ कहना असंगत है। तो यहाँ पर यह समझिए कि उत्पत्ति के अवच्छेदक के सम्बन्ध में जो यह कहा गया कि -

"कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध से कार्याधिकरण ही कार्योत्पत्ति का अवच्छेदक देश होता है" इस नियम में आये कार्यतावच्छेदक शब्द का अर्थ है -

सम्बन्ध रूप से अथवा धर्म रूप से जो कार्यता का अवच्छेदक हो, उनमें से किसी एक से अवच्छिन्न जो उसके अवच्छेदक सम्बन्ध से।

अब प्रकृत पर ध्यान दे - उपर्युक्त द्रव्यं घटः से होने वाला द्रव्यविशेष्यक घटप्रकारक अभेदसंसर्गक शाब्दबोध समवाय सम्बन्ध से भले ही आत्मा में होवे, परन्तु उत्पन्न होने वाले अभेदसंसर्गक द्रव्यविशेष्यक घटप्रकारक शाब्दबोध में जो कार्यता है। उस कार्यता का अवच्छेदक सम्बन्ध भले ही समवाय है, परन्तु उस शाब्दबोध में रहने वाली कार्यता का अवच्छेदक धर्म तो द्रव्यत्व है हीं। क्योंकि" अभेद सम्बन्ध से द्रव्य विशेष्यक घट प्रकारक शाब्दबोध यदि उत्पन्न होने के कारण कार्य है तो उसमें रहने वाली कार्यता का अवछेदक होगा अभेद संर्गक द्रव्यविशेष्यक घट प्रकारक शाब्दबोधत्व इस शाब्दबोधत्व रूप कार्यतावच्छेदक का परम्परया विशेषण होने के कारण द्रव्यत्व भी कार्यतावच्छेदक माना जाता है। इस प्रकार द्रव्यत्व में भी धर्म विधया कार्यतावच्छेदकत्व रह गया। इस तरह धर्मविधया कार्यता का अवच्छेदक द्रव्यत्व = धर्मितावच्छेदक है, अतः उसे धर्मितावच्छेदक = द्रव्यत्व, में रहने वाली धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध कहा गया।

अब ग्रन्थ की मूल पङ्क्तियों का अन्वय तथा अर्थ इस प्रकार होगा - धर्मितावच्छेदकतायाः - द्रव्यत्व में रहने वाली धर्मितावच्छेदकता में, कार्यतावच्छेदक सम्बन्धता विरहेऽपि = कार्यतावच्छेदकसम्बन्धत्व का अभाव होने पर भी, द्रव्यत्वनिष्ठायाः = द्रव्यत्व में रहने वाली धर्मितावच्छेदकता, तत्कार्यतावच्छेदक धर्मघटकत्वात् =उस अभेदसंसर्गक द्रव्यविशेष्यक घटप्रकारक शाब्दबोध में रहने वाली कार्यता के अवच्छेदक धर्म (शाब्दबोधत्व) का घटक है। अतः (समवाय सम्बन्ध से आत्मा में उत्पन्न होने वाले अभेदसंसर्गक द्रव्यविशेष्यक घटप्रकारक शाब्दबोध की) धर्मितावच्छेदकता सम्बन्धेन = धर्मविधया अवच्छेदक जो द्रव्यत्व उस में रहने वाली धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से, द्रव्यत्वादौ = अवच्छेदक देश द्रव्यत्व में, तादृशान्वयबोधोत्पत्तिप्रयोजिका = अभेदसंसर्गक द्रव्यविशेष्यक घटप्रकारक

शाब्दबोध की उत्पत्ति में प्रयोजिका, द्रव्यपदजन्य = द्रव्य पद से उत्पन्न, जो द्रव्यत्वावच्छिन्नविशेष्यकोपस्थितिः = द्रव्यत्वावच्छिन्न द्रव्य की उपस्थिति, तथा तदवच्छिन्नविशेष्यकयोग्यताज्ञानादि घटित सामग्री एव = द्रव्यत्व से अवच्छिन्न द्रव्य विशेष्यक योग्यताज्ञान आदि सामग्री ही। संकलितार्थ यह होगा कि - समवाय सम्बन्ध से आत्मा में उत्पन्न होने वाले अभेदसंसर्गक द्रव्यविशेष्यक घट प्रकारक शाब्दबोध का धर्मविधया अवच्छेदक द्रव्यत्व है। अतः उस द्रव्यत्व में रहने वाली जो धर्मितावच्छेदकता उस सम्बन्ध से उपर्युक्त अभेदसंसर्गक द्रव्यविशेष्यक घट प्रकारक शाब्दबोध का अवच्छेदक देश द्रव्यत्व भी माना जा सकता है। अतः उस कार्यतावच्छेदक रूप धर्मितावच्छेदक में रहने वाली धर्मितावच्छेदकता रूप; सम्बन्ध से द्रव्यत्व रूप देशावच्छेदेन उत्पन्न होने वाले उपर्युक्त अभेदसंसर्गक द्रव्य विशेष्यक शाब्दबोध की उत्पत्ति में, कार्यतावच्छेदकसम्बन्ध से द्रव्यपदजन्य द्रव्यत्वावच्छिन्नद्रव्यविशेष्यक उपस्थिति, तथा द्रव्यत्वावच्छिन्न द्रव्यविशेष्यक योग्यता ज्ञानादि से घटित सामग्री ही प्रयोजिका होती है।

तादृशसामग्रयाश्चात्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या द्रव्यत्वावच्छिन्नविशेष्यक घटत्वाद्यवच्छिन्नाद्यभेदबुद्धित्वरूपस्वीयकार्यतावच्छेदकावच्छिन्नोत्पत्तेरेव व्याप्यतया, घटत्वादौ धर्मितावच्छेदकतासम्बन्धेन घटत्वावच्छिन्ना भेदबोधापादकत्वं न संभवतीतिवाच्यम्।

उपर्युक्त द्रव्यपदजन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नविशेष्यक उपस्थिति योग्यताज्ञानादिघटित-सामग्री, समवाय सम्बन्ध से आत्मा में उत्पन्न होने वाले द्रव्यत्वावच्छिन्न विशेष्यक घटत्वावच्छिन्न प्रकारक अभेद बुद्धित्व रूप अपने कार्यतावच्छेदक से अवच्छिन्न (कार्य = शाब्दबोध) की उत्पत्ति का ही व्याप्य अर्थात् प्रयोजक होता है।

अतः उनका घटत्व आदि में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से घटत्वावच्छिन्न का अभेदान्वय बोध में आपादक होना संभव नहीं। सारांश यह निकला कि - समवाय सम्बन्ध से द्रव्य पद जन्य द्रव्यत्वावच्छिन्नद्रव्य विशेष्यक उपस्थिति तथा योग्यताज्ञान आदि सामग्री आत्मा में रहती है तो उसी आत्मा में समवाय सम्बन्ध से द्रव्यविशेष्यक घटप्रकारक अभेदसंसर्गकशाब्दबोध उत्पन्न होता है। अब चूँकि उत्पन्न होने वाले उपर्युक्त शाब्दबोध रूप कार्य के विशेषण रूप में द्रव्य भी भासित हो रहा है। अतः द्रव्यत्व कार्यतावच्छेदक (विषयता सम्बन्ध से) है। उपर्युक्त शाब्दबोध में "द्रव्य" विशेष्य रूप में भासित हो रहा है अतः द्रव्यत्व को धर्मिता वच्छेदक माना जाता है। इसलिए आत्मा में उत्पन्न होने वाले उस द्रव्य विशेष्यक घट प्रकारक अभेदान्वय बोध का अवच्छेदक देश द्रव्यत्व भी माना जाता है। अतः उस द्रव्यत्व में रहने वाली धर्मविधया जो कार्यतावच्छेदक रूप धर्मितावच्छेदक उसमें रहने वाली धर्मितावच्छेदकतासम्बन्ध से द्रव्यत्व रूप देशावच्छेदेन उत्पन्न होने वाले अभेद संसर्गक द्रव्य विशेष्यक घट प्रकारक शाब्दबोध में, समवाय सम्बन्ध से द्रव्य पदजन्य द्रव्यत्वावच्छिन्नद्रव्यविशेष्यक उपस्थिति, योग्यताज्ञानआदिघटित

कारणसमुदाय रूप सामग्री प्रयोजक होने से, द्रव्यत्व में भले हीं द्रव्य विशेष्यक घट प्रकारक अभेदान्वय बोध उत्पन्न करें, परन्तु धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से घटत्व में घटत्वावच्छिन्न के अभेदान्वय बोध की उत्पत्ति में आपादक नहीं हो सकते अर्थात् प्रयोजक सामग्री नहीं हो सकती। क्योंकि द्रव्य पद जन्य द्रव्यत्वावच्छिन्न विशेष्यक उपस्थिति योग्यता ज्ञान आदि कारण सामग्री से समवाय सम्बन्ध से आत्मा में घट विशेष्यक घट प्रकारक अभेदान्वय बोध तो उत्पन्न होगा ही नहीं, तो उपर्युक्त द्रव्य पद जन्य द्रव्योपस्थिति आदि कारण सामग्री की कार्यता घट विशेष्यक घटप्रकारक शाब्दबोध में नहीं रहेगी तो "घटत्व" में उपर्युक्त कारण सामग्री की कार्यता का अवच्छेदकत्व भी नहीं रहेगा तो उस घटत्व को कार्यता का धर्मविधया अवच्छेदक भी नहीं होने से शाब्दबोध का अवच्छेदक देश भी नहीं कह सकते तो पुनः धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से घटत्व में उपर्युक्त द्रव्यपदजन्य द्रव्य विशेष्यक उपस्थिति आदि सामग्री अभेदसंसर्गक घट विशेष्यक घट प्रकारक शाब्दबोध में प्रयोजक नहीं हो सकता।

इस पर पूर्वपक्षी पुनः कहता है कि -

योग्यताज्ञानस्य धर्मितावच्छेदकं निवेश्य तद्भेदेनानन्तकारणताकल्पनमपेक्ष्य लाघवाद् धर्मितावच्छेदकतासम्बन्धेन शाब्दबुद्धौ तादृशसम्बन्धेन धर्मितावच्छेदकमनिवेश्य हेतुताकल्पनस्यैव युक्तात्वात्। घटत्वादिधर्मितावच्छेदककघटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारकयोग्यता-ज्ञानबलादेव घटत्वादौ धर्मितावच्छेदकतासम्बन्धेन तदापत्तेः।

धर्मितावच्छेदक = विशेष्यतावच्छेदक घटत्व आदि का निवेश्य = निवेश करके, तद्भेदेन = धर्मितावच्छेदक के भेद से, योग्यताज्ञानस्य = योग्यता ज्ञान की, अनन्तकारणताकल्पनम् = अनन्तकारणता की कल्पना करने की अपेक्षा, लाघवाद् = लाघव के कारण, धर्मितावच्छेदकतासम्बन्धेन = घटत्व आदि में रहने वाली धर्मितावच्छेदकता रूप विषयता सम्बन्ध से, शाब्दबुद्धौ = शाब्दबोध में, तादृशसम्बन्धेन = उस धर्मितावच्छेदकतासम्बन्ध से धर्मितावच्छेदकमनिवेश्य = कारणतावच्छेदक कोटि में धर्मितावच्छेदक घटत्व आदि का निवेश नहीं करकेहेतुताकल्पनस्यैव = योग्यताज्ञान में कारणता की कल्पना करना हीं युक्त है।

तात्पर्य यह है कि - इसके पूर्व सिद्धान्ती ने योग्यता ज्ञान को द्रव्यपद जन्य द्रव्यत्वावच्छिन्नद्रव्यविशेष्यक योग्यताज्ञानत्वेन समवाय सम्बन्ध से कारण मानकर घटो घटः में अभेदान्वय बोध की आपत्ति का वारण यह कह कर किया था कि उपर्युक्त द्रव्यपदजन्य द्रव्यत्वावच्छिन्नद्रव्यविशेष्यकयोग्यताज्ञान आदि सामग्री धर्मविधया कार्यतावच्छेदक = शाब्दबोधत्व के घटक द्रव्यत्व में रहने वाली जो धर्मितावच्छेदकता उस सम्बन्ध से द्रव्यत्व में ही अभेदसंसर्गक द्रव्यविशेष्यक घट

प्रकारक शाब्दबोध = की उत्पत्ति में प्रयोजक हो सकता है, घटत्व के कार्यतावच्छेदक नहीं होने से उसमें नहीं। प्रस्तुत ग्रन्थ में उसी के ऊपर आक्षेप करता हुआ कहता है कि - उपर्युक्त रीति से समवाय सम्बन्ध से कार्यकारणभाव मानकर कारण रूप योग्यताज्ञान में धर्मितावच्छेदकता का निवेश करके यदि उसमें कारणता मानेंगें तो विषय रूप धर्मितावच्छेदक के भेद से योग्यता मेंअनन्त कारणता की कल्पना करनी पड़ेगी। पूर्व में यह बात बड़े स्पष्ट रूप में बतायी जा चुकी है कि समवाय सम्बन्ध से कार्यकारण भाव मानने पर कार्यकारण भाव में विषयका प्रवेश करना आवश्यक होता है; जबकि विषयता सम्बन्ध से कार्य कारणभाव मानने पर विषय का प्रवेश नहीं करना पड़ता। पूर्वपक्षी उसी बात को कहता है कि- यदि समवाय सम्बन्ध से "द्रव्यं घटः" में द्रव्य पद जन्य द्रव्यत्वावच्छिन्नद्रव्यविशेष्यक योग्यताज्ञानादि घटित सामग्री को कारण मानेंगें तो कारणतावच्छेदक कुक्षि में विषय का प्रवेश करना आवश्यक होगा तो द्रव्यं घटः में द्रव्य विशेष्यक योग्यता ज्ञान, प्रेमेयो घटः में प्रमेय विशेष्यक योग्यता ज्ञान सुन्दरः घटः में कम्बुग्रीवादिमान् घटः में कम्बुग्रीवादिमत् विशेष्यक योग्यता ज्ञान, इसी रीति से विषय के भेद से योग्यता ज्ञान में अनन्त कारणता की कल्पना करनी पड़ेगी। इसलिए समवाय सम्बन्ध से कार्यकारणभाव मानकर धर्मितावच्छेदक द्रव्यत्व आदि विषय के अनन्त होने के कारण योग्यता ज्ञान में अनन्त कारणता की कल्पना करने से अच्छा तो यह होगा कि उस धर्मितावच्छेदक रूप अनन्त विषयों में रहने वाली एक धर्मितावच्छेदकता को सम्बन्ध मानकर, धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से कार्यकारणभाव मानें। ऐसा मानने में अनन्त धर्मितावच्छेदक का निवेश नहीं करना पड़ेगा यह लाघव होगा। इस तरह धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से योग्यता ज्ञान आदि घटित कारण समुदाय को प्रयोजक मानो। इसमें धर्मितावच्छेदक कार्यतावच्छेदक कुक्षि में विषय विधया प्रविष्ट नहीं है तो धर्मितावच्छेदक के भेद से योग्यता ज्ञान आदि में अनन्त कारणता की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी, यही लाघव है।अब यदि इस लाघव के कारण धर्मितावच्छेदकता रूप विषयता सम्बन्ध से शाब्दबोध को कार्य और योग्यता ज्ञान आदि को कारण मान रहे. हैं तो इस कार्यकारण भाव में धर्मितावच्छेदक का प्रवेश तो करना नहीं है। क्योंकि तब तो कहेंगे - धर्मितावच्छेदकता सम्बन्धेन अभेदसंसर्गकघटप्रकारक शाब्दबोधं प्रति, धर्मितावच्छेदकता सम्बन्धेन अभेद संसर्गक घटप्रकारक योग्यताज्ञानादि कारणम्। तो अभेदसंसर्गक घटप्रकारक जैसी योग्यताज्ञानादि कारण सामग्री द्रव्यं घटः इस स्थल में रहती है और धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से द्रव्यत्व में अभेद संसर्गक घटप्रकारक शाब्दबोध को उत्पन्न करने में प्रयोजक होता है वैसी ही अभेद संसर्गक घट प्रकारक योग्यताज्ञान "घटो घटः" इस स्थल में भी धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से

घटत्व में रहेगा ही तो घटत्व में भी अभेद संसर्गक घटप्रकारक शाब्दबोध की उत्पत्ति में प्रयोजक हो ही सकता है।

इस प्रकार अभेद संसर्गक घट प्रकारक "घटो घटः" इस योग्यताज्ञान रूप कारण के आधार पर ही घटो घटः में अभेदान्वयबोध की आपत्ति है ही।

न च योग्यताज्ञानस्य धर्मितावच्छेदकनिष्ठप्रत्यासत्त्या हेतुत्वोपगमे द्रव्यत्वावच्छिन्नस्य पदादनुपस्थित्वेऽपि द्रव्यत्वादौ तादृशप्रत्यासत्त्या प्रत्यासन्नयोग्यताज्ञानात् तत्र तादृशप्रत्यासत्त्या तादृशशाब्दबोधापत्तिः। आत्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या हेतुभूतां द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नोपस्थितिमन्तरेणापि, तादृशप्रमेयत्वाद्यवच्छिन्नोपस्थित्यादिदशायां प्रमेयत्वादौ धर्मितावच्छेदकता-सम्बन्धेन योग्यताज्ञानस्य फलजनकत्वात्, तादृशद्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नो-पस्थितिविरहस्याकिञ्चित्करत्वादिति वाच्यम्?

सिद्धान्ती धर्मितावच्छेदकता रूप विषयता सम्बन्ध से योग्यता ज्ञान को कारण मानने पर पूर्वपक्षी से कहता है कि - यदि धर्मितावच्छेदक द्रव्यत्व आदि में रहने वाली धर्मितावच्छेदकता को सम्बन्ध मानकर उस धर्मितावच्छेदकतारुप विषयता सम्बन्ध से योग्यताज्ञान को कारण माना जाएगा तो जहाँ द्रव्य पद से द्रव्यत्वावच्छिन्न द्रव्य की उपस्थिति नहीं भी रहेगी वहाँ पर भी द्रव्यत्व आदि धर्मितावच्छेदक में, धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अभेदसंसर्गक घटप्रकारक योग्यता तो रहेगी ही तो उस धर्मितावच्छेदकतारूप विषयता सम्बन्ध से द्रव्यत्व में विद्यमान योग्यताज्ञान, (अनुपस्थित द्रव्यत्व में भी) अभेदसंसर्गक घटप्रकारक शाब्दबोध की उत्पत्ति कराने लगेगा। यह आपत्ति आएगी। यदि कहो द्रव्यत्व में चूँकि उपस्थिति नहीं है अतः वहाँ रहने वाला योग्यता ज्ञान, सहकारी उपस्थिति के नहीं रहने से शाब्दबोध को उत्पन्न नहीं करेगा तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि आत्मनिष्ठ प्रत्यासत्त्या अर्थात् समवाय सम्बन्ध से कारणीभूत जो द्रव्यपदजन्य द्रव्यत्वावच्छिन्न द्रव्य की उपस्थिति, उसके बिना भी यदि प्रमेयत्वावच्छिन्न प्रमेयकी उपस्थिति है तो वहाँ पर प्रमेयत्व में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से योग्यताज्ञान फलजनक होता है अर्थात अभेद संसर्गक घटप्रकारक शाब्दबोध को उत्पन्न करता ही है, इसी तरह यदि प्रमेयत्वावाच्छिन्न प्रमेय की उपस्थिति रहे, तब भी द्रव्यत्वावच्छिन्न द्रव्य की उपस्थिति रहने पर धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से द्रव्यत्व में रहने वाला अभेद संसर्गक घट प्रकारक योग्यताज्ञान धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अभेदसंसर्गक घट प्रकारक शाब्दबोध को उत्पन्न करता ही है। इस प्रकार द्रव्य पद जन्य द्रव्यत्वावच्छिन्न द्रव्य की उपस्थिति, जो कि समवाय सम्बन्ध से ही शाब्दबोध में कारण होती है, धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अभेदसंसर्गक घटप्रकारक शाब्दबोध में कारण नहीं मानी जा सकती। क्योंकि वह व्यभिचारी है। जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है जहाँ उपर्युक्त द्रव्योपस्थिति नहीं है उस प्रमेयत्व में भी अभेद संसर्गक घट प्रकारक शाब्दबोध

हो जाता है। इस प्रकार जब अभेद संसर्गक घट प्रकारक शाब्दबोध की धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से होने वाली उत्पत्ति में द्रव्य पदजन्य द्रव्य की उपस्थिति कारण ही नहीं है तो यदि जहाँ पर द्रव्यपद जन्य द्रव्य की उपस्थिति नहीं भी रहेगी वहाँ भी अभेद संसर्गक घट प्रकारक शाब्दबोध तो होगा ही उपर्युक्त द्रव्य की अनुपस्थिति अकिञ्चित्कर अर्थात् व्यभिचारी होने से अप्रतिबन्धकहीं होगा। इस प्रकार अनुपस्थित द्रव्यत्व में भी धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अभेद संसर्गक घट प्रकारक शाब्दबोध की आपत्ति होगी। धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से योग्यता ज्ञान में कारणता मानने पर। यहाँ यह बात ध्यान रखें कि उपस्थिति सर्वदा समवाय सम्बन्ध से ही कारण होती है, न कि धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से। क्योंकि द्रव्यं घटः में जो द्रव्य पद से द्रव्यत्वावच्छिन्न द्रव्य की उपस्थिति होती है उसमें द्रव्य द्रव्यत्व तथा उनका समवाय सम्बन्ध ही विषय रूप में भासित होते हैं। उनमें द्रव्य विशेष्य रूप में भासित होता है अतः उसमें विशेष्यता ही भासित होती है, उसी प्रकार द्रव्यत्व भी द्रव्य के प्रकार रूप में भासित होता है। अतः उसकी प्रकारता भासित होती है और समवाय सम्बन्ध संसर्गतया भासित होता है। धर्मितावच्छेदकता तो न तो द्रव्य में और न ही द्रव्यत्व में भासित होती है। इसी प्रकार घट पद से घट तथा घटत्व की जो उपस्थिति होती है उसमें भी घट में विशेष्यता तथा घटत्व में प्रकारता ही भासित होती है विशेष्यतावच्छेदकता या प्रकारतावच्छेदकता कहीं भी भासित नहीं होती। अतः द्रव्यपद जन्य द्रव्योपस्थिति धर्मितावच्छेदकतासम्बन्ध से द्रव्यत्व में नहीं रहती अपितु समवाय सम्बन्ध से आत्मा में ही रहती है। अस्तु।

पूर्व पक्षी इस पर सिद्धान्ती द्वारा उठायी गयी आपत्ति का वारण करते हुए पुनः घटो घटः में अभेदान्वय बोध की आपत्ति देने के लिए कहता है -

समानप्रकारताप्रत्यासत्त्या पदार्थोपस्थितेः शाब्दबोधे हेतुत्वोपगमात्। येन सम्बन्धेन यद्धर्मावच्छिन्नकार्यं प्रति येन सम्बन्धेन यद्धर्मावच्छिन्नकार्यस्य व्यापकता, तेन सम्बन्धेन तद्धर्मावच्छिन्नकार्योत्पादकसाम्ग्र्या अपि तेन सम्बन्धेन तद्धर्मावच्छिन्नकार्योत्पत्तावपेक्षिततया प्रकारतासम्बन्धेन द्रव्यत्वादौ पदजन्यपदार्थोपस्थित्यसत्त्वे तत्र धर्मितावच्छेदकतासम्बधेन शाब्दबोधापत्तेर-योगात्।

शाब्दबोध रूप कार्य के प्रति समानप्रकारता सम्बन्ध से पदार्थोपस्थिति को कारण मानेंगे न कि धमितावच्छेदकता सम्बन्ध से। तात्पर्य यह है कि उपस्थिति में धर्मितावच्छेदकता किसी में भासित भले ही न हो, परन्तु प्रकारता तो भासित होती है और शाब्दबोध में भी प्रकाररूप से कोई न कोई पदार्थ भासित होता ही है, तो प्रकारता भी उसमें भासित होगी। समानप्रकारता सम्बन्ध से पदार्थोपस्थिति को शाब्दबोध में कारण मानने का अभिप्राय यह है कि जिस पदार्थ में प्रकारतारूप

विषयता सम्बन्ध से उपस्थिति रहती है; उसी पदार्थ में धर्मितावच्छेदकता रूप प्रकारता सम्बन्ध से शाब्दबोध की उत्पत्ति होगी। जैसे - जहाँ "द्रव्यं घटः" इस स्थल में द्रव्य पद से द्रव्यत्वावच्छिन्न द्रव्य की उपस्थिति हुई हो वहाँ पर उपस्थित होने वाले द्रव्यत्व में उपस्थित होने वाले द्रव्य की प्रकारता रहती है। अतः प्रकारता सम्बन्ध से उपर्युक्त द्रव्यपदजन्य द्रव्यत्वावच्छिन्न द्रव्योपस्थिति द्रव्यत्व में रहेगी तो वहाँ पर अभेदसंसर्गक घट प्रकारक शाब्दबोध भी धर्मितावच्छेदकतारूप प्रकारता सम्बन्ध से होगा। उपर्युक्त शाब्दबोध में द्रव्य चूँकि धर्मी रूप में भासित हो रहा है क्योंकि वह विशेष्य है और उस धर्मी के प्रकार रूप में द्रव्यत्व भी भासित हो रहा है जिसे धर्मितावच्छेदक कहा जाता है।

इस प्रकार द्रव्यत्व धर्मितावच्छेदक भी है और प्रकार है। अतः धर्मितावच्छेदकता रूप प्रकारता सम्बन्ध से शाब्दबोध भी द्रव्यत्व में उत्पन्न होता है। परन्तु जब द्रव्यपदजन्य द्रव्यत्वावच्छिन्न द्रव्य की उपस्थिति नहीं होगी तो इसका अर्थ हुआ कि प्रकारता सम्बन्ध से द्रव्यत्व में शाब्दबोधोपयोगी उपस्थिति नहीं है, तो उस द्रव्यत्व में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोध की आपत्ति भी नहीं दी जा सकती। क्योंकि यह नियम है कि - जिस सम्बन्ध से, जिस धर्म से अवच्छिन्न जिस कार्य की अपेक्षा, जिस सम्बन्ध से जिस धर्म से अवच्छिन्न जो कार्य व्यापक होता है, उस सम्बन्ध से उस व्यापक धर्मावच्छिन्न कार्य की उत्पादक सामग्री (कारण समुदाय) भी, उस सम्बन्ध से उस व्याप्य धर्म से अवच्छिन्न कार्य की उत्पत्ति में अपेक्षित होती है अर्थात् धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अभेदसंसर्गकघटप्रकारक शाब्दबोधत्वावच्छिन्न शाब्दबोध रूप कार्य की अपेक्षा प्रकारता सम्बन्ध से शाब्दबोधत्वावच्छिन्नशाब्दबोध रूप कार्य व्यापक कार्य है। क्योंकि शाब्दबोधत्व तो शाब्दबोध मात्र में रहता है और अभेदसंसर्गक घट प्रकारक शाब्दबोधत्व तो केवल वहीं रहेगा जिस शाब्दबोध में घट अभेद सम्बन्ध से प्रकार रूप से भासित होता है। इस प्रकार धर्मितावच्छेदकता सम्बन्धेन शाब्दबोध रूप व्यापक कार्य में अपेक्षित सामग्री होती है प्रकारता सम्बन्ध से पदार्थ की उपस्थिति। अतः उपर्युक्त धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले शाब्दबोध रूप व्यापक कार्य की अपेक्षा व्याप्य जो धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला अभेद संसर्गक घटप्रकारकशाब्दबोध, रूप कार्य, इस व्याप्य शाब्दबोधरूप कार्य की उत्पत्ति में, व्यापक शाब्दबोधत्वावच्छिन्नशाब्दबोध मात्र में अपेक्षित प्रकारतासम्बन्धेन उपस्थिति, अपेक्षित होगी तब जहाँ पदजन्य पदार्थोपस्थिति नहीं हुई तो इसका अर्थ हुआ कि वहाँ व्यापक शाब्दबोधत्वावच्छिन्न शाब्दबोध की उत्पत्ति में अपेक्षित सामग्री "प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति" नहीं है। तब जब कि व्यापक कार्य की सामग्री ही नहीं है जो कि व्याप्य कार्य की उत्पत्ति में भी अपेक्षित होती है, तो द्रव्यत्व में प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति रूप कारण के नहीं होने से उसमें धर्मितावच्छेदकता

सम्बन्ध से शाब्दबोधरूपव्याप्य कार्य की उत्पत्ति की आपत्ति भी नहीं दे सकते। इस प्रकार विषयता सम्बन्ध से कार्यकारण भाव मानने में कोई दोष नहीं है।

इस पर पुनः सिद्धान्ती आशंका उपस्थित करता है कि -

न च यत्र प्रमेयत्वावच्छिन्नविशेष्यकवृत्तिज्ञानजन्यप्रमेयत्वावच्छिन्न विशेष्यकोपस्थितौ एवोद्बोधकान्तराद् द्रव्यत्वावच्छिन्नस्य भानं तत्र द्रव्यत्वावच्छिन्नविषयकशाब्दापत्तिवारणाय तद्धर्मावच्छिन्नविषयकशाब्दबोधं प्रति तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यकवृत्तिज्ञानजन्यतद्धर्मप्रकारकोपस्थितेर्हेतुता वाच्या। तथा च प्रकारविशेषनिवेशस्यावश्यकत्वे विषयनिष्ठप्रत्यासत्त्या हेतुताकल्पनमयुक्तम्, तथा सति पुरुषभेदेन कार्यकारणभावबाहुल्यप्रसंग इति वाच्यम्।

जहाँ पर किसी को प्रमेय पद से "प्रमेयं प्रमेयपदशक्यम्" इस वृत्तिज्ञान की सहायता से प्रमेयत्वावच्छिन्न प्रमेय की होने वाली उपस्थिति में ही, किसी दूसरे = इन्द्रियसन्निकर्षादिउद्बोधक के कारण द्रव्यत्वावच्छिन्न द्रव्य का भी भान हो गया, तो उस उपस्थिति में विषयरूप में प्रमेयत्वावच्छिन्न प्रमेय तथा द्रव्यत्वावच्छिन्न द्रव्य दोनों भासित हो रहे हैं। इस प्रकार उपर्युक्त समूहालम्बन उपस्थिति प्रकारता सम्बन्ध से द्रव्यत्व पर भी रहेगी तो वहाँ पर धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अभेदसंसर्गकघटप्रकारक शाब्दबोध की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। इसलिए इस आपत्ति का वारण करने के लिए उपस्थिति तथा शाब्दबोध के कार्यकारण भाव में तद्धर्मावच्छिन्नविषयकशाब्दबोधं प्रति तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यकवृत्तिज्ञानजन्यतद् धर्म प्रकारक उपस्थितिः कारणम्" ऐसा कहना पड़ेगा। तब उपर्युक्त आपत्ति का वारण हो जाएगा क्योंकि उपर्युक्त उपस्थिति में जो द्रव्यत्व प्रकारक द्रव्य का भान हो रहा है वह द्रव्य पद से द्रव्यत्वावच्छिन्न विशेष्यक वृत्तिज्ञान "द्रव्यं द्रव्यपदशक्यम्" से जन्य नहीं है अपितु वह तो उद्बोधकान्तर से जन्य है। अतः उद्बोधकान्तरवशात् प्रकारतया भासित होने वाले द्रव्यत्व में प्रमेयत्वावच्छिन्नविशेष्यकवृत्तिज्ञान प्रमेयं प्रमेय पदशक्यम्", से जन्य प्रमेयत्वावच्छिन्न प्रमेय की उपस्थिति चूँकि प्रकारतासम्बन्ध से नहीं रहेगी तो उस द्रव्यत्व में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अभेदसंसर्गक घट प्रकारक शाब्दबोध की आपत्ति नहीं दी जा सकती।

परन्तु इस प्रकार की आपत्ति का वारण करने के लिए धर्मितावच्छेदकता रूप विषयता सम्बन्ध से कार्यकारण भाव मानने पर भी कार्यतावच्छेदक तथा कारणतावच्छेदक कोटि में विषय का प्रवेश तो करना ही पड़ा। कार्यकारणभाव में विषय का प्रवेश न करना पड़े इसीलिए तो विषयता सम्बन्ध से कार्यकारण भाव आपने माना था विषयता सम्बन्ध से कार्यकारणभाव मानने पर भी उपर्युक्त स्थिति में आपत्ति का वारण करने के लिए विषय का प्रवेश करना पड़ा तो समवाय सम्बन्ध से माने जाने वाले कार्यकारणभाव की समानता आ जाने से कोई

लाघव नहीं रहा विषयता सम्बन्ध से कार्यकारणभाव मानने में। अपितु विषय के प्रवेश होने के अतिरिक्त विषयता सम्बन्ध से कार्यकारण भाव मानने में तत्पुरूषीयत्व का भी जो आपको निवेश करना पड़ता है, वह अतिरिक्त गौरव है। क्योंकि पुरूष के भेद से कार्यकारणभाव की बहुलता का प्रसंग उपस्थित होगा। अतः विषयता सम्बन्ध से कार्यकारणभाव मानना लाघवमूलक न होने से न तो उपयुक्त है और न ही उस विषयता सम्बन्ध से घटो घटः में अभेदान्वय बोध की आपत्ति देना ही उचित है। पूर्वपक्षी उपर्युक्त आपत्ति वारण करने के लिए कहता है कि-

स्वजनकज्ञानीयवृत्तिनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावच्छेदकता विशिष्ट प्रकारतासम्बन्धेनोपस्थितेर्हेतुतां स्वीकृत्य तादृशापत्तेर्वारणात्।

अर्थात् स्व = उपस्थिति, जनकज्ञानीय = के जनकवृत्तिज्ञान की, वृत्तिनिष्ठ प्रकारता = वृत्ति में रहने वाली प्रकारता से, निरूपितविशेष्यतावच्छेदकता = निरूपित जो विशेष्यतावच्छेदकता उससे विशिष्ट = प्रयुज्य जो प्रकारता = विशेषणता, (उपस्थितीय प्रकारता) सम्बन्ध से, उपस्थितेः = उपस्थिति की, हेतुतां = कारणता को, स्वीकृत्य = स्वीकार करके, तादृशापत्तेर्वरिणात् = उपर्युक्त आपत्ति का वारण होने से।

तात्पर्य यह है कि उपस्थिति को विषयता सम्बन्ध से ही शाब्दबोध का कारण मानेंगे, परन्तु विषयता का स्वरूप केवल प्रकारता नहीं मानकर उपस्थिति का जनक जो वृत्ति ज्ञान उस वृत्ति ज्ञान की वृत्ति में रहने वाली जो प्रकारता, उससे निरूपित जो विशेष्यता, उस विशेष्यता की अवच्छेदकता से प्रयुज्य जो उपस्थिति की प्रकारता उस प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति को शाब्दबोध का कारण मानने में उपर्युक्त आपत्ति नहीं आएगी। जैसे जहाँ पर प्रमेय पद से प्रेमयत्वावच्छिन्न प्रमेय की उपस्थिति में ही उद्बोधकान्तरवश द्रव्यत्वावच्छिन्न द्रव्य भी भासित होने लगा। उस भासित होने वाले द्रव्यत्व में जो प्रकारता है, वह जिस उपस्थिति में भासित हो रही है उस उपस्थिति का जनक जो "प्रमेयं प्रमेयपदशक्यम्" इत्याकारकवृत्ति ज्ञान है, इस वृत्ति ज्ञान की प्रकारता जो वृत्ति में है उस वृत्ति में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता है "प्रमेय" में क्योंकि "प्रमेय" वृत्ति ज्ञान में विशेष्य रूप से भासित हो रहा है, उस प्रमेय में रहने वाली विशेष्यता का अवच्छेदक है - प्रमेयत्व। इस प्रकार वृत्तिज्ञानीय वृत्तिनिष्ठ प्रकारता से निरूपित विशेष्यता के अवच्छेदक प्रमेयत्व से, उपर्युक्त प्रमेयपदजन्य प्रमेयोपस्थिति में उद्बोधकान्तरवश भासित होने वाले द्रव्यत्व में रहने वाली प्रकारता प्रयुज्य नहीं है। इस प्रकार - उपस्थितिजनकवृत्तिज्ञानीय वृत्तिनिष्ठ प्रकारता निरूपित विशेष्यतावच्छेदकता से द्रव्यत्व निष्ठ प्रकारता के विशिष्ट नहीं होने से उपर्युक्त स्वजनक इत्यादि प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति भी द्रव्यत्व में नहीं रहेगी तो वहाँ शाब्दबोध नहीं होगा। इस तरह कार्यकारणभाव में बिना विषय का (प्रकार-विशेष्य का) निवेश किये हीं, प्रकारता

रूप विषयता सम्बन्ध के स्वरूप का उपर्युक्त अर्थ करने से आपत्ति क़ा वारण हो जाएगा। विषयता सम्बन्ध से कार्यकारणभाव मानने में कोई दोष नहीं है।

यहाँ पर व्याख्या करते हुए हमने उपस्थितिजनकवृत्तिज्ञानीयवृत्तिनिष्ठप्रकारता निरूपित विशेष्यतावच्छेदकता विशिष्ट प्रकारता में आये विशिष्ट शब्द की व्याख्या प्रयुज्य की है। वह इसलिए क्योंकि उपस्थिति का प्रयोजक वृत्ति ज्ञान होता है, अतः उपस्थितीय विषयता चूँकि वृत्तिज्ञानीय विषयता से प्रयुज्य होती है अर्थात् वृत्ति ज्ञान में प्रमेयत्व चूँकि विशेष्यतावच्छेदक रूप में भासित हो रहा है। अतः उपस्थिति में वह प्रकार रूप में भासित हो रहा है। इस प्रकार प्रमेयत्व में उपस्थितीय प्रकारता रूप विषय का प्रयोजक वृत्ति ज्ञानीय विशेष्यतावच्छेदकता है। इसलिए उपर्युक्त विशेष्यतावच्छेदकता से प्रकारता के विशिष्ट होने का अर्थ है उससे प्रयुज्य होना। अस्तु"।

सिद्धान्ती पुनः आशङ्का करते हुए क़हता है कि -

न च पदार्थेऽपि प्रकारतासम्बन्धेन शाब्दबोधोत्पत्त्या तत्र प्रकारतासम्बन्धेन पदार्थोपस्थितेरभावात् प्रकारनिष्ठप्रत्यासत्त्या पदार्थोपस्थितेर्हेतुताव्यभिचारेण कल्पयितुमशक्येति वाच्यम्।

सिद्धान्ती के कथन का तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त आपत्तियों का वारण करने के लिए आपने कभी तो समान प्रकारता सम्बन्ध से तो कभी स्वजनकवृत्तिज्ञानीय आदि प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति को शाब्दबोध का हेतु माना है।

परन्तु आपका यह प्रकारता रूप विपयता सम्बन्ध प्रकार रूप विपय में रहने वाली वस्तु है। परन्तु शाब्दबोध प्रकारता सम्बन्ध से पदार्थ में भी अर्थात् विशेषण में भी हुआ करता है अर्थात् जैसे द्रव्यं घटः से होने वाला द्रव्याऽभिन्नो घटः यह अभेदान्वय, धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से द्रव्यत्व में होता है और वहाँ आपके मतानुसार उपर्युक्त प्रकारतासम्बन्ध से उपस्थिति भी रहती है, परन्तु वही द्रव्याऽभिन्नोघटः प्रकारता सम्बन्ध से "घट" रूप प्रकार (विशेषण) पर भी रहता है, परन्तु वहाँ उपस्थिति कभी भी प्रकारता सम्बन्ध से नहीं रह सकती। प्रकारता का चाहे जो भी आप अर्थ कर लें। क्योंकि घट पद से घटत्वावच्छिन्न घट की जो उपस्थिति होती है, उस उपस्थिति में वह घट सर्वदा विशेष्य रूप में ही भासित होता है। शाब्दबोध में भले ही वह प्रकार हो गया है, उपस्थिति में तो विशेष्य ही रहता है। इसलिए घट चूँकि शाब्दबोध में प्रकार रूप में भासित हो रहा है तो शाब्दबोध उसमें प्रकारता सम्बन्ध से तो रह सकता है परन्तु उपस्थिति में वह घट सर्वदा विशेष्य ही रहता है, अतः उपस्थिति विशेष्यता सम्बन्ध से भले ही घट पर रहे प्रकारता सम्बन्ध से तो नहीं रह सकती। इस प्रकार जहाँ प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति नहीं रहती वहाँ भी प्रकारता सम्बन्ध से शाब्दबोध के उत्पन्न हो जाने के कारण, कारणाभावे कार्याभावः इस व्यतिरेक व्याप्ति का व्यभिचार हो जाता है। अतः प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति शाब्दबोध का हेतु होता है, यह

कल्पना करना भी अशक्य है। इस तरह जब प्रकारता रूप विषयता सम्बन्ध से उपस्थिति को शाब्दबोध का हेतु नहीं माना जा सकता, एवंच यदि समवाय सम्बन्ध से भी उपस्थिति को कारण नहीं मान सकते। यदि विषयता सम्बन्ध से शाब्दबोध को उत्पन्न करना हो, तो इस प्रकार धर्मितावच्छेदकता रूप विषयता सम्बन्ध से शाब्दबोध के लिए कार्यकारणभाव नहीं माना जा सकता तो घटो घटः में भी अभेदान्वय बोध की आपत्ति नहीं दी जा सकती।

पूर्वपक्षी पुनः घटो घटः में अभेदान्वय बोध की आपत्ति देने के लिए सिद्धान्ती द्वारा पूर्वप्रदर्शित आपत्तियों का वारण करने के लिए कहता है -

परामर्शकारणताविचारदर्शितदिशा व्यभिचारस्य वारणीयत्वादिति चेत्?

परामर्श की कारणता का विचार करते हुए जिस दिशा = पद्धति का अनुसरण करके व्यभिचार का वारण किया जाता है उसी रीति का अनुसरण करते हुए यहाँ भी व्यभिचार का वारण करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि - "पर्वतो वह्निमान्" इस अनुमिति के प्रति "वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः" यह परामर्श तथा आलोकव्याप्यधूमवाऩ्यं पर्वतः" यह परामर्श भी कारण है। अब जहाँ पर वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इस परामर्श से पर्वत में वह्नि की अनुमिति हो गयी वहाँ पर आलोकव्याप्यधूमवान् पर्वतः यह परामर्शरूप कारण का अभाव रहने पर भी अनुमिति रूप कार्य होने से व्यतिरेक व्यभिचार हो गया। इसी तरह जहाँ पर आलोक व्याप्यधूमवान् पर्वतः इस परामर्श से पर्वत में वह्नि की अनुमिति हो गयी वहाँ पर वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः इस परामर्श के नहीं रहने पर भी अनुमिति रूप कार्य के हो जाने से व्यभिचार हो गया। इस तरह दोनों परामर्शों में व्यभिचार हो जाने से दोनों में अनुमिति की कारणता नहीं मानी जा सकती। अतः वहाँ पर उपर्युक्त व्यभिचार दोष का वारण करने के लिए जैसे कार्यतावच्छेदककुक्षि में कारणाव्यवहितोत्तरत्व का निवेश करके "वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः" परामर्शाव्यवहितोत्तर जायमानां वह्निमान् पर्वतः इत्यनुमितिं प्रति "वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः इति परामर्शः कारणम्" ऐसा कार्यकारणभाव माना जाता है, इसी प्रकार आलोकव्याप्यधूमवान् पर्वत इत्याकारक परामर्शाव्यवहितोत्तर जायमान पर्वतो वह्निमान् इत्यनुमितिं प्रति आलोकव्याप्यधूमवान् पर्वतः इति परामर्शः कारणम् ऐसा कार्यकारणभाव मानते हैं। तब व्यभिचारदोष नहीं होता। क्योंकि वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इस परामर्श के अव्यवहित उत्तर में जो पर्वतोवह्निमान् अनुमिति होती है उसी के प्रति वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वतः यह परामर्श कारण है। जहाँ बिना इस वह्निव्याप्यवत्ताकपरामर्श के ही (दूसरे परामर्श से) वह्नि की अनुमिति होती है, उस अनुमिति का तो कारण ही नहीं है वह्निव्याप्यधूमलिङ्गक परामर्श तो कारणाभावे कार्याभाव रूप व्यभिचार भी नहीं है। इसी रीति से प्रकृत में भी स्वजनकवृत्तिज्ञानीयवृत्तिनिष्ठप्रकारतानिरूपित-विशेष्यतावच्छेदकताविशिष्टप्रकारता सम्बन्ध से जहाँ उपस्थिति के रहने से

धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोध उत्पन्न होगा, उस शाब्दबोध के प्रति ही उपर्युक्त स्वजनकज्ञानीय आदि प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति कारण है। जहाँ घट आदि प्रकार में स्वजनकवृत्तिज्ञानीय आदि प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति नहीं रहती वहाँ प्रकारता सम्बन्ध से होने वाले शाब्दबोध के प्रतिस्वजनक वृत्ति ज्ञानीय आदि प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति को कारण ही नहीं मानेंगें। वहाँ तो जिस विषयता सम्बन्ध से, घट आदि प्रकार में उपस्थिति रहती है, और वहाँ पर प्रकारता सम्बन्ध से शाब्दबोध होता है उसी विषयता रूप प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति को कारण मानेंगें। इस प्रकार घट रूप पदार्थ में उत्पन्न होने वाले प्रकारता सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति, स्वजनकवृत्तिज्ञानीयवृत्तिनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यता-वच्छेदकताविशिष्टप्रकारता सम्बन्ध से तो हम उपस्थिति को कारण ही नहीं मानते तो उस सम्बन्ध से घट में उपस्थिति के नहीं रहने को कारणाभाव कहा ही नहीं जा सकता तो प्रकारतासम्बन्ध से कार्यकारणभाव मानने में व्यभिचार दोष भी नहीं कह सकते।

हम तो घट आदि प्रकार रूप पदार्थ में जिस प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति के रहने पर वहाँ शाब्दबोध उत्पन्न होता है उसी प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति को घट में उत्पन्न होने वाले शाब्दबोध के प्रति कारण मानते हैं। तो यदि प्रकारता सम्बन्ध से घट में शाब्दबोध उत्पन्न होता है तो उस विलक्षण प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति भी रहेगी ही। कोई व्यभिचार दोष नहीं है।

अथवा - परामर्शकारणताविचारदर्शितधिया का ऐसा भी अर्थ कर सकते हैं जैसे - धर्मितावच्छेदकतासम्बन्ध से तल्लिङ्गक अनुमिति के प्रति धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से तल्लिङ्गकपरामर्श कारण होता है, ऐसा विषयता सम्बन्ध से परामर्श में अनुमिति की कारणता मानने पर, जहाँ प्रथम क्षण में भाविज्ञानमप्रमा (आगे होने वाला ज्ञान अप्रमा है) इस प्रकार अप्रामाण्य ज्ञान हुआ, उसके बाद दूसरे क्षण में वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः ऐसा परामर्श हुआ, उसके बाद तीसरे क्षण में वह्निव्याप्यआलोकवद् द्रव्यम्" ऐसा एक और परामर्श हुआ और उसी क्षण में अप्रामाण्य ज्ञान का नाश भी हुआ, उसके बाद चौथे क्षण में "वह्निमान् पर्वतः वह्निमद्द्रव्यम्" ऐसी समूहालम्बनअनुमिति हुई। वहाँ पर उपर्युक्त समूहालम्बनात्मिका धूम तथा आलोकलिङ्गकअनुमिति धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से द्रव्यत्व तथा पर्वतत्व दोनों पर रहेगी क्योंकि द्रव्य तथा पर्वत दोनों समूहालम्बन अनुमिति में धर्मी (विशेष्य) रूप से भासित हो रहे हैं। परन्तु न तो द्रव्यत्व में ही धमू तथा आलोक उभयलिङ्गक परामर्श है और न ही पर्वतत्व में। द्रव्यत्व में तो केवल आलोक लिङ्गक परामर्श है धूमलिङ्गक नहीं तथा पर्वतत्व में धमूलिङ्गक परामर्श है आलोक लिङ्गक परामर्श नहीं। इस प्रकार उभयलिङ्गक परामर्श न तो द्रव्यत्व में है और न ही पर्वतत्व में परन्तु धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से समूहालम्बनात्मिका अनुमिति द्रव्यत्व तथा पर्वतत्व दोनों में रहती है। इस प्रकार परामर्श रूप कारण

का धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अभाव रहने पर भी, धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अनुमिति रूप कार्य के रह जाने से जब व्यभिचार दोष आता है तो जैसे वहाँ पर धूमलिङ्गक परामर्श धर्मितावच्छेदकताविशिष्ट धर्मितावच्छेदकता सम्बन्धेन अनुमिति प्रति धर्मितावच्छेदकतासम्बन्धेन धूमलिङ्ककपरामर्शः कारणम् ऐसा कार्यकारणभाव मानकर व्यभिचारदोष का वारण करते हैं। क्योंकि धूमलिङ्क परामर्श में धर्मितावच्छेदक पर्वतत्व ही है द्रव्यत्व नहीं, तो पर्वतत्व में रहने वाली धर्मितावच्छेदकता से विशिष्ट अर्थात् प्रयोज्या धर्मितावच्छेदकता अनुमिति में भासित होने वाले पर्वत रूप धर्मी में रहने वाली धर्मितावच्छेदकता ही होगी, द्रव्यत्व में रहने वाली नहीं, तो उस धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अनुमिति पर्वतत्व में ही रहेगी द्रव्यत्व में नहीं। इस प्रकार धूमलिङ्गकपरामर्शधर्मितावच्छेदकताविशिष्ट धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से जिस पर्वतत्व में अनुमिति उत्पन्न होगी उसमें धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से धूमलिङ्क परामर्श रूप कारण भी रहेगा। इस प्रकार कोई व्यभिचार दोष नहीं होगा। इसी प्रकार उपर्युक्त आलोकलिङ्गकपरामर्शधर्मितावच्छेदकताविशिष्टधर्मितावचदेदकता रूप कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध से शाब्दबोधरूप कार्य द्रव्यत्व में ही रहेगा और वहाँ धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से आलोक लिङ्गक परामर्श भी रहेगा ही तो यहाँ भी व्यभिचार दोष नहीं होता है। इसी प्रकार प्रकृत में भी वृत्तिज्ञानीय धर्मितावच्छेदकताविशिष्टप्रकारता सम्बन्ध को कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध मान लेने से दोष का वारण हो जाएगा। तात्पर्य यह है कि जिस घट रूप प्रकार में आप प्रकारता सम्बन्ध से शाब्दबोध की उत्पत्ति दिखाकर वहाँ पर उपस्थिति का प्रकारता सम्बन्धेन अभाव रहने से व्यभिचार दोष दिया था वहाँ भी घट में जिस प्रकारता सम्बन्ध से शाब्दबोध उत्पन्न होता है उस प्रकारता का अर्थ करेंगे वृत्तिज्ञानीय धर्मिता वच्छेदकता विशिष्ट प्रकारता। अब घटो घटपदशक्यः इस वृत्तिज्ञान में धर्मी है घट तो धर्मितावच्छेदकता रहती है घटत्व में, उस घटत्व में रहने वाली वृत्तिज्ञानीय धर्मितावच्छेदकता से प्रयुज्य है शाब्दबोधीय घटत्व में रहने वाली प्रकारता, तो इस प्रकारता सम्बन्ध से घटत्व में ही शाब्दबोध उत्पन्न होगा वहाँ प्रकारता सम्बन्ध से उपस्थिति रहती ही है व्यभिचार दोष का वारण हो जाएगा। विषयता सम्बन्ध से कार्यकारणभाव मानने में कोई दोष नहीं। इस प्रकार घटो घटः में अभेदसंसर्गक घट प्रकारक शाब्दबोध की आपत्ति धर्मितावच्छेदकता रूप विषयता सम्बन्धेन से घटत्व में रह गयी। सिद्धान्ती अब "अथ द्रव्यत्वादौ धर्मितावच्छेदकता सम्बन्धेन वहाँ से लेकर व्यभिचारस्य वारणीयत्वादिति चेत्" तक के ग्रन्थ से पूर्वपक्षी द्वारा उठायी गयी आपत्तियों का वारण करने के लिए कहता है -

तर्हि तद्धर्मावच्छिन्नाभेदसंसर्गावच्छिन्नप्रकारतानिरुपितविशेष्यतावच्छेदकतासम्बन्धेन शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति तद्धर्मभेदस्यापि हेतुतायाः स्वीकरणीयतया न घटो घटः इत्यादिस्थले शाब्दबोधापत्तिः।

सिद्धान्ती धर्मितावच्छेदकता रूप विषयता सम्बन्ध से कार्यकारणभाव मानने में अभेदान्वय बोध के लिए उपस्थिति आदि की तरह प्रकारतावच्छेदक, तथा विशेष्यतावच्छेदक के भेद को भी कारण मानते हुए घटो घटः में अभेदान्वय बोध की आपत्ति का वारण करता है।· पङ्क्त्यर्थ इस प्रकार है - तद्धर्म = प्रकारतावच्छेदक धर्म से, अवच्छिन्न = अवच्छिन्न तथा अभेदसंसर्गावच्छिनन = अभेद सम्बन्ध से अवच्छिन्न जो प्रकारता = विशेषणता, उससे निरूपित जो विशेष्यता = धर्मिता, उसके अवच्छेदक = अर्थात् विशेष्यतावच्छेदक धर्म में रहने वाली जो विशेष्यतावच्छेदकता, उस सम्बन्धेन = सम्बन्ध से शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति = शाब्दबोध के प्रति, तद्धर्मभेदस्य = प्रकारतावच्छेदक धर्म के भेद की अपि = भी, हेतुतायाः = कारणता, स्वीकरणीयतया = स्वीकरणीय है, अतः घटो घटः इत्यादि स्थले = घटो घटः इस स्थल में, न शाब्दबोधापत्तिः = अभेदान्वय बोध की आपत्ति नहीं है।

उपर्युक्त ग्रन्थ का अभिप्रायः यह है कि नीलो घटः द्रव्यं घटः इत्यादि समानविभक्तिक स्थल में धर्मितावच्छेदकता रूप विषयता सम्वन्ध से अभेदान्वयवोध के लिए जैसे धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से समभिव्याहार रूप आकाँक्षा, योग्यता ज्ञान आदि सामग्री की कारणता मानी जाती है वैसे ही प्रकारतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न अभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोध के लिए तद्धर्मभेद अर्थात् प्रकारतावच्छेदक धर्म का भेद भी कारण माना जाता है। यहाँ पर कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध जो विशेष्यतावच्छेदक को कहा गया है उसमें प्रकारतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न अभेदसंसर्गावच्छिन्न प्रकारता निरूपितत्व; विशेषण रूप में निविष्ट है जो कि स्वाभाविक है कोई नई बात नहीं है। पहले भी जव धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से कार्यकारणभाव का प्रदर्शन किया गया था, वहाँ भी धर्मितावच्छेदकता अर्थात् विशेष्यतावच्छेदकता प्रकारतावच्छेदकधर्मावच्छिन्न अभेद संसर्गावच्छिन्न प्रकारता से निरूपित ही होती है। हाँ। यहाँ सिद्धान्ती ने उसका स्पष्ट रूप से कथन कर दिया है।अस्तु। तो द्रव्यं घटः में घटत्व रूप प्रकारतावच्छेदक धर्म से तथा अभेद संसर्ग से अवच्छिन्न घट में रहने वाली प्रकारता से निरूपित जो द्रव्य में रहने वाली विशेष्यता (धर्मिता) उसका अवच्छेदक जो द्रव्यत्व, उस द्रव्यत्व में रहने वाली धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से अभेदान्वय बोध के लिए प्रकारतावचछेदक धर्म का भेद यदि कारण है तो उपर्युक्त विशेष्यतावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोध जिस द्रव्यत्व में उत्पन्न होगा उस द्रव्यत्व में, प्रकारतावच्छेदक धर्म = घटत्व का भेद है ही, तो अभेदान्वय बोध होगा।

घटो घटः में घटत्व रूप प्रकारतावच्छेदकधर्मावच्छिन्न अभेदसम्बन्धावच्छिन्न घटनिष्ठप्रकारता निरूपित विशेष्यतावच्छेदकता सम्बन्ध से जिस विशेष्यतावच्छेदक घटत्व में अभेदान्वय बोध की आपत्ति आप दे रहे थे, उस घटत्व रूप विशेष्यता वच्छेदक में प्रकारतावच्छेदक धर्म घटत्व का भेद नहीं होने से शाब्दबोध हो ही

नहीं सकता; क्योंकि प्रकारतावच्छेदक भेद रूप कारण नहीं है। सारांश यह निकला कि धर्मितावच्छेदकता या विशेष्यतावच्छेदकता रूप विषयता सम्बन्ध से अभेदान्वय बोध वहीं होता है जहाँ प्रकारतावच्छेदक तथा विशेष्यतावच्छेदक धर्म भिन्न-भिन्न हों।

स घटः इत्यादिवाक्याज्जातित्वादिना घटत्वादिधर्मितावच्छेदककस्य, स्वरूपतो घटत्वादिप्रकारतावच्छेदककस्य, घटः स इत्यादिवाक्यात् स्वरूपतो घटत्वादिधर्मितावच्छेदककस्य जातित्वादिविशिष्टघटत्वावच्छिन्नप्रकारताकस्य शाब्दबोधस्योपपत्तये विशेष्यत्वप्रकारत्वयोरवच्छेदकत्वे निरवच्छिन्नत्वेन विशेषणीये। घटो नीलघट इत्याद्यन्वयबोधस्य प्रामाणिकत्वे अन्यत्र दर्शितरीत्या सोऽप्युपपादनीयः।

विषयता सम्बन्ध से अभेदान्वय बोध के लिए यदि विशेष्यतावच्छेदक तथा प्रकारतावच्छेदक धर्मों का भिन्न होना आवश्यक कारण माना जाएगा तो स घटः या घटः सः इन दोनों वाक्यों से होने वाला अभेदान्वयबोध उपपन्न नहीं हो पाएगा।क्योंकि स घटः इस वाक्य में आये स = तत् शब्द का अर्थ जातित्वविशिष्ट जातिमान् है और जातित्वावच्छिन्न जाति से घटत्व जाति ही पकड़ी जाएगी क्योंकि स शब्द से घट को वक्ता कहना चाहता है। इस प्रकार स शब्द से बोधित होनें वाला घटत्व विशिष्ट घट में विशेषण रूप से जो घटत्व जाति भासित हो रही है वह जातित्वेन रूपेण हो रही है स्वरूपतः नहीं, क्योंकि तत् पद की शक्ति जातित्वावच्छिन्नजातिविशिष्ट में है। इस प्रकार उपर्युक्त स घटः इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध में विशेष्य रूप से भासित होने वाले तत् पदार्थ जातिमान् में रहने वाली विशेष्यता (घटत्व) जाति से अवच्छिन्न है और उपर्युक्त अभेदान्वय बोध में प्रकार रूप से भासित होने वाला घट पद का अर्थ जो घट है उसमें रहने वाली प्रकारता भी घटत्व से ही अवच्छिन्न है। इस प्रकार प्रकारतावच्छेदकभी घटत्व है और विशेष्यतावच्छेदक भी जाति (घटत्व) है तो विशेष्यतावच्छेदक जाति में प्रकारतावच्छेदक घटत्व का भेद नहीं रह सकता। अतः अभेदान्वय नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार घटः स इस वाक्य से होने वाले अभेदान्वय बोध में भी प्रकार रूप से भासित होने वाला तत् पद का अर्थ जातित्वावच्छिन्न जातिविशिष्ट है। यहाँ जातित्वावच्छिन्न जाति से घटत्व जाति ही है। अतः ग्रन्थकार ने कहा - जातित्वविशिष्टघटत्वावच्छिन्नप्रकारताकस्य। इस प्रकार तत् पदार्थ में रहने वाली प्रकारता भी जातित्विशिष्ट जाति = घटत्व जाति से ही अवच्छिन्न है और विशेष्य रूप में भासित होने वाले घट पदार्थ में रहने वाली विशेष्यता भी घटत्व से ही अवच्छिन्न है, तो विशेष्यतावच्छेदक घटत्व में प्रकारतावच्छेदक धर्म = जाति = घटत्व जाति का भेद नहीं होने से अभेदान्वय बोध नहीं होगा। यहाँ यह ध्यान में रखे कि - सः घटः में विशेष्य भी घट ही है परन्तु उसका कथन घटत्वेन

रूपेण नहीं करके जातित्वावच्छिन्नजातिमत्वेन किया गया है और घटः सः में प्रकार भी घट ही है परन्तु उसका कथन भी घटत्वेन रूपेण नहीं करके जातित्वावच्छिन्नजातिमत्वेन किया गया है। इसलिए यद्यपि यहाँ भी प्रकारता तथा विशेष्यता दोनों घटत्व से ही अवच्छिन्न है तथापि अभेदान्वय बोध हो जाता है। क्योंकि जहाँ घटः सः में विशेष्यता का अवच्छेदक घटत्व स्वरूपतः भासित नहीं हो रहा है अपितु जातित्वेन, जबकि प्रकारतावच्छेदक वहाँ जो घटत्व है वह स्वरूपतः है। इसी प्रकार घटः सः यहाँ पर विशेष्यतावच्छेदक जो घटत्व हो रहा है वह स्वरूपतः, परन्तु प्रकारतावच्छेदक जो घटत्व हो रहा है वहस्वरूपतः नहीं अपितु जातित्वेन हो रहा है। जबकि घटो घटः में प्रकारतावच्छेदक तथा विशेष्यतावच्छेदक दोनों घटत्व स्वरूपतः ही होता है अतः वहाँ अभेदान्वय नहीं माना जाता। अस्तु।

घटः सः में विशेष्यतावच्छेदकस्वरूपतः घटत्व हो रहा है और प्रकारतावच्छेदक घटत्व जातित्वेन परन्तु हो तो रहा है एक ही घटत्व, तो घटत्व में घटत्व का भेद कैसे जाएगा? इसी प्रकार स घटः में भी विशेष्यतावच्छेदक भले ही जातित्वेन घटत्व हो और प्रकारतावच्छेदक स्वरूपतः घटत्व, परन्तु प्रकारतावच्छेदक और विशेष्यतावच्छेदक है तो घटत्व ही, तो यहाँ भी प्रकारतावच्छेदक घटत्व का विशेष्यतावच्छेदक घटत्व में भेद नहीं जाने से अभेदान्वय बोध की उपपत्ति कैसे होगी?

इस आपत्ति का वारण करने के लिए भट्टाचार्य कहते हैं कि "विशेष्यत्वप्रकारत्वयोः अवच्छेदकत्वे निरवच्छिन्नत्वेन विशेषणीये।" अर्थात् अभेदान्वय बोध के लिए जो प्रकारतावच्छेदक और विशेष्यतावच्छेदक का भिन्न होना आवश्यक कारण माना गया है वह ऐसे स्थल के लिए जहाँ कि प्रकारतावच्छेदक में रहने वाली अवच्छेदकता तथा विशेष्यतावच्छेदक में रहने वाली अवच्छेदकता निरवच्छिन्न हों अर्थात् प्रकारतावच्छेदक तथा विशेष्यतावच्छेदक दोनों स्वरूपतः भासित हो रहे हों। जहाँ प्रकारतावच्छेदक तथा विशेष्यतावच्छेदक में से एक भी स्वरूपतः भासित न होकर किसी रूप से भासित होंगे अथवा दोनों ही किसी रूप में भासित होंगे तो वहाँ पर प्रकारतावच्छेदक या विशेष्यतावच्छेदक जिस रूप में अवच्छेदक होंगें उनमें रहने वाली अवच्छेदकता भी उस रूप से अवच्छिन्न होगी। ऐसे स्थल में प्रकारतावच्छेदक तथा विशेष्यतावच्छेदक का भिन्न होना अभेदान्वय के लिए आवश्यक नहीं है। उदाहरण द्वारा इसको समझें - द्रव्यं घटः में द्रव्य में रहने वाली विशेष्यता का अवच्छेदक द्रव्यत्व स्वरूपतः ही अवच्छेदक हो रहा है किसी अन्य रूप में नहीं, क्योंकि अनुल्लिख्यमान जाति स्वरूपतः ही भासित हुआ करती है। इसी प्रकार घट रूप प्रकार में रहने वाली प्रकारता का अवच्छेदक घटत्व भी स्वरूपतः अवच्छेदक है निरवच्छिन्न है, किसी रूप से नहीं। अतः यहाँ पर प्रकारतावच्छेदक घटत्व तथा विशेष्यतावच्छेदक द्रव्यत्व का भिन्न होना आवश्यक था, जो कि है भी। "स घटः" में विशेष्य तत् पदार्थ = जातिमान् में रहने वाली विशेष्यता

का अवच्छेदक जो जाति है वह स्वरूपतः नहीं है अपितु जातित्व से अवच्छिन्न है अर्थात् जाति में रहने वाली विशेष्यतावच्छेदकता निरवच्छिन्न नहीं है, अपितु जातित्व से अवच्छिन्न है, भले ही घट में रहने वाली प्रकारता का अवच्छेदक घटत्व निरवच्छिन्न (किसी धर्म से अनवच्छिन्न अर्थात् स्वरूपतः) है। अतः उस घटत्व में रहने वाली प्रकारतावच्छेदकता निरवच्छिन्न है; परन्तु विशेष्यतावच्छेदकता के निरवच्छिन्न न होने से (जातित्व रूप धर्म से अवच्छिन्न होने से) यहाँ प्रकारतावच्छेदक का भेद विशेष्यतावच्छेदक में होना, अभेदान्वय के लिए आवश्यक नहीं है। अतः यहाँ प्रकारतावच्छेदक तथा विशेष्यतावच्छेदक दोनों के एक = घटत्व, होने पर भी अभेदसंसर्गक शाब्दबोध हो जाता है। यही स्थिति "घटः सः" में भी है। अन्तर इतना है कि वहाँ तत् पदार्थ में रहने वाली प्रकारता की अवच्छेदकता जो कि जाति में रहती है जातित्व से अवच्छिन्न है सावच्छिन्नहैनिरवच्छिन्न नहीं, विशेष्यतावच्छेदकता जो कि घटत्व में है निरवच्छिन्न ही है। अतः वहाँ भी अभेदान्वय बोध के लिए विशेष्यतावच्छेदक में प्रकारतावच्छेदक का भेद आवश्यक नहीं है, तो अभेदान्वय बोध हो जाएगा। इस प्रकार आपत्ति का वारण हो जाएगा।

उपर्युक्त रीति से सः घटः घटः सः में आपत्ति का वारण हो जाने पर भी घटो नीलघटः में अभेदान्वय बोध की अनुपपत्ति हो जाएगी। क्योंकि यहाँ पर विशेष्यतावच्छेदक घटत्व में रहने वाली विशेष्यतावच्छेदकता भी निरवच्छिन्न है स्वरूपतः भासित होने के कारण, और "नील घटत्व" में रहने वाली प्रकारतावच्छेदकता भी निरवच्छिन्न ही है, क्योंकि यहाँ भी घटत्व स्वरूपतः ही भासित हो रहा है, तो यहाँ प्रकारतावच्छेदक भेद विशेष्यतावच्छेदक में होना चाहिए था अभेदान्वय बोध के लिए, जबकि है नहीं। क्योंकि विशेष्यतावच्छेदक भी घटत्व है और प्रकारतावच्छेदक भी नीलघटत्व अर्थात् घटत्व ही है। इस प्रश्न का समाधान भट्टाचार्य कहते हैं कि घटो नीलघटः में यदि "नीलघटाभिन्नो घटः" ऐसे शाब्दबोध को प्रामाणिक माना जाए, क्योंकि प्राचीन लोग ऐसा शाब्दबोध होना मानते नहीं हैं, तथापि नवीनों के मत के अनुसार यदि उपर्युक्त शाब्दवोध का होना प्रामाणिक मान ही लिया जाये। तब उपर्युक्त अनुपपत्ति का वारण अन्यत्र दिखाई गयी रीति से करके उपर्युक्त घटो नीलघटः में भी अभेदान्वयबोध को उपपादित कर लेना चाहिए।

अव यहाँ जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से हो सकती है कि अन्यत्र दर्शित रीति क्या है? तो इसका उत्तर गुरूजन यह देते हैं कि पर्याप्ति की विवक्षा ही अन्यत्र दर्शित रीति है। इस प्रकार प्रकारतावच्छेदकता में जो निरवच्छिन्नत्व विशेषण लगाया गया उसकी व्याख्या इस प्रकार करेंगे - घटत्व आदि में रहने वाली जो निरवच्छिन्न अवच्छेदकता, उससे भिन्न अवच्छेदकता से अनिरूपित जो प्रकारता, ऐसे प्रकारताशाली अभेदान्वय बोध के लिए प्रकारतावच्छेदक का भेद

विशेष्यतावच्छेदक में आवश्यक होगा, अन्यत्र जहाँ कि प्रकारता; निरवच्छिन्न अवच्छेदकता से भिन्न अवच्छेदकता से भी निरूपित हो वहाँ यह नियम नहीं प्रवृत्त होगा। जैसे द्रव्यं घटः में घटत्व में रहने वाली प्रकारतावच्छेदकता निरवच्छिन्न है तो घट में रहने वाली प्रकारता निरवच्छिन्न घटत्व निष्ठ अवच्छेदकता से ही निरूपित है, अतः उसका भेद विशेष्यतावच्छेदक = द्रव्यत्व में होने से अभेदान्वय हो जाता है। घटो नीलघटः यहाँ पर नीलघट में रहने वाली प्रकारता, घटत्व में रहने वाली जो निरवच्छिन्न अवच्छेदकता है उससे तथा उससे भिन्न जो नील निष्ठ अवच्छेदकता है उस से भी निरूपित ही है अनिरूपित नहीं। इस प्रकार निररवच्छिन्न घटत्व निष्ठअवच्छेदकता भिन्न नीलनिष्ठअवच्छेदकता से नीलघट निष्ठ प्रकारता के निरूपित होने के कारण यहाँ प्रकारतावच्छेदक का भेद यदि विशेष्यता वच्छेदक में नहीं है, तब भी अभेदान्वयबोध हो जाएगा, कोई अनुपपत्ति नहीं।

स स इत्यादिवाक्याज्जातित्वाद्यवच्छिन्नधर्मितावच्छेदकताकतद्धर्माविच्छिन्न प्रकारतावच्छेदकताकाऽभेदान्वयबोधस्य वारणाय तद्धर्माविच्छिन्नावच्छेदकताक प्रकारतानिरूपितधर्मितावच्छेदकतावच्छेदकत्वप्रत्यासत्त्या शाब्दबोधं प्रति तद्धर्मभेदस्यापि पृथक् कारणत्वं कल्पनीयम्।

इससे पूर्व स घटः में अभेदान्वय बोध की आपत्ति का वारण करने के लिए प्रकारतावच्छेदकता तथा विशेष्यतावच्छेदकता में निरवच्छिन्नत्व विशेषण लगाने के लिए भट्टाचार्य जी ने कहा। जिसका तात्पर्य यह हुआ कि - तद्धर्मनिष्ठनिरवच्छिन्न-अवच्छेदकताकप्रकारता निरूपित निरवच्छिन्न विशेष्यतावच्छेदकता सम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति एव तद्धर्मभेदः कारणम्। अर्थात् जहाँ प्रकारतावच्छेदकता तथा विशेष्यतावच्छेदकता दोनों निरवच्छिन्न हैं या दोनों में से कोई एक भी निरवच्छिन्न है वहाँ की धमितावच्छेदकता सम्वन्ध से शाब्दबोध के प्रति ही धर्मितावच्छेदक में प्रकारतावच्छेदक का भेद कारण होगा। ऐसी स्थिति में जहाँ कि प्रकारतावच्छेदकता तथा विशेष्यतावच्छेदकता दोनों सावच्छिन्न है किसी न किसी धर्म से अवच्छिन्न हैं वहाँ पर तो अभेदान्वय बोध के लिए प्रकारतावचछेदक का भेद विशेष्यतावच्छेदक में होना आवश्यक नहीं होगा। तो - "स सः" यहाँ भी अभेदान्वयबोध होने लगेगा। क्योंकि यहाँ पर दोनों (विशेष्य तथा विशेषणवाचक) तत् पद का अर्थ जातित्वविशिष्ट जातिमान् ही है। तो विशेष्य = जातिमान् में रहनी वाली धर्मिता का अवच्छेदक जो जाति है, उस जाति में रहने वाली धर्मितावच्छेदकता जातित्व से अवच्छिन्न है, इस प्रकार यहाँ पर होने वाला अभेदान्वय बोध - जातित्व से अवच्छिन्न है धर्मितावच्छेदकता जिसकी ऐसा जातित्वावच्छिन्नधर्मितावच्छेदकताक - अभेदान्वय कहलाएगा। इसी तरह विशेषणवाचक तत् पद का भी अर्थ जातित्वविशिष्टजातिमान् ही है तो प्रकार जातिमान् में रहने वाली प्रकारता का अवच्छेदक है जाति, उस प्रकारतावच्छेदक जाति में रहने वाली प्रकारतावच्छेदकता का अवच्छेदक है जातित्व, तो उपर्युक्त अभेदान्वयबोध

जातित्व से अवच्छिन्न है प्रकारतावच्छेदकता जिसकी ऐसा जातित्वावच्छिन्नप्रकारता वच्छेदकताक भी कहलाएगा। इस प्रकार "सस" इस वाक्य से संभाव्यमान अभेदान्वय बोध, जातित्वावच्छिन्नधर्मितावच्छेदकताकजातित्वावच्छिन्नप्रकारतावच्छेदकताक अभेदान्वय बोध कहलाएगा। उपर्युक्त रीति से यह बात स्पष्ट हो गयी कि "स सः" इस वाक्य से होने वाले अभेद संसर्गक शाब्दबोध में प्रकारतावच्छेदकता भी जातित्व से अवच्छिन्न होने से सावच्छिन्न है और धर्मितावच्छेदकता भी जातित्व से अवच्छिन्न होने के कारण सावच्छिन्न ही है, निरवच्छिन्न कोई भी नहीं है, तो यहाँ प्रकारतावच्छेदक = जाति, का भेद यदि धर्मितावच्छेदक = जाति, में नहीं भी जाता है तब भी अभेदान्वय होना चाहिए, जबकि वस्तुतः होता नहीं है।

भट्टाचार्य इस प्रश्न का समाधान कहते हैं कि -

तद्धर्मावच्छिन्नावच्छेदकताकप्रकारतानिरूपितधर्मितावच्छेदकतावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति तद्धर्मभेद को भी पृथक् कारण मानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि तद्धर्म = प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदक धर्म = जातित्व, से अवच्छिन्न है अवच्छेदकता = जाति में रहने वाली प्रकारतावच्छेदकता, जिसकी, ऐसी जो प्रकारता जातिमान् में रहने वाली प्रकारता, उससे निरूपित जो धर्मिता = पहले तत् पद के अर्थ जातिमान् में रहने वाली धर्मिता, उसका जो अवच्छेदक = जाति, उसका भी अवच्छेदक = जातित्व, इस प्रकार धर्मितावच्छेदकतावच्छेदक जो जातितव, उसमें रहने वाली जो धर्मितावच्छेदकतावच्छेदकता, उस धर्मितावच्छेदकता वच्छेदकता सम्बन्ध से जहाँ शाब्दबोध उत्पन्न हो, वहाँ पर तद्धर्म = प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदक धर्म का भेद होना चाहिए। प्रकृत "स सः" से होने वाला जो संभाव्यमान अभेदान्वय बोध है वह उपर्युक्त धर्मितावच्छेदकतावच्छेदकता सम्बन्ध से धर्मितावच्छेदकतावच्छेदक = जातित्व में ही उत्पन्न होगा, उसमें प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदक धर्म = जातित्व का भेद नहीं होने से अभेदान्वय बोध नहीं होगा।

यहाँ यह बात दृष्टि में रखें कि - इसके पूर्व द्रव्यं घटः इत्यादि में धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध को कार्यतावच्छेदक शब्दबोधकी उत्पत्ति का सम्बन्धमानकर प्रश्नोत्तर चल रहा था स सः में धर्मितावच्छेदकतावच्छेदकता सम्बन्ध को कार्यता वच्छेदक सम्बन्ध मानकर दोष का परिहार किया।

अब आगे एक अवच्छेदक और जोड़कर उसे कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध मानेंगे। यह सब शिष्यबुद्धि वैशद्य के लिए है।

एवं दण्डवान् दण्डवान् इत्यादिवाक्याद्दण्डसंयोगत्वाद्यवच्छिन्नवति तदवच्छिन्नवदभेदान्वयवारणाय दण्डसंयोगत्वाद्यवच्छिन्नावच्छेदकताक-प्रकारतानिरूपित विशेष्यतानिरूपितसंयोगत्वाद्यवच्छिन्नावच्छेदकतानिरूपिता-वच्छेदकतावच्छेदकत्व सम्बन्धेन शाब्दबोधे दण्डत्वादिभेदस्यापि पृथक्

कारणत्वं कल्पनीयम्। अवच्छेदकतायां निरवच्छिन्नत्वनिवेशोऽपि पूर्ववद्बोध्यः।

इसी प्रकार दण्डवान् दण्डवान् इत्यादि वाक्य से दण्डसंयोगत्वावच्छिन्न दण्डसंयोगवान् में, तदवच्छिन्नवत् अर्थात् दण्डसंयोगात्वावच्छिन्नदण्डसंयोगवान्, के अभेदान्वय का वारण करने के लिए, दण्डसंयोगत्व से अवच्छिन्न है अवच्छेदकता जिसकी ऐसी प्रकारता से निरूपित जो विशेष्यता उससे निरूपित जो संयोगत्व से अवच्छिन्न अवच्छेदकता उससे निरूपित जो अवच्छेदकतावच्छेदकत्व, उस सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति दण्डत्वादिभेद को भी पृथक् कारण मानना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि - "दण्डवान् दण्डवान्" में विशेष्यवाचक दण्डवान् पद का अर्थ है दण्डसंयोगवान् और विशेषणवाचक दण्डवान् पद का भी अर्थ दण्डसंयोगवान् है। यहाँ पर अभेदान्वय बोध इष्ट नहीं है। अतः अभेदान्वय बोध के वारण के लिए भट्टाचार्य कहते हैं कि - दण्डवान् दण्डवान् इस वाक्य से भी - दण्डसंयोगत्व से अवच्छिन्न जो दण्डसंयोगतद्वान् में अर्थात् दण्डसंयोगवान् में, तदवच्छिन्नवत् = अर्थात् दण्डसंयोगत्वावच्छिन्न = दण्डसंयोगवान् का अभेदान्वय न हो इसके लिए, दण्डसंयोगत्वाद्यवच्छिन्न ——— सम्बन्ध से शाब्दबोध में दण्डत्वभेद को भी पृथक् से कारण मानना चाहिए। उपर्युक्त ग्रन्थ का तात्पर्य अभी भी स्पष्ट नहीं हो सकता उसका कारण कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध जो दण्डसंयोगत्वाद्यवच्छिन्न बताया गया उसका जटिल होना है।

अतः पहले उस सम्बन्ध को समझें - दण्डसंयोगवान् है प्रकार, उसमें रहने वाली प्रकारता का अवच्छेदक दण्डसंयोग, उस प्रकारतावच्छेदक रूप दण्डसंयोग में रहने वाली प्रकारतावच्छेदकता का अवच्छेदक है दण्डसंयोगत्व। इस प्रकार दण्डसंयोगत्व से अवच्छिन्न है अवच्छेदकता (प्रकारतावच्छेदकता) जिसकी ऐसी दण्डसंयोगत्वावच्छिन्नावच्छेदकताक प्रकारता होगी दण्डसंयोगवान् में रहने वाली प्रकारता, उस दण्डसंयोगवान् में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता होगी दण्डसंयोगवान् रूप विशेष्य में रहने वाली विशेष्यता उससे निरूपित दण्डसंयोगत्व से अवच्छिन्न अवच्छेदकता होगी दण्डसंयोग में रहने वाली विशेष्यतावच्छेदकता उससे निरूपित अवच्छेदकता होगी दण्ड में रहने वाली विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकता, उसका अवच्छेदक होगा दण्डत्व, उस दण्डत्व में रहने वाले विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकतावच्छेदकत्व सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला शाब्दबोध जिस दण्डत्व में उत्पन्न होगा उसमें दण्डत्व का भेद अर्थात प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदकतावच्छेदकत्व धर्म का भेद अलग से कारण होगा। दण्डवान् दण्डवान् में चूँकि विशेष्यता-वच्छेदकतावच्छेदकतावच्छेदक दण्डत्व में प्रकारता वच्छेदकतावच्छेदकतावच्छेदक = दण्डत्व का भेद नहीं है। अतः अभेदान्वय बोध नहीं होता है।

परन्तु जातिमद्वान् दण्डवान् यहाँ पर विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकतावच्छेदक जाति में प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदकतावच्छेदक दण्डत्व का भेद नहीं है। क्योंकि

"दण्डत्वं न जातिः" ऐसी प्रतीति नहीं होती। अतः यहाँ पर इष्ट भी अभेदान्वय बोध नहीं हो पाएगा। अतः भट्टाचार्य ने कहा अवच्छेदकतायां निरवच्छिन्नत्व निवेशोऽपि पूर्ववद्बोध्यः।

अर्थात् जैसे "स घटः घटः सः" इस वाक्य से होने वाले अभेदान्वय बोध की उपपत्ति के लिए प्रकारतावच्छेदकता तथा विशेष्यतावच्छेदकता में निरवच्छिन्नत्व का निवेश किया था वैसे ही यहाँ भी विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकतावच्छेदकता (रूप सम्बन्ध) में निरवच्छिन्नत्व का निवेश करेंगें। जिसका तात्पर्य यह होगा कि जहाँ पर धर्मितावच्छेदकतावच्छेदकतावच्छेदकता अथवा प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदकतावच्छेदकता दोनों निरवच्छिन्न हों वहीं पर तद्धर्मभेद अर्थात् प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदकतावच्छेदक का भेद कारण होता है। जातिमद्वान् दण्डवान् में तो विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकतावच्छेदक = जाति, जातित्व से अवछिन्न ही है निरवच्छिन्न नहीं। अतः यहाँ तद्धर्मभेद कारण नहीं होगा। तो विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकतावच्छेदक = जाति में प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदकतावच्छेदक = दण्डत्व के भेद नहीं होने पर भी अभेदान्वयबोध उपपन्न हो जाएगा।

अभी तक शाब्दबोध रूप कार्य की उत्पत्ति की उपपत्ति तथा अनुपपत्तियों को ध्यान में रखते हुए स्थल विशेष के अनुसार कहीं धर्मितावच्छेदकता को, तो कहीं धर्मितावच्छेदकतावच्छेदकताको, तो कहीं धर्मितावच्छेदकतावच्छेदकतावच्छेदकता को कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध मानकर तद्धर्म भेद को कारण बताया गया।

अब भट्टाचार्य वस्तुतः इत्यादि के द्वारा अपना सिद्धान्तमत प्रदर्शित करते हुए उसमें लाघव दिखाने जा रहे हैं-

वस्तुतस्तु तद्धर्मान्यवृत्तिविषयतासम्बन्धेन ज्ञानं प्रति तद्धर्मभेदत्वेन हेतुता लाघवात्। एवं च घटत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपित-विशेष्यतावच्छेदकतासम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति घटत्वाद्यन्यवृत्तिविषयतासम्बन्धेनज्ञानत्वाद्यवच्छिन्नस्य व्यापकतया घटत्वादौ तादृशविषयतासम्बन्धेन ज्ञानत्वावच्छिन्नोत्पादकसामग्रीविरहेण न तत्र तादृशविशेष्यता-वच्छेदकतासम्बन्धेन शाब्दबोधापत्तिः।

ज्ञानत्व शाब्दबोधत्व की अपेक्षा व्यापक धर्म है, यह बात निर्विवाद है। क्योंकि ज्ञानत्व प्रत्यक्ष अनुमिति उपमिति शाब्दबोध चारों ज्ञानों में रहता है, जबकि शाब्दबोधत्व केवल शाब्दबोध में। एवं च व्यापकधर्मावच्छिन्न कार्य की उत्पत्ति में अपेक्षित सामग्री, व्याप्यधर्मावच्छिन्न कार्य की उत्पत्ति में भी अवश्य अपेक्षित होती है। यह बात भी निर्विवाद है और पहले भी बताया जा चुका है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर भट्टाचार्य सभी स्थलों के लिए अनुगत कार्यकारणभाव दिखाने की इच्छा से, ज्ञान की उत्पत्ति में कार्यकारणभाव बताते हुए कहते हैं कि शाब्दबोध

की अपेक्षा, व्यापक ज्ञान (मात्र) की उत्पत्ति में जो सामग्री अपेक्षित है, उस सामग्री को शाब्दबोध स्थल में भी अवश्य रहना चाहिए। यदि वह सामग्री है तो योग्यता ज्ञान आदि कारण समुदाय से शाब्दवोध उत्पन्न होगा और यदि नहीं तो शाब्दबोध भी उत्पन्न नहीं होगा। अब यह जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होगी कि वह कौन सी सामग्री है जो ज्ञानमात्र में अपेक्षित होती है? इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए भट्टाचार्य कहते हैं कि - "तद्धर्मान्यवृत्तिविषयतासम्बन्ध से ज्ञान मात्र की उत्पत्ति में तद्धर्मभेदत्वेन तद्धर्मभेद कारण होता है।"

इसका तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध में आया जो तद्धर्म पद है उसके घटक तत् पद का अर्थ है प्रकार तो तद्धर्म पद का अर्थ होगा प्रकार में रहने वाले - प्रकारतावच्छेदक प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदक, प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदकतावच्छेदक रूप धर्म। - तद्धर्म से अन्य का अर्थ होगा उन प्रकारतावच्छेदक आदि धर्मों से अन्य भिन्न विशेष्यतावच्छेदक, विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदक; विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकतावच्छेदक। तात्पर्य यह है कि यदि तद्धर्मपद से प्रकारतावच्छेदक लें तो तद्धर्मान्य पद से विशेष्यतावच्छेदक ही लें। उन विशेष्यतावच्छेदक आदि तीनों में से जिसे आपने तद्धर्मान्य पद से लिया है उसमें वृत्ति = रहने वाली जो विषयता हो, उस विषयता सम्बन्ध से ज्ञान मात्र की उत्पत्ति में तद्‌धर्मभेद कारण होता है। क्योंकि यदि तद्धर्म से हम घटत्व को लेते हैं तो घटत्वान्यवृत्तविषयता सम्बन्ध से ज्ञान, घटत्वभिन्न में ही होगा और वहाँ घटत्व का भेद रहेगा ही। अतः भट्टाचार्य ने पहले ज्ञान की उत्पत्ति का कार्यकारण भाव बताया। इस प्रकार तद्धर्मान्यवृत्तिविषयतासम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले ज्ञान का कारण तदर्मभेद है यह बात तो सिद्ध ही है साथ ही विषयता रुप सम्बन्ध का तद्धर्मान्यवृत्ति होना भी आवश्यक है। अन्यथा यदि तद्धर्मान्यवृत्ति विषयतासम्बन्ध से ज्ञान के उत्पत्ति में तद्‌धर्मभेद को ही करण मानेंगे तो इसका अर्थ होगा कि - जहाँ पर तद्धर्मान्यवृत्ति विषयता सम्बन्ध से शाब्दबोध की उत्पत्ति अपेक्षित होगी वहीं पर तद्धर्म भेद कारण होगा, अन्यत्र नहीं तो घटो घटः में कोई कह सकता है कि हम घटत्व में तद्‌धर्मान्यवृत्ति विषयता सम्बन्ध से शाब्दबोध की उत्पत्ति नहीं मानते अपितु तद्धर्मवृत्ति विषयतासम्बन्ध से तो पुनः वहाँ पर तद्‌धर्मभेद अभेदान्वय का कारण नहीं माना जाएगा। तो घटो घटः में तद्‌धर्म के नहीं रहने पर भी अभेदान्वयबोध की आपत्ति आ जाएगी। अतः विषयता सम्बन्ध से ज्ञान की उत्पादक सामग्री जैसे तद्‌धर्म भेद है वैसे विषयता का तद्‌धर्मान्यवृत्ति होना भी। अब "घटो घटः" में उत्पन्न होने वाला विषयता सम्बन्ध से जो ज्ञान है, वह जिस विषयता सम्बन्ध से घटत्व रुप विषय में उत्पन्न हो रहा है वह विषयता घटत्वान्यवृत्ति नहीं है अपितु घटत्ववृति ही है। अतः वहाँ ज्ञान की उत्पादक दोनों सामग्रियों के नहीं होने से शाब्दबोध भी नहीं होता। अस्तु।

इस प्रकार जब यह बात निश्चित हो गयी कि शाब्दबोध की अपेक्षा व्यापक ज्ञान की विषयता सम्बन्ध से उत्पत्ति में तद्धर्म भेद और विषयता का तद्धर्मान्यवृत्तित्व दोनों अपेक्षित सामग्री है तो यह भी स्वतः निश्चित हो गया कि तद्धर्मावच्छिन्न प्रकारतानिरूपित विशेष्यतावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोध की उत्पत्ति में भी तद्धर्मभेद और विषयता का तद्धर्मान्यवृत्तित्व आवश्यक कारण है। इस प्रकार का एक कार्यकारण भाव मानने से घटत्व आदि से अवच्छिन्न प्रकारता से निरूपित जो विशेष्यता, उसके अवच्छेदक में रहने वाली जो अवच्छेदकता, उस अवच्छेदकता सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले शाब्दबोध के प्रति अर्थात् उपर्युक्त शाब्दबोध की अपेक्षा घटत्वान्यवृत्ति विषयता सम्बन्ध से होने वाला ज्ञनत्वावच्छिन्न ज्ञान व्यापक है, अतः ज्ञान के व्यापक होने से घटत्व आदि में, घटत्वान्यवृत्तिविषतासम्बन्धेन उत्पन्न होने वाले व्यापक ज्ञान की उत्पादक सामग्री के विरह = अभाव होने के कारण, घटत्व में घटत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपित विशेष्यतावच्छेदकता सम्बन्ध से अभेदान्वय बोध की आपत्ति भी नहीं रही। उपर्युक्त घटत्वाद्यवच्छिन्न प्रकारता निरूपित आदि का जो शब्दार्थ ऊपर बताया गया उसका अभिप्राय यह है कि -

घटत्वावच्छिन्न घट में रहने वाली जो प्रकारता, उस प्रकारता से निरूपित जो विशेष्यता, उस विशेष्यता को भी यदि घट में ही माने अर्थात् जहाँ घट प्रकार है वहाँ विशेष्य भी घट को ही मानें तो वहाँ विशेष्यता भी रह गयी घट में, विशेष्यता का अवच्छेदक होगा घटत्व तो घटत्वावच्छिन्न प्रकारतानिरूपितविशेष्यतावच्छेदकता भी रह गयी घटत्व में ही तो इस विशिष्ट अवच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोध जो घटत्व में उत्पन्न होगा, उस उत्पन्न होने वाले शाब्दबोध की अपेक्षा घटत्वान्यवृत्ति विषयता सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला ज्ञान चूँकि व्यापक है, तो इस व्यापक ज्ञान की उत्पत्ति में अपेक्षित सामग्री जो तद्धर्मभेद है वह उपर्युक्त शाब्दबोध की उत्पत्ति में भी अपेक्षित है। जो कि वहाँ (घटो घटः में) नहीं है। क्योंकि घटत्वावच्छिन्न प्रकारतानिरूपित विशेष्यतावच्छेदकता सम्बन्ध से आप घटत्व में ही शाब्दबोध उत्पन्न करना चाहते हैं वहाँ पर तद्धर्म = घटत्व, से अन्य में न तो विषयता ही है, और न ही तद्धर्मरूप प्रकारतावच्छेदक का भेद ही है विशेष्यतावच्छेदक घटत्व रूप अधिकरण में, अर्थात् वहाँ तद्धर्मान्यवृत्तिविषयता सम्बन्ध से तद्धर्म भेद रूप ज्ञानोत्पादक सामग्री नहीं है। अतः घटत्व में घटत्वावच्छिन्न प्रकारतानिरूपित विशेष्यतावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोध भी उत्पन्न नहीं हो सकता।

इस तरह घटो घटः में अभेदान्वय बोध की आपत्ति नहीं रही।

एवं घटवान् घटवान् इत्यादिशाब्दबोधवारणानुरोधेन धर्मितावच्छेदकतावच्छेदकादिनिष्ठप्रत्यासत्त्या कारणत्वान्तरमपि न कल्प्यते।

इस प्रकार जब तद्धर्मान्यवृत्तिविषयता सम्बन्ध से ज्ञान मात्र की उत्पत्ति में तद्धर्म भेद के कारण होने से शाब्दबोध में भी कारण माना है तो घटवान् घटवान् में भी अभेदान्वय बोध के वारण के लिए "धर्मितावच्छेदकतावच्छेदकता" को कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध मानकर तद्धर्म भेद को अलग कारण मानने की भी कल्पना नहीं करनी पड़ी।

पहले की रीति के अनुसार घटवान् घटवान् में अभेदान्वय बोध के वारण के लिए घटत्वावच्छिन्न - अवच्छेदकताकप्रकारतानिरूपित विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकता सम्बन्धेन शाब्दवोधं प्रति तद्धर्मभेदः कारणम् ऐसा कहना पड़ता था। घटत्व से अवच्छिन्न अवच्छेदकता होगी घट में रहने वाली प्रकारतावच्छेदकता उससें निरूपित प्रकारता होगी घटवान् में रहने वाली प्रकारता उस प्रकारता से निरूपित विशेष्यता भी दूसरे घटवान् पदबोध्य घटवान् में विशेष्यतावच्छेदक होगा घट। घट में रहने वाली विशेष्यतावच्छेदकता का अवच्छेदक होगा घटत्व। इस तरह उपर्युक्त विशेषण विशिष्ट विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदक घटत्व में रहने वाली विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकता रूप सम्वन्ध से शाव्द बोध उत्पन्न होगा घटत्व में उसमें तद्धर्मभेद अर्थात् प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदक का भेद कारण है। यह बात अलग से कहनी पड़ती थी। अब ऐसा अलग से कार्यकारण भाव की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी। क्योंकि घटवान् घटवान् में भी तद्धर्म से यदि घटत्व रूप प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदक को लेते हैं तो उससे अन्य होगा विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदक जो कि घटत्व ही है उसमें रहने वाली विषयता होगी विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकता यह विषयता, इस विषयता सम्वन्ध से ज्ञान की उत्पत्ति होगी घटत्व में उसमें तद्धर्म = प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदक, का भेद नहीं है। तो जब तद्धर्मान्यवृत्ति विषयता सम्बन्ध से ज्ञान की उत्पत्ति की सामग्री तद्धर्मभेद वहाँ नहीं है तो जब व्यापक = ज्ञान ही वहाँ उत्पन्न नहीं हो सकता तो उससे व्याप्य शाब्दबोध भी विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकता" सम्बन्ध से उत्पन्न नहीं होगा। यह बात अपने आप सिद्ध हो गयी। इसके लिए अलग से कार्यकारणभाव की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं रही।

एवमुद्देश्यतावच्छेदकविधेययोरैक्येनैको द्वावित्यादिवाक्यादेकत्वद्वित्वावच्छिन्ने एकत्वद्वित्वादीनां भेदान्वयबोधानुदयात्, एकत्वत्व - द्वित्वत्वाद्यवच्छिन्नसमवायादिसंसर्गावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यता- निरूपितसमवायादि संसर्गावच्छिन्नावच्छेदकतावच्छेदकत्वादिसम्बन्धेन- शाब्दबुद्धौ एकत्वत्वद्वित्वत्वादिभेदस्य (हेतुत्वान्तरकल्पनमनादेयमेव) ।

इसी प्रकार एकः, द्वौ यहाँ पर उद्देश्यतावच्छेदक = प्रकृत्यर्थ = एक दो में विधेय = विभक्ति के अर्थ = एकत्व तथा द्वित्व अर्थात्, एकत्वावच्छिन्न एक में एकत्व का द्वित्वावच्छिन्न दो में द्वित्व का भेदान्वयबोध अर्थात् समवाय

सम्बन्ध से शाब्दबोध नहीं होता। उसके वारण के लिए भी एकः इस स्थल में एकत्वत्वावच्छिन्न समवाय सम्बन्धावच्छिन्न प्रकारतानिरूपित जो विशेष्यता उस विशेष्यता से निरूपित जो समवायसम्बन्धावच्छिन्न अवच्छेदकता, उस विशेष्यतावच्छेदकता का जो अवच्छेदक = विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदक उसमें रहने वाली विषयता सम्बन्ध से अर्थात् विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकतासम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति एकत्वत्व के भेद को पृथक् कारण मानने की आवश्यकता नहीं रही। इसी प्रकार द्वौ इस स्थल में द्वित्वत्वावच्छिन्न समवायसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारतानिरूपित विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति द्वित्वत्व भेद को अलग से कारणता की कल्पना भी नहीं करनी चाहिए।

तात्पर्य यहाँ यह है कि "एकः" यहाँ पर प्रकृतिभूत एक पद की शक्ति एकत्व विशिष्ट एक व्यक्ति, में है और सु प्रत्यय की शक्ति एकत्वत्वावच्छिन्न एकत्व संख्या में। प्रकृत्यर्थ में प्रत्ययार्थ संख्या का विशेषण रूप में अन्वय होता है। इस तरह सु प्रत्ययार्थ एकत्व संख्या विधेय (विशेषण) है और प्रकृतिभूत एक पदवाच्य "एक" व्यक्ति उद्देश्य (विशेष्य) तों उद्देश्यतावच्छेदक होगा एक व्यक्ति में रहने वाला एकत्व। इस प्रकार उद्देश्यतावच्छेदक भी एकत्व और विधेय भी एकत्व हो गया। ऐसे स्थलों में जहाँ उद्देश्यतावच्छेदक तथा विधेय एक (अभिन्न) हो वहाँ शाब्दबोध नहीं हुआ करता।अतः प्रकृत में भी उद्देश्यतावच्छेदक तथा विधेय के एक ही एकत्व रूप होने से एकत्वत्वावच्छिन्न एकत्व प्रत्ययार्थ का प्रकृत्यर्थ एक व्यक्ति में भेद सम्बन्ध से शाब्दबोध नहीं होता है इसी को भट्टाचार्य ने कहा - एकत्वावच्छिन्ने एक व्यक्ति में एकत्वद्वित्वादीनां = प्रत्ययार्थ एकत्व द्वित्व आदि का, भेदान्वयबोध = समवाय संसर्गक बोध के, अनुदयात् = न होने से। उसके वारण के लिए जो - एकत्वत्वधर्मावच्छिन्न समवायादिसंसर्गावच्छिन्न = समवाय आदि सम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता = एकत्व (संख्या) में रहने वाली प्रकारता, उस प्रकारता से निरूपित विशेष्यता = एक (व्यक्ति) में रहने वाली विशेष्यता, उस विशेष्यता से निरूपित जो समवायादि संसर्गावच्छिन्न अवच्छेदकता = एकत्व में रहने वाली विशेष्यतावच्छेदकता, उसका जो अवच्छेदकत्व = एकत्वत्व में रहने वाला विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकत्व सम्बन्धेन = सम्बन्ध से अर्थात् एकत्वत्व में रहने वाली = विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकत्व सम्बन्ध से, एकत्वत्व में उत्पन्न होने वाले शाब्दबोध में, एकत्वत्व भेद को, पृथक् कारण मानने की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी। क्योंकि जब हमने तद्धर्मान्यवृत्तिविषयता सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले ज्ञान मात्र की उत्पादक सामग्री तद्धर्मभेद को माना है तो वह तद्धर्म भेद रूप व्यापक सामग्री उपर्युक्त विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकता सम्बन्ध से एकत्वत्व में उत्पन्न होने वाले शाब्दबोध के लिए अपेक्षित होगी जो कि वहाँ नहीं है। क्योंकि तद्धर्म से यदि प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदक धर्मएकत्वत्व को लेंगे तो उससे अन्य होगा विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदक धर्म एकत्त्वत्व ही, उसमें रहने

वाली विषयता होगी विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकता उस सम्बन्ध से शाब्दबोध यदि उत्पन्न होगा भी तो एकत्वत्व में ही, उसमें तद्धर्मभेद = प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदक धर्म एकत्वत्व का भेद नहीं है। तो जब उस एकत्वत्व रूप विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदक में तद्धर्मान्यवृत्तिविषयता सम्बन्ध से तद्धर्मभेद रूप सामग्री के न होने से व्यापक ज्ञान ही पैदा नहीं होगा, तो उसमें ज्ञान का व्याप्य शाब्दबोध का न होना तो सुतरां सिद्ध हो - जाएगा। इसके लिए उपर्युक्त कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध से कार्यकारणभाव की अलग से कल्पना भी नहीं करनी पड़ेगी। इसी प्रकार "द्वौ" स्थल में समझना चाहिए।

एवम् "कर्मगच्छति" इत्यादौ च कर्मत्वत्वाद्यवच्छिन्ने आधेयतासम्बन्धेन तद्वतोऽन्वयबोधवारणाय कर्मत्वत्वाद्यवच्छिन्नावच्छेदकताकाऽधेयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता निरूपितधर्मितावच्छेदकतासम्बन्धेन शाब्दबोधे कर्मत्वत्वादिभेदस्य (हेतुत्वान्तरकल्पनमनुपादेयमेव) ।

इसी प्रकार " कर्म गच्छति" इत्यादि स्थल में भी अम् प्रत्ययार्थ कर्मत्वत्वावच्छिन्ने = कर्मत्व में, आधेयतासम्बन्धेन = आधेयतासम्बन्ध से, तद्वतः = कर्मत्ववान् कर्म रूप प्रकृत्यर्थ का, अन्वयबोधवारणाय = शाब्दबोध रूप अन्वयबोध का वारण करने के लिए, कर्मत्वत्वावच्छिन्नावच्छेदकताक = कर्मत्वत्व से अवच्छिन्न है अवच्छेदकता जिसकी, ऐसी आधेयतासम्बन्धावच्छिन्न = आधेयता सम्बन्ध से अवच्छिन्न जो प्रकारता, उस प्रकारता से निरूपित जो धर्मिता = विशेष्यता, उसकी जो अवच्छेदकता = विशेष्यतावच्छेदकता, उस विशेष्यतावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोधे = कर्मत्वत्व में उत्पन्न होने वाले शाब्दबोध में, कर्मत्वत्व भेद की (पृथक् से हेतुता की कल्पना भी नहीं करनी पड़ेगी)। तात्पर्य यह है कि - "कर्म गच्छति" यहाँ पर द्वितीयान्त "कर्म" शब्द में (वाक्य में) जो द्वितीया विभक्ति आयी है उसका अर्थ है कर्मत्वत्वावच्छिन्न कर्मत्व, तथा प्रकृतिभूत कर्म पद का अर्थ है कर्मत्वावच्छिन्न कर्म। यहाँ पर कर्मत्वावच्छिन्न कर्मरूप प्रकृत्यर्थ का विशेषण रूप से कर्मत्वत्वावच्छिन्न कर्मत्व रूप प्रत्ययार्थ में आधेयता सम्बन्ध से अन्वय नहीं होता है। अतः उसके वारण के लिए पहले जो - "कर्मत्वत्वावच्छिन्नावच्छेदकताकाऽऽधेयतासंसर्गाविच्छिन्नप्रकारतानिरूपितधर्मितावच्छेदकतासम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति कर्मत्वत्वभेदः कारणम्" कहना पड़ता था, वह अब नहीं कहना पड़ेगा। इस कार्यकारणभाव का अभिप्राय यह है - प्रकृत्यर्थ कर्म में रहने वाली प्रकारता का अवच्छेदक है कर्मत्व, उस कर्मत्व रूप प्रकारतावच्छेदक में रहने वाली प्रकारतावच्छेदकता एक तो कर्मत्वत्व धर्म से अवच्छिन्न है और आधेयता संसर्ग से भी अवच्छिन्न है। इसलिए कर्मत्वत्वावच्छिन्नआधेयता सम्बन्धावच्छिन्न अवच्छेदकता कहलाएगी कर्मत्व में रहने वाली प्रकारतावच्छेदकता, ऐसी अवच्छेदकता है जिस प्रकारता की वह प्रकारता कहलाएगी कर्मत्वावच्छिन्नआधेयतासंसर्गावच्छिन्नावच्छेदकताक प्रकारता "कर्म" में रहने वाली

प्रकारता, उस प्रकारता से निरूपित धर्मिता होगी प्रत्ययार्थ कर्मत्व में रहने वाली धर्मिता, उसकी अवच्छेदकता रहेगी कर्मत्वत्व में, तो इस विशिष्ट धर्मितावच्छेदकतावच्छेदकता सम्बन्ध से शाब्दबोध जिस धर्मितावच्छेदकतावच्छेदक कर्मत्वत्व में उत्पन्न होगा उसमें कर्मत्वत्व का भेद रहना चाहिए। ऐसा पहले कहना पड़ता था जो कि नहीं रहता है तो आधेयता सम्बन्ध से कर्मत्व में कर्म का अन्वय नहीं होता है। अब वैसा पृथक् कार्यकारणभाव मानने की आवश्यकता नहीं रही। क्योंकि तद्धर्म से लेंगें प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदक कर्मत्वत्व को उससे "अन्य" पद से लेंगें धर्मितावच्छेदक धर्म कर्मत्वत्व को उसमें रहने वाली विषयता होगी धर्मितावच्छेदकतावच्छेदकता रूप विषयता, उस धर्मितावच्छेदकतावच्छेदकता सम्बन्ध से कर्मत्वत्व में ज्ञान की उत्पत्ति के लिए अपेक्षित सामग्री जो तद्धर्मभेद = अर्थात् प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदक भेद अपेक्षित होगी वह है नहीं। क्योंकि कर्मत्वत्व में कर्मत्वत्व का भेद नहीं रहता। इस प्रकार जब कर्मत्वत्वान्यवृत्तिविषयता सम्बन्ध से ज्ञान ही कर्मत्वत्व में उपयुक्त कर्मत्वत्व भेद रूप सामग्री के नहीं होने से नहीं होगा तो ज्ञान का व्याप्य जो उपर्युक्त विशिष्ट विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला शाब्दबोध वह भी नहीं होगा यह बात भी सुतरां सिद्ध हो गयी। क्योंकि व्यापक ज्ञान के उत्पत्ति में अपेक्षित सामग्री तद्धर्मभेद व्याप्य शाब्दबोध की उत्पत्ति में भी अपेक्षित होगी जो कि नहीं है। अतः कर्मत्व में कर्मत्ववान् कर्म का आधेयता सम्बन्ध से अन्वय बोध का वारण करने के लिए उपर्युक्त कार्यकारणभाव मानकर अलग से कर्मत्वत्व भेद को कारण मानने की आवश्यकता नहीं।

घटो न घटः इत्याद्यनुमितेः शाब्दबोधस्य च वारणाय घटत्वावच्छिन्नभेदप्रकारतानिरूपितधर्मितावच्छेदकतासंबन्धेनानुमितौ शाब्दबोधे च घटत्वादिभेदस्य हेतुत्वान्तरकल्पनमनादेयमेव तद्धर्मभेदस्यैक-कारणतयैव सकलातिप्रसङ्गवारणसंभवादिति-कृतं पल्लवितेन।

इसी प्रकार घटो न घटः इस प्रकार की अनुमिति तथा शाब्दबोध का वारण करने के लिए घटत्वावच्छिन्नभेदप्रकारता = अर्थात् घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक जो भेद, उसमें रहने वाली प्रकारता से निरूपित, जो धर्मिता = घट में रहने वाली धर्मिता (विशेष्यता) उसके अवच्छेदक = घटत्व में, रहने वाली जो अवच्छेदकता = धर्मितावच्छेदकता उस सम्बन्धेन = सम्बन्ध से, अनुमितौ = अनुमिति में, च = और, शाब्दबोधे = शाब्दबोध में, घटत्वादिभेदस्य = घटत्व आदि के भेद की, हेतुत्वान्तरकल्पनम् = अलग से कारणता की कल्पना, अनादेयमेव = नहीं ही करनी चाहिए, तद्धर्मभेदस्य = तद्धर्मभेद की, एककारणतयैव = एककारणता स्वीकार करने से ही, सकलातिप्रसंगवारणसंभवात् = सभी अतिप्रसङ्गों का वारण संभव होने से, इतिकृतं पल्लवितेन = ज्यादा विस्तार करने से क्या

, तात्पर्य यह है कि - घटो न घटः ऐसी अनुमिति या इस वाक्य से शाब्दबोध नहीं होता। क्योंकि यहाँ घट को उद्देश्य करके घटभेद का विधान किया जा रहा है, जो कि असंभव है। क्योंकि घट में घट भेद का रहना असंभव है। अतः न तो घट में घटभेद की अनुमिति होती है और न ही घट विशेष्यक घटभेद प्रकारक शाब्दबोध ही होता है। इसलिए घटो न घटः से घटोद्देश्यक घटभेदविधेयक अनुमिति तथा घट विशेष्यक घटभेदप्रकारक शाब्दबोध रूप दोनों आपत्तियों का वारण करने के लिए " घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेदनिष्ठप्रकारतानिरूपतिघटनिष्ठधर्मितानिरूपित अवच्छेदकता सम्बन्ध से घटत्व में होने वालीअनुमिति तथा शाब्दबोध के वारण के लिए घटत्वभेद को पृथक् से कारण मानने की कल्पना भी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि एक "तद्धर्म भेद" को ही कारण मान लेने से उपर्युक्त सभी आपत्तियों का वारण हो सकता है। क्योंकि जब हमने घटत्वान्यवृत्तिविषयता सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले ज्ञान मात्र की उत्पत्ति में तद्धर्मभेद को कारण मान लिया है तो स्वाभाविक है जहाँ उपर्युक्त धर्मितावच्छेदकतासम्बन्ध से अनुमिति या शाब्दबोध का उत्पन्न होना इष्ट होगा वहाँ व्यापक ज्ञान की उत्पत्ति की सामग्री तद्धर्मभेद का रहना आवश्यक होगा। जबकि घटभेदनिष्ठ प्रकारता निरूपित धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से जिस घटत्व में अनुमिति या शाब्दबोध रूप व्याप्य कार्य की उत्पत्ति इष्ट है उस घटत्व में, घटत्वान्यवृत्तिविषयता सम्बन्ध से उत्पन्न होने के लिए ज्ञान मात्र की अपेक्षित सामग्री तद्धर्मभेद = घटत्व भेद नहीं है। क्योंकि तद्धर्मान्यवृत्तिविषयता सम्बन्ध घटक तद्धर्मपद से घटभेद रूप प्रकार में रहने वाली प्रकारता के अवच्छेदक के अवच्छेदक धर्म घटत्व को यदि लेते हैं तो उससे अन्य पद से लेंगे धर्मितावच्छेदक धर्म को, जो कि घटत्व ही है तो उसमें रहने वाली विषयता होगी धर्मितावच्छेदकता रूप विषयता उस धर्मितावच्छेदकता रूप विषयता सम्बन्ध से, ज्ञानमात्र घटत्व में जो उत्पन्न होगा, उसके लिए तद्धर्म - भेद अर्थात् प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदक धर्म का भेद, होना आवश्यक सामग्री है जो कि नहीं है। क्योंकि घटत्व में घटत्व का भेद नहीं रहता। इस प्रकार जब घटत्वान्यवृत्ति विषयता सम्बन्ध से घटत्व में तद्धर्मभेदरूप कारण के न होने से ज्ञान ही नहीं उत्पन्न होगा तो उससे व्याप्य उपर्युक्त धर्मितावच्छेदकता सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली अनुमिति तथा शाब्दबोध रूप व्याप्य कार्य भी उत्पन्न नहीं होंगें। क्योंकि उपर्युक्त सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली अनुमिति तथा शाब्दबोध में ज्ञानमात्र की अपेक्षित सामग्री तद्धर्म भेद अवश्य अपेक्षित होगी जो कि नहीं है। यह बात सुतरां सिद्ध हो जाएगी। उसके लिए पृथक् से घटत्वभेद को कारण मानने की आवश्यकता नहीं रहेगी। इस प्रकार तद्धर्मान्यवृत्तिविषयता सम्बन्ध से ज्ञानमात्र के प्रति एक "तद्धर्मभेद" को कारण मान लेने से उन सभी स्थलों में आने वाली आपत्तियों का वारण हो जाता है। जिसके लिए पहले कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध की कुक्षि में प्रकारतावच्छेदकता तो कभी

प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदकता तो कभी प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदकतावच्छेदकता का किसी न किसी तरह प्रवेश करना पड़ता था तो कभी विशेष्यतावच्छेदकता को कभी विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकता तो कभी विशेष्यतावच्छेदकता वच्छेदकतावच्छेदकता का और कभी घटत्व के भेद को तो कभी कर्मत्वत्व के भेद को तो कभी दण्डत्व के भेद को पृथक् कारण मानना पड़ता था। अब तो बस एक तद्धर्मभेद को कारण मान लिया और उस एक तद्धर्मपद से तद्धर्मत्वेन रूपेण प्रकारतावच्छेदक प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदक - प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदकतावच्छेदकत धर्म का यथास्थल ग्रहण किया जा सकता है; और दूसरी बात यह भी है कि उपर्युक्त तद्धर्मभेद ज्ञानमात्र के लिए कारण मान लेने से अनिष्ट ज्ञानव्याप्य अनुमितिं शाब्दबोध सभी की आपत्ति का एक ही कार्यकारणभाव से वारण हो गया। यह लाघव भी है।

॥ इत्यभेदान्वयविचारः ॥

भेदान्वयबोधश्च प्रातिपदिकार्थधात्वर्थयोः प्रत्ययार्थेन क्वचिन्निपातार्थेन च सममेव जायते नत्वन्येन। सत्यपि पदार्थोपस्थितियोग्यताज्ञानादिरूपकारणकलापे राजा पुरूषः भूतलं घट इत्यादौ पुरुषघटाद्यंशे राजभूतलादेः स्वत्वाधेयतासम्बन्धेन, तण्डुलःपचति चैत्रः पच्यते इत्यादौ कर्मत्वकर्तृत्वादिसम्बन्धेन तण्डुलचैत्रादौ पाकादेः स्वकर्मत्वस्वकर्तृत्वादिसम्बन्धेन पाकाद्यंशे वा तण्डुलचैत्रादेरन्वयाबोधात्।

शाब्दबोध में संसर्गमर्यादया भासित होने वाले सम्बन्ध दो प्रकार के होते हैं (भेदोऽभेदश्च) भेद तथा अभेद। यह बात ग्रन्थ के प्रारम्भ में कही गयी थी। उनमें अभेद सम्वन्ध का निरूपण प्रस्तुत ग्रन्थ से पूर्व किया गया। अब भेदान्वय बोध का निरूपण प्रस्तुत ग्रन्थ से किया जा रहा है। भट्टाचार्य जी का इस विषय में कथन है कि - भेदान्वय बोध प्रातिपदिकार्थ और धात्वर्थ का प्रत्ययार्थ के साथ होता है, कहीं कहीं निपातार्थ के साथ भी होता है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी के साथ नहीं होता। अर्थात् प्रातिपदिकार्थ का प्रत्ययार्थ के साथ या निपातार्थ के साथ ही भेदान्वय होता है अन्य के साथ नहीं। इसी तरह धात्वर्थ का भी प्रत्ययार्थ के साथ, और कहीं कहीं निपातार्थ के साथ ही भेद सम्बन्ध से अन्वयबोध होता है, अन्य के साथ नहीं।"

भट्टाचार्य अपनी बात को पुष्ट करने के लिए प्रामाणिक अनुभव को प्रमाण रूप में उद्धृत करते हुए कहते हैं कि राजा पुरूषः में पुरूष रूप प्रातिपदिकार्थ में राज रूप प्रातिपदिकार्थ का स्वत्व सम्बन्ध से, पदार्थोपस्थिति योग्यता ज्ञान आदि शाब्दवोधोपयोगी कारण कलाप के रहने पर भी अन्वय बोध नहीं होता। इसी प्रकार भूतलं घटः यहाँ भी यद्यपि शाब्दबोध की प्रयोजक सामग्री पदार्थोपस्थिति

योग्यता ज्ञानादि सभी विद्यमान है तथापि घटरूप प्रातिपदिकार्थ में भूतलरूप प्रातिपदिकार्थ का आधेयता रूप भेद सम्बन्ध से अन्वय नहीं होता।

इसी प्रकार तण्डुलः पचति यहाँ पर कर्मत्व सम्बन्ध से तण्डुल में पच् धात्वर्थ पाक का अन्वय होने के लिए उपर्युक्त पदार्थोपस्थिति आदि कारणकलाप यद्यपि उपस्थित हैं, तथापि वैसा अन्वय बोधरूप कार्य नहीं होता। इसी प्रकार चैत्रः पच्यते यहाँ पर भी चैत्र में, पच् धात्वर्थ पाक का कर्तृत्व सम्बन्ध से उपर्युक्त कारणकलाप के रहने पर भी अन्वयबोध नहीं होता, और न ही तण्डुलः पचति में धात्वर्थ पाक में ही स्वकर्मकत्व सम्बन्ध से तण्डुल का तथा चैत्रः पच्यते में धात्वर्थ पाक में, स्वकर्तृकत्व रूप भेद सम्बन्ध से चैत्र का ही अन्वय होता है।

अर्थात् प्रातिपदिकार्थ का प्रातिपदिकार्थ या धात्वर्थ के साथ; या धात्वर्थ का प्रातिपदिकार्थ के साथ भेद सम्बन्ध से अन्वय बोध नहीं होता है। अतः मैंने कहा प्रातिपदिकार्थ का तथा धात्वर्थ का प्रत्ययार्थ के साथ ही भेद सम्बन्ध से अन्वय होता है।

निपातातिरिक्तप्रातिपदिकार्थयोः क्रियातादृशप्रातिपदिकार्थयोश्च भेदेन साक्षादन्वयबोधस्याव्युत्पन्नत्वात्। विभक्त्यर्थमन्तराकृत्य तयोरप्यन्वयबोधात् साक्षादिति। निपातातिरिक्तत्वविशेषणाद् भूतले न घटः, घटो न पटः, इत्यादौ घटादेः नञर्थाभावेन, मुखं चन्द्र इवेत्यादौ मुखचन्द्रादीनामिवार्थसादृश्यादिना-

प्रातिपदिकार्थ का प्रातिपदिकार्थ या धात्वर्थ के साथ भेद सम्बन्ध से अन्वय बोध नहीं होने में हेतु देते हैं कि निपात से अतिरिक्त प्रातिपदिकार्थों का, और धात्वर्थ क्रिया तथा निपातातिरिक्त प्रातिपदिकार्थ का परस्पर साक्षाद् भेद सम्बन्ध से अन्वय होना व्युत्पत्ति विरूद्ध है। भट्टाचार्य उपर्युक्त नियम में आये साक्षात् पद की व्यावृत्ति देते हैं कि - विभक्त्यर्थ को मध्य में करके प्रातिपदिकार्थ का प्रातिपदिकार्थ या धात्वर्थ में भी भेदान्वय बोध होता है। इसलिए नियम में कहा साक्षात् भेद सम्बन्ध से अन्वय नहीं होता। जैसे राज्ञः पुरूषः में राज प्रातिपदिकार्थ का पुरूष प्रातिपदिकार्थ में साक्षात् अन्वय तो नहीं होता, परन्तु ङस् विभक्ति के अर्थ सम्बन्धित्व या स्वत्व को भेद सम्बन्ध मानकर राजप्रतिपदिकार्थ का पुरूष प्रातिपदिकार्थ में भी भेद सम्बन्ध से अन्वय "राजनिरूपितस्वत्ववान् पुरूषः" ऐसा होता है।

इसी प्रकार उपर्युक्त नियम में प्रातिपदिक के विशेषण रूप में निप्रातातिरिक्तत्व विशेषण लगाने से यह अर्थ हुआ कि - निपात भी यद्यपि प्रातिपदिक ही है तथापि निपातार्थ रूप प्रातिपदिकार्थ में, दूसरे प्रातिपदिकार्थका तथा धात्वर्थ का भेद सम्बन्ध से साक्षात् अन्वय हो सकता है। इसलिए "भूतले न घटः" यहाँ पर "नञ्" निपात रूप प्रातिपदिक के अर्थ अभाव में घट का, तथा

घटो न पटः यहाँ भी नञ् (निपात प्रातिपदिक के) अर्थ अभाव में घट का, तथा मुखं चन्द्र इव" यहाँ भी इव (निपांत प्रातिपदिक) कें अर्थ सादृश्य में, मुख तथा चन्द्र रूप प्रातिपदिकार्थ का (प्रतियोंगितयान्वयेऽपिन क्षतिः इस अग्रिम वाक्य से सम्बन्ध है) प्रतियोगिता सम्बन्ध से अन्वय होने पर भी कोई क्षति = अर्थात् व्युत्पत्ति का विरोध नहीं होगा।

अर्थात् भूतले न घटः में नञ् रूप निपात जो कि प्रातिपदिक ही है उसके अर्थ अभाव में घट रूप प्रातिपदिकार्थ का प्रातियोगितारूप भेद सम्बन्ध से अन्वय होता है और घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववद्भूतलम्" ऐसा शाब्दबोध होता है।" इसी तरह "घटो न पटः" यहाँ भी नञर्थ अभाव में घट का प्रतियोगिता सम्बन्ध से अन्वय होता है और घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवान् पटः" ऐसा शाब्दबोध होता है।

इसी प्रकार "मुखं चन्द्र इव" यहाँ पर भी इव के अर्थ सादृश्य में जब मुख का प्रतियोगिता सम्बन्ध से अन्वय होता है तो मुखप्रतियोगिकसादृश्यवान् चन्द्रः ऐसा, तथा जब इवार्थ सादृश्य में चन्द्र का प्रतियोगिता सम्बन्ध से अन्वय होता है तो चन्द्रनिष्ठप्रतियोगिताकसादृश्यवन्मुखम्" ऐसा शाब्दवोध होता है। उपर्युक्त स्थलों में नञ् तथा इव रूप निपात के अर्थ में जो प्रातिपदिकार्थों का प्रतियोगिता रूप भेद सम्बन्ध से अन्वय हुआ है वह अन्वय प्रातिपदिकार्थ का प्रातिपदिकार्थ से साथ ही होने वाला अन्वय है। जबकि पहले कहा गया था प्रातिपदिकार्थ का प्रातिपदिकार्थ में भेद सम्बन्ध से अन्वय नहीं होता। तथापि अभी बताये गये नियम में जब निपातातिरिक्तत्व विशेषण लगाते हैं तो उपर्युक्त नियम निपात सेभिन्न प्रातिपदिकार्थों के विषय में प्रवृत्त होता है तो भूतले न घटः घटो न पटः मुखं चन्द्र इव में निपातार्थ रूप प्रातिपदिकार्थ में घटादिरूप प्रातिपदिकार्थ का प्रतियोगिता सम्बन्ध से अन्वय होने पर भी कोई क्षति नहीं हुई।

न कलञ्जं भक्षयेदित्यादौ नैयायिकमते नञुपस्थाप्येन बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनत्वरूपविध्यर्थाभावेन धात्वर्थभक्षणा-देरनुयोगितया, गुरूमते तु विध्यर्थापूर्वांशे विशेषणतयान्वितेन नञुपस्थाप्याभावेन धात्वर्थभक्षणादेः प्रतियोगितयान्वयेऽपि न क्षतिः।

"न कलञ्जं भक्षेयत्" यहाँ पर नञ् पद के द्वारा उपस्थाप्य बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्ट इष्टसाधनत्व रूप विध्यर्थ के अभाव के साथ भक्षधात्वर्थ भोजन का अनुयोगिता सम्बन्ध से, तथा गुरूमत (प्रभाकर मत) में विधि के अर्थ अपूर्व में विशेषण रूप में अन्वित नञर्थाभाव के साथ धात्वर्थभक्षण का प्रतियोगिता सम्बन्ध से अन्वय होने पर कोई आपत्ति नहीं।

इससे पूर्व के ग्रन्थ में प्रातिपदिकार्थ (निपातार्थ) में प्रतिपदिकार्थ का भेद सम्बन्ध से अन्वय होना बताया गया।अब इस ग्रन्थ में निपातार्थ में धात्वर्थ का अन्वय भेद सम्बन्ध से होना बताया जा रहा है।

तात्पर्य यह है कि - प्रवृत्तिमात्र के प्रति कृतिसाध्यता, इष्ट साधनता तथा बलवदनिष्टाननुबन्धित्व ज्ञान आवश्यक माना जाता है। लिङ् लकार विधि अर्थ में होता है और विधि का अर्थ है प्रेरणा तो प्रेरणा से जो श्रोता में प्रवृत्ति होगी उसके लिए श्रोता को उपर्युक्त तीनों ज्ञानों का होना आवश्यक होता है। अतः नैयायिकों ने विधि काअर्थ - बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्ट इष्टसाधनत्व को माना है। अब "न कलञ्जंभक्षयेत्" यहाँ पर "बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनत्व रूप विध्यर्थ का प्रतियोगिता सम्बन्ध से नञर्थ अभाव में अन्वय होता है और उस बलवदनिष्टाननुवन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव का, आधेयता रूप भेद सम्वन्ध से भक्ष् धात्वर्थ भक्षण में अन्वय होता है तो बलवदनिष्टांननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनत्वाभाववत् कलञ्जभक्षणम्" ऐसा शाब्दबोध होता है। प्रभाकर (गुरू) मत में तो विधि का अर्थ अपूर्व माना जाता है और भक्ष् धात्वर्थ भक्षण का प्रतियोगिता सम्बन्ध से नञ् रूप प्रातिपदिक के अर्थ अभाव मे, अन्वय होता है और उस भक्षणाभाव का जन्यता सम्बन्ध से विध्यर्थ अपूर्व में अन्वय होता है तो "कलञ्जभक्षणाभावजन्यमपूर्वम्" ऐसा शाब्दबोध होता है। पश्चात् कलञ्जभक्षणाभाव में अपूर्वजनकत्व (साधनत्व) कलञ्जभक्षण में अनिष्टसाधनत्व के बिना अनुपपन्न है। अतः इस अर्थापत्तिप्रमाण के बल से कलञ्जभक्षण में अनिष्टसाधनत्व का ज्ञान होने से व्यक्ति कलञ्जभक्षण से निवृत्त होता है। अस्तु। उपर्युक्त दोनों मतों में जो शाब्दबोध होता है, उनमें प्रत्येक में चाहे अभाव के साथ धात्वर्थ का अनुयोगिता सम्बन्ध से अन्वय हो या प्रतियोगिता सम्बन्ध से, हैं तो ये दोनों भेद सम्बन्ध ही, जो कि धात्वर्थ और प्रातिपदिकार्थ का साक्षात् सम्बन्ध है। यह प्रातिपदिकार्थ तथा धात्वर्थ का साक्षात् भेद सम्बन्ध से अन्वय, उपर्युक्त नियम में निपातातिरिक्तत्व विशेषण लगाने से व्युत्पत्तिविरूद्ध नहीं है। अतः भट्टाचार्य ने कहा नक्षतिः। क्योंकि उपर्युक्त "निपातातिरिक्तनामार्थयोः क्रियातादृशप्रातिपदिकार्थयोश्च भेदेन साक्षादन्वयस्याव्युत्पन्नत्वम्" इस नियमानुसार जो कार्यकारणभाव ज्ञानरूप व्युत्पत्ति होती है। वह है -

भेदसंसर्गावच्छिन्न - प्रातिपदिकार्थ - धात्वर्थान्यतरनिष्ठ प्रकारता - निरूपति विशेष्यतासम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति प्रत्यय - निपातान्यतर जन्योपस्थितिः कारणम्। तो उपर्युक्त सभी स्थलों पर निपातजन्य अभाव या सादृश्य रूप पदार्थ की उपस्थिति रूप कारण के रहने से शाब्दबोध होता है। क्षति तो तब होगी जबकि कारण के नहीं रहने पर भी कार्य हो जाता या कारण के होने पर भी कार्य नहीं होता। यहाँ तो उपस्थिति रूप कारण भी है और शाब्दबोध रूप कार्य भी होता है तो क्षति कैसी ?

एक प्रातिपदिकार्थ का दूसरे प्रातिपदिकार्थ के साथ भेद सम्बन्ध से साक्षात् अन्वय होना व्युत्पत्ति विरूद्ध होने से राज्ञः पुरूषः इत्यादि असमासस्थल में तो ङस् विभक्त्यर्थ को सम्बन्धकुक्षि में प्रवेश करके अन्वय हो जाएगा कोई आपत्ति

नहीं होगी, परन्तु समासस्थल में तो विभक्ति रहती नहीं तो किसके अर्थ को, अन्तराकृत्य = सम्बन्धकुक्षि में प्रवेश करेंगे और दोनों प्रातिपदिकार्थों का भेदान्वय करेंगे? इसी जिज्ञासा के उपशमन के लिए भट्टाचार्य कहते हैं -

राजपुरुष इत्यादिसमासस्थले तु पुरूषादिपदार्थेन समं राजादिपदार्थस्य न भेदान्वयबोधः, किन्तु तेन समं विभक्त्यन्तार्थविशिष्टलाक्षणिक राजादिपदोपस्थाप्यराजसम्बन्ध्यादेरभेदान्वय-बोध एवेति न दोषः। एवं मुखं चन्द्र इत्यादिरूपकस्थले चन्द्रादिपदस्य चन्द्रादिसदृशलक्षणया चन्द्रादिसदृशाभेदान्वय बोध एव, न तु सादृश्यादिसम्बन्धेन चन्द्रादेः मुखादावन्वय इति न तत्र व्यभिचारः।

"राजपुरूषः" इत्यादिसमासस्थल में तो "पुरूष" आदि पदार्थ के साथ "राज" आदि पदार्थ का भेदान्वय बोध होता ही नहीं। तात्पर्य यह है कि पहले आशंका जो की गई थी कि "समासस्थल में विभक्ति के लुप्त हो जाने से विभक्त्यर्थ को सम्बन्धघटक बनाकर भेद सम्बन्ध से प्रातिपदिकार्थों का परस्पर अन्वय कैसे हो पाएगा? भट्टाचार्य इस आशंका का यह कहकर समाधान करते हैं कि ऐसे स्थलों में भेदान्वय कैसे हो पाएगा? इसकी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि समास स्थल में एक प्रातिपदिकार्थ का दूसरे प्रातिपदिकार्थ में भेद सम्बन्ध से अन्वय होता ही नहीं है। जैसे राजपुरूषः" में राजपदार्थ का पुरूष पदार्थ में भेद सम्बन्ध से अन्वय होता ही नहीं। अपितु विभक्त्यन्त = षष्ठ्यन्त राज्ञः, का जो अर्थ = राजसम्बन्ध, उससे विशिष्ट = राजसम्बन्धविशिष्ट अर्थात् राजसम्वन्धी, उस अर्थ में लाक्षणिक राजादिपदोपस्थाप्य = राजसम्बन्धी रूप लक्ष्य अर्थ में लाक्षणिक जो (समास घटक) राज पद, उसके द्वारा लक्षणावृत्ति के द्वारा उपस्थापित जो, राजसम्बन्ध्यादि = राजसम्बन्धी आदि (लक्ष्यार्थ) का, तेन समं = पुरूष पदार्थ के साथ, अभेदान्वय बोध एव= अभेदान्वय बोध ही, होता है। इति न दोषः = इस प्रकार कोई दोष नहीं।

तात्पर्य यह निकला कि "राजपुरूषः" इस समास स्थल में राज पद, षष्ठयन्त राज्ञः पद का जो अर्थ राज सम्बन्ध होता है उससे विशिष्ट राजसम्बन्धी अर्थ में लाक्षणिक है। राजपुरूषः में चूँकि षष्ठीतत्पुरूष राज्ञः पुरूषः इस लौकिक अर्थ में समास हुआ है। अतः लौकिक विग्रह वाक्य में राज्ञः पद का जो अर्थ है राजसम्बन्ध, उससे विशिष्ट राजसम्बन्धी अर्थ में, राजपुरुष इस समास घटक राजपद लाक्षणिक है। इस प्रकार राज पद के द्वारा लक्षणया उपस्थाप्य जो राजसम्बन्धी रूप प्रातिपदिकार्थ है उसका, पुरूष रूप प्रातिपदिकार्थ के साथ अभेदान्वय बोध ही होता है "राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरूषः" इस आकार का। भेदान्वयबोध तो होता ही नहीं, पुनः विभक्त्यर्थ प्रतिपादक विभक्ति के नहीं होने से भी कोई दोष नहीं। अब प्रश्न यहाँ यह हो सकता है कि समस्त वाक्य का अर्थ तथा वहाँ के लौकिक विग्रह

वाक्य के अर्थ समान होते हैं। ऐसी स्थिति में राजपुरूषः में अभेदान्वय बोध की उपपत्ति के लिए यदि राज पद की लक्षणा राज सम्बन्ध में न करके, राज सम्बन्धी में करेंगे तो राजपुरूषः इस समस्त वाक्य का अर्थ होगा राजसम्बन्ध्यभिन्न पुरूष, जबकि वहाँ के लौकिक विग्रह वाक्य राज्ञः पुरूषः का अर्थ होगा राजसम्बन्धवान् पुरूषः अथवा राजनिरूपतिस्वत्ववान् पुरुषः। इस तरह यहाँ पर समास और वाक्य के अर्थों में असमानता हो जाएगी। अतः राज्ञः पद की लक्षणा राज सम्बन्ध में ही कीजिए चिन्तामणिकार गङ्गेशोपाध्याय ने भी ऐसा ही माना है और राज पदार्थ का भेद सम्बन्ध से पुरूष पदार्थ में अन्वय किया है। इस पर गुरूचरणों का कथन है कि समास तथा वाक्य के अर्थ सर्वत्र समान ही होवें ऐसा कोई नियम नहीं है। पीताम्बर आदि बहुब्रीहि समास स्थल में समास तथा विग्रह वाक्यों के अर्थ में भिन्नता देखी जाती है। पीतमम्बरं यस्य का अर्थ है यत्सम्बन्धी पीताऽभिन्न अम्बर, जबकि पीताम्बर इस समस्त वाक्य का अर्थ "पीताभिन्न अम्बरवान्" है। इसलिए विग्रह वाक्यार्थ की समानता के लिए राजपद की राजसम्बन्ध में लक्षणा नहीं माननी चाहिए अपितु राजसम्बन्धी में।

अब रही बात चिन्तामणिकार की, तो इस प्रसङ्ग में यह बात ध्यान में रखें कि चिन्तामणिकार का ग्रन्थ आकर है रत्नाकर (समुद्र) है। तो जैसे रत्नाकर में दोषयुक्त रत्न भी होते हैंऔर दोष रहित भी। वैसे चिन्तामणिकार के ग्रन्थ में भी ऐसे बहुत से रत्न है। उनमें देखना यह चाहिए कि कौनसा तत्व रत्न निर्दुष्ट है या अपेक्षाकृत बहुमूल्य है। तो यदि राजपद की राजसम्बन्ध में लक्षणा मानें तो उस लक्ष्यार्थ का पुरूष पदार्थ के साथ भेदान्वय करने के लिए लुप्तविभक्ति के अर्थ का अनुसन्धान करना पड़ेगा और उसे सम्बन्ध घटक बनाना होगा। यह गौरव होगा। अतः जब लक्षणा करनी ही है तो ऐसे अर्थ में करो, जिससे किसी दूसरे अर्थ की पुनः आवश्यकता न रहे अन्वय करने में इसमें लाघव है। अतः राजसम्बन्धी अर्थ में ही राजपद की लक्षणा करनी चाहिए। अस्तु।

"मुखं चन्द्रः" इस रूपक स्थल में भी जहाँ कि इव पद का प्रयोग नहीं है मुख रूप प्रातिपदिकार्थ में चन्द्ररूप प्रातिपदिक के अर्थ (लक्ष्यार्थ) का अभेदान्वय बोध ही होता है।अतः यहाँ भी निपातजन्य पदार्थोपस्थिति रूप कारणाभाव के रहने पर भी व्यभिचार दोष नहीं होता है। क्योंकि उपर्युक्त निपातपदजन्यपदार्थोपस्थिति रूप कारण का कार्य है - भेदान्वय बोध, न कि अभेदान्वय बोध।इसलिए जब यहाँ भेदान्वयबोध रूप कार्य ही नहीं हो रहा है तो कारण यदि नहीं है तो व्यभिचार दोष कैसा? अर्थात् नहीं होगा। अस्तु।

मुखं चन्द्रः में चन्द्र पद की चन्द्रसदृश में लक्षणा करके "चन्द्रसदृशाऽभिन्नंमुखम्" ऐसा अभेदान्वय बोध होता है, न कि सादृश्यसम्बन्ध से चन्द्रपदार्थ का मुख पदार्थ में। मुखं चन्द्र इव की तरह चन्द्रसादृश्यवन्मुखम्।

परन्तु नैयायिकों के उपर्युक्त मतानुसार "मुखं चन्द्र इव" इस उपमास्थल में भी चन्द्र का सादृश्य मुख में बोधित होगा और मुखं चन्द्रः इस रूपक स्थल में भी। क्योंकि "चन्द्रसादृश्यवन्मुखम्" या "चन्द्रसदृशाभिन्नमुखम्" इन दोनों में कोई विशेष अन्तर तो है ही नहीं। दोनों ही बोधों में चन्द्रमा का सादृश्य मुख में प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार उपमा तथा रूपक अलङ्कारों में कोई अन्तर ही नहीं रहा? अतः आलङ्कारिक लोगों के मत का उल्लेख करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं -

केचित्तु रूपकस्थले चन्द्रादिपदस्य न चन्द्रदादिसदृशे लक्षणा, किन्तु मुख्यार्थचन्द्रादेरेवाभेदभ्रमो मुखादौ। मुखं न चन्द्र इत्यादिविशेषदर्शनदशायां च न तत्र शाब्दोऽभेदप्रत्ययोऽपितु शब्दजन्यविशकलितपदार्थोपस्थितिमूलको मानस एवाहार्याभेदभ्रम इत्याहुः।

कुछ लोग (आलङ्कारिक) तो मुखं चन्द्रः इत्यादि रूपक स्थल में चन्द्र आदि उपमान वाचक पद की चन्द्रसदृश अर्थ में लक्षणा नहीं मानते, अपितु चन्द्रपद का जो मुख्य अर्थ चन्द्रमा है उसी का अभेद भ्रम मुख में होता है, ऐसा मानते हैं। परन्तु तब प्रश्न होता है कि भ्रम तो उत्तरकाल में होने वाले यथार्थ निश्चय से बाधित हो जाने वाले ज्ञान को कहते हैं। ऐसी स्थिति में जब व्यक्ति आकाश में उगे हुए चन्द्रमा को तथा अपने सामने बैठी नायिका के मुख को भिन्न-भिन्न देखेगा तो उसे मुखं न चन्द्रः ऐसा बाध निश्चय होगा उस समय उसे मुखं चन्द्रः इस वाक्य से मुख में चन्द्रमा का अभेदभ्रमात्मक शाब्दबोध नहीं होना चाहिए। इस आपत्ति का निराकरण करते हुए आलङ्कारिक कहता है कि - जिस समय मुखं न चन्द्रः ऐसा विशेष दर्शन (ज्ञान) होता है उस समय चन्द्राऽभिन्नं मुखम् ऐसा भ्रमात्मक अभेद ज्ञान जो होता है वह शाब्दबोध रूप नहीं होता, अपितु चन्द्र पद से चन्द्रमा रूप अर्थ की तथा मुख पद से मुख रूप अर्थ की विशकलित अर्थात् परस्पर सम्बन्धरहित ही उपस्थिति होती है और इस विशकलितपदार्थोपस्थिति के कारण चन्द्राऽभिन्नं मुखम् ऐसा आहार्यमानसभ्रम होता है। चूँकि बाधनिश्चय दशा में होने वाला यह चन्द्राऽभिन्नं मुखम्" यह ज्ञान आहार्य मानस बोध रुप है। अतः यह बाधनिश्चय से बाधित नहीं होता, क्योंकि आहार्यज्ञान किसी ज्ञान का प्रतिबध्य नहीं होता। अतः बाधनिश्चय होने पर भी उपर्युक्त अभेदान्वय बोध हो जाता है, ऐसा वे लोग कहते हैं।

भट्टाचार्य इत्याहुः कहकर आलङ्कारिकों के उपर्युक्त मत में अपनी अरूचि दिखाते हैं। जिसका बीज गुरूपरम्परा में यह बताया जाता है कि यदि मुखं चन्द्रः में चन्द्रमा और मुख के अभेद ज्ञान से ही चमत्कार का अनुभव होता है जो कि सहृदय हृदय संवेद्य ही होता है, तो पुनः उस अभेदबोध को शाब्दबोध ही मानना चाहिए आहार्यभ्रम नहीं। कयोंकि "यह अर्थ सुना, सुना हुआ यह अर्थ चेतस् को चमत्कृत कर रहा है" ऐसा सहृदय के अनुभव रूप प्रमाण के आधार

पर श्रु धातु का शाब्दबोध रूप अर्थ है यह बात "श्रोतव्यो मन्तव्यो" इत्यादि श्रुति की व्याख्या के प्रसङ्ग में विद्वानों ने सिद्ध किया है। इसलिए जब मुखं चन्द्रः इस वाक्य के सुनने के पश्चात् "श्रुतोऽयमर्थश्चेतश्चमत्करोति" ऐसा सहृदयों को अनुभव होता है तो इसका अर्थ है कि उन्हें जो चन्द्र का अभेद बोध मुख में हो रहा है वह शाब्दबोध रूप ही है। रही बात मुखं न चन्द्रः इस बाध निश्चय की तो "वह्निना सिञ्चति" इस बाधितार्थक वाक्य के सुनने के पश्चात् भी तो शाब्दबोध होना माना जाता ही है, अन्यथा उपर्युक्त वाक्य के प्रयोग करने वाले का "अद्रव वह्नि से सेचन क्रिया का होना कैसे कह रहे हो" ऐसा उपहास दूसरा व्यक्ति कैसे करता है। अतः यह मानना चाहिए उपहासकर्ता पुरूष को वह्निना सिञ्चति इस बाधितार्थक वाक्य से भी शाब्दबोध होता है। ऐसी स्थिति में विशेषदर्शनदशा में मुखं न चन्द्रः इस बाध ज्ञान के रहते भी मुखं चन्द्रः से अभेदान्वय बोध होता ही है, यही मानना चाहिए उसे आहार्यमानसभ्रम मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

अब रही बात उपमा और रूपक अलङ्कारों के साम्य की तो इस विषय में यह समझना चाहिए कि - उपमा तथा रूपक दोनों स्थलों में यद्यपि उपमान उपमेय का सादृश्य ही समान रूप से प्रतीत होता है। तथापि रूपक स्थल में अभेदान्वय बोध के प्रयोजक उपमानउपमेय वाचक शब्दों का समान विभक्ति होना ही उपमा स्थल में प्रतीत होने वाले सादृश्य से वैलक्षण्य का उपपादक होता है। जैसे गङ्गा तीरे घोषः और गङ्गायां घोषः में तट रूप अर्थ की प्रतीति यद्यपि समान रूप से होती है परन्तु गङ्गायां घोष से होने वाली तट अर्थ की प्रतीति में शैत्य पावनत्वादि विशेष रूप से प्रतीत होते हैं, वैसे उपमा से विलक्षण चमत्कारी सादृश्य की प्रतीति रूपक स्थल में उपमान उपमेय वाचक शब्दों के समान विभक्तिक होने से होती है।

परे तु तादात्म्यातिरिक्तसम्बन्धेन नामार्थयोर्नान्वयबोधः। तादात्म्यञ्च प्रकृते तद्वृतिधर्मवत्त्वम्। एवं च नीलो घट इत्यादौ स्ववृत्तिनीलत्वादिमत्त्वसम्बन्धेन घटाद्यंशे नीलपदार्थस्येव मुखं चन्द्र इत्यादौ स्ववृत्त्याह्लादकत्वादिमत्त्वसम्बन्धेन मुखादौ चन्द्रादेरन्वयबोधः। तादृशार्थान्वयबोधे समानविभक्तिकत्वं तन्त्रमित्यतो नातिप्रसङ्गइति वदन्ति।

कुछ लोगों का इस प्रसङ्ग में यह कथन है कि - तादात्म्य सम्बन्ध के अतिरिक्त किसी दूसरे सम्बन्ध से दो प्रातिपदिकार्थों का सम्बन्ध होता ही नहीं। अतः "मुखं चन्द्रः" इस रूपक स्थल में भी मुख प्रातिपदिकार्थ का चन्द्र प्रातिपदिकार्थ के साथ तादात्म्य सम्बन्ध से ही अन्वय होगा। इस स्थल में तादात्म्य सम्बन्ध का अर्थ है - "तद्वृत्तिधर्मवत्त्व" यहाँ तत् पद से सम्बन्ध के प्रतियोगी रूप सम्बन्धी

को लेंगे जो यथास्थल विशेषण या उपमान होंगे, उसमें वृत्ति धर्मवत्त्व अर्थात् उस विशेषण में रहने वाला धर्म वाला, विशेष्य या उपमेय का होना। तो जैसे नीलो घटः में नील रूप विशेषण में रहने वाला धर्म = नीलत्व, से युक्त घट के होने से नील का "नीलवृत्ति नीलत्ववत्त्व सम्बन्ध रूप तादात्म्य सम्बन्ध से घट में अन्वय होता है। वैसे ही मुखं चन्द्रः में भी चन्द्र प्रातिपदिकार्थ का चन्द्रवृत्ति आह्लादकत्ववत्त्व सम्बन्ध से मुख में अन्वय हो जाएगा। इस पर प्रश्न यह हो सकता है कि यदि इस प्रकार के तादात्म्य सम्बन्ध से चन्द्र का अन्वय मुख में करेंगे तो चन्द्रस्य मुखम् यहाँ भी चन्द्र पद से उपस्थित चन्द्र में रहने वाले आह्लादकत्व वाला तो मुख् है ही, तो यहां भी चन्द्र का तादात्म्य सम्बन्ध से अन्वय होने लगेगा? इस पर परेतु कहते हैं कि उपर्युक्त तादात्म्य सम्बन्ध से उन्हीं प्रातिपदिकार्थों का परस्पर अन्वय होता है जहाँ पर वे उन दोनों प्रातिपदिकार्थों का उपस्थापक दोनों प्रातिपदिक समान विभक्तिक हों। इस प्रकार कोई अतिप्रसङ्ग नहीं होगा।

भट्टाचार्य इस मत में भी "इति वदन्ति" कहकर अपना अस्वरस दिखा रहे हैं। जिसका बीज गुरूजी ने कहा था कि - प्रतियोग्यभावान्वयौ तुल्ययोगक्षेमौ इस नियमानुसार यदि मुखं चन्द्रः में चन्द्र का स्ववृत्याह्लादकत्ववच्व सम्बन्ध से अन्वय मानेंगे तो मुखं न चन्द्रः यहाँ पर चन्द्र का अभाव भी चन्द्रवृत्ति आहलादकत्ववत्व सम्बन्ध से ही मुख में मानना पड़ेगा। जो कि बाधित है। क्योंकि मुख में आह्लादकत्व तो है ही पुनः उसमें आह्लादकत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक (चन्द्र) अभाव कैसे प्रतीत हो सकता है। यदि किसी दूसरे सम्बन्ध से मुख में चन्द्र का अभाव मानें तब तो नीलं जलम् नीलं न जलम् इस प्रकार का यदि एक ही समय प्रयोग हो तो अभ्रान्तपुरूषों को भी उभयविध शाब्दबोध होना मानना पड़ेगा। इसी अस्वरस को सूचित करने के लिए भट्टाचार्य जी ने इति वदन्ति कहा है।

उपर्युक्त "तद्वृत्तिधर्मवत्त्व" सम्बन्ध के विषय में एक आपत्ति यह भी हो सकती है कि तद्वृत्ति धर्म तो तत्ही में रहेगा उपमेय या विशेष में कैसे रहेगा। नीलवृत्तिनीलत्व तो नील में ही रहेगा घट में कैसे रह सकता है। यदि कहें वहाँ तो जो नील पदार्थ है वही घट पदार्थ, तो वहाँ तो कथञ्चित् माना भी जा सकता है मुखं चन्द्रः में कैसे उपपन्न होगा? क्योंकि चन्द्रवृत्ति आह्लादकत्व तो चन्द्र में ही रहेगा, चन्द्रवृत्ति आह्लादकत्व धर्मवान् मुख कैसे होगा। इस पर यदि धर्म के आगे "सजातीय" निवेश कर दें तो कथञ्चित् उस सम्बन्ध से चन्द्र का मुख में अन्वय तो हो जाएगा, परन्तु उपर्युक्त आपत्ति रह जाएगी।

पूर्व प्रदर्शित भेद सम्बन्धावच्छिन्ननामार्थ - धात्वर्थान्यतरनिष्ठप्रकारतानिरूपित विशेष्यतासम्बन्धेन शाब्दबोधंप्रति प्रत्ययनिपातान्यतरजन्यपदार्थोपस्थितिः कारणम्" इस कार्यकारण भाव को पक्ष प्रतिपक्ष के द्वारा व्यवस्थापित करने के लिए भट्टाचार्य अग्रिम ग्रन्थ में कह रहे हैं -

अथ राजा पुरूष इत्यादौ पदार्थोपस्थित्यादिसत्त्वेन्न कथन्न भेदान्वयबोधः ? सामग्रया कार्यजनने उक्तनियमभङ्गरूपायाः प्रयोजनक्षतेरकिञ्चित्करत्वात्, सामग्रीसत्त्वे अवश्यं कार्यमिति नियमात्। न च तत्र भेदान्वयबोधौपयिकाकाङ्क्षाविरहात्, शाब्दसाम्ग्रयेवासिद्धेति-वाच्यम्। समभिव्याहाररूपाया आकाङ्क्षायास्तत्रापि सत्त्वात्।

"राजा पुरूषः इत्यादि स्थल मेंभेदान्वय की प्रयोजक सामग्री पदार्थोपस्थिति आदि के रहने पर भी भेदान्वय बोध क्यों नहीं होता? यदि कहो उपर्युक्त निपातातिरिक्तनामार्थयोः "इत्यादि नियम रूप प्रयोजन की क्षति हो जाएगी, तो सामग्री (कारण समुदाय) के रहने पर कार्य की उत्पत्ति होने से नियमरूप प्रयोजन की क्षति अकिञ्चित्कर होती है। अर्थात् नियम का भङ्ग होना सामग्री सेकार्य की उत्पत्ति होने में प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। क्योंकि सामग्री रहने पर कार्य अवश्य होता है यह नियम है। पुनः पदार्थोपस्थिति आदि सामग्री के रहते राजा पुरूषः में भेदान्वय बोध क्यों नहीं होता? इस पर सिद्धान्ती उत्तर देता है कि - भेदान्वय के लिए उपयोगी, जैसी आकाँक्षा का ज्ञान, कारण होता है, उस तरह की आकाँक्षा ही राजा पुरूषः में नहीं है, अतः वहाँ भेदान्वय बोध नहीं होता। पूर्वपक्षी कहता है - भेदान्वय बोध के लिए समभिव्याहार (पदों का समीपोच्चारण) रूप आकाँक्षा ही तो उपयोगी आकाँक्षा होती है। वह तो राजा पुरूषः में भी है ही, राज पद तथा पुरूष पद का समभिव्याहार तो है ही। पुनः वहाँ भेदान्वयबोध क्यों नहीं होता।

न च तादृशाकाङ्क्षायास्तत्र सत्त्वेऽपि राजादिपदार्थप्रकारक-भेदान्वयबोधे राजादिपदाव्यवहितोत्तरङ- स्पदत्वादिरूपानुपूर्वीविशेषरूपाया आकाँक्षाया अपि प्रयोजकत्वात्;तद- भावादेव न तत्र शाब्दसामग्रीति वाच्यम्। सम्बन्धादिविशेष्यकराजादि- प्रकारकान्वयबोध एव तांदृशाकाङ्क्षाज्ञानस्य हेतुतया, पुरूषादौ राजादिपदार्थप्रकार-कान्वयबोधोत्पत्तौ तादृशाकाँक्षाज्ञानरूपकारणविरहस्या- किञ्चित्करत्वात्।

इस पर उत्तर देते हुए पुनः कोई कहता है कि - राजा पुरूषः में पदों का समभिव्याहार रूप आकाँक्षा तो है, परन्तु उसके रहने पर भी राजादि प्रकारक भेदान्वय बोध के लिए अर्थात् जिस शाव्दबोध में राजादि पदार्थ भेद सम्बन्ध से प्रकार रूप में भासित होते हैं, ऐसे शाब्दबोध के लिए राजादि पद के अव्यवहित उत्तर में ङस् आदि विभक्ति पद का होना रूप आनुपूर्वीविशेषरूप आकाँक्षा भी प्रयोजक होती है। कहने वाले का तात्पर्य यह है कि - घटः कर्मत्वम् ऐसा घट पद तथा कर्म पद का समभिव्याहार रूप आकाँक्षा के होने पर भी और उस पदसमभिव्याहार रूप आकाँक्षा का ज्ञान होने पर भी "घटःकर्मत्वम्" से "घट

निष्ठकर्मत्वम्" ऐसा शाब्दबोध नहीं होता। जबकि "घटम्" ऐसा घटपदोत्तर अम् पदत्व रूप आनुपूर्वी विशेष रूप आकाँक्षा का ज्ञान होने पर "घटीयंकर्मत्वम्" ऐसा शाब्दबोध होता है। अतः आनुपूर्वी रूप आकाँक्षा को शाब्दबोध में प्रयोजक मानना चाहिए। ऐसी स्थिति में राजादि प्रकारक भेदान्वयबोध अर्थात् राज पदार्थ होता है भेद सम्बन्ध से विशेषण जिस बोध में, ऐसा बोध तो राजानम्, राज्ञा, राज्ञे, राज्ञः, राजनि इत्यादि सर्वत्र स्थल पर होता है।अतः यदि आनुपूर्वीज्ञान को भेदान्वयबोध के प्रति कारण माना जाएगा तो व्यभिचार दोष निश्चित ही होगा। क्योंकि यदि राजानम् इस आनुपूर्वी रूप आकाँक्षा ज्ञान रूप कारण के रहने से राजप्रकारक भेदान्वय बोध हो गया तो वहाँ पर अन्य राज्ञा राज्ञे आदि आनुपूर्वीरूपआकाँक्षाज्ञानरूप कारण का अभाव होने पर भी कार्य होने से व्यभिचार होगा। अतः उपर्युक्त व्यभिचार दोष न होवे इसलिए कर्मत्वविशेष्यक राजप्रकारक अभेदान्वय बोध के लिए राजानम् यह आनुपूर्वी विशेष कारण है, करणत्वविशेष्यकराजप्रकारक अभेदान्वय बोध के लिए "राज्ञा" यह आनुपूर्वी कारण है। ऐसा आनुपूर्वी विशेष को राज प्रकारक भेदान्वय बोध के लिए कारण मानना पड़ता है। राजा पुरूषः में समभिव्याहार रूप आकाँक्षा तो है परन्तु राजप्रकारक भेदान्वयबोध के लिए तो राज पदाव्यवहितोत्तर ङ्सादिपदत्व अर्थात् राज्ञः आदि आनुपूर्वी विशेष रूप आकाँक्षा का ज्ञान कारण होता है, जो कि नहीं है। राज प्रकारकभेदान्वय बोध के लिए "राजा" यह आनुपूर्वी विशेष कारण नहीं है, जो राजानम्, राज्ञा आदि आनुपूर्वीकारण हैं, वे नहीं है। अतः वहाँ भेदान्वय बोध नहीं होता। पूर्वपक्षी इस पर कहता है कि आपने जो अभी-अभी आनुपूर्वी विशेष रूप आकाँक्षा ज्ञान को राजप्रकारक भेदान्वय बोध के लिए कारण माना है, वह सम्बन्धादिविशेष्यक राजादि प्रकारक भेदान्वय बोध के लिए। पुरूष विशेष्यक राजादि प्रकारक भेदान्वय बोध के लिए न तो उपर्युक्त आनुपूर्वी विशेष रूप आकाँक्षा ज्ञान कारण ही है और न ही, उसके नहीं रहने से शाब्दबोध की उत्पत्ति में कोई प्रतिबन्ध माना जाना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि आनुपूर्वी विशेष को अभेदान्वय बोध के लिए पूर्व में जब कारण सिद्ध किया जा रहा था तो वहाँ यह बात कही गयी थी कि -कर्मत्व विशेष्यक राज प्रकारक भेदान्वय बोध के लिए राजानम् यह आनुपूर्वी विशेष आकाँक्षा है तो "राज्ञः" यह आनुपूर्वी भी सम्बन्ध विशेष्यक राज प्रकारक भेदान्वय बोध के प्रति ही कारण होगा। मेरा प्रश्न राजा पुरुषः में तो राज प्रकारक पुरूष विशेष्यक भेदान्वय क्यों नहीं होता है, यह है।अतः पुरूषविशेष्यक राजप्रकारक भेदान्वयबोध के लिए तो उपर्युक्त राज्ञः या राज्ञे या राजानम् इत्यादि आनुपूर्वी विशेष रूप आकाँक्षा का ज्ञान कारण ही नहीं है। तो उनका नहीं रहना राजा पुरूषः में राजप्रकारक पुरूष विशेष्यक भेदान्वय की उत्पत्ति में अकिञ्चित्कर अर्थात् अप्रतिबन्धकही हुआ न? इस प्रकार राजा पुरुषः में राज प्रकारक पुरूष विशेष्यक भेदान्वय बोध क्यों नहीं होता? यह प्रश्न रह ही गया।

इस प्रश्न का समाधान कोई करता है -

नामार्थप्रकारकभेदान्वयबोधं प्रति समानविशेष्यत्वप्रत्यासत्त्या प्रत्ययजन्योपस्थितेर्हेतुत्वकल्पनाद्; नामार्थप्रकारकभेदान्वयबोधे विशेष्यतया प्रत्ययार्थस्यैव भानं न तु नामार्थान्तरस्य। तत्र विशेष्यतासम्बन्धेन प्रत्ययजन्योपस्थितेरसत्त्वात्।

नामार्थप्रकारकभेदान्वयबोध के प्रति समानविशेष्यता सम्बन्धेन प्रत्ययजन्य उपस्थिति की कारणता की कल्पना करने से नामार्थ (प्रातिपदिकार्थ) प्रकारक भेदान्वय बोध में विशेष्य रूप से प्रत्ययार्थ का ही भान होता है, न कि दूसरे प्रातिपदिकार्थ का, क्योंकि उस दूसरे प्रातिपदिकार्थ में विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति नहीं रहती।

तात्पर्य यह है कि - पूर्व में भी निपातातिरिक्तनामार्थयोः की व्याख्या करते समय जो कार्यकारणभाव प्रदर्शित किया गया था वहाँ कहा गया था कि निपातातिरिक्तप्रातिपदिकार्थ भेद सम्बन्ध से जिस शाब्दबोध में प्रकार हो ऐसे निपातातिरिक्त प्रातिपदिकार्थ प्रकारकभेदान्वय बोध में समानविशेष्यता सम्बन्ध से, प्रत्ययजन्य उपस्थिति कारण होती है। इस कार्यकारणभाव में केवल विशेष्यता को सम्बन्ध नहीं कहकर समानविशेष्यता को सम्बन्ध कहने का तात्पर्य यह है कि विशेष्यता को कार्यतावच्छेदक तथा कारणतावच्छेदक दोनों सम्बन्ध होना चाहिए। इस तरह निपातातिरिक्तप्रातिपदिकार्थ भेद सम्बन्ध से जिस शाब्दबोध में भासित होगा, वह शाब्दबोध विशेष्यता सम्बन्ध से वहीं उत्पन्न होगा, जहाँ पर विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति होगी। ऐसी स्थिति में प्रत्ययजन्य उपस्थिति विशेष्यता सम्बन्ध से तो प्रत्ययार्थ में ही उत्पन्न हो सकती है। क्योंकि प्रत्ययजन्य उपस्थिति में प्रत्ययार्थ ही विशेष्य होता है। एवञ्च कारण रूप प्रत्ययजन्य उपस्थिति जब विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययार्थ में रहेगी तो निपातातिरिक्तप्रातिपदिकार्थ प्रकारकभेदान्वय बोध रूपकार्य भी विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययार्थ में ही होगा न किकिसी दूसरे प्रातिपदिकार्थ में। अतः निपातातिरिक्तनामार्थ प्रकारक भेदान्वय बोध में विशेष्य रूप से प्रत्ययार्थ ही भासित होता है, क्योंकि विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति रूप कारण प्रत्ययार्थ में ही रहता है। न कि कोई दूसरा प्रातिपदिकार्थ, क्योंकि उस प्रातिपदिकार्थ में प्रत्ययजन्य उपस्थिति रूप कारण विशेष्यता सम्बन्ध से नहीं रहता।

न च सम्बन्धादेरपि नामार्थतया तत्प्रकारकान्वयबोधे पुरुषादिपदार्थस्य विशेष्यतया भानानुपपत्तिः, तत्तन्नामपदजन्यनामार्थ-प्रकारकशाब्दबोधत्वावच्छिन्नं प्रति प्रत्ययजन्योपस्थितित्वेन हेतुत्वेऽपि, राजसम्बन्धः प्रमेयः राज्ञः पुरुषः इत्येतादृशवाक्यद्वय-जन्यवाक्यार्थद्वयान्वयबोधे पुरुषस्य राजसम्बन्धविशेष्यतया भानानुपपत्तिरिति

वाच्यम्। प्रत्ययाधीनतत्तत् पदार्थोपस्थित्यजन्यतत्तदर्थप्रकारक-शाब्दत्वावच्छिन्नं प्रत्येव प्रत्ययजन्योपस्थितेः समानविशेष्यताप्रत्यासत्त्या हेतुत्वोपगमात्।

ऊपर बताया गया है कि भेद सम्बन्ध की प्रकारता यदि प्रातिपदिकार्थ में रहेगी तो विशेष्यता उसी प्रातिपदिक के आगे आये प्रत्यय के अर्थ में ही रहेगी किसी दूसरे प्रातिपदिकार्थ में नहीं। परन्तु राज्ञः पुरूषः यहाँ पर षष्ठी विभक्ति ङ्स् का जो अर्थ सम्बन्ध है वह "सम्बन्ध" इस प्रातिपदिक का भी तो अर्थ है। इस प्रकार सम्बन्ध रूप अर्थ में जैसे ङ्स् विभक्त्यर्थत्व है वैसे ही सम्बन्ध रूप प्रातिपदिकार्थत्व भी तो है ही।अतः राज्ञः पुरूषः में ङ्स् विभक्तिका अर्थ जो सम्बन्ध या स्वत्व प्रकार रूप से पुरूष रूप प्रातिपदिकार्थ में अन्वित होता है।आपके उपर्युक्त नियम के कारण नहीं हो पाएगा। क्योंकि पुरूष रूप प्रातिपदिकार्थ में विशेषण रूप से अन्वित होने वाले स्वत्व या सम्बन्ध में स्वत्व या सम्बन्ध इस प्रातिपदिक का अर्थत्व भी है, तो सम्बन्ध रूप प्रातिपदिकार्थ प्रकार का भेद सम्बन्ध से पुरूष रूप दूसरा प्रातिपदिकार्थ विशेष्य नहीं हो पाएगा। जबकि वहाँ पर राजनिरूपित सम्बन्धवान् पुरूषः या राजनिरूपित स्वत्ववान् पुरूषः इस प्रकार के होने वाले शाब्दबोध में स्वत्व रूप प्रकार का विशेष्य रूप से पुरूष भासित होता है। इस पर आपत्ति का वारण करने के लिए यदि कहा जाए कि - प्रातिपदिक पद से उपस्थित जो प्रातिपदिकार्थ उसमें रहने वाली जो प्रकारता उस प्रकारताशाली भेदान्वय बोध के प्रति विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति कारण होती है। राज्ञः पुरूषः में स्वत्व प्रकारक जो भेदान्वय बोध हो रहा है उसमें प्रकार रूप में भासित होने वाला "स्वत्व" प्रातिपदिकपदजन्य नहीं है अपितु ङ्स् विभक्ति जन्य है।अतः ऐसे स्वत्व रूप सम्बन्ध प्रकारक भेदान्वय बोध में प्रत्यय जन्य उपस्थिति कारण नहीं है।अतः पुरूषपद जन्य पुरूष में भी प्रत्ययजन्य उपस्थिति विशेष्यता सम्बन्ध से नहीं रहने पर भी विशेष्यता सम्बन्ध से शाब्दबोध होता है। राजा पुरूषः में तो प्रकार रूप से भासित होने वाला राज पदार्थ राजन् प्रातिपदिक जन्य है।अतः तत्प्रकारक भेदान्वयबोध के लिए विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति आवश्यक है जो कि नहीं है।क्योंकि विशेष्यता सम्बन्ध से उपस्थित होने वाला पुरूष प्रत्ययजन्य नहीं है अपितु पुरूष रूप प्रातिपदिक जन्य है।

परन्तु प्रातिपदिकजन्यप्रातिपदिकार्थ प्रकारक भेदान्वयबोध के प्रति यदि समान विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्यप्रत्ययार्थोपस्थिति को आवश्यक मानोगे तो -

"राजसम्बन्धः प्रमेयः, राज्ञः पुरूषः" इन दो वाक्यों के अर्थों का जो अन्वयबोध (समूहालम्बन भेदान्वयबोध) होता है उसमें पुरूष में राजसम्बन्ध रूप प्रकार की विशेष्यता नहीं भासित हो पाएगी। तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त दोनों वाक्यों में "राज्ञः" इसमें आये हुए राजन् पद का अर्थ है राज और षष्ठी विभक्ति काअर्थ है सम्बन्ध, तो प्रकृत्यर्थ राज का निरूपितत्व रूप भेद सम्बन्ध से विभक्त्यर्थ

सम्बन्ध में अन्वय होता है, पश्चात् प्रकृत्यर्थान्वित इस विभक्त्यर्थ सम्बन्ध का पुरूष प्रातिपदिकार्थ में अन्वय होता है। अब यह नहीं हो पाएगा। क्योंकि आपने उपर्युक्त नियम में कहा है कि नाम पद जन्य नामार्थ प्रकारक भेदान्वय के प्रति प्रत्ययजन्य उपस्थिति कारण होती है। उपर्युक्त शाब्दबोध में राजपदोत्तरआयी ङस् विभक्ति का अर्थ "सम्बन्ध" जो कि प्रकारविधया पुरूष में भासित हो रहा है वह भी नाम पद जन्य है।क्योंकि उपर्युक्त समूहालम्बनात्मक शाब्दबोध में "राज सम्बन्ध" इस प्रातिपदिक से भी तो राज सम्बन्ध रूप अर्थ उपस्थित होकर भासित हो रहा है। तो प्रकार विधया भासित होने वाला "राजसम्बन्ध" राजसम्बन्ध रूप प्रातिपदिक का अर्थ है। अतः राजसम्बन्धवान् पुरूषः यह भेदान्वयबोध भी प्रातिपदिक (राजसम्बन्ध रूप प्रातिपदिक) जन्य प्रातिपदिकार्थप्रकारक ही है तो यहाँ भी विशेष्यतासम्बन्ध से प्रत्यय जन्य उपस्थिति कारण होगी। जो कि नहीं है। विशेष्यतया उपस्थित पुरूष रूपअर्थ प्रत्ययजन्य नहीं है। अतः यहाँ विशेष्यता सम्बन्ध से राज सम्बन्ध प्रकारक पुरूष विशेष्यक भेदान्वय बोध नहीं हो पाएगा। अतः नामपदजन्य नामार्थप्रकारक भेदान्वय के प्रति समान विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति को कारण नहीं मानना चाहिए एवं च जब ऐसा नहीं मानते हैं तो राज़ा पुरूषः में भी भेदान्वय वोध होना चाहिए।

उपर्युक्त आपत्ति का वारण करने के लिए केचित्तु कहता है कि -प्रत्यय के अधीन नहीं है उपस्थिति जिस पदार्थ की, ऐसे पदार्थ की उपस्थिति से अजन्य तदर्थ प्रकारक जो भेदान्वय उसी के लिए समानविशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति कारण होती है। तात्पर्य यह है कि - जिस भेदान्वय में प्रकार रूप में भासित होने वाले अर्थ की उपस्थिति प्रत्यय के अधीन नहीं हो अर्थात् प्रत्यय जन्य नहीं हो ऐसा पदार्थ यदि प्रकार रूप से भेदान्वय में भासित होगा तो ऐसे भेदान्वय के लिए ही समानविशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य की उपस्थिति को कारण मानेंगें। राज़सम्बन्धः प्रमेयः राज्ञः पुरूषः इन दोनों वाक्यों के अर्थों का जो समूहालम्बनात्मक भेदान्वय बोध होता है, जिसमें राजसम्बन्धप्रकारविधया भासित होता है, उस राजसम्बन्ध रूप पदार्थ की उपस्थिति ङस् प्रत्यय के अधीन उपस्थिति वाले "सम्बन्ध" रूप अर्थ से जन्य है अर्थात् ङस् प्रत्यय जन्य भी है। अतः यहाँ समान विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति कारण ही नहीं मानी जाएगी, तो उसके नहीं रहने से भी कोई क्षति नहीं। राजसम्बन्धप्रकारक पुरूषविशेष्यक भेदान्वय बोध हो जाएगा। राजा पुरुषः में प्रकार रूप में भासित होने वाला राज पदार्थ प्रत्ययाधीनपदार्थोपस्थिति से अजन्य ही है। अतः वहाँ प्रत्ययजंन्य उपस्थिति कारण होगी, जो कि नहीं है। अतः वहाँ राजप्रकारक भेदान्वय बोध नहीं होता।

अथैवमपि यत्र राजापुरुष इत्यत्र पुरुषपदाधीनपुरुषोपस्थितौ प्रत्ययवशात् कश्चित्प्रत्ययार्थोऽपि विषयीभूतः तत्र प्रत्ययजन्यतथा-

विधसमूहालम्बनोपपस्थितेर्विशेष्यतासम्बन्धेन पुरुषेऽपि सत्त्वात्तस्य राजप्रकारकान्वयबोधे विशेष्यतया भानापत्तिर्दुवारैव।

प्रत्ययजन्यपदार्थोपस्थिति से अजन्य पदार्थनिष्ठप्रकारता से निरूपित विशेष्यतासम्बन्ध से भेदान्वय बोध के प्रति समानविशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्यय जन्य उपस्थिति को कारण मानने पर भी जब किसी को राजा पुरूषः यहाँ पर पुरूष पद से पुरूष पदार्थ की होने वाली उपस्थिति में ही, पुरूषपदोत्तर आये "सु" प्रत्यय के कारण सुप्रत्ययार्थ एकत्व भी भासित हो जाए, वहाँ पर सुप्रत्यय से जन्य जो "पुरूषः एकत्वञ्च" ऐसी समूहालम्बनात्मक उपस्थिति होगी वह समूहालम्वन उपस्थिति विशेष्यता सम्बन्ध से पुरूष में भी रहेगी तो राजप्रकारक भेदान्वय बोध में पुरूष का विशेष्य रूप में भासित होना दुर्वार ही होगा।

तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त राजा पुरूषः में जो राजपदार्थ प्रकार रूप से शाब्दबोध में भासित होगा, वह राजपदार्थ, प्रत्ययजन्य पदार्थोपस्थिति से तो अजन्य है ही, तो प्रत्ययजन्य पदार्थोपस्थित्यजन्य राजपदार्थनिष्ठ प्रकारता निरूपित विशेष्यता पुरूष पदार्थ में भी रहेगी। क्योंकि पुरूष पद से होने वाली पुरूष पदार्थ की उपस्थिति में ही सु प्रत्यय के कारण एकत्व के भी भासित होने से सु प्रत्यय से "पुरूषः एकत्वञ्च" यह समूहालम्वनात्मक उपस्थिति हो रही है तो यह समूहालम्बनात्मक उपस्थिति प्रत्ययजन्य भी है और प्रत्यय जन्य इस समूहालम्बनात्मक उपस्थिति की विशेष्यता जैसे एकत्व में है वैसे ही पुरूष पदार्थ में भी है। तो विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति पुरूष में रहेगी तो उपर्युक्त प्रत्ययाधीन पदार्थोपस्थित्यजन्यराजनिष्ठप्रकारताक भेदान्वय भी विशेष्यता सम्बन्ध से पुरूष पदार्थ में रहेगा। इस प्रकार राज प्रकारक भेदान्वय में विशेष्य रूप से पुरूष का भान दुर्वार ही हो गया।

नचप्रत्ययजन्यतावच्छेदकीभूतविशेष्यतासम्बन्धेनोपस्थितेर्हेतुत्वोपगमान्नानुपपत्तिः, तादृशसमूहालम्बनोपस्थितिनिरूपितपुरूषनिष्ठविशेष्यताया नाम्न एव जन्यतावच्छेदकत्वादिति वाच्यम्। ज्ञानभेदेन विशेष्यताभेदाभावात्। यत्र कुत्रचित् प्रत्ययादेव लक्षणादिना पुरूषाद्युपस्थितिस्तत्र तादृशोपस्थितिनिरूपितप्रत्ययजन्यतावच्छेदकीभूतविशेष्यतातः पुरूषादिपदजन्य पुरूषाद्युपस्थितिविशेष्यताया अभिन्नतया तावताऽपि उक्तातिप्रसंग वारणासंभवादितिचेत्।

उपर्युक्त आपत्ति के वारण का प्रयास करते हुए कोई कारणतावच्छेदक विशेष्यतासम्बन्ध को परिष्कृत करते हुए कहता है कि - यदि प्रत्ययजन्यतावच्छेदकीभूतविशेष्यतासम्बन्ध से उपस्थिति को तादृशप्रातिपदिकार्थप्रकारकभेदान्वय के प्रति कारण मानें तो उपर्युक्त आपत्ति नहीं आएगी। क्योंकि राजा पुरूषः में जो "पुरूषः एकत्वञ्च" यह समूहालम्बनात्मक उपस्थिति होती है। उस उपस्थिति से

निरूपित विशेष्यता दो में रहती है - एक पुरूष में तथा दूसरा एकत्व में। इन दोनों विशेष्यताओं में से पुरूष में रहने वाली विशेष्यता प्रत्ययजन्यता की अवच्छेदिका विशेष्यता नहीं है क्योंकि पुरूष पदार्थ की उपस्थिति प्रत्ययजन्य नहीं है .वह तो पुरूष इस प्रातिपदिक से जन्य है। अतः पुरूष इस प्रातिपदिक जन्यता की अवच्छेदिका ही है समूहालम्बन उपस्थिति में रहने वाली पुरूषनिष्ठविशेष्यता। इस प्रकार जब पुरूषनिष्ठविशेष्यता प्रत्ययजन्यता की अवच्छेदिका नहीं है तो प्रत्ययजन्यतावच्छेदकीभूत विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति भी पुरूष पदार्थ में नहीं रहेगी तो उसमें उपर्युक्त राज प्रकारक भेदान्वय भी विशेष्यता सम्बन्ध से नहीं रहेगा तो राजा पुरूषः में राज प्रकारक भेदान्वय में विशेष्यरूप से पुरूष पदार्थ भासित नहीं होगा।

आपत्ति के वारण के उपर्युक्त प्रयास का खण्डन करते हुए कोई कहता है कि - ज्ञान के भेद से विषयता भिन्न नहीं होती। इसलिए यदि कहीं पर जैसे राज्ञः पुरूषः यहाँ के राज्ञः में सुनाई पड़ने वाली ङस् विभक्ति से ही स्वारसिकलक्षणावृत्ति से पुरूष पदार्थ की उपस्थिति किसी को हो जाए तो उस उपस्थिति की विशेष्यता पुरूष में रहेगी और वह पुरूष में रहने वाली विशेष्यता प्रत्ययजन्यता की अवच्देदिका तो होगी ही। इस तरह ङस् प्रत्यय के द्वारा लक्षणा से उपस्थित पुरूष पदार्थ में रहने वाली प्रत्ययजन्यता की अवच्देदिका उपस्थितीय विशेष्यता और "पुरूष" इस प्रातिपदिक से अभिधा से उपस्थित पुरूष पदार्थ में रहने वाली उपस्थितीय विशेष्यता, अभिन्न है। क्योंकि पहले कहा जा चुका है ज्ञान के भेद से विशेष्यता भिन्न नहीं होती। इस प्रकार लक्षणया ङस् प्रत्यजन्य पुरूषपदार्थोपस्थितिनिष्ठ प्रत्ययजन्यता की अवच्छेदक पुरूषनिष्ठविशेष्यता और पुरूषपद जन्योपस्थिति की पुरूषनिष्ठविशेष्यता जब अभिन्न हो गयी तो पुरूष पद जन्य पुरूषोपस्थिति की पुरूषनिष्ठ विशेष्यता भी प्रत्ययजन्यतावच्छेदक विशेष्यता हो गयी। इसलिए कारणतावच्छेदक सम्बन्ध प्रत्ययजन्यतावच्छेदकीभूतविशेष्यता को मानने पर भी उपर्युक्त आपत्ति का वारण नहीं हो पाएगा। क्योंकि राजा पुरूषः में समूहालम्बनात्मक उपस्थिति में रहने वाली पुरूषनिष्ठविशेष्यता भी प्रत्ययजन्यतावच्छेदकीभूतविशेष्यता हो गयी तो इस प्रत्ययजन्यतावच्छेदकीभूतविशेष्यता सम्बन्ध से उपस्थिति पुरूष में भी रह जाएगी तो वहाँ पर राज प्रकारक भेदान्वय हो ही सकता है।

ऊपर में पुरूषनिष्ठ विशेष्यता को प्रत्ययजन्यतावच्छेदिका नहीं होगी यहजो बार-बार कहा गया उसका अर्थ यह है कि -

"पुरूषः एकत्वञ्च" यह समूहालम्बन उपस्थिति प्रत्ययजन्य है तो इस उपस्थिति में प्रत्ययजन्यता भी है और पुरूषनिष्ठविशेष्यता रूप विषयता भी है। इस प्रकार एक ही उपस्थितिरूप धर्मी में दो धर्म (1) प्रत्ययजन्यता, तथा (2) दूसरा विशेष्यता, रहते हैं। इस प्रकार, उपस्थिति में रहने वाले उन दो धर्मों में से एक विशेष्यतारूप

धर्म, दूसरे प्रत्ययजन्यता रूप धर्म काअवच्छेदक होगा। इसी को मूल में कहा गया प्रत्ययजन्यतावच्छेदकविशेष्यता।

अब यहाँ यह बात खटकती है कि जब उपस्थिति में पुरूषनिष्ठ विशेष्यता भी है तो पुनः उसे उपस्थिति में रहने वाली प्रत्ययजन्यता का अवच्छेदक क्यों नहीं माना, भले ही उसकी उपस्थिति पुरूषपदजन्य हो; तो यहाँ यह समझना चाहिए कि उक्त समूहालम्बन उपस्थिति से निरूपित विशेष्यता जैसे दो है एक पुरूषनिष्ठ विशेष्यता तथा दूसरी एकत्वनिष्ठ विशेष्यता, वैसे ही उक्त समूहालम्बन उपस्थिति में जन्यता भी दो है एक सुप्रत्ययजन्यता तथा दूसरे पुरूष प्रातिपदिकजन्यता। अब उपस्थिति में रहने वाली सुप्रत्ययजन्यता की अवच्छेदिका विशेष्यता, उस उपस्थिति से निरूपित एकत्वनिष्ठ विशेष्यता ही होगी क्योंकि एकत्व जो उपस्थिति में विशेष्यतया भासित होगा वह सुप्रत्यय जन्य होने के कारण ही। पुरूषनिष्ठ विशेष्यता तो पुरूषपद जन्यता की ही अवच्छेदिका हो सकती है, उपस्थिति में रहने वाली प्रत्ययजन्यता का नहीं। इसलिए पहले पुरूषनिष्ठविशेष्यता को उपस्थितीय प्रत्ययजन्यता का अनवच्छेदक मानकर उसमें विशेष्यता सम्बन्ध से उपस्थिति का अभाव दिखाकर उसमें भेदान्वय का वारण किया था। पश्चात् "ज्ञानभेदेन न विशेष्यता भेदः" इस सिद्धान्तानुसार राज्ञः आदि स्थल में ङस् प्रत्यय से लक्षणया पुरूषपदार्थोपस्थिति मानकर वहाँ की पुरूषनिष्ठ विशेष्यता के प्रत्ययजन्यतावच्छेदक होने के कारण उससे अभिन्न राजा पुरूषः में अभिधया उपस्थित पुरूष पदार्थ निष्ठ विशेष्यता को प्रत्ययजन्यतावच्छेदक विशेष्यता मानकर आपत्ति को पुनः दृढ़ किया गया।

न, स्वजनकज्ञानीयप्रत्ययवृत्तिप्रकारतानिरूपितविशेष्यताविशिष्ट-विशेष्यतासम्बन्धेनैवोपस्थितेर्हेतुतया उक्तसमूहालम्बनोपस्थितिनिरूपित-पुरूषनिष्ठ विशेष्यतायाश्च तादृशोपस्थितिजनकज्ञानीयप्रत्यय-वृत्तिप्रकारतानिरूपित विशेष्यतासामानाधिकरण्यविरहान्नातिप्रसङ्ग इति वदन्ति।

उक्त आपत्ति का वारण करते हुए न इत्यादि से किसी विद्वान् का कहना है कि - प्रत्ययाधीन तत् तत् पदार्थोपस्थित्यजन्यप्रातिपदिकार्थनिष्ठप्रकारता निरूपित विशेष्यता सम्बन्ध से भेदान्वय बोध के लिए स्वजनकज्ञानीयप्रत्ययवृत्तिप्रकारतानिरूपित विशेष्यता विशिष्टविशेष्यता सम्बन्ध से ही उपस्थिति को कारण मानेंगें, तो उपर्युक्त "पुरूषः एकत्वञ्च" इस समूहालम्बन उपस्थिति से निरूपित पुरूषनिष्ठ विशेष्यता में, उपर्युक्त समूहालम्बनात्मक उपस्थिति का जनक प्रत्यय वृत्तिज्ञान की प्रत्यय में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता का सामानाधिकरण्य नहीं रहने से कोई अतिप्रसङ्ग नहीं है।

इस ग्रन्थ के भाव को समझने के लिए आवश्यक है कि किसी उदाहरण में इस कार्यकारणभाव का समन्वय हो। अतः पहले राज्ञः पुरूषः में इसका समन्वय कर लें जहाँ भेदान्वय होता है। प्रत्ययाधीन पदार्थोपस्थित्यजन्य राजरूप प्रातिपदिकार्थ निष्ठ प्रकारतानिरूपित विशेष्यता सम्बन्ध से उपर्युक्त स्थल में भेदान्वय ङस् प्रत्ययार्थ "सम्बन्ध" में होता है, वहाँ पर स्वजनक इत्यादि सम्बन्ध से उपस्थिति को भी होना चाहिए। जो कि रहती भी है। जैसे - स्व से लेंगे सम्बन्ध रूप अर्थ की उपस्थिति को, उसका जनक ज्ञान होगा सम्बन्धः ङस् प्रत्ययबोध्यो भवतु" ऐसा शक्ति रूप वृत्ति ज्ञान, इस वृत्ति ज्ञान की प्रकारता प्रत्यय में तथा विशेष्यता प्रत्ययार्थ सम्बन्ध में रहती है। क्योंकि उपर्युक्तवृत्तिज्ञान में प्रत्यय प्रकार रूप में तथा प्रथमान्तपदबोध्य सम्बन्ध विशेष्य रूप में भासित हो रहा है। अस्तु।

तो उपर्युक्त सम्बन्ध रूप पदार्थ की उपस्थिति का जनक जो वृत्तिज्ञान उस वृत्तिज्ञान की ङस् प्रत्यय में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता रह गयी प्रत्ययार्थ सम्बन्ध में और उस वृत्ति ज्ञान से जो सम्वन्ध रूप अर्थ की उपस्थिति होती है, उस उपस्थिति की विशेष्यता भी सम्बन्ध में रहती है। इस प्रकार वृत्ति ज्ञानीय विशेष्यता और उपस्थितीय विशेष्यता दोनों एक सम्बन्ध रूप अधिकरण में रहने से दोनों विशेष्यताओं में सामानाधिकरण्य रह गया तो, वृत्तिज्ञानीय सम्बन्ध में रहने वाली विशेष्यता से, सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से उपस्थिति में रहने वाली सम्बन्धनिष्ठ विशेष्यता विशिष्ट हो गयी। इस प्रकार सम्बन्ध रूप पदार्थोपस्थितिजनकज्ञानीयप्रत्ययनिष्ठप्रकारतानिरूपितप्रत्ययार्थ= सम्बन्धनिष्ठविशेष्यता विशिष्ट जो उपस्थितीय सम्बन्धनिष्ठ विशेष्यता इस विशेष्यता सम्वन्ध से उपस्थिति रहेगी प्रत्ययार्थ "सम्बन्ध" में तो वहाँ राज प्रकारक भेदान्वय होता है।

परन्तु राजा पुरूषः इस स्थल में "पुरूषः एकत्वञ्च" इस समूहालम्बन उपस्थिति के जनक दो वृत्ति ज्ञान हैं -

(1) पुरूषः पुरुषपदबोध्यः और दूसरा (2) एकत्वं सु प्रत्ययबोध्यं भवतु। इनमें उपस्थिति के जनक ज्ञान पद से यदि "एकत्वं सु प्रत्ययबोध्यम्" इस वृत्ति ज्ञान को लें, तो इस ज्ञान की प्रकारता रहेगी सु प्रत्यय में इस प्रत्यय में रहने वाली प्रकारता से निरूपित विशेष्यता प्रत्ययार्थ "एकत्व" में रहेगी, पुरूष में तो रहेगी नहीं। इस तरह उपर्युक्त समूहालम्बनोपस्थितीय विशेष्यता भले ही पुरूष में रह जाए परन्तु उपस्थितिजनकवृत्तिज्ञानीय विशेष्यता तो रहेगी नहीं तो उपस्थितीय पुरूषनिष्ठविशेष्यता में वृत्तिज्ञानीयविशेष्यता का सामानाधिकरण्य न होने से उपस्थितीय पुरूषनिष्ठविशेष्यता उपस्थितिजनकज्ञानवृत्तिनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यता से सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से विशिष्ट नहीं होगा तो उस विशेष्यता विशिष्ट विशेष्यता सम्बन्ध से उपर्युक्त समूहालम्बन उपस्थिति भी पुरूष में नहीं रहेगी तो विशेष्यता सम्बन्ध से अभेदान्वय बोध भी पुरूष में नहीं उत्पन्न होगा तो राजप्रकारक भेदान्वय में पुरूष विशेष्य रूप में भासित भी नहीं होगा। यदि उपर्युक्त समूहालम्बनोपस्थिति

के जनक पद से पुरूषःपुरूषपदशक्यः इस वृत्तिज्ञान को लोगे तो इस वृत्तिज्ञान की प्रकारता प्रत्ययवृत्ति ही नहीं है अपितु पुरूष पद वृत्ति है।अतः जब प्रकारता प्रत्यय वृत्ति नहीं तो प्रत्ययवृत्ति प्रकारतानिरूपित विशेष्यता पद से पुरूष में रहने वाली विशेष्यता ले ही नहीं सकते तो उसमें भेदान्वय की आपत्ति का न होना तो सुतरां सिद्ध है।

भट्टाचार्य आपत्ति के वारण के लिए दिये गये उपर्युक्त समाधान में "वदन्ति" कहकर जो अपनी अरूचि दिखाई, उसका बीज स्वयं आगे तदसत् इत्यादि ग्रन्थ से कर रहे हैं। -

तदसत्, प्रत्ययत्वस्यानुगताननतिप्रसक्तस्य दुर्वचतया उक्तकार्यकारणभावकल्पनाया असम्भवात्। राजसम्बन्धः पुरूषःइत्यादि-सम्बन्धादिपदे ङस्पदत्वभ्रमदशायां सम्बन्धादिविशेष्यकराजादि-पदार्थप्रकारकान्वयबोधानुपपत्तेः। राज्ञः पुरूष इत्यादौ ङस्पदादिषु सम्बन्धादिपदत्वभ्रमदशायां सम्बन्धांशे राजप्रकारकान्वयबोधापत्तेश्च। न च प्रत्ययत्वेन ज्ञातं यत् पदं तत्पदजन्योपस्थितेःकारणत्वादेतद्दोषस्य नावकाश इति वाच्यम्। राज्ञः पुरूष इत्यादौ षष्ठ्यादेः प्रत्ययत्वाद्यनुपस्थितिदशायामपि आनुपूर्वीविशेषप्रकारकज्ञानाधीनतदर्थोपस्थितिसत्त्वे शाब्दबोधोत्पत्या प्रत्ययत्वप्रकारकज्ञाननिवेशासंभवात्।

उपर्युक्त प्रत्ययपदघटितकार्यकारणभाव के द्वारा आपत्ति का वारण करना उचित नहीं। क्योंकि प्रत्ययत्व का सभी प्रत्ययों में रहने वाला तथा अनतिप्रसक्त अर्थात् प्रत्ययों से भिन्न में नहीं रहने वाला ऐसा निर्दुष्ट निर्वचन = लक्षण सम्भव नहीं है। तो जब प्रत्ययत्व का ज्ञान अर्थात् प्रत्यय किसे कहते हैं यह जान पाना ही असंभव है, तो उस दुर्वच प्रत्यय से घटित कार्यकारणभाव का ज्ञान भी संभव नहीं होगा तो ऐसे कार्यकारणभाव के द्वारा उपर्युक्त आपत्ति का वारण करना अनुचित ही है। इस पर यदि कोई कहे पाणिनि के संकेत रूप सम्बन्ध से जो प्रत्ययपदवान् होंगे। उन्हें प्रत्यय पद से जानेंगे अर्थात् पाणिनि ने जिनके लिए "ये प्रत्यय हैं" ऐसा संकेत किया है उन्हें प्रत्यय जानेंगे। इस प्रकार प्रत्ययत्व का निर्वचन संभव हो सकता है और उससे घटित कार्यकारणभाव का ज्ञान भी सम्भव होगा। तो इस पर भट्टाचार्य दूसरा दोष देते हैं कि - जहाँ किसी श्रोता को "राजसम्बन्धः पुरूषः" इस वाक्य में आये सम्बन्ध पद में ङस् पदत्व का भ्रम हो गया अर्थात् उसने सम्बन्ध पद को षष्ठी विभक्ति रूप में सुन लिया अर्थात् कहने वाले ने तो राजसम्बन्धः कहा परन्तु सुनने वाले ने "राज्ञः" ऐसा भ्रम से सुन लिया या यों कह लीजिए समझ लिया तो ऐसी स्थिति में "राजप्रकारक सम्बन्ध विशेष्यक भेदान्वय"का होना सर्वसम्मत है। वह अब उपपन्न नहीं हो पाएगा।क्योंकि आपके कार्यकारणभाव के अनुसार यहाँ सम्बन्धनिष्ठ जो विशेष्यता

है वह प्रत्ययवृत्ति प्रकारतानिरूपित विशेष्यता विशिष्ट विशेष्यता नहीं है। क्योंकि वस्तुतः यहाँ ङस् प्रत्यय तो है नहीं। अतः भ्रम से सुनाई पड़ने वाले ङस् पद जन्य सम्बन्ध रूप उपस्थिति के जनक वृत्ति ज्ञान की प्रकारता चूँकि प्रत्ययवृत्ति नहीं है। क्योंकि जब प्रत्यय ही नहीं है तो प्रकारता प्रत्ययवृत्ति कैसे होगी और जब यहाँ प्रकारता प्रत्ययवृत्ति नहीं तो प्रत्ययवृत्ति प्रकारता से निरूपित विशेष्यता सम्बन्धनिष्ठ विशेष्यता नहीं होगी तो उपस्थितीय सम्बन्ध निष्ठ विशेष्यता भी वृत्ति ज्ञानीय विशेष्यता से विशिष्ट नहीं होगी तो उस विशिष्ट विशेष्यता सम्बन्ध से "सम्बन्ध" रूप पदार्थ में उपस्थिति रूप कारण के नहीं रहने से शाब्दबोध को नहीं होना चाहिए जबकि होता है। इतना ही नहीं, यदि उपर्युक्त, प्रत्यय घटित कार्यकारणभाव को मानेंगें तो "राज्ञः पुरूषः" इस वाक्य में यदि किसी को "ङस्" पद में "सम्बन्ध" पदत्व का भ्रम हो जाए अर्थात् राज्ञः को "राजसम्बन्धः" ऐसा समझ बैठे तो ऐसी स्थिति में राजप्रकारक सम्बन्ध विशेष्यक भेदान्वय बोध होना कोई नहीं मानता, परन्तु अब होने लगेगा। क्योंकि वस्तुतः यहाँ ङस् प्रत्यय के होने से सम्बन्ध में रहने वाली उपस्थितीयविशेष्यता उपस्थितिजनक वृत्तिज्ञानीय वृत्तिनिष्ठप्रकारता से निरूपित विशेष्यता से विशिष्ट ही है, तो इस विशिष्ट विशेष्यता सम्बन्ध से सम्बन्ध रूप अर्थ में उपस्थिति रहेगी तो राजप्रकारकभेदान्वयबोध भी उपर्युकत विशेष्यता सम्बन्ध से सम्बन्ध रूप अर्थ में होने लगेगा। इस आपत्ति से बचने के लिए यदि यह कहें कि -

प्रत्ययत्वेन ज्ञात जो पद अर्थात् जिस पद के सम्बन्ध में "यह प्रत्यय है" ऐसा ज्ञान हो उस प्रत्यय रूप में ज्ञात पद से जन्य जो उपस्थिति वही विशेष्यता सम्बन्ध से कारण होती है, विशेष्यता सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले प्रातिपदिकार्थप्रकारक भेदान्वय बोध में तो जहाँ राजसम्बन्धः पुरूषः में राजसम्बन्धः इस उच्चरित पद को भ्रम से राज्ञः ऐसा समझा गया वहाँ पर वह सम्बन्ध पद भी चूँकि प्रत्यय रूप में ज्ञात हुआ। अतः उस प्रत्ययत्वेन ज्ञात सम्बन्ध पद जन्य जो सम्बन्ध पदार्थ की उपस्थिति वह विशेष्यता सम्बन्ध से भेदान्वय बोध में कारण होगी, तो उपर्युक्त उपस्थिति विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययत्वेन ज्ञात सम्बन्ध पदजन्य सम्बन्ध रूप अर्थ में रहेगी तो उसमें राजप्रकारक भेदान्वय बोध होगा। इस तरह उस राजप्रकारक भेदान्वयबोध में सम्बन्ध रूप अर्थ विशेष्य रूप में भासित होगा और जहाँ राज्ञः में षष्ठी विभक्ति को प्रत्यय रूप में न जानकर "सम्बन्ध" इस पद रूप में भ्रम से जान लिया वहाँ पर ज्ञात होने वाला ङस् पद प्रत्ययत्वेन ज्ञात नहीं हो रहा है अपितु सम्बन्धपदत्वेन।अतः वहाँ पर उपस्थिति में भासित होने वाला सम्बन्ध रूप अर्थ चूँकि सम्बन्ध पदत्वेन ज्ञात ङस् प्रत्ययजन्य है। अतः वह सम्बन्ध पदार्थोपस्थिति शाब्दबोध में कारण नहीं होगी तो वहाँ शाब्दबोध भी नहीं होगा। इस प्रकार दोनों आपत्तियों का वारण हो जाएगा। यदि प्रत्ययत्वेन ज्ञात प्रत्ययपदजन्य उपस्थिति को कारण मानें तो। भट्टाचार्य इस प्रयास का भी खण्डन करते हुए

कहते हैं कि - राज्ञः पुरूषः में व्याकरणशास्त्र से अनभिज्ञ जिस पुरूष को प्रत्ययत्व का ज्ञान नहीं है अर्थात् सम्बन्ध रूप अर्थ की उपस्थिति जिसे प्रत्ययत्वेन ज्ञात ङस् प्रत्यय से नहीं हुई ऐसे अवैयाकरण विद्वान् को भी "राज्ञः" इस आनुपूर्वीविशेष प्रकारक ज्ञान से ही यदि षष्ठ्यर्थ स्वत्व की उपस्थिति होती है तो उसे "राजनिरूपितस्वत्ववान् पुरूषः" ऐसा राजप्रकारक सम्बन्ध विशेष्यक भेदान्वयबोध होता है। इसलिए प्रत्ययत्वेन प्रत्ययत्वप्रकारक "अयं प्रत्ययः" इस रूप से प्रत्यय के ज्ञान को कार्यकारणभाव में निवेश करना संभव नहीं।

इस प्रकार राजा पुरूषः में भेदान्वयवारण के लिए अब तक जितने प्रयास किये गये सभी का खण्डन उत्तरोत्तर ग्रन्थों से होता गया, तो मूल प्रश्न तो रह ही गया कि राजा पुरूषः में पदार्थोपस्थिति आदि कारणकलाप के रहते भेदान्वयबोध क्यों नहीं होता? भट्टाचार्य अब अपने मतानुसार उपर्युक्तआशांका का परिहार अग्रिम "इदं पुनः तत्त्वम्" से करने जा रहे हैं। -

इदं पुनरत्र तत्त्वम्। राजापुरूष इत्यादौ पुरूषादिविशेष्यक राजादिप्रकारकभेदान्वयबोधस्याप्रसिद्धयैव नापत्तिसंभवः यत्रषष्ठ्यादि-विभक्तेरेव स्वारसिकलक्षणया शक्तिभ्रमेण वा पुरूषाद्युपस्थितिस्तत्र तद्विशेष्यकराजादिप्रकारकभेदान्वयबोधः प्रसिद्ध इतिचेत् तर्हि तादृशबोधे तथाविधप्रकृतिप्रत्ययानुपूर्वीविशेषरूपाकाङ्क्षाज्ञानसहकृत्ततत्तद्विभक्तिजन्यपुरूषाद्युपस्थितिघटितसामग्रया एव तादृशबोधोत्पत्तिनियामकतया तदभावादेव न तदापत्तिः। अत एव स्वत्वादिसम्बन्धेन राजविशिष्टपुरूषादि-तात्पर्यकतदादिपदघटितात् "स सुन्दर" इत्यादिवाक्यात् पुरूषादि-विशेष्यकस्वत्वादिसंसर्गकराजादिप्रकारकशाब्दबोधस्य च प्रसिद्धया राजा पुरूष इत्यादौ पदार्थोपस्थितियोग्यताज्ञानादिबलात् तादृशशाब्दबोधा-पत्तिरित्यपि निरस्तम्। "स सुन्दर" इति वाक्याधीनशाब्दबोध-सामग्रयास्तत्पदत्वावच्छिन्न- धर्मिकसुन्दरादिपदसमभिव्याहारज्ञानसहकृत-तदादिपदजन्य तादृशविशिष्टार्थोपस्थितिघटिततया तदभावादेवापत्त्यभावात्।

भट्टाचार्य अपनी पुरानी शैली को अपनाते हुए कहते हैं कि - पुरूषादिविशेष्यक राजप्रकारक भेदान्वय बोध "राजा पुरूषः" में अप्रसिद्ध है, तो ऐसे स्थलों पर उपर्युक्त भेदान्वय बोध की आपत्ति दी ही नहीं जा सकती। क्योंकि जो वस्तुप्रसिद्ध हो उसी की आपत्ति कहीं दी जाती है जो शशश्रृङ्ग की तरह सर्वथा अप्रसिद्ध हो उसकी भला आपत्ति कैसे दी जा सकती है। अतः राजापुरूषः इत्यादि स्थलों में जहाँ कि विशेष्यवाचक तथा विशेषणवाचक पद समान विभक्तिक हो वहाँ पर भेदान्वयबोध होता ही नहीं तो वहाँ पर पुरूषविशेष्यक अप्रसिद्ध भेदान्वय की आपत्ति अप्रसिंद्धि के कारण ही नहीं दी जा सकती।

इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि "राज्ञः" इस पद मेंआयी षष्ठी विभक्ति से; स्वारसिक लक्षणा से या शक्तिभ्रम के कारण "पुरूष" अर्थ की उपस्थिति यदि किसी को हो जाए तो वहाँ राजप्रकारकपुरूषविशेष्यक भेदान्वय होता है। यह सर्वसम्मत है। इस प्रकार स्वारसिकलक्षणा या शक्तिभ्रम के कारण पुरूष रूप पदार्थ विशेष्यक तथा राजरूपपदार्थप्रकारक भेदान्वय तो राज्ञः में प्रसिद्ध ही है, तो उसी प्रसिद्ध भेदान्वय की आपत्ति राजा पुरूषः में दी जा रही है, उसका वारण आप अप्रसिद्धि के कारण नहीं कर सकते।भट्टाचार्य कहते हैं कि यदि इस प्रकार पुरूष विशेष्यक राजप्रकारक भेदान्वय को प्रसिद्ध मान रहे हों तो जहाँ पर उपर्युक्त शाब्दबोध होता है वहाँ पर उपर्युक्त शाब्दबोध को उत्पन्न करने वाली जैसी सामग्री है, वैसी सामग्री राजा पुरूषः में नहीं है। अतः वहाँ भेदान्वय नहीं होता यह समझना चाहिए। अब जिज्ञासा होगी कि राज्ञः में कौन सी सामग्री है जिससे पुरूष विशेष्यक राजप्रकारकभेदान्वय होता है? तो इस जिज्ञासा का भट्टाचार्य स्वयं समाधान करते हुए कहते हैं तादृशबोधे = पुरूषविशेष्यकराजप्रकारक भेदान्वय बोध में, तथा विधप्रकृतिप्रत्ययानुपूर्वी विशेष रूप = अर्थात् राजन् इस प्रकृति के अव्यहित उत्तर में ङस् पदत्व रूप "राज्ञः" इस आनुपूर्वी विशेष रूप आकाँक्षाज्ञानसहकृत =आकाँक्षा ज्ञान के साथ, तत् तत् विभक्तिजन्य = उन उन ङस् आदि विभक्तियों से उत्पन्न, पुरूषाद्युपस्थिति घटितसामग्रया = पुरूष रूप अर्थ की उपस्थिति सेघटित सामग्री, एव = ही, तादृशबोधोत्पत्ति नियामकतया = उपर्युक्त पुरूष विशेष्यक राज प्रकारकभेदान्वयबोध की उत्पत्ति की नियामिका होती है। तदभावादेव = राज्ञः इत्यादि आनुपूर्वी विशेष रूप आकाँक्षा ज्ञान सहकृत ङस् विभक्तिजन्यपुरूषपदार्थोपस्थिति रूप सामग्री के न होने के कारण ही न तदापत्तिः = राजा पुरूषः में पुरूष विशेष्यक राज प्रकारक भेदान्वय बोध की आपत्ति नहीं होगी।

संकलितार्थ यह है कि - राज्ञः में ङस् विभक्ति से लक्षणा अथवा शक्तिभ्रम के कारण पुरूष पदार्थ की उपस्थिति होने के कारण ही वहाँ पर पुरूष विशेष्यक राज प्रकारक भेदान्वय होता है। अतः यहाँ पर होने वाले इस शाब्दबोध की प्रयोजक सामग्री दो हुई - एक तो राज्ञः इस आनुपूर्वी विशेष रूप आकाँक्षा का ज्ञान तथा दूसरा षष्ठी विभक्ति ङस् से लक्षणा या शक्तिभ्रम से पुरूष पदार्थ की उपस्थिति। राजा पुरूषः में तो इन दोनों सामग्रियों में से एक भी नहीं है। न तो वहाँ "राज्ञः" ऐसा आनुपूर्वीविशेष रूप आकाँक्षा का ही ज्ञान हो रहा है और न ही ङस् विभक्ति से लक्षणा अथवा शक्तिभ्रम के कारण पुरूष पदार्थ की उपस्थिति ही हो रही है। वहाँ तो आनुपूर्वी है राजा और ङस् विभक्ति तो है ही नहीं।अपितु पुरूष पद से पुरूष पदार्थ की उपस्थिति हो रही है। अतः राजा पुरूषः में राज्ञः इस आनुपूर्वी विशेष रूप आकाँक्षा ज्ञान सहकृत षष्ठीविभक्तिजन्य पुरूषपदार्थोपस्थिति घटित सामग्री नहीं है जो कि पुरूष विशेष्यक राजप्रकारक

भेदान्वय बोध के लिए आवश्यक है। अतः राजा पुरूषः में पुरूष विशेष्यक राजप्रकारक भेदान्वय की आपत्ति नहीं है।

इसीलिए - "स सुन्दरः" इस वाक्य में स = तत् पद का तात्पर्य यदि स्वत्व सम्बन्ध से राज विशिष्ट पुरूष अर्थ में है तो इस वाक्य से पुरूष विशेष्यक राजप्रकारक स्वत्व रूप भेदसंसर्गक शाब्दबोध होना प्रसिद्ध है, तो इस प्रसिद्ध भेदान्वय की राजा पुरूषः यहाँ भी पदार्थोपस्थितियोग्यताज्ञानादिकारण कलाप के बल से दी गयी आपत्ति भी निरस्त हो गयी। क्योंकि स सुन्दरः इस वाक्य से होने वाले स्वत्वसंसर्गक राजप्रकारकपुरूषविशेष्यक भेदान्वय बोध की प्रयोजक सामग्री है। तत् पदत्वावच्छिन्न तत् पद अर्थात् "स" इस पद के साथ सुन्दर पद का समभिव्याहार रूपआकाँक्षा ज्ञान से सहकृत, तत् पदजन्य स्वत्व सम्बन्ध से "राजविशिष्ट पुरूष" पदार्थ की उपस्थिति। "राजा पुरूषः" में न तो तत्पदत्वावच्छिन्न धर्मिक सुन्दर पद का समभिव्याहार अर्थात् "स सुन्दर" ऐसा पदों का समभिव्याहाररूप आकाँक्षा ज्ञान ही है और नहीं तत् पद से स्वत्व सम्बन्ध से राजविशिष्ट पुरूष पदार्थ की उपस्थिति ही है। क्योंकि जब राजा पुरूषः में तत् पद ही नहीं है तो उससे जन्य उपर्युक्त पुरूष पदार्थ की उपस्थिति रूप कारण का होना कैसे सम्भव होगा। इसलिए स सुन्दरः इस वाक्य से भले ही स्वत्वसंसर्गक राजप्रकारक पुरूष विशेष्यक भेदान्वय हो जाए। क्योंकि वहाँ उपर्युक्त शाब्दबोध की सामग्री तत्पदत्वावच्छिन्न धार्मिक सुन्दरपदसमभिव्याहार "स सुन्दरः" ऐसा पदों का समभिव्याहार भी है और तत् पद का तात्पर्य स्वत्वसंसर्ग से राजविशिष्ट पुरूष अर्थ में होने से तत् पद से स्वत्व संसर्ग से राजविशिष्टपुरूषपदार्थोपस्थिति भी है। परन्तु यहाँ राजप्रकारक पुरूषविशेष्यकभेदान्वयबोध की आपत्ति राजा पुरूषः में नहीं दे सकते, क्योंकि यहाँ उस शाब्दबोध की प्रयोजक सामग्री नहीं है। इसलिए जो कोई सः सुन्दरः में प्रसिद्ध स्वत्व संसर्गक राजप्रकारक पुरूष विशेष्यक भेदान्वय की आपत्ति राजा पुरूषः में देते थे उनकी वह आपत्ति भी निरस्त हो गयी।

अथैतादृशरीत्याऽऽपत्तिवारणे राज्ञः पुरूष इत्यादौ स्वत्वादिसम्बन्धेन पुरूषादौ राजाद्यन्वयबोधस्वीकारेऽपि क्षतिविरहादुक्तव्युत्पत्तिर्निर्युक्तिकम्। विभक्तीनां सम्बन्धादिवाचकत्वमपि निर्युक्तिकम्, नीलो घटः इत्यादौ विशेषणवाचकपदसमभिव्याहतविभक्तेरिव सर्वविभक्तीनां साधुत्वमात्रार्थकत्वस्यैवोचितत्वात्।

इस प्रकार प्रकृतिप्रत्यय का पूर्वापरीभाव रूप आनुपूर्वीविशेषरूप आकाँक्षा के ज्ञान को यदि शाब्दबोध का प्रयोजक मानकर आपत्तियों का वारण करेंगें, तब तो राज्ञः पुरूषः इस वाक्य से भी स्वत्व सम्बन्ध से राजविशिष्ट पुरूष ऐसा शाब्दबोध स्वीकार करने पर भी कोई क्षति नहीं होगी। क्योंकि राज्ञः पुरूषः में जैसी आनुपूर्वी विशेष आकाँक्षा है वैसी आनुपूर्वी विशेष आकाँक्षा राजा पुरूषः में तो है नहीं।

इसलिए राज्ञः पुरूषः से होने वाले स्वत्वसंसर्गक राजप्रकारक पुरूषविशेष्यक शाब्दबोध की आपत्ति राजा पुरूष में तो होगी नहीं तो पुनःपूर्वप्रदर्शित व्युत्पत्तिं निपातातिरिक्तनामार्थयोः या यों कहिए निपातातिरिक्तनामार्थप्रकारकभेदान्वयं प्रति विशेष्यता सम्बन्धेन प्रत्ययजन्य उपस्थितिः कारणम्" यह कार्यकारणभाव निर्युक्तिक ही है अर्थात् इस व्युत्पत्ति या कार्यकारणभाव को मानने की कोई आवश्यकता नहीं, सर्वत्र उपर्युक्त आनुपूर्वीविशेष रूप आकाँक्षा ज्ञान को ही शाब्दबोध का प्रयोजक मान लेने से आपत्ति अनुपपत्ति का परिहार हो जाएगा। इसलिए नीलो घटः में जैसे विशेषण वाचक नीलपदोत्तर आयी सु विभक्ति को साधुत्वमात्रार्थक माना जाता है वैसे ही सभी विभक्तियों को वे चाहे विशेष्यवाचक पद के आगे आयी हों या विशेषणवाचक पद के आगे, साधुत्वमात्रार्थक ही मानना उचित होगा। यद्यपि यहाँ पर यह आशङ्का की जा सकती है कि यदि सभी विभक्तियों को साधुत्वमात्रार्थक माना जाएगा तो "घटम्" इस पद से जो "घटीयं कर्मत्वम्"ऐसा बोध होता है, वह उपपन्न कैसे होगा। तो यहाँ यह समझना चाहिए कि जहाँ पर घटम् पद के साथ "आनय" आदि क्रिया पद का प्रयोग होता है वहीं पर "घटम्" पद से "घटीयं कर्मत्वम्" ऐसा शाब्दबोध होता है। जहाँ पर केवल "घटम्" यह अकेला पद प्रयुक्त होता है वहाँ पर होने वाले "घटीयं कर्मत्वम्" इस बोध को मानस बोध ही माना जाता है अथवा वहाँ पर अम् पद में कर्मत्व अर्थ का शक्तिभ्रम से वैसा बोध होता है। ऐसा मानकर सभी विभक्तियों को साधुत्वमात्रार्थक मानना उचित है यह बात कही गयी। इस प्रकार ङस् आदि विभक्तियों को सम्बन्धादिवाचक मानना भी निर्युक्तिक ही है। क्योंकि उपर्युक्तआनुपूर्वीविशेषरूप-आकाँक्षा ज्ञान से ही तत् तत् सम्बन्ध वाला तत् तत् प्रकारक तत् तत् पदार्थ विशेष्यक भेदान्वय बोध का होना उपपन्न हो जाएगा।

नहि तत्र तथाविधान्वयबोधोपगमे तत्स्थलीयसामग्रीबलाद् राजापुरूष इत्यादिष्वपि तथाविधान्वयबोधप्रसङ्गःसम्भवतिः तत्स्थलीयसामग्याः षष्ठ्यन्तराजपदत्वावच्छिन्नधार्मिक पुरूषादिपदसमभिव्याहाररूपा-काडक्षाज्ञानघटिततया तदभावादेव तत्र तादृशसामग्या अभावात्।

इस प्रकार राज्ञः पुरूषः में स्वत्व सम्बन्ध से राजवान् पुरूष" ऐसा शाब्दबोध मान लेने पर भी, इस तरह के भेदान्वयबोध की आपत्ति "राजा पुरूषः" इत्यादि स्थलों में भी नहीं हो सकती। क्योंकि राज्ञः पुरूषः में "स्वत्व सम्बन्ध से राजवान् पुरूष" इस भेदान्वय बोध को उत्पन्न करने वाली प्रयोजक सामग्री, षष्ठयन्त राजपद = "राज्ञः" इस पदधर्मिक पुरूषपदसभिव्याहार अर्थात् राज्ञः पुरूषः इस पदसमभिव्याहार रूप आकाँक्षा ज्ञान से घटित है। जो कि राजा पुरूषः इस वाक्य में नहीं है।अतः वहाँ राज्ञः पुरुषः" रूप षष्ठ्यन्तपदधर्मिक पुरूषपदसमभिव्याहार रूप आकाँक्षाज्ञानघटित सामग्री नहीं होने के कारण राजा पुरूषः में स्वत्व सम्बन्ध से "राजवान् पुरूष" ऐसे भेदान्वयबोध की आपत्ति नहीं दी जा सकती।

एवञ्च राजपुरूष इत्यादिसमासे राजादिपदस्य राजसम्बन्ध्यादि लक्षणास्वीकारोऽपि व्यर्थः तत्र भेदान्वयबोधस्वीकारेऽपि क्षतिविरहात्। न च तत्र भेदान्वयबोधाभ्युपगमे तत्स्थलीयसामग्रीबलाद् राजापुरूष इत्यादावपि तादृशान्वयबोधापत्तिरितिवाच्यम्, तत्स्थलीयबोधे राजपदाव्यवहितोत्तरपुरू-षादिपदत्वरूपानुपूर्वीविशेषज्ञानस्य हेतुतया; असमासस्थले पुरूषादिपदस्य विभक्त्या राजादिपदव्यवहितत्वात् तादृशानुपूर्वीविशेषज्ञानासम्भवेन तादृशबोधसामग्रया असिद्धेः।

इस प्रकार आनुपूर्वी विशेष रूप आकाँक्षा ज्ञान घटित सामग्री को ही भेदान्वय बोध के लिए कारण मानने पर जैसे निपातातिरिक्त नामार्थयोः इस व्युत्पत्ति की कोई आवश्यकता नहीं, जैसे विभक्तियों का कर्मत्व करणत्व या सम्बन्ध अर्थ मानने की आवश्यकता नहीं, वैसे ही राजपुरूषः यहाँ पर जो पहले राज पद की राजसम्बन्धीं अर्थ में लक्षणा करते थे वह भी व्यर्थ ही है उसकी भी कोई आवश्यकता नहीं। यदि कहो राजपुरूषः में राजपद की राजसम्बन्धी में लक्षणा नहीं करेंगे तो राजपदार्थ का पुरूष पदार्थ के साथ तो अभेदान्वय सम्भव नहीं तो पुनः वहाँ अभेदान्वय बोध कैसे हो पाएगा। पूर्वपक्षी कहता है कि राजपुरूषः में अभेदान्वय बोध मानो ही नहीं क्योंकि वहाँ भी राजपद तथा पुरूष पद के समभिव्याहार रूप आकाँक्षा के कारण "स्वत्वसंसर्ग से राजवान् पुरूषः" ऐसा भेदान्वयबोध मानने में भी कोई क्षति नहीं। क्योंकि अब. नामार्थयोः भेदेन साक्षादन्वयस्य अव्युत्पन्नत्वम् वाला नियम तो रहा नहीं, तो वहाँ पर राजपदार्थ का पुरूष पदार्थ में स्वत्व रूप भेद संसर्ग से अन्वय होने में भी कोई क्षति नहीं।

इस पर कोई कहता है कि - यदि "राजपुरूषः" में स्वत्वसंसर्गक राजप्रकारक पुरूष विशेष्यकभेदान्वय मानोगे तो जिन सामग्रियों से यहाँ ऐसा भेदान्वय बोध होता है, उन्हीं सामग्रियों के बल से राजा पुरूषः में भी उपर्युक्त भेदान्वय बोध होने की आपत्ति आएगी। इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि - "राजपुरूष" में जो सामग्री है वही सामग्री "राजापुरूषः" में तो है ही नहीं। क्योंकि राजपुरूषः में होने वाले भेदान्वय बोध की प्रयोजक सामग्री "राजपदाव्यवहितोत्तरपुरूषपदत्व रूप अर्थात् "राजपुरूष" ऐसी आनुपूर्वीविशेष रूप आकाँक्षा का ज्ञान है। जबकि असमासस्थल में राजा पुरूषः यहाँ पर पुरूष आदि पद राजपदोत्तर आयी सुविभक्ति के द्वारा राजादि पद के साथ व्यवहित है अर्थात् राजा पुरूषः में राजपद के अव्यवहित उत्तर में पुरूष पद नहीं है, इन दोनों के मध्य राजपदोत्तर आयी सु विभक्ति का व्यवधान है। इसलिए राजा पुरूषः में स्वत्वसंसर्गक राजप्रकारक पुरूष विशेष्यक भेदान्वय के लिए अपेक्षित राजपदाव्यवहितोत्तर पुरूषपदत्व रूप आनुपूर्वी विशेष रूप आकाँक्षा का ज्ञान सम्भव न होने से, वहाँ उपर्युक्त आनुपूर्वी विशेष

रूप आकाँक्षा है ही नहीं। अतः राजा पुरूषः में उपर्युक्त भेदान्वय की आपत्ति नहीं दी जा सकती।

न च प्रकृतिप्रत्ययोरानुपूर्वीविशेषरूपस्याकाँक्षात्वात्, प्रातिपदिकद्वयाव्यवधानघटितोक्तानुपूर्वीविशेषज्ञानस्य हेतुत्वमेव निष्प्रामाणिकमिति वाच्यम्। भवन्मतेऽपि राजपुरूष इत्यादौ यादृशसामग्री बलाद् राजपदार्थराजसम्बन्धिपुरूषपदार्थयोरभेदान्वयबोधस्तादृशसामग्रीबलाद् राज्ञः पुरूषः इत्यादावपि राजपदस्य राजसम्बन्ध्यादौ लक्षणाग्रहसत्त्वे तादृशाभेदान्वयबोधप्रसङ्गवारणाय तथाविधानुपूर्वीविशेषज्ञानस्य समासजन्यबोधे हेतुताकल्पनस्यावश्यकत्वात्। अस्माभिर्भेदान्वयबोधे एव तादृशानुपूर्वीज्ञानस्य हेतुतायाः कल्पनीयत्वात्।

जो लोग निपातातिरिक्तनामार्थयोः इस नियम को मानते हैं और विभक्ति का अर्थ भी असमासस्थल में मानते हैं वे प्रकारतावादी पुनः संसर्गतावादी से कहते हैं कि - प्रकृति तथा प्रत्यय का जो पूर्वापरीभाव रूप आनुपूर्वी होता है वही आनुपूर्वीविशेष रूप आकाँक्षा मानी जाती है दो प्रातिपदिकों का जो अव्यवधान घटित आनुपूर्वी है अर्थात् एक प्रातिपदिक से अव्यवहित उत्तर में दूसरे प्रातिपदिक का रहना रूप आनुपूर्वी विशेष वह आकाँक्षा ही नहीं है तो उसके ज्ञान को शाब्दबोध में कारण मानना निष्प्रामणिक ही है। अतः राजपुरूषः में स्वत्वसंसर्गक राज प्रकारक पुरूष विशेष्यक भेदान्वय उपर्युक्त राजपुरूष इस प्रातिपदिकानुपूर्वी के रहने के कारण नहीं माना जा सकता। वहाँ लक्षणा करनी पड़ेगी और अभेदान्वय बोध मानना पड़ेगा। संसर्गतावादी इस पर प्रकारतावादी से पुनः कहता है भवन्मतेऽपि। अर्थात् आपके मत में भी तो जिस प्रकार की सामग्री से "राजपुरूषः" इस समास स्थल में राज पद के अर्थ (लक्ष्यार्थ) राजसम्बन्धी का पुरूषपदार्थ पुरूष में अभेदान्वयबोध होता है, उसी प्रकार की सामग्री के बल से "राज्ञः पुरूषः" इस असमास स्थल में भी राजपद की राजसम्बन्धी में लक्षणा होने पर "राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरूषः" ऐसे अभेदान्वयबोध की आपत्ति है तो उस आपत्ति का वारण करने के लिए आप भी तो समासजन्य अभेदान्वय बोध के लिए, राजपदाव्यवहितोत्तरपुरूष पदत्व रूप दो प्रातिपदिकों के अव्यवधान घटित आनुपूर्वी विशेष को आकाँक्षा मानकर, उसके ज्ञान को कारण मानते ही हैं। हमने उस राजपदाव्यवहितोत्तरपुरूषपदत्व रूप आनुपूर्वी विशेष रूप आकाँक्षा ज्ञान को भेदान्वय बोध के लिए कारण माना है। अर्थात् "राजपुरूष" इस आनुपूर्वी को प्रकारतावादी ने अभेदान्वय बोध के लिए आकाँक्षा माना है तो संसर्गतावादी ने भेदान्वय बोध में; कारण तो उपर्युक्त आनुपूर्वी को दोनों मतों में माना गया हाँ! उसका कार्य दोनों मत में भिन्न हुए एक के मत में अभेदान्वय बोध तो दूसरे के मत में भेदान्वयबोध। अस्तु।

न चोभयमते एव राजसम्बन्धिनि राजपदस्य स्वारसिकलक्षणाग्रहेण राजपुरूष इत्यत्र राजसम्बन्धिपुरूषयोरभेदान्वयबोधो भवति। इयाँस्तु विशेषो यदस्मन्मतेऽसौ समासः षष्ठीतत्पुरूषः भवन्मते कर्मधारय इति। एवं च पुरूषविशेषष्यकाभेदसंसर्गकराजसम्बन्धिप्रकारकबोधे राजपदाव्यवहितोत्तरपुरूषपदत्वप्रकारकज्ञानत्वेन हेतुत्वमुभयमतसिद्धमेव। भेदान्वयबोधे तादृशानुपूर्वीज्ञानहेतुताकल्पनमधिकमिति वाच्यम्।

प्रकारतावादी राजपुरूषः में भेदान्वयबोध मानने वाले संसर्गतावादी से कहता है - "राजपुरूषः" स्थल में यदि "राज" पद की राजसम्बन्धी अर्थ में स्वारसिक लक्षणा का ज्ञान हो जाए, तो प्रकारतावाद तथा संसर्गतावाद दोनों ही मत में "राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरूषः" ऐसा राजसम्बन्धी और पुरूष का अभेदान्वयबोध होता है। परन्तु दोनों में इतनी विशेषता है कि हम प्रकारतावादियों के मत में राजपुरूषः में षष्ठी तत्पुरूष माना जाता है , जबकि आप संसर्गतावादियों के अनुसार यह कर्मधारय तात्पर्य यह है कि प्रकारतावादी राजपुरूषः में राज पद को षष्ठ्यन्त मानकर उसकी राजसम्बन्धी में लक्षणा मानते हैं जबकि संसर्गतावादी तो किसी भी विभक्ति का अर्थ मानते ही नहीं, तो उनके अनुसार राजा चासौ पुरूषः इस कर्मधारय से निष्पन्न जो "राजपुरूष" पद है उसमें तो वे सामान्यतः अभेदान्वय मानते ही नहीं हाँ यदि राजपद की स्वारसिक लक्षणा किसी को हो जाए तभी अभेदान्वय होना मानते हैं। अतः उनके मत में राजपुरूषः में कर्मधारय समास माना जाता है। इस तरह पुरूषविशेष्यक अभेदसंसर्गक राजसम्बन्धीप्रकारक "राजसम्बन्ध्यभिन्नऽपुरूषः" ऐसे शाब्दबोध के लिए राजपदाव्यवहितोत्तरपुरूषपदत्व अर्थात् "राजपुरूष" इस पदसमभिव्याहार प्रकारक (आकाँक्षा) ज्ञान का कारण होना भी उभयमत सिद्ध है। क्योंकि प्रकारतावादियों को उपर्युक्त राजपुरुष रूप पदसमभिव्याहार को यदि कारण न माने तो "राज्ञः पुरूष" में उपर्युक्त अभेदान्वय बोध की आपत्ति आएगी और संसर्गतावादी यदि उपर्युक्त राजपुरूष इस पद समभिव्याहार को उपर्युक्त अभेदान्वय के प्रति कारण न मानें तो उनके मत में राजा पुरूषः में अभेदान्वयबोध की आपत्ति आएगी। अतः उपर्युक्त पदसमभिव्याहार को दोनों मत में कारण मानना आवश्यक है। परन्तु संसर्गतावादियों को भेदान्वयबोध के लिए "राजपुरूष" रूप राजपदाव्यवहितोत्तरपुरूषपदत्वरूप आनुपूर्वी को कारण मानना पड़ता है यह अधिक कल्पना उन्हें करनी पड़ी।

तात्पर्य यह है किं राजपुरूषः इस समस्तस्थल में तो राजपद की राजसम्बन्धी में लक्षणाग्रह हो जाने पर राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरूषः इस अभेदान्वय बोध में राजपदाव्यवहितोत्तरपुरूषपदत्व रूप आनुपूर्वी की कारणता तो दोनो को माननी पड़ती है। परन्तु प्रकारतावादी तो राजपुरूषः इस समस्त स्थल में अभेदान्वय ही मानते हैं। अतः उन्हें उपर्युक्त आनुपूर्वी में एक कारणता माननी पड़ती है। परन्तु

संसर्गतावादी तो राज़पुरूषः इस समस्त स्थल में भी स्वत्व सम्बन्धेन राजवान् पुरूषः ऐसा भेदान्वय मानते हैं और इस भेदान्वय के लिए भी उपर्युक्त राजपदाव्यवहितोत्तरपुरूष पदत्व रूप आनुपूर्वी को कारण मानते हैं और जब राजपद की राजसम्बन्धी में लक्षणाग्रह हो जाए तो होने वाले अभेदान्वय बोध के लिए भी। इस प्रकार भेदान्वय बोध और अभेदान्वय बोध दोनों बोधों के लिए उपर्युक्तआनुपूर्वी में दो कारणता माननी पड़ती है। इस प्रकार संसर्गतावादियों को उपर्युक्त आनुपूर्वी में अधिक कारणता की कल्पना करनी पड़ती है। यह गौरव होता है।

उक्ताभेदान्वयबोधे तथाविधानुपूर्वीज्ञानहेतुतायां पर्यायशब्दान्तर-घटितानुपूर्वीज्ञानजन्यतथाविधान्वयबोधे व्यभिचारवारणाय तादृशानुपूर्वी-ज्ञानानन्तर्यस्य कार्यतावचछेदककोटौ अवश्यं निवेशनीयतया तत्र विषयनिवेशे प्रयोजनाभावेन तादृशकार्यतावच्छेदकस्यैव भेदान्वयबोध-साधारण्येनानुपूर्वीज्ञानस्य भेदान्वयबोधे हेतुताया अनाधिक्यात्।

राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरूषः ऐसे अभेदान्वयबोध में अथवा यों कह लीजिए जहाँ पर लक्षणाग्रह के कारण अभेदान्वय बोध होता है ऐसे अभेदान्वय बोध में, आनुपूर्वी का ज्ञान कारण होता है यह उभयमत सिद्ध है। ऐसी स्थिति में राजशब्द के पर्याय शब्द जैसे नृप, भूपति, अदि घटित आनुपूर्वी ज्ञान से हाने वाले अभेदान्वयबोध में व्यभिचारवारण के लिए उन आनुपूर्वीज्ञान का कार्यतावच्छेदककोटि में निवेश आवश्यक होने से, उसमें विषय का निवेश करना निष्प्रयोजन होगा तो उस कार्यतावच्छेदक के भेदान्वय साधारण होने से आनुपूर्वी ज्ञान की भेदान्वय बोध में कारणता अधिक नहीं होगी।

तात्पर्य यह है कि जैसे राजपुरूषः में राजसम्बन्धी में लक्षणा होने से राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरूषः इस होने वाले शाब्दबोध में उपर्युक्त आनुपूर्वी ज्ञान कारण होता है वैसे नृपतिः पुरूषः इस वाक्य से होने वाले अभेदान्वय बोध में भी उपर्युक्त नृपति पुरूष रूप आनुपूर्वी ज्ञान कारण होगा।इस प्रकार राजपुरूष इस आनुपूर्वी ज्ञान से होने वाले अभेदान्वय बोध में, नृपति पुरूषः इस अभेदान्वय प्रयोजक आनुपूर्वीज्ञान रूप कारण के न रहने से कारणाभावे कार्यम् इस व्यभिचार का वारण करने के लिए कार्यतावच्छेदक कोटि में उस आनुपूर्वीज्ञान का प्रवेश आवश्यक होगा अर्थात् राजपुरूष इस आनुपूर्वी ज्ञान से होने वाले राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरूषः इस अभेदान्वय बोध में राजपुरूष इस आनुपूर्वी का ज्ञान कारण होता है। नृपति पुरूष इस आनुपूर्वी ज्ञान के बाद होने वाले नृपतिसम्बन्ध्यभिन्नः पुरूषः इस अभेदान्वय बोध में नृपतिपुरूष इस आनुपूर्वी का ज्ञान कारण है, ऐसा पृथक् पृथक् कार्यकारणभाव मानना पड़ेगा। इस प्रकार शाब्दबोध रूप कार्य में रहने वाली कार्यता की अवच्छेदक कोटि में ("राजपुरूष" इत्यानुपूर्वीज्ञानोत्तर जायमानं शाब्दबोधं

प्रति" शाब्दबोध के विशेषण रूप में "राजपुरूष इति आनुपूर्वी ज्ञान" के प्रविष्ट होने से इस कार्यकारण भाव में; विषय का निवेश अर्थात् भेदान्वय या अभेदान्वय के निवेश का कोई प्रयोजन न होने से विषय का निवेश नहीं किया जायेगा। इसका अर्थ यह होगा कि कार्यकारणभाव का स्वरूप होगा "राजपुरूष"इत्यानुपूर्वीज्ञानोत्तरजायमानशाब्दबोधं प्रति "राजपुरूष" इत्यानुपूर्वीज्ञानं कारणम्" नृपतिपुरूष इत्यानुपूर्वीज्ञानोत्तरजायमानशाब्दबोधं प्रति, "नृपतिपुरूष" इत्यानुपूर्वीज्ञानं कारणम्। अब कार्यतावच्छेदक कुक्षि में प्रविष्ट आनुपूर्वीज्ञान रूप कारण भेदान्वय तथा अभेदान्वय उभय साधारण होगा। अर्थात् राजपुरूष इस आनुपूर्वीज्ञान के उत्तर में जो भी शाब्दबोध हो उसके प्रति उपर्युक्त आनुपूर्वी को जब कारण कह रहे हैं तो इस आनुपूर्वी ज्ञान के उत्तर में होने वाला शाब्दबोध चाहे भेदान्वयबोध हो या अभेदान्वयबोध दोनों के प्रति उसकी कारणता इस एक ही कथन से सिद्ध हो गयी, तो भेदान्वय बोध के लिए उपर्युक्त आनुपूर्वी में अधिक कारणता की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं। हाँ यदि कार्यकारणभाव में जैसे कार्यतावच्छेदक कुक्षि में आनुपूर्वीज्ञान का प्रवेश किया गया वैसे ही विषय का निवेश करते और कहते - राजपुरूष इत्यानुपूर्वीज्ञानोत्तरजायमानं "राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरूषः इति शाब्दबोधं प्रति राजपुरूष इत्यानुपूर्वीज्ञानं कारणम्, तथा राजपुरूष इति आनुपूर्वीज्ञानोत्तरं जायमानं स्वत्वसम्बन्धेन राजवान् पुरुषः इत्याकारक शाब्दवोधं प्रति राजपुरूष इत्यानुपूर्वी ज्ञानं कारणम्, ऐसे ही नृपति आदि आनुपूर्वी में भी तब। उपर्युक्त आनुपूर्वी में अधिक कारणता की कल्पना माननी पड़ती। हमने तो केवल कार्यशाब्दबोध का निवेश किया है उसके विषय भेदान्वय या अभेदान्वय का निवेश ही नहीं किया है। क्योंकि कोई आवश्यक नहीं। व्यभिचार का वारण तो कार्यतावच्छेदक कोटि में आनुपूर्वीज्ञान रूप कारण के अव्यवहितोत्तरत्व निवेश से ही हो गया। विषय का प्रवेश नहीं करने से कोई दोष तो आता नहीं। अतः उसका निवेश नहीं किया गया और जब भेदान्वय या अभेदान्वय रूप विषय का निवेश नहीं किया तो उपर्युक्त आनुपूर्वी ज्ञान के उत्तर में होने वाले दोनों प्रकार के शाब्दबोध के प्रति एक ही कारणता उपर्युक्त आनुपूर्वी ज्ञान में सिद्ध हो गयी अधिक नहीं।

एवं तण्डुलं पचतीत्यादावपि पाकादिरूपधात्वर्थे कर्मत्वादिसम्बन्धेन तण्डुलादेरन्वयबोधः स्वीकर्तुमुचितः। कर्मत्वस्य पाकाद्यंशे प्रकारत्वे तत्र तत्र द्वितीयादेः शक्तिकल्पने तादृशवाक्यजन्यशाब्दबोधे कर्मत्वादिसंसर्गस्याधिकस्य विषयताकल्पने गौरवात्। "तण्डुलं पचति" इत्यादिवाक्यजन्यशाब्दबोधसामग्रीबलात् "तण्डुलः पचती" त्यादावपि तथाविधान्वयबोधापत्तिस्तु न संभवति। तादृशान्वयबोधे द्वितीयान्त-

तण्डुलपदत्वावच्छिन्नधर्मिकपचतिपदसमभिव्याहारज्ञानस्य हेतुतया तण्डुलः पचतीत्यादौ तादृशसामग्र्या अप्रसिद्धेः।

संसर्गतावादी दो प्रातिपदिकार्थों का भेदान्वयबोध उपर्युक्त पदसमभिव्याहार रूप आकाँक्षा को कारण मानकर उपपन्न करते हुए अपने ऊपर आये कारणताधिककल्पनापत्तिरूप दोष का परिहार करके अव प्रातिपदिकार्थ और धात्वर्थ के भेदसम्बन्ध को भी उपपन्न करने जा रहा है - एवम् इत्यादि से। तात्पर्य यह है कि - उपर्युक्त रीति से "तुण्डुलं पचति" यहाँ भी तण्डुल पदोत्तर अम् विभक्ति का कर्मत्व अर्थ मानकर उसमें तण्डुल का और पश्चात् तण्डुलान्वितकर्मत्व का धात्वर्थ में अन्वय करने की अपेक्षा (परम्परया अन्वय करने की अपेक्षा) कर्मत्व सम्बन्ध से तण्डुल रूप प्रातिपदिकार्थ का साक्षात् पच् धात्वर्थ में ही अन्वय "कर्मत्व सम्बन्धेन तण्डुलवान् पाकः" ऐसा ही करना उचित है। क्योंकि यदि तण्डुलपदोत्तर आयी अम् विभक्ति का अर्थ कर्मत्व मानें और उस कर्मत्व को धात्वर्थ पाक अंश में विशेषण मानें तो द्वितीयादि विभक्तियों की शक्ति कर्मत्व आदि अर्थ में माननी पड़ेगी। इस प्रकार तण्डुलं पचति इस वाक्य से होने वाले "तण्डुल निरूपित कर्मत्ववान् पाकः" इस शाब्दबोध की विषयता कर्मत्व के संसर्ग में भी अधिक माननी पड़ेगी। तात्पर्य यह है कि संसर्गतावादियों के अनुसार "तण्डुलं पचति" इस वाक्य से "स्वत्वसम्बन्धेन तण्डुलवान् पाकः" ऐसा शाब्दबोध मानते हैं तो इस शाब्दबोध की विषयता पाक में विशेष्यता रूपा, तण्डुल में प्रकारता रूपा तथा तण्डुल और पाक के भेद सम्बन्ध कर्मत्व में संसर्गता रूपा तीन ही विषयताएँ माननी पड़ती है। प्रकारतावादियों के अनुसार तण्डुलं पचति में अम् विभक्ति का अर्थ कर्मत्व मानकर उसे यदि धात्वर्थ में विशेषण मानें और तण्डुल निरूपित कर्मत्ववान् पाकः" ऐसा शाब्दबोध मानें तो तण्डुल, पाक, और कर्मत्व इन तीनों में रहने वाली विषयता तो शाब्दबोध में भासित होगी हीं, साथ में कर्मत्व रूप विशेषण तथा पाक रूप विशेष्य का जो संसर्ग होगा उसमें रहने वाली संसर्गताख्याविषयता तथा तण्डुल रूप विशेषण और कर्मत्व रूप विशेष्य को निरूपितत्व रूप सम्बन्ध में रहने वाली संसर्गता रूपा विषयता भी माननी पड़ेगी। इस तरह संसर्गतावाद के अनुसार शाब्दबोध की केवल तीन विषयताएँ माननी पड़ती हैं, जबकि प्रकारतावाद में पाँच विषयताएँ माननी पड़ेंगी। यह गौरव होगा।

यदि प्रकारतावादी कहे कि विभक्ति का अर्थ न मानकर तण्डुलं पचति में कर्मत्व रूप भेद सम्बन्ध से तण्डुल का पाक में अन्वय हो सकता है तो तण्डुलः पचति में भी हो सकता है। क्योंकि विभक्तियों का अर्थ तो मानते नहीं तो जिस सामग्री के बल से तण्डुलं पचति इस वाक्य से कर्मत्व सम्बन्धेन तण्डुलवान् पाकः ऐसा शाब्दबोध होता है, उन्हीं सामग्रियों से "तण्डुलः पचति" इस वाक्य से भी उपर्युक्त शाब्दबोध क्यों नहीं होगा? अर्थात् अवश्य हो सकता है। संसर्गतावादी कहता है कि नहीं "तण्डुलं पचति" यहाँ की सामग्री के बल पर तण्डुलः पचति

में उपर्युक्तभेदान्वय की आपत्ति नहीं दे सकते। क्योंकि तण्डुलं पचति में उपर्युक्तभेदान्वय की प्रयोजक सामग्री "द्वितीयान्त तण्डुलपदत्वावच्छिन्न धर्मिकपचति पद समभिव्याहार ज्ञान अर्थात् "तण्डुलं पचति" यह समभिव्याहार ज्ञान है, जो कि तण्डुलः पचति में नहीं है, वहाँ द्वितीयान्त तण्डुलपद ही नहीं है तो उपर्युक्त भेदान्वय की सामग्री कैसे रहेगी और कैसे कर्मत्व सम्बन्धेन तण्डुलवान् पाकः यह शाब्दबोध हो पाएगा।

अतः विभक्ति का अर्थ मानने में शक्ति की कल्पना तथा शाब्दबोध की अधिक विषयताओं की कल्पना करने से गौरव होने के कारण संसर्गतावाद ही लाघवमूलक होने से आदरणीय है।

एवं पचति. चैत्रः इत्यादावपि कृतिसम्बन्धेन पाकादेश्चैत्राद्यंशेऽन्वयबोधस्वीकार उचितः। अन्यथोक्तरीत्या गौरवात्। तत्र तादृशान्वयबोधस्वीकारे तत्स्थलीयसामग्रीबलात् पच्यते चैत्रः, पाकः चैत्रः इत्यादौ तथाविधान्वयबोधापत्तेरप्युक्तरीत्यैववारणसंभवात्।

इसी प्रकार पचति चैत्रः यहाँ भी ति पद की कृति अर्थ में शक्ति मानने की अपेक्षा, कृति सम्बन्ध से धात्वर्थ पाक का प्रातिपदिकार्थ चैत्र में अन्वय स्वीकार करना ही उचित है। अन्यथा पूर्वोक्त रीति से गौरव होगा। अर्थात् संसर्गतावाद केअनुसार यदि "कृति सम्बन्धेन पाकवाँश्चैत्रः" ऐसा अन्वयबोध न स्वीकार करके, पचति में ति पद का कृति अर्थ स्वीकार करें और उसको चैत्र में विशेषण मानकर "पाकानुकूलकृतिमाँश्चैत्रः" ऐसा शाब्दबोध मानें तो, एक तो ति पद की कृति अर्थ में शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी दूसरी बात यह होगी शाब्दबोध की विषयता भी पाक, चैत्र तथा कृति के अतिरिक्तपाक तथा कृति के सम्बन्ध अनुकूलत्व में तथा कृति तथा चैत्र के सम्बन्ध समवाय में दो संसर्गता रूप विषयता अतिरिक्त माननी पड़ेगी। इस प्रकार गौरव होगा। जबकि संसर्गतावाद में तीन ही विषयताएँ माननी होती हैं और विभक्ति की शक्ति भी नहीं माननी पड़ती। यह लाघव है। चैत्रः पचति में यदि संसर्गतावाद केअनुसार "कृतिसम्बन्धेन पाकवाँश्चैत्रः" ऐसा शाब्दबोध मानते हैं तो इस शाब्दबोध की आपत्ति चैत्रः पचति इस स्थल की सामग्री के बल से पच्यते चैत्रः या पाकः चैत्रः में नहीं दे सकते। क्योंकि चैत्रः पचति में उपर्युक्त शाब्दबोध की प्रयोजक सामग्री है शप्विकरणविशिष्टतिबन्तपच् धातुसमभिव्याहृत प्रथमान्त चैत्रपदत्व जो कि न ही पच्यते चैत्रः में है और न ही पाकः चैत्रः में। अतः इन दोनों स्थलों में "कृतिसम्बन्धेन पाकवाँश्चैत्र" इस शाब्दबोध की आपत्ति नहीं दी जा सकती। अतः संसर्गतावाद के अनुसार कृति सम्बन्ध से प्रातिपदिकार्थ का धात्वर्थ में साक्षात् अन्वय ही उचित है।

मैवम्। राज्ञः पुरूष इत्यादौ षष्ठ्यादेः स्वत्वादिवाचकत्वमावश्यकम्। अन्यथा पुरूषो न राज्ञ इत्यादौ पुरूषे

राजस्वत्वाभावबोधानुपपत्तेः। न हि तत्र स्वत्वादिसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक राजाद्यभाव एव प्रतीयते, न तु राजस्वत्वाद्यभाव इति संभवति। स्वत्वसम्बन्धस्य वृत्त्यनियामकतया प्रतियोगितानवच्छेदकत्वेन तत् सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाप्रसिद्धेः।

संसर्गतावादी के द्वारा उपर्युक्त लाघव प्रदर्शनपूर्वक विभक्ति का अर्थ नहीं मानना चाहिए इस बात को कह दिये जाने पर, भट्टाचार्य प्रकारतावाद का समर्थन करते हुए कहते हैं मैवम् इत्यादि।

राज्ञः पुरूषः इत्यादि स्थल में षष्ठी विभक्ति का स्वत्वादिवाचकत्व मानना आवश्यक है।अर्थात् राजन् पदोत्तर आयी षष्ठी विभक्ति में "स्वत्व" अर्थ की शक्ति मानना आवश्यक है अन्यथा यदि षष्ठी विभक्ति का अर्थ स्वत्व नहीं मानोगे प्रत्युत उसका संसर्गतया शाब्दबोध में भान मानोगे तो "पुरूषो न राज्ञः" इत्यादि नञ् घटित स्थल में पुरूष में राजस्वत्व के अभाव का जो बोध होता है, वह अनुपपन्न हो जाएगा। "पुरूषो न राज्ञः" यहाँ पर स्वत्व सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक राजाभाव अर्थात् स्वत्व सम्बन्ध से राजा का अभाव ही पुरूष में भासित होता है, राजस्वत्व का अभाव पुरूष में भासित नहीं होता, ऐसा कहना या मानना संभव नहीं है। अपितु स्वत्व सम्बन्ध के वृत्यनियामक सम्बन्ध होने से तथा वृत्त्यनियामक सम्बन्ध के प्रतियोगितावच्छेदक न होने से पुरूषो न राज्ञः यहाँ पर संसर्गतावादियों का अभिमत "स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्न् प्रतियोगिताक राजाभाव के अप्रसिद्ध होने से तादृश अभाववान् पुरूषः यह शाब्दबोध ही नहीं हो पाएगा।

अत एव स्वामित्वादिकं परित्यज्य स्वत्वादेः षष्ठ्यर्थत्वं नवीनाः स्वीकुर्वन्ति। स्वामित्वादेः षष्ठ्यर्थत्वे तस्य निरूपकतासम्बन्धेन पुरूषांशेऽन्वयसंभवेऽपि तादृशसम्बन्धस्य वृत्यनियामकतया संसर्गाभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वेन तत्सम्बन्धावच्छिन्नाभावस्य नञा प्रतिपादनासंभवात्। आश्रयतासम्बन्धावच्छिन्नाभावबोधस्यैतादृश समभिव्याहारस्थलेऽभ्युपगमे चैत्रादिसम्बन्धिनि धनेऽपि आश्रयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकचैत्रवृत्तिस्वामित्वाभावसत्वान्नेदं चैत्रस्येति प्रयोगापत्तिः।

वृत्यनियामक सम्बन्ध अभावीय प्रतियोगिता (प्रागभाव - प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता) का अवच्छेदक नहीं माना जाता है। अतएव नवीनों ने षष्ठी विभक्ति का अर्थ उपर्युक्त स्थल में "स्वामित्व" नहीं मानकर "स्वत्व" को माना है। क्योंकि राज्ञः पुरूषः यहाँ पर राजन्पदोत्तर आयी षष्ठी विभक्ति का अर्थ यदि स्वामित्व माना जाए तो, उस षष्ठ्यर्थ = स्वामित्व का विशेषणतया निरूपकता सम्बन्ध से पुरूष में अन्वय यद्यपि संभव है और निरूपकता सम्बन्धेन राजनिष्ठस्वामित्ववान् पुरुषः ऐसा शाब्दबोध हो सकता है। तथापि प्रतियोग्यभावान्वयौ

तुल्ययोगक्षेमौ" इस नियम के अनुसार "राज्ञो न पुरूषः" ऐसे नञ् घटितस्थल में नञ् के द्वारा निरूपकता सम्बन्धावच्छिन्नस्वामित्वाभाव का बोध कराना यद्यपि उचित है तथापि नञ् निरूपकता सम्बन्धावच्छिन्न अभाव का बोध नहीं करा पएगा क्योंकि "निरूपकता" वृत्त्यनियामक सम्बन्ध है। अतः नवीनों ने राज्ञः पुरूषः में स्वत्व को षष्ठ्यर्थ माना और राजनिरूपितस्वत्ववान् पुरूषः" ऐसा शाब्दबोध माना। अब इस सम्बन्ध में षष्ठ्यर्थ स्वत्व आश्रयता सम्बन्ध से पुरूष में विशेषण है, क्योंकि स्वत्व का आश्रय पुरूष है, तो "राज्ञो न पुरूषः" यहाँ पर राजनिरूपितस्वत्व का आश्रयत्वसम्बन्धावच्छिन्नाभाव नञ् के द्वारा बोधित होता है "आश्रयत्व सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक राज निरूपितस्वत्वाभाववान् पुरूषः"। इस पर यदि कोई कहे कि षष्ठ्यर्थ को स्वामित्व मानने पर भी राज्ञो न पुरूषइस नञ् घटित स्थल में नञ् के द्वारा आश्रयत्व सम्बन्ध से ही स्वामित्व का अभाव बोधित होना मानेंगे। तो भट्टाचार्य इस पर आपत्ति देते हैं कि तब जहाँ चैत्र के पास धन है अर्थात् चैत्र धनी है वहाँ भी चैत्रनिष्ठ स्वामित्व का आश्रयता सम्बन्ध से धन में अभाव के रहने से चैत्रस्य नेदं यह प्रयोग होने लगेगा। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि तादात्म्य सम्बन्ध भी वृत्यनियामक सम्बन्ध है तथापि वह अन्योन्याभावीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है। अतएव भट्टाचार्य ने कहा "तादृश सम्बन्धस्य वृत्यनियामाकतया संसर्गाभाव प्रतियोगितानवच्छेदकतया" अर्थात् वृत्यनियामक सम्बन्ध अन्योन्याभावीय प्रतियोगिता का भले ही अवच्छेदक होवे परन्तु वह संसर्गाभावीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक तो नहीं होता है। "राज्ञो न पुरूषः" नेदं चैत्रस्य" इत्यादिस्थल में तो नञ् का अर्थ अत्यन्ताभाव रूप संसर्गाभाव है। अतः इस अत्यन्ताभावीयप्रतियोगिता का अवच्छेदक वृत्यनियामक निरूपकता आदि सम्बन्ध नहीं होगा।

इस प्रकार राज्ञः पुरूषः इत्यादि स्थल में षष्ठ्यर्थ स्वामित्व को नहीं माना जा सकता। अतः नवीनों ने षष्ठ्यर्थ स्वत्व को माना है। उस स्वत्व का भान आप यदि संसर्गविधया मानेगें तो स्वत्व सम्बन्ध के भी वृत्यनियामक होने से स्वत्व सम्बन्धावच्छिन्नाभाव के अप्रसिद्ध होने से पुरूषो न राज्ञः इस स्थल में नञ् के द्वारा स्वत्व सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव का बोध नहीं हो पाएगा। अतः स्वत्व को षष्ठ्यर्थ प्रकार ही मानों सम्बन्ध नहीं।

न च नञ्समभिव्याहारस्थलानुरोधेन षष्ठ्यादेः स्वत्वादिवाचकत्वेऽपि राज्ञः पुरूषः इत्यादौ षष्ठ्यर्थस्य संसर्गमर्यादया भानमुचितम्। तस्य प्रकारत्वोपगमे तत्सम्बन्धस्याधिकस्य भानकल्पने गौरवात्। नञ्समभिव्याहारस्यैव तत्प्रकारकबोधनियामकत्वाभ्युपगमेन सामग्रीविरहात् तत्प्रकारकबोधस्य तदसमभिव्याहारस्थलेऽसंभवादिति वाच्यम्? एवं सति नञ् पदं विना यादृशसमभिव्याहारस्थले यत्र धर्मिणि येन सम्बन्धेन यस्य

विशेषणतयाभानम्, तत्र नञ् समभिव्याहरे तत्र धर्मिणि तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतदभावः प्रतीयते इति सर्वजनानुभव-स्यापलापापत्तेः। राज्ञः पुरूषः इति वाक्यजन्याप्रामाण्य-ज्ञानानास्कन्दितबोधदशायांपुरूषो न राज्ञः इति वाक्यादपि शाब्दबोधापत्तेः, स्वत्वाभावबुद्धौ स्वत्वसंसर्गकज्ञानस्य विरोधित्वे मानाभावात्।

संसर्गतावादी पुनः आशङ्का करता है कि नञ् समभिव्याहार जहाँ रहता है, उन्हीं पुरूषों न राज्ञः इत्यादि स्थलों के अनुरोध से षष्ठी का अर्थ स्वत्व मानना आवश्यक है, क्योंकि उसे नञ् समभिव्याहारस्थल में सम्बन्ध मानने पर उससे अवच्छिन्न प्रतियोगिता के अप्रसिद्ध हो जाने से अभाव का बोध नहीं होता। इसलिए ऐसा मान लीजिए कि जहाँ पर नञ् पद का समभिव्याहार होता है वहीं पर षष्ठी स्वत्व अर्थ का वाचक होती है, परन्तु जहाँ नञ् का समभिव्याहार नहीं रहता, जैसे राज्ञः पुरूषः में, तो ऐसे स्थलों पर स्वत्व षष्ठ्यर्थ नहीं अर्थात् प्रकार नहीं, अपितु उसको संसर्ग ही मान लिया जाय और शाब्दबोध में संसर्ग रूप उस स्वत्व का संसर्गमर्यादा अर्थात् आकाँक्षा से ही भासित होना मान लीजिए। क्योंकि यदि नञ् का समभिव्याहार जहाँ नहीं है वहाँ भी स्वत्व को षष्ठ्यर्थ मानकर उसे प्रकार माना जाएगा तो वह स्वत्व रूप प्रकार (विशेषण) किसी सम्बन्ध से विशेष्य में अन्वित होगा तो शाब्दबोध में राजपदार्थ, तथा स्वत्व पदार्थ एवं इन दोनों का सम्बन्ध तथा स्वत्व पदार्थ (विशेषण) तथा पुरूष (विशेष्य) तथा इन दोनों के सम्बन्ध का भी भान शाब्दबोध में मानना पड़ेगा। इस तरह स्वत्व के सम्बन्ध रूप अधिक विपय के भान की कल्पना करनी पड़ेगी तो गौरव होगा। संसर्गतावादी अपनी बात में युक्ति देते हुए कहता है कि स्वत्व प्रकारक बोध का नियामक नञ् समभिव्याहार को ही मानेगें क्योंकि नञ् रहने पर ही "स्वत्व" प्रकार रूप से अभाव रूप विशेष्य में भासित होता है। अतः स्वत्व के प्रकार रूप से भासित होने में नञ् पद का प्रयोग आवश्यक है इसलिए जहाँ पर नञ् पद का समभिव्याहार नहीं है जैसे राज्ञः पुरूषः यहाँ पर। तो ऐसे स्थल में स्वत्व के प्रकार रूप से बोधित होने की सामग्री नञ् पद समभिव्याहार ही नहीं रहती। अतः ऐसे स्थल में स्वत्व का प्रकार रूप से भासित होना ही असंभव है। इसलिए नञ् से असमभिव्याहृत "राज्ञः पुरूषः" इत्यादि स्थल में स्वत्व को संसर्ग मानना ही उचित है।

भट्टाचार्य संसर्गतावादी के उपर्युक्त कथन पर आपत्ति करते हैं कि - यदि इस प्रकार से नञ् युक्त स्थल में स्वत्व को षष्ठ्यर्थ मानकर प्रकार माना जाएगा और नञ् जहाँ नहीं हो वहाँ स्वत्व को संसर्ग माना जाएगा तो "नञ् पद के बिना जिन पदों के समभिव्याहार रहने पर, जिस धर्मी में, जिस सम्बन्ध से, जिसका विशेषण रूप से भान होता है, उन्हीं पदों के समभिव्याहार स्थल में नञ् पद के

समभिव्याहार होने पर, उसी धर्मी में, उसी सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाले उसी वस्तु का अभाव प्रतीत होता है। यह जो सर्वानुभवसिद्ध नियम है इसका अपलाप होने लगेगा। इस नियम की व्याख्या उदाहरण द्वारा पूर्व में की जा चुकी है। उक्त नियम का अपलाप इसलिए होने लगेगा क्योंकि जब नञ् का समभिव्याहार नहीं रहेगा तब राज्ञः पुरूषः इस वाक्य से "स्वत्व सम्बन्ध से राज पदार्थ विशेषण रूप से पुरूष में भासित होगा" और जब नञ् का समभिव्याहार रहेगा तो "पुरूषो न राज्ञः" इस वाक्य से उसी विशेष्य पुरूष में आश्रयता सम्बन्ध से स्वत्व का अभाव बोधित होगा। उपर्युक्त नियमानुसार तो राजपदार्थ रूप विशेषण का ही अभाव पुरूष में बोधित होना चाहिए था स्वत्व सम्बन्ध से। इस तरह उपर्युक्त नियम का अपलाप होने लगेगा यदि एक ही स्वत्व को अभावस्थल में प्रकार और विधि स्थल में संसर्ग मानोगे तो। दूसरी आपत्ति यह भी होगी कि "राज्ञः पुरूषः" इस वाक्य से अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित "स्वत्वसम्बन्धेन राजवान् पुरूषः" ऐसा शाव्दबोध होने पर भी "पुरूषो न राज्ञः" इस वाक्य से भी शाव्दबोध होने लगेगा। क्योंकि राज्ञः पुरूषः इस वाक्य से जो बोध हुआ उसमें स्वत्व सम्बन्ध से राज पदार्थ विशेषण रूप से पुरूष में भासित हो रहा है जबकि "पुरूषो न राज्ञः" इस वाक्य से आश्रयता सम्बन्ध से स्वत्व का अभाव बोधित हो रहा है अर्थात् राज्ञः पुरूषः में स्वत्व संसर्गक ज्ञान होता है अर्थात् उस ज्ञान में स्वत्व संसर्ग रूप से भासित हो रहा है जबकि दूसरे वाक्य से होने वाला ज्ञान स्वत्वाभाव प्रकारक ज्ञान है अर्थात् दूसरे ज्ञान में "स्वत्वाभाव" विशेषणरूप में भासित होता है। इस प्रकार दोनों ज्ञानों में विरोध न होने से दोनों ज्ञान एक साथ हो सकते हैं। क्योंकि स्वत्व संसर्गक ज्ञान स्वत्वाभावप्रकारक ज्ञान का विरोधी नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि - तत् सम्बन्धेन तद्वत्ता बुद्धि के प्रति, तेन सम्बन्धेन तदभाववत्ता बुद्धि विरूद्ध होने से प्रतिबन्धक होती है। जैसे "पर्वतः संयोगेन वह्निमान्" यहाँ पर पर्वत में संयोग सम्बन्ध से वह्निमत्ता बुद्धि हो रही है तो यह संयोगेन पर्वत में वह्निमत्ता निश्चय जिस पुरूष को होगा उसी पुरूष को उसी पर्वत में संयोगेन वहन्यभाववत्ता बुद्धि अर्थात् "पर्वतः संयोगेन वहन्यभाववान्" ऐसी बुद्धि नहीं हो सकती। परन्तु जिसे पर्वतः संयोगेन वह्निमान यह निश्चय है उसे भी पर्वतः समवायेन वहन्यभाववान्" यह बुद्धि हो सकती है। क्योंकि संयोगेन वह्निमत्ता बुद्धि का समवायेन वहन्यभाववत्ता बुद्धि के साथ कोई विरोध नहीं। इसी प्रकार पर्वत में संयोगेन वह्निमत्ता बुद्धि के रहने पर भी व्यक्ति को उसी पर्वत में संयोगेन जलाभाववान्" यह बुद्धि भी हो सकती है क्योंकि संयोगेन वह्निमत्ता बुद्धि का संयोगेन जलाभाववत्ता बुद्धि के साथ कोई विरोध नहीं है। प्रकृत में राज्ञः पुरूष से पुरूष में स्वत्व सम्बन्ध से राजवत्ता बुद्धि यदि है भी तो उसी पुरूष में आश्रयता सम्बन्ध से स्वत्वाभाववत्ता बुद्धि क्यों नहीं होगी। क्योंकि राज पदार्थ का स्वत्वाभाव के साथ कोई विरोध नहीं है। राजा का विरोध राजाभाव के साथ,

तथा स्वत्वाभाव का विरोध स्वत्व के साथ होगा। राजा का और स्वत्वाभाव का कोई विरोध तो है नहीं। हाँ! यह भ्रम यहाँ हो सकता है कि राज्ञः पुरूषः में भी तो स्वत्व विषय रूप में भासित हो रहा है और उस स्वत्व का स्वत्वाभाव के साथ तो विरोध है जो कि पुरूषो न राज्ञः में विषय रूप से भासित हो रहा है। इस प्रकार दोनों ज्ञानों में विरूद्ध विषय होने से एक साथ दोनों ज्ञान कैसे होंगे। तो यह ध्यान रखिये कि राज्ञः पुरूप में स्वत्व प्रकार रूप से आपके मतानुसार भासित नहीं हो रहा है, अपितु संसर्ग रूप में हाँ यदि वह प्रकार रूप में भासित होता तो उसका अभाव प्रकार रूप में उसका विरोधी होता। संसर्ग रूप में भासित होने वाले स्वत्व का प्रकार रूप से भासित होने वाले स्वत्वाभाव के साथ तो कोई विरोध ही नहीं। अतः राज्ञः पुरूषः से स्वत्व संसर्गक राजप्रकारक पुरूष विशेष्यक अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित बोध होने पर भी "पुरूषो न राज्ञः" इस वाक्य से भी बोध होने लगेगा यह आपत्ति आएगी। अतः राज्ञः पुरूषः में भी षष्ठी का अर्थ स्वत्व मानकर उसे प्रकार ही मानो। तब राज्ञः पुरूषः में चूँकि बोध स्वत्व प्रकारक होगा तो जिस व्यक्ति को स्वत्व प्रकारक पुरूष विशेष्यक ज्ञान रहेगा उसे ही स्वत्वाभाव प्रकारक पुरूप विशेष्यक ज्ञान (विरोधी ज्ञान होने से) नहीं हो सकता। अतः एक ही व्यक्ति को राज्ञः पुरूषः और राज्ञः न पुरूषः इन दोनों वाक्यों से शाब्दबोध नहीं होगा।

वृत्यनियामकसम्बन्धस्याभावप्रतियोगितावच्छेंदकत्वेऽपि राज्ञः पुरूषः इत्यादौ राजस्वत्वादेः प्रकारताभ्युपगमः समुचितः। अन्यथा तादृशसमभिव्याहारज्ञानघटितसामग्रीकाले राजस्वत्वाभाववान् पुरूषः सुन्दर इत्याकारकविशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिप्रत्यक्षवारणाय तत्र तादृशसामग्रयाः प्रतिबन्धकताकल्पनाधिक्येन गौरवात्। अस्मन्मते तादृशसमभिव्याहार-घटितसामग्र्या राजस्वत्वाभाववान् पुरूष इत्यादि बाधाभावघटिततया तत्सत्त्वे विशेष्यतावच्छेदकादिप्रकारकनिश्चयरूपकारणविरहादेव तथाविधविशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिप्रत्यक्षोत्पत्त्यसंभवेन तादृशसामग्र्यास्तत्र प्रतिबन्धकत्वस्याकल्पनात्।

गदाधर भट्टाचार्य अब अभ्युपगमवाद से वृत्यनियामक सम्बन्ध को भी प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानकर षष्ठी विभक्ति का अर्थ स्वत्व को मानना आवश्यक है, इस बात को कहने जा रहे हैं - तात्पर्य यह है कि - वृत्यनियामक सम्बन्ध भी कहीं कहीं प्रतियोगितावच्छेदक माने जाते हैं - जैसे - पारिमाण्डल्यान्न घटः यहाँ पर पारिमाण्डल्य पदोत्तर पञ्चमी विभक्ति का अर्थ जन्यत्व मानकर उसके अभाव को यदि घट में विशेषण बनाएँ तो उपर्युक्त वाक्य से शाब्दबोध "पारिमाण्डल्यनिरूपितजन्यत्वाभाववान् घटः" ऐसा मानना पड़ेगा; जो कि होता नहीं है। क्योंकि पारिमाण्डल्य (अणु परिमाण) किसी का कारण नहीं होता पारिमाण्डल्य

भिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम्" के अनुसार। इस प्रकार पारिमाण्डल्य के कारण नहीं होने से, उससे निरूपितजन्यता ही जब अप्रसिद्ध है, तो उसका अभाव तो सुतराम् अप्रसिद्ध होगा। क्योंकि अभाव उसी वस्तु का होता है जो स्वंय प्रसिद्ध हो। अस्तु इस प्रकार पारिमाण्डल्यनिरूपितजन्यत्वाभाव चूँकि अप्रसिद्ध प्रतियोगिक अभाव होगा इसलिए वह घट में विशेषण नहीं हो सकता। अतः उपर्युक्त वाक्य से पारिमाण्डल्य निरूपित जन्यत्वाभाव प्रकारक शाब्दबोध नहीं माना जाता अपितु वहाँ जन्यत्वसम्बन्ध से पारिमाण्डल्याभाव घट में विशेषण रूप से भासित होता है और "जन्यत्वसम्बन्धेन पारिमाण्डल्याभाववान् घटः" ऐसा बोध होता है। यहाँ इस बोध में विशेषण रूप से भासित होने वाला पारिमाण्डल्याभाव की प्रतियोगिता जो कि पारिमाण्डल्य में रहती है वृत्यनियामक "जन्यत्व" सम्बन्ध से जैसे अवच्छिन्न मानी जाती है, वैसे ही अन्यत्र स्थल में भी वृत्यनियामक सम्बन्ध को यदि प्रतियोगितावच्छेदक मान भी लिया जाए तव भी "राज्ञः पुरूष" इत्यादि स्थल में राजस्वत्व का भान प्रकारतया ही मानना उचित है। अन्यथा राज्ञः पुरूषः में यदि स्वत्व को प्रकार नहीं मानकर उसे सम्बन्ध मानकर राजपदार्थ को पुरूष में विशेषण मानोगे तो जिस समय राज्ञः पुरूषः इस प्रकार की समभिव्याहार ज्ञान घटित सामग्री रहेगी उस समय "राजस्वत्वाभाववान् पुरूषः सुन्दरः" इत्याकारक विशिष्टवैशिष्टयावगाही प्रत्यक्ष ज्ञान का वारण करने के लिए उस राज्ञः पुरूषः इस समभिव्याहार रूप शाब्दबोध सामग्री में प्रतिबन्धकता माननी पड़ेगी यह गौरव होगा।

प्रकारतावादी के कहने का अभिप्राय यह है कि

जहाँ प्रत्यक्षज्ञान का विषय तथा शाब्दबोध का विषय समान हो वहाँ पर प्रत्यक्षज्ञान की सामग्री बलवती होती है, अतः वहाँ प्रत्यक्षज्ञान ही होता है परन्तु जहाँ प्रत्यक्षज्ञान का विषय भिन्न हो और शाब्दवोध का विषय भी भिन्न हो वैसे स्थल में भी यदि प्रत्यक्ष सामग्री ही बलवती मानी जाएगी, तो शाब्दबोध का होना ही असम्भव हो जाएगा। अतः ऐसें भिन्न विषयक स्थल में शाब्दबोध की सामग्री ही प्रवल होती है और शाब्दवोध ही होता है। इस प्रकार भिन्न विषयक प्रत्यक्ष सामग्री से भिन्न विषयक शाब्दबोध सामग्री के प्रबल होने के कारण भिन्नविषयक प्रत्यक्ष का भिन्नविषयक शाब्दवोध प्रतिबन्धक माना जाता है। ऐसी स्थिति में राज्ञः पुरूषः इस समभिव्याहार ज्ञान से घटित शाब्दबोध की सामग्री का विषय तथा राजस्वत्वाभाववान् पुरूषः सुन्दरः इस विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्षज्ञान का विषय चूँकि भिन्न-भिन्न होगा संसर्गतावादियों के अनुसार; तो एक समय भिन्नविषयक शाब्दबोध सामग्री और प्रत्यक्ष सामग्री के उपस्थित होने पर राजस्वत्वाभाववान् पुरूषः सुन्दरः ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान न हो, इसके लिए राज्ञः पुरूषः इस समभिव्याहार ज्ञान रूप शाब्द सामग्री में प्रतिबन्धकता माननी पड़ेगी। यह गौरव होगा। तब प्रश्न उठेगा कि यदि स्वत्व का भान संसर्गविधया मानें तो राज्ञः पुरूषः तथा राजस्वत्वाभाववान् पुरूपः सुन्दरः इन दोनों ज्ञान का विषय भिन्न

हो जाने से राज्ञः पुरूषः इस शाब्दबोध सामग्री में प्रतिबन्धकता माननी पड़ेगी, परन्तु यह प्रतिबन्धकता तो राज्ञः पुरूषः में स्वत्व को षष्ठ्यर्थ मानकर प्रकार मानने पर भी तो माननी ही पड़ेगी? इस आशंका का समाधान करने के लिए भट्टाचार्य अपने मत में लाघव दिखा रहे हैं कि - हमारे मत में उपर्युक्त राज्ञः पुरूषः इस समभिव्याहार ज्ञान में प्रतिबन्धकता मानने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। क्योंकि प्रतिबन्धकता तो तब माननी पड़ती जब प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करने वाली सामग्री तथा शाब्दबोध को उत्पन्न करने वाली सामग्री दोनों उपस्थित हों सम्पन्न हो, परन्तु यदि प्रत्यक्ष ज्ञान की सामग्री ही उपस्थित न हो तो प्रत्यक्ष ज्ञान होने की सम्भावना ही नहीं रहेगी तो पुनः ऐसे असम्भावित प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रतिबन्धकता किसी शाब्दबोध सामग्री में मानने की क्या आवश्यकता? अर्थात् कोई नहीं। प्रकृत में भी "राज्ञः पुरूषः" में जब हम षष्ठी का अर्थ स्वत्व को मानते हैं और उसे प्रकार मानते है तो स्वत्व रूप प्रकार तथा पुरूष रूप विशेष्य के अन्वयबोध रूप शाब्दबोध के लिए जो सामग्री होगी वह सामग्री जैसे राज्ञः पुरूषः इस समभिव्याहार ज्ञान से घटित होगी वैसे ही स्वत्व प्रकारक पुरूष विशेष्यक योग्यता ज्ञान से भी घटित होगी। योग्यता कहते हैं बाधाभाव को तो स्वत्व का पुरूष के साथ अन्वित होने में बाधज्ञान हो सकता है स्वत्वाभाववान् पुरूष यह ज्ञान, इसी स्वात्वाभाव रूप बाध का अभाव है "स्वत्व"। इस प्रकार स्वत्व प्रकारक योग्यताज्ञान, "स्वत्वाभाववान्" इस बाधज्ञान का अभाव रूप होने से शाब्दबोध सामग्री ज्ञान स्वत्वाभावाभाव रूप स्वत्व प्रकारक योग्यता ज्ञान के रहते स्वत्वाभाव प्रकारक प्रत्यक्ष अर्थात् स्वत्वाभाववान् पुरुषः ऐसा विशिष्ट ज्ञान होना ही संभव नहीं तो "राज्ञः पुरूष" इस पदसमभिव्याहार में उपर्युक्त स्वत्वाभाववान् पुरूष सुन्दरः इस प्रत्यक्षज्ञान की प्रतिबन्धकता मानने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान की सामग्री होती है विशेष्यतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान।

स्वत्वाभाववान् पुरूषः सुन्दरः इस विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष में विशेष्य है पुरूष, विशेष्यता रहेगी पुरूष में, उस विशेष्यता का अवच्छेदक होगा पुरूष में विशेषण रूप से भासित होने वाला "स्वत्वाभाव"। एवं च जब राजनिरूपितस्वत्ववान् पुंरूषः इस शाब्दबोध की सामग्री योग्यताज्ञान स्वत्व घटित है अर्थात् स्वत्वाभावाभाव घटित है। इस प्रकार जिसको स्वत्वाभावाभाव प्रकारक ज्ञान होगा उसे स्वत्वाभावप्रकारक ज्ञान कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं होगा, तो जब स्वत्वाभाव प्रकारक ज्ञान नहीं हुआ अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान की सामग्री विशेष्यतावच्छेदक प्रकारक ज्ञान नहीं रहा। इस प्रकार सामग्री के नहीं होने से प्रत्यक्ष ज्ञान होने की तो वहाँ स्थिति ही नहीं रहेगी पुनः राज्ञः पुरूषः इस समभिव्याहार ज्ञान में प्रतिबन्धकता मानने की क्या आवश्यकता? कोई नहीं। अतः प्रकारतावाद मत में उपर्युक्त समभिव्याहार ज्ञान में प्रतिबन्धकता नहीं माननी पड़ती। यह लाघव है। अब पङ्क्त्यर्थ पर ध्यान दें - वृत्यनियामक सम्बन्धस्य = वृत्तिता के अनियामक सम्बन्ध को,

अभाव प्रतियोगितावच्छेदकत्वेऽपि = संसर्गाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानने पर भी, "राज्ञः पुरूषः" इत्यादौ = इत्यादि स्थल में, राजस्वत्वादेः = राजस्वत्व आदि की, प्रकारताभ्युपगमः = प्रकारता स्वीकार करना, समुचितः = उचित है। अन्यथा = यदि स्वत्व को प्रकार न मानें तो, तादृश समभिव्याहार ज्ञान घटितसामग्रीकाले = राज्ञः पुरूषः इस समभिव्याहार ज्ञान से घटितशाब्दबोध सामग्री जिस समय रहेगी उस समय, "राजस्वत्वाभाववान् पुरूषः सुन्दरः" इत्याकारक विशिष्टवैशिष्टयावगाहिप्रत्यक्षवारणाय = राजस्वत्वाभाववान् पुरूषः सुन्दरः इस आकार के विशिष्टवैशिष्टयावगाही प्रत्यक्ष ज्ञान के वारण के लिए, तत्र = उस राजस्वत्वाभाववान् पुरूषः इस प्रत्यक्ष स्थल में, तादृशसमभिव्याहारज्ञान घटितसामग्रयाः = उस राज्ञः पुरूषः इस समभिव्याहार ज्ञान से घटित शाब्दबोध की सामग्री की, प्रतिबन्धकत्वाधिक्येन = प्रतिबन्धकता के अधिक होने से गौरवात् = गौरव होगा। अस्मन्मते = स्वत्व को प्रकार मानने में, तादृशसमभिव्याहारज्ञानघटितसामग्रयाः = उस राज्ञः पुरूषः इस समभिव्याहार ज्ञान से घटित शाब्दबोध सामग्री के, राजस्वत्वाभाववान् इति बाध = "राजस्वत्वाभाववान्" इस प्रकार के बाध के, अभावघटिततया = अभाव से घटित होने के कारण, विशेष्यतावच्छेदक = राजस्वत्वाभाववान् इति प्रकारक, निश्चयरूप = निश्चयात्मक ज्ञान रूप, कारणविरहादेव = प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण के अभाव होने से ही, तथाविध विशिष्टवैशिष्टयावगाहिप्रत्यक्षोत्पत्यसंभवेन = "राजस्वत्वाभाववान् पुरूषः सुन्दरः" इस प्रकार का विशिष्टवैशिष्टयावगाही प्रत्यक्ष की उत्पत्ति ही असंभव होने से, तादृशसामग्रयाः = राज्ञः पुरूषः इति समभिव्याहारज्ञानरूप सामग्री की, प्रतिबन्धकत्वस्य = प्रतिबन्धकता की, अकल्पनात् = कल्पना नहीं करनी पड़ती।

अन्यादृशप्रत्यक्षस्थलीयप्रतिबन्धकतया च न त्वन्मते निर्वाहः। अन्यत्रान्यविधप्रत्यक्षेच्छानामुत्तेजकतया तादृशेच्छायामसत्यां चोपदर्शित-विशिष्टवैशिष्ट्यबोधत्वप्रकारेच्छाबलादुपदर्शितविशिष्टवैवैशिष्ट्यबोधोपपत्तये अन्यादृशविषयताया एव प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वोपगमावश्यकत्वात्।

इस ग्रन्थ में अन्यत्र अन्यविध शब्दों का ही उल्लेख होने से ग्रन्थ कुछ जटिल हो गया है। अतः इस ग्रन्थ का तात्पर्य यह है -

संसर्गतावादी अपने पक्ष में प्रतिबन्धकता के आधिक्य के कारण आने वाले गौरव दोष का परिहार करने के लिए यह कह सकता है कि जब भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति भिन्नविषयक शाब्दबोध प्रतिबन्धक होता है तो शाब्दबोध की सामग्री में प्रतिबन्धकता तो रहती है उसमें नई कोई कल्पना तो हम करेंगें नहीं। हाँ जहाँ तक "राज्ञः पुरूषः" इस विशेष शाब्दबोध स्थल की बात है तो यहाँ भी हम ऐसा प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव मानेंगें जिससे राजस्वत्वाभाववान् पुरूषः इस प्रत्यक्ष के वारण के लिए राज्ञः पुरूषः में अतिरिक्त प्रतिबन्धकता की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी। जैसे राज्ञः पुरूषः इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध की सामग्री उन

सभी प्रत्यक्ष में प्रतिबन्धिका होगी जहाँ पर राज और पुरूष ये दो विषय नहीं होंगे। राज और पुरूष ये दोनों विषय जिन प्रत्यक्षों में नहीं है वे अननुगत हैं। अतः उनको अनुगत करने के लिए कहेंगे - राजत्वावच्छिन्न प्रकारता से निरूपित जो पुरूषत्वावच्छिन्न विशेष्यता उस विशेष्यता में रहने वाले विशेष्यतात्व से अवच्छिन्न है प्रतियोगिता जिस भेद की, उस भेद की प्रतियोगिता का अनवच्छेदक जो विषयता. ऐसे विषयताशाली प्रत्यक्ष के प्रति राज्ञः पुरूषः इतिसमभिव्याहारज्ञानं प्रतिबन्धकम्।

अब राज्ञः पुरूषः इस समभिव्याहारज्ञान में रहने वाली प्रतिबन्धकता से निरूपित प्रतिबध्यता का अवच्छेदक होगा - राजत्वावच्छिन्न प्रकारतानिरूपितपुरूपनिष्ठविशेष्यतात्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदीय प्रतियोगिता नवच्छेदकाविषयताशालिप्रत्यक्षत्व, तो एतादृश प्रत्यक्षत्व घट पट आदि विषयता शाली प्रत्यक्ष की तरह राजस्वत्वाभाववान् पुरूषः सुन्दरः इस प्रत्यक्ष में भी रहता ही है तो वह उपर्युक्त शाब्दबोध का प्रतिबध्य होगा ही, उसके लिए राजस्वत्वाभाववान् पुरूषसुन्दरः इत्याकारक प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नप्रतिबध्यता निरूपित प्रतिबन्धकता राज्ञः पुरूषः इति समभिव्याहार ज्ञान निष्ठा यह पृथक् से कहने की आवश्यकता नहीं रही। कोई गौरव नहीं है। प्रतिबध्यतावच्छेदक प्रत्यक्षत्व का विशेपण जो राजत्वावच्छिन्न. इत्यादि बताया गया है। उसका अर्थ इस प्रकार है-

राजत्वावच्छिन्न प्रकारताानेरूपित पुरूप निष्ठ विशेष्यता का अर्थ है जहाँ राज पदार्थ प्रकार हो और उससे निरूपित विशेष्य पुरूष हो जैसे "राजवान् पुरूषः", उस विशेष्यता में रहने वाले विशेष्यतात्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिताकभेद रहेगा राजनिनिष्ठ प्रकारतानिरूपित पुरूपनिष्ठ विशेष्यता जहाँ नहीं रहेगी ऐसे सभी ज्ञानों में रहने वाली विषयता उन विषयताओं में रहने वाली उपर्युक्त विशेष्यताभेद का प्रतियोगी होगी उपर्युक्त विशेष्यता; उसका अवच्छेदक होगा उपर्युक्त राजनिष्ठ प्रकारता निरूपितपुरूषनिष्ठ विशेष्यता में रहने वाला विशेष्यतात्व, अनवच्छेदकविषयता होगी उन सभी प्रत्यक्षज्ञानों की विषयता जिस प्रत्यक्ष ज्ञान में राजनिष्ठप्रकारतानिरूपित पुरूषनिष्ठविशेषयता विषय रूप से भासित नहीं होती, इस प्रकार की विषयताशाली प्रत्यक्ष ही प्रतिबध्य माना जाएगा और प्रतिबध्यतावच्छेदक तादृशप्रत्यक्षत्व में आएगा तो इस तरह का प्रत्यक्षत्व राजस्वत्वाभाववान् पुरूषः सुन्दरः इस प्रत्यक्ष में है ही। इस तरह उसके लिए पृथक् से उपर्युक्त शाब्द सामग्री में प्रतिबन्धकता की कल्पना संसर्गतावाद में भी नहीं करनी पड़ेगी भट्टाचार्य संसर्गतावादी के इसी अनुगत प्रतिबध्यतावच्छेदक को ध्यान में रखकर कह रहे हैं अन्यादृशप्रत्यक्षस्थलीय प्रतिबन्धकतया = घटादिप्रत्यक्षस्थलीय प्रतिबन्धकता अर्थात् घटादि प्रत्यक्ष स्थल में जैसे "राजत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितपुरूषनिष्ठविशेष्यतात्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकभेदप्रतियोगितानवच्छेदकविषयताशालिप्रत्यक्षत्व को प्रत्यबध्यतावच्छेदक मानकर राज्ञः पुरूपः में प्रतिबन्धकता मानते थे, उस प्रतिबन्धकता से, न त्वन्मते निर्वाहः = संसर्गतावाद में निर्वाह नहीं हो पाएगा। भट्टाचार्य उसमें हेतु देते हैं

अन्यत्र = घटादि प्रत्यक्ष में, अन्यविधप्रत्यक्षेच्छानाम् = "घटप्रत्यक्षं मे जायताम्" इस प्रकार की इच्छा ही, उत्तेजकतया = उत्तेजक होने से, तादृशेच्छायामसत्याम् = उस प्रकार की अर्थात् घट प्रत्यक्षम्मे जायताम् इस प्रकार की इच्छा के नहीं रहने पर, चोपदर्शित विशिष्टवैशिष्ट्यबोधोपपत्तये = ऊपर दिखाये गये राजस्वत्वाभाववान् पुरूषः इस विशिष्टवैशिष्टयावगाही प्रत्यक्ष ज्ञान की उपपत्ति के लिए, अन्यादृशविषयताया एव = घटादिप्रत्यक्षविषयता की ही, प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वोपगमात् = प्रतिबध्यतावच्छेदकता स्वीकार की जाती है।

भट्टाचार्य जी का तात्पर्य यहाँ इतना ही है कि - प्रतिबध्यतावच्छेदक अनुगत मानकर अनुगत प्रतिबन्धकता की कल्पना नहीं कर सकते। क्योंकि जहाँ पर घट के प्रत्यक्ष की सामग्री है और राज्ञः पुरूषः यह शाब्दबोधसामग्री भी है, वहाँ शाब्दवोध ही होगा, परन्तु यदि इन दो भिन्न ज्ञानों की सामग्री होने पर भी यह इच्छा हो जाए कि "मुझे घट का प्रत्यक्ष हो" तो पुनः वहाँ घट प्रत्यक्ष ही होगा शाब्दबोध नहीं होगा।

अब यदि घटप्रत्यक्षेच्छाविरहविशिष्टराज्ञः पुरूषः इस शाब्दसामग्री को उपर्युक्त अनुगत प्रत्यक्ष का प्रतिवन्धक मानोगे तो -

जहाँ पर घट के प्रत्यक्ष की इच्छा नहीं है, परन्तु राजस्वत्वाभाववान. पुरूषः सुन्दरः इस प्रत्यक्ष की इच्छा भी है और इस प्रत्यक्ष की सामग्री भी है और राज्ञः पुरूष यह शाब्दबोध सामग्री भी है वहाँ पर उपर्युक्त राजस्वत्वाभाववान् पुरूपः सुन्दरः इस प्रकार का विशिष्ट वैशिष्टयावगाही प्रत्यक्ष जो होता है, वह अब उपपन्न नहीं होगा। क्योंकि घट प्रत्यक्षेच्छा के विरह (अभाव) से विशिष्ट राज्ञः पुरूषः यह शाब्दसामग्री रूप प्रतिबन्धक है। यदि कहो - घटप्रत्यक्षेच्छा तथा राजस्वत्वाभावान् पुरूषः सुन्दरः इत्याकारक प्रत्यक्षेच्छा के विरह से विशिष्ट ही राज्ञः पुरूष यह शाब्द सामग्री प्रत्यक्ष की प्रतिबन्धिका होती है, तो जहाँ पर घट प्रत्यक्ष की इच्छा नहीं है, परन्तु उपर्युक्त विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष की इच्छा है और राज्ञः पुरूषः यह शाब्दसामग्री है वहाँ पर घट का प्रत्यक्ष होने लगेगा। क्योंकि उपर्युक्त घट प्रत्यक्षेच्छा तथा विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्षेच्छा इन दोनों इच्छाओं के विरह से विशिष्ट शाब्दसामग्री रूप प्रतिबन्धक नहीं है। क्योंकि एक विशिष्टप्रत्यक्षेच्छा तो है ही। इसलिए राज्ञः पुरूषः इस शाब्दसामग्री के रहते जिस प्रत्यक्ष ज्ञान की उपपत्ति करनी हो उस प्रत्यक्ष विशेष की इच्छा विरह का वैशिष्ट्य पृथक्-पृथक् प्रतिबन्धक रूप शाब्दसामग्री में विशेषण लगाना पड़ेगा। जैसे राज्ञः पुरूषः इस शाब्दसामग्री तथा घटप्रत्यक्ष सामग्री के रहते यदि घटप्रत्यक्ष को उपपन्न करना हो तो वहाँ पर घट प्रत्यक्ष की इच्छा ही उत्तेजक होगी। अतः वहाँ पर घटप्रत्यक्षेच्छाविरहविशिष्ट राज्ञः पुरूषः यह शाब्दसामग्री, घटप्रत्यक्ष में प्रतिबन्धक होगा, तथा उपर्युक्त विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष सामग्री तथा राज्ञः पुरूषः इस

शाब्दसामग्री के रहने पर उपर्युक्त विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष की इच्छा ही उत्तेजक होगी उपर्युक्त विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष के प्रति। अतः वहाँ पर राजस्वत्वाभावान् पुरूषः सुन्दरः इत्याकारक प्रत्यक्षेच्छाविरहविशिष्टराज्ञः पुरूषः यह शाब्दसामग्री, राजस्वत्वाभाववान् पुरूपः सुन्दरः इत्याकारक प्रत्यक्षं प्रतिप्रतिबन्धिका यह विशेष रूप से कहना पड़ेगा। अर्थात् प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव अननुगत रूप से ही मानना पड़ेगा। इस प्रकार राजस्वत्वाभाववान् पुरूपः सुन्दरः इस विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्षनिष्ठप्रतिबध्यता निरूपित प्रतिबन्धकता विशेष रूप से राज्ञः पुरूषः इस शाब्दसामग्री में माननी ही पड़ेगी संसर्गतावादियों के पक्ष में। इस प्रकार उपर्युक्त स्वत्वसंसर्गक राजप्रकारक पुरूष विशेष्यक शाब्दबोध की राज्ञः पुरूषः इस सामग्री में प्रतिवन्धकताकल्पना रूप गौरव होगा।

न च स्वत्वादेः प्रकारतामतेऽपि स्वत्वादिसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकराजाद्यभावविशिष्टपुरूषादिवैशिष्ट्यबोधे तथाविधसामग्रयाः प्रतिबन्धकताधिक्येन गौरवम्। तत् संसर्गतामते तादृशसामग्र्याः स्वत्वादिसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकराजाद्यभाववत्तानिश्चयाभावघटिततया तत्सत्वे कारणविरहादेव तथाविधप्रत्यक्षवारणसंभवादिति वाच्यम्।

संसर्गतावादी भी प्रकारतावादी की रीति का ही अनुसरण करते हुए प्रकारतावाद में गौरव दिखा रहा है न च इत्यादि के द्वारा -

तात्पर्य यह है कि राज्ञः पुरूष में स्वत्व को षष्ठ्यर्थ मानकर प्रकार मानने में भी, स्वत्त्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकराजाभाव से विशिष्ट पुरूप का वैशिष्ट्य बोधित हो रहा है जिस वोध में ऐसे "स्वत्वसम्बन्ध से राजाभाववान् पुरूषः सुन्दरः" इस प्रत्यक्ष ज्ञान में; राज्ञः पुरूषः इस समभिव्याहार ज्ञानरूप शाब्दसामग्री में अतिरिक्त प्रतिबन्धकता मानने से गौरव होगा। तात्पर्य यह है कि यदि राज्ञः पुरूषः में षष्ठी का अर्थ स्वत्व को मानें और उसको पुरूष में प्रकार मानकर "राजस्वत्ववान् पुरूषः" ऐसा स्वत्वप्रकारक बोध मानें तो इस प्रकार के शाब्दबोध की "राज्ञः पुरूषः" इस समभिव्याहार ज्ञान रूप सामग्री में, उससे भिन्न विषय वाले "स्वत्व सम्बन्ध से राजाभाववान् पुरूषः सुन्दरः" इस विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रतिबन्धकता अतिरिक्त माननी पड़ेगी। क्योंकि शाब्दसामग्री "स्वत्वप्रकारक पुरूष विशेष्यक है, और प्रत्यक्ष सामग्री "राजाभावप्रकारक पुरूष विशेष्यक" इस तरह प्रत्यक्ष और शाब्दबोध के विषय के भिन्न-भिन्न होने से शाब्दसामग्री में प्रतिबन्धकता की अधिक कल्पना प्रकारतावादियों को भी करनी ही पड़ी। यदि कहो संसर्गतावाद में, तो इस पक्ष में उपर्युक्त शाब्दसामग्री में अतिरिक्त प्रतिबन्धकता नहीं माननी पड़ेगी। क्योंकि संसर्गतामत में राज्ञः पुरूषः यहाँ की शाब्दसामग्री; स्वत्व सम्बन्ध

से राजाभाववत्तानिश्चय अर्थात् "राजाभाववान्" इस निश्चय के अभाव से अर्थात् राजाभावाभाव रूप "राजवत्ता" प्रकारक योग्यता ज्ञान से घटित है। ऐसी स्थिति में जिस व्यक्ति को "राजाभावाभाव" ऐसा बाधाभाव रूप योग्यताज्ञान रूप शाब्दसामग्री रहेगी अर्थात् जिस व्यक्ति को राजाभावाभाववत्ता अर्थात् राजवत्ता का ज्ञान पुरूष में रहेगा उसे "स्वत्व सम्बन्ध से राजाभाववत्ता का ज्ञान पुरूषः" में नहीं हो सकता। एवं च जब पुरूष में राजभाववत्ता रूप विशिष्यतावच्छेदक का ज्ञान नहीं होगा, तो प्रत्यक्षज्ञान में आवश्यक "विशेष्यतावच्छेदकप्रकारक निश्चय" रूप कारण के नहीं रहने से राजाभाववान् पुरूषः सुन्दरः इस विशिष्ट प्रत्यक्षज्ञान के उत्पन्न होने का प्रसङ्ग ही नहीं रहेगा तो उसके लिए राज्ञः पुरूष इस समभिव्याहारज्ञानरूप शाब्दसामग्री में प्रतिबन्धकता मानने की आवश्यकता ही नहीं है। इस तरह प्रकारतावाद पक्ष में भी अतिरिक्त प्रतिबन्धकता की कल्पना तो करनी ही पड़ी। इस पर प्रकारतावादी कहता है -

मन्मते तादृशप्रत्यक्षं प्रति तथाविधसामग्र्याः प्रतिबन्धकताधिक्येऽपि निरूपितत्वादिसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकराजाद्यभावविशिष्टस्वत्वादि-वैशिष्ट्यबोधे तथाविधसामग्र्याः प्रतिबन्धकताकल्पनेन तंदशे साम्यात्। तथा च पूर्वोक्तराजस्वत्वाभाववान् पुरूषः सुन्दर इत्यादि विशिष्टवैशिष्ट्प्रत्यक्षं प्रति राज्ञः पुरूषः इत्यादि सामग्रयाः प्रतिबन्धकत्वकल्पनं संसर्गतावादिनां मतेऽधिकमिति।

मेरे मत में (प्रकारतावाद पक्ष में) स्वत्वसम्बन्धेन राजाभाववान् पुरूषः सुन्दरः इस प्रत्यक्ष के प्रति, राज्ञः पुरूषः इस समभिव्याहार ज्ञानरूप सामग्री में अधिक प्रतिबन्धकता माननी पड़ती है, यह सत्य है। परन्तु निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकराजाभावविशिष्टस्वत्व वैशिष्ट्यबोध में अर्थात् निरूपितत्वसम्बन्ध से "राजाभाववत् स्वत्ववान् पुरूषः (सुन्दरः) इस विशिष्टवैशिष्ट्यप्रत्यक्ष में संसर्गतावादियों को राज्ञः पुरूषः इस सामग्री को प्रतिबन्धक मानना पड़ता है, जबकि हम प्रकारतावादियों को नहीं। वह इसलिए कि - "राज्ञः पुरूषः" में संसर्गता वादियों के मत से तो स्वत्व सम्बन्ध से राजवान् पुरूष यही योग्यता ज्ञान होता है जो कि - स्वत्व सम्बन्ध से राजाभाववान् पुरूषः सुन्दरः इस प्रत्यक्ष ज्ञान की सामग्री को उपपन्न नहीं होने देता, परन्तु उपर्युक्त योग्यता ज्ञान में निरूपतित्व सम्बन्ध से राज का वैशिष्ट्य स्वत्व में तो भासित हो नहीं रहा है। अतः जिस प्रत्यक्ष ज्ञान में निरूपितत्व सम्बन्ध से राजाभाव का वैशिष्ट्य स्वत्व में तथा उस अभावविशिष्टस्वत्व का वैशिष्ट्य पुरूष आदि में विषय रूप में भासित होगा उस प्रत्यक्ष ज्ञान को "तदभाववत्ता" ज्ञान मुद्रया तो रोक पाएगा नहीं। तो ऐसे विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति राज्ञः पुरूषः इस भिन्न विषयकशाब्दबोध सामग्री में प्रतिबन्धकता

माननी पड़ती है। हम प्रकारतावादियों के अनुसार तो राज्ञः पुरूषः इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध की सामग्री योग्यता ज्ञान में निरूपितत्वसम्बन्ध से राज का वैशिष्ट्य षष्ठ्यर्थ स्वत्व में, तथा उस स्वत्व का आश्रयता सम्बन्ध से पुरूष में वैशिष्ट्य भासित होना माना जाता है - निरूपितत्वसम्बन्धेन राजवत्स्वत्ववान् पुरूषः अर्थात् राजनिरूपित स्वत्ववान् पुरूषः ऐसा। अब इस योग्यता ज्ञान में जब निरूपितत्व सम्बन्ध से राजवत्ता का ज्ञान स्वत्व में विषयतया भासित हो रहा है तो इसका अर्थ है कि राजवत्ता अर्थात् राजाभावाभाववत्ता का ज्ञान विशेषण रूप से स्वत्व में हो रहा है, तो जिस व्यक्ति को स्वत्व में राजाभावाभाववत्ता (राजवत्ता) का ज्ञान होगा उसे राजाभाववत्ता प्रकारक स्वत्वविशेष्यक ज्ञान नहीं हो सकता तो विशेष्यतावच्छेदक प्रकारक ज्ञान न हो पाने से अर्थात प्रत्यक्ष ज्ञान की कारण सामग्री के नहीं हो पाने से वहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो पाएगा। इसके लिए राज्ञः पुरूषः में हमें प्रतिवन्धकता नहीं माननी पड़ती। इस प्रकार इस अंश में अर्थात् "राजपदार्थ का स्वत्व में जो निरूपितत्व सम्बन्ध से अन्वय होने अंश में, राज्ञःपुरुषः में प्रतिबन्धकता मुझे नहीं माननी पड़ती आप संसर्गतावादियों को माननी पड़ती है। इसी प्रकार स्वत्वसम्बन्धेन राजाभाववान् पुरूषः सुन्दरः इस विशिष्ट प्रत्यक्ष के प्रति मुझे राज्ञः पुरूषः में प्रतिबन्धकता माननी पड़ती है, आप लोगों को नहीं, इस तरह इतने अंश में तो समानता है। परन्तु राजस्वत्वाभाववान् पुरूषः सुन्दरः इस प्रत्यक्ष के प्रति आपको राज्ञः पुरूषः में अधिक प्रतिबन्धकता माननी पड़ेगी, यह संसर्गता पक्ष में गौरव होगा।

संकलितार्थ यह निकला कि -

प्रकारतावाद में राज्ञः पुरूषः इस वाक्य से होने वाला योग्यता ज्ञान चूँकि स्वत्व सम्बन्ध से राजविशिष्ट स्वत्व तथा आश्रयता सम्बन्ध से स्वत्वविशिष्ट पुरूष विशेष्यक है तो "राजाभाववत् स्वत्वम्" इस प्रत्यक्ष ज्ञान की तथा "राजस्वत्वाभाववान्" इस प्रत्यक्ष ज्ञान की सामग्री को उपपन्न नहीं होने देती है। तो इस पक्ष में दो प्रत्यक्षज्ञान की प्रतिवन्धकता राज्ञः पुरूषः में नहीं माननी पड़ती है। परन्तु एक जगह "स्वत्वसम्बन्धेन राजाभाववान् पुरूषः सुन्दरः" इस प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रतिबन्धकता राज्ञः पुरूषः में माननी पड़ती है। इस प्रकार प्रकारतावाद में राज्ञः पुरूषः में एक प्रतिबन्धकता माननी पड़ती है। जबकि - संसर्गतावाद में - राज्ञः पुरूषः में "स्वत्वसम्बन्धेन राजाभाववान् पुरूषः सुन्दरः" इस एक प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रतिबन्धकता नहीं माननी पड़ती। परन्तु निरूपितत्व सम्बन्ध से राजाभाववत्स्वत्ववान् पुरूषः इस विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान की तथा "राजनिरूपितस्वत्वाभाववान् पुरूषः सुन्दरः इस विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रतिबन्धकता राज्ञः पुरूषः से होने वाले योग्यता ज्ञान में माननी पड़ती है। इस तरह प्रकारतावादियों को जहाँ एक प्रतिबन्धकता

राज्ञः पुरूषः में माननी पड़ी; वहीं संसर्गतावादियों को दो प्रतिबन्धकता माननी पड़ी। यह गौरव हुआ।

न च स्वत्वादेः प्रकारतामते घटप्रत्यक्षादिकं प्रति तादृशसामग्रीप्रतिबन्धकतायां विभक्तिजन्यस्वत्वाद्युपस्थितिनिवेशाधिक्येन राजस्वत्वाभाववान् पुरूष इत्यादिबाधाद्यभावनिवेशाधिक्येन च गौरवम्। अस्मन्मते तादृशोपस्थिति तथा विधबाधाभावादीनां तथाविधवाक्य-जन्यशाब्दबोधं प्रत्यहेतुतया तादृशवाक्यघटितसामग्री प्रतिबन्धकतायां तेषामनिवेशादितिवाच्यम्। भवन्मतेऽपि स्वत्व सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता-कराजाभावव्याप्यराजस्वत्वाभाववान् पुरूष इत्यादिनिश्चयस्य तद्भावव्याप्य-वत्तानिश्चयमुद्रया तादृशवाक्यजन्यशाब्दधीविरोधितया तादृशनिश्चयाभावस्य तथाविधसामग्रीप्रतिबन्धकतायां निवेशनाधिक्येन लाघवानवकाशात्। मन्मते राजस्वत्वाभाववान्पुरूष इत्यादि बाधकाभावनिवेशेनैव तादृशनिश्चयकाले प्रत्यक्षाभ्युपपत्तेस्तदभावानिवेशात्।

संसर्गतावादी पुनः प्रकारतावाद में गौरव दिखाते हुए कहता है कि - स्वत्व को प्रकार मानने वालों के मत में घट प्रत्यक्ष के प्रति, राज्ञः पुरूषः इस वाक्य से जन्य योग्यताज्ञान रूप सामग्री में, ङस् विभक्तिजन्य स्वत्वादि की उपस्थिति के निवेश करने से, तथा राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः इस बाध आदि के अभाव का निवेश करने से गौरव होगा। हम संसर्गतावादियों के मत में तो, न ही ङस् विभक्तिजन्य स्वत्वादि की उपस्थिति का और न ही राजस्वत्वाभाववान् पुरूषः इस बाधनिश्चय के अभाव का ही निवेश करना पड़ेगा क्योंकि राज्ञः पुरूषः इस वाक्य से उत्पन्न होने वाले शाब्दबोध में न ही ङस् विभक्तिजन्य स्वत्व की उपस्थिति कारण मानी जाती है और न ही राजस्वत्वाभाववान् इस बाधनिश्चय का अभाव ही ("राजस्वत्व" इस प्रकार का निश्चय) कारण माना जाता है। अतः घट प्रत्यक्ष में, प्रतिबन्धक राज्ञः पुरूष इस वाक्य से होने वाले योग्यताज्ञान रूप सामग्री में, रहने वाली प्रतिबन्धकता में ङस् विभक्तिजन्यस्वत्वोपस्थिति का तथा राजस्वत्वाभाव रूप बाध के अभाव अर्थात् राजस्वत्वाभावाभाव (राजस्वत्व) का ही निवेश करना पड़ता है। इस प्रकार हम संसर्गतावादियों की अपेक्षा प्रकारतावादियों के मत में गौरव है।

तात्पर्य यह है कि राज्ञः पुरुषः से चाहे राजस्वत्ववान् पुरूषः ऐसा शाब्दबोध माना जाए या स्वत्व संसर्गेण राजवान् पुरूषः। दोनों प्रकार के शाब्दबोध की योग्यताज्ञानरूप सामग्री में जो कि राज्ञः पुरूषः इस वाक्य से उत्पन्न होती है, घट प्रत्यक्ष की प्रतिबन्धकता तो रहती ही है। परन्तु प्रकारतावादियों के अनुसार राज्ञः

पुरूष से होने वाले योग्यता ज्ञान में वृत्या उपस्थित होकर भासित होने वाले पदार्थ हैं, राजन्पद से उपस्थित राजपदार्थ, ङस् विभक्ति से उपस्थित स्वत्व अर्थ तथा पुरूष पद से उपस्थित पुरूष रूप अर्थ। इस प्रकार राज्ञः पुरूषः से होने वाले राजनिरूपित स्वत्ववान् पुरूषः इस योग्यता ज्ञान में रहने वाली प्रतिबन्धकता में जैसे राजन्पदजन्य राजोपस्थिति तथा पुरूष पद जन्य पुरूषोपस्थिति का कथन करना पड़ता है, उसी तरह ङस् विभक्तिजन्य स्वत्व की उपस्थिति का भी निवेश करना पड़ता है, तथा राजनिरूपितस्वत्वप्रकारक पुरूष विशेष्यक यह योग्यता ज्ञान बाधाभाव रूप होने के कारण राजनिरूपित स्वत्वाभाव रूप वाध के अभाव अर्थात् राजनिरूपितस्वत्वाभावाभाव रूप होने से वह योग्यता ज्ञान उपर्युक्त राजस्वत्वाभावाभाव से भी घटित है। जबकि संसर्गतावाद में तो राज्ञः पुरूष से होने वाले योग्यता ज्ञान में राजन् पद जन्य राजपदार्थोपस्थिति तथापुरूषपदजन्य पुरूषपदार्थोपस्थिति का ही निवेश करना पड़ता है, हम तो षष्ठी विभक्ति का अर्थ स्वत्व मानते ही नहीं तो, न तो हमें ङस् पदजन्य स्वत्वोपस्थिति का ही निवेश करना पड़ता है, और चूंकि स्वत्व प्रकार रूप में योग्यता ज्ञान में भासित ही नहीं होता अतः स्वत्वाभावाभाव रूप बाधाभाव का भी निवेश नहीं करना पड़ता। यह हमारे मत में लाघव है। भट्टाचार्य इस पर संसर्गतावादियों से कहते हैं कि - आपके मत में भी कोई लाघव नहीं है। क्योंकि आप भले ही स्वत्व को प्रकार न मानो तथापि बाधाभावरूप योग्यता ज्ञान में स्वत्वाभावाभाव का निवेश आपको भी करना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि - आपके मत में स्वत्व सम्बन्ध से राजवान् पुरूष यह योग्यता ज्ञान स्वत्व सम्बन्धेन राजाभाव रूप बाध के अभाव अर्थात् राजाभावाभाव से घटित तो है ही, तो यदि योग्यता ज्ञान स्वत्व सम्बन्ध से राजाभावाभाव से घटित है तो स्वत्वसम्बन्ध से राजाभावव्याप्यराजस्वत्वाभाव के अभाव से घटित भी होगा। क्योंकि तद्वत्ता ज्ञान के प्रति जैसे तदभावक्ता निश्चय विरोधी (प्रतिबन्धक) होता है वैसे ही तदभावव्याप्यवत्ता निश्चय भी प्रतिवन्धक होता है। पर्वतोवह्निमान् यह ज्ञान जैसे पर्वतोवह्न्यभाववान्" ऐसा निश्चय होने पर नहीं हो सकता, वैसे ही वहन्यभाव से व्याप्य जलक्ता ज्ञान से अर्थात् वह्न्यभाव व्याप्य जलवान् पर्वतः" इस निश्चय के होने पर भी नहीं होता है। प्रकृत में भी जैसे राजप्रकारक योग्यताज्ञान अर्थात् स्वत्वसम्बन्धेन राजवान् पुरूषः यह योग्यता ज्ञान स्वत्व सम्बन्ध से राजाभाव प्रकारक बाधज्ञान अर्थात् स्वत्व सम्बन्ध से राजाभाववान् पुरुषः इस बाध ज्ञान के होते, नहीं हो सकता है। अतः उपर्युक्त स्वत्व सम्बन्ध से राजवत्ता प्रकारक योग्यता ज्ञान को स्वत्व सम्बन्ध से राजाभावाभाव प्रकारक ज्ञान रूप बाधाभाव से घटित मानना आवश्यक है। वैसे ही स्वत्व सम्बन्ध से राजवान् पुरुषः यह योग्यता ज्ञान स्वत्व सम्बन्ध से राजाभावव्याप्यस्वत्वाभाव प्रकारक ज्ञान के होने पर भी नहीं हो

सकता। अतः उपर्युक्त स्वत्व सम्बन्ध से राजवान् पुरूषः इस योग्यता ज्ञान को स्वत्वाभावाभावप्रकारकज्ञान अर्थात् स्वत्वाभाव रूप बाध ज्ञान के अभाव से भी घटित मानना ही पड़ेगा। इस तरह संसर्गतावादियों को तदभाववत्ता रीति से राजाभाव रूप बाध के अभाव से तथातदभावव्याप्य वन्ता रीति से स्वत्वाभावरूप बाध के अभाव से भी उपर्युक्त स्वत्व सम्बन्ध से "राजवान् पुरूष" इस योग्यता ज्ञान को मानना ही पड़ा; तो लाघव कैसे संभव है। क्योंकि हम प्रकारतावादियों को भी ङस् प्रत्ययजन्य स्वत्वोपस्थिति तथा स्वत्वाभाव रूप बाध के अभाव से योग्यता ज्ञान को घटित मानना पड़ता है। इस प्रकार दो विषय का निवेश करना पड़ता है, तो संसर्गतावादियों को भी तो दो बाधाभाव का निवेश करना ही पड़ता है, तो लाघव कैसा? अर्थात् कोई लाघव संसर्गतावाद में नहीं। इस पर संसर्गतावादी कह सकता है जैसे मुझे स्वत्व सम्बन्ध से राजाभाव रूप बाध के अभाव के साथ ही राजाभावव्याप्य स्वत्वाभाव रूप बाध का अभाव भी निवेश करना पड़ता है वैसे ही प्रकारतावादियों को भी स्वत्वाभाव रूप बाध के अभाव के निवेश के साथ स्वत्वाभाव व्याप्य स्वत्व सम्बन्ध से राजाभाव रूप बाध के अभाव का निवेश करना पड़ेगा, तो गौरव होगा। भट्टाचार्य इस पर कहते हैं कि प्रकारतावाद में तादृशनिश्चयकाल में अर्थात् स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकराजाभावव्याप्य-राजस्वत्वाभाववान् पुरूषः इस निश्चय के समय प्रत्यक्ष ज्ञान होना स्वीकार किया जाता है। क्योंकि स्वत्व सम्बन्ध से राजाभावाभाव को हम राजस्वत्व रूप नहीं मानते हैं। अतः यदि राज्ञः पुरूषः इस वाक्य को सुनने के बाद स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक राजाभावाभाव का निश्चय हो भी जाए तो चूँकि यह ज्ञान राजस्वत्व प्रकारक योग्यता ज्ञान रूप शाब्द सामग्री नहीं हुआ तो वहाँ घटादि का प्रत्यक्ष ही होता है। इस प्रकार स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्न राजाभाव का अभाव योग्यता ज्ञान रूप नहीं हुआ। अतः राज्ञः पुरूषः इस वाक्य से होने वाले योग्यताज्ञान में राजस्वत्वाभाववान् पुरूष इस बाध का अभाव ही निवेश करना पड़ता है राजस्वत्वाभावव्याप्य स्वत्व सम्बन्ध से राजाभाव का नहीं। अतः दो ही विषय हमारे मत में भी निवेश करने पड़ते हैं और दो बाधाभाव का निवेश आप संसर्गतावादियों को भी। इसलिए संसर्गतावाद में लाघव नहीं है।

यत्तु राज्ञः पुरूष इत्यादौ राजस्वत्ववान् पुरूष इत्याद्यन्वयबोधोपगमे राजकीयं स्वत्वम्, राजस्वत्ववान् पुरूष इत्याकारक द्विविधानुमितेरेव तदतिरिक्ताविषयकत्वेन तादृशानुमितिं प्रति प्रत्येकं तादृशवाक्य-घटितसामग्रयाः प्रतिबन्धकताद्वयम्। अस्मन्मते च तादृशानुमित्योस्त-थाविधवाक्यजन्याद् राजकीयः पुरूष इत्येतादृशबोधादतिरिक्तविषयकत्वेन तत्र तादृशसामग्रयाः प्रतिबन्धकताकल्पनं नास्ति, तथाविधानुमिति-

तथाविधशाब्दसामग्रयोश्च सत्योरनुमितेरेवोत्पत्तेः, अपि तु राजकीयः पुरूष इत्याकारकस्वत्वसंसर्गकैकविधानुमितिं प्रत्येव तादृशसामग्रयाः प्रतिबन्धकत्वमेकम् कल्पनीयमितिलाघवमिति।

संसर्गतावादियों की ओर से कोई कहता है कि - राज्ञः पुरूषः इस वाक्य से यदि राजस्वत्ववान् पुरूषः इस प्रकार का शाब्दबोध होना स्वीकार करोगे तो, राजकीयं स्वत्वम् और राजस्वत्ववान् पुरूषः इस प्रकार की दोनों ही अनुमितियाँ राजस्वत्ववान् पुरूष इस शाब्दबोध में भासित होने वाले विषयों से, अतिरिक्त विषयवाली नहीं होगी तो, उपर्युक्त दोनों अनुमितियों के प्रति पृथक्-पृथक् प्रतिबन्धकता, उस राज्ञः पुरूषः इस वाक्य घटित शाब्दबोध सामग्री में माननी पड़ेगी।

हम संसर्गतावादियों के मत में तो राज्ञः पुरूषः इस वाक्य से राजकीयः पुरूषः यही शाब्दबोध माना जाता है, अतः राजकीय पुरूष इस शाब्दबोध के विषय से भिन्न विषयवाली ही राजकीयं स्वत्वम् तथा राजस्वत्ववान् पुरूपः, ये दोनों अनुमितियाँ होगीं, तो ऐसी स्थिति में हम तो राजकीयं स्वत्वम् तथा राजस्वत्ववान् पुरूषः ऐसी अनुमिति होना ही मानते हैं। अतः हमारे मत में राजकीयः पुरूषः इस शाब्दबोध की सामग्री में प्रतिबन्धकता की कल्पना नहीं करनी पड़ती। हाँ! यदि राज्ञः पुरूषः इस वाक्य से होने वाले राजकीयः पुरुषः इस शाब्दबोध की सामग्री की उपस्थिति-के समय राजकीयः पुरूषः इस प्रकार की स्वत्व संसर्गक अनुमिति की सामग्री उपस्थित हो गयी तो ऐसी स्थिति में स्वत्वसंसर्गक राजकीयः पुरुषः इस एक ही अनुमिति की एक ही प्रतिबन्धकता राज्ञः पुरूष इस वाक्य घटित शाब्दबोध सामग्री में माननी पड़ती है। तथापि प्रकारतावादियों की अपेक्षा लाघव तो हमारे मत में है ही। क्योंकि उन्हें तो दो अनुमितियों की दो प्रतिबन्धकताएँ माननी पड़ती है।

तात्पर्य यह है कि जैसे विभिन्न विषयक प्रत्यक्ष के प्रति शाब्दबोध की सामग्री प्रतिबन्धिका होती है। उसी प्रकार समान विषय वाली अनुमिति के प्रति भी शाब्दबोध सामग्री प्रतिबन्धक होती है, परन्तु यदि शाब्दबोध तथा अनुमिति का विषय भिन्न-भिन्न हों तो अनुमिति ही शाब्दबोध की प्रतिबन्धिका होती है। यह वस्तुस्थिति है। प्रकारतावाद के अनुसार राज्ञः पुरुषः इस वाक्य से यदि राजस्वत्ववान् पुरूषः शाब्दबोध होना माना जाए तो, इस शाब्दबोध में स्वत्व में राजकीयत्व तथा पुरूष में राजस्वत्व विषय रूप में भासित हो रहे हैं, तो राजकीयं स्वत्वम् इस अनुमिति में स्वत्व में राजकीयत्व विषयरूप से भासित होने से यह अनुमिति तथा राजस्वत्ववान् पुरूषः इस अनुमिति में पुरूष में राजस्वत्व विषय रूप से भासित हो रहा है। यह अनुमिति भी "राजस्वत्ववान् पुरुषः" इस शाब्दबोध के समानविषय वाली हो गयी, तो इन दोनों अनुमितियों की प्रतिबन्धकता प्रकारतावाद

में राज्ञः पुरूषः इस वाक्य से घटित शाब्दबोध सामग्री में माननी पड़ेगी। परन्तु संसर्गतावाद में तो राज्ञः पुरूषः से स्वत्व सम्बन्धेन राजवान् पुरूषः अर्थात् राजकीयः पुरूषः ऐसा ही शाब्दबोध माना जाता है। इस शाब्दबोध में न तो राजकीय स्वत्व और न ही राजस्वत्ववान् पुरूष ही विषय रूप में भासित हो रहा है। अतः यदि राजकीयं स्वत्वम् या राजस्वत्ववान् पुरूषः इस अनुमिति की सामग्री उपस्थित हो तथा राजकीयः पुरूषः इस शाब्दवोध की सामग्री भी, तो दोनों ज्ञानों के विषयों के भिन्न होने से उपर्युक्त दोनों अनुमितियाँ ही होती हैं, तो उपर्युक्त शाब्दबोध सामग्री में प्रतिबन्धकता की कल्पना हमें राज्ञः पुरूषः इस वाक्यघटित शाब्दबोध सामग्री में नहीं करनी पड़ती। यदि "राजकीयः पुरूषः" ऐसी अनुमिति की सामग्री तथा राजकीयः पुरूषः ऐसी शाब्दबोध की सामग्री एक साथ उपस्थित हो तो हम भी विषय के समान होने से राजकीयः पुरूषः इस शाब्दबोध की सामग्री से घटित राज्ञः पुरूषः इस वाक्य में, अनुमिति की प्रतिबन्धकता मानते हैं। तथापि हमें तो एक अनुमिति की एक ही प्रतिबन्धकता माननी पड़ती है, परन्तु प्रकारतावादियों को दो प्रतिबन्धकता माननी पड़ती है। इस प्रकार एक अधिक प्रतिबन्धकता की कल्पना उन्हें करनी पड़ती है। इस प्रकार प्रकारतावाद में गौरव है। भट्टाचार्य संसर्गतावादियों के इस यत्तु वाले तर्क का खण्डन करते हुए कहते हैं - तदप्यकिञ्चित्करम्।

तदप्यकिञ्चित्करम्। भवन्मते यत्र यादृशानुमितिः स्वीक्रियते अस्मन्मतेऽपि तादृशानुमितेः स्वीकरणीयतयाऽनुमितौ शाब्दसामग्रयाः प्रतिबन्धकत्वसाम्यात्, उपदर्शितस्थले भवद्भिरनुमितिः स्वीक्रियते अस्माभिरपि स्वीक्रियते कुतः प्रतिबन्धकताद्वयकल्पनमिति भवतापि तादृशशाब्दं प्रति तादृशानुमितिद्वयसामग्रीद्वयस्य प्रतिबन्धकताया वाच्यतया साम्याच्च।

भट्टाचार्य जी के कहने का तात्पर्य यह है कि - संसर्गतावादियों ने जो राज्ञः पुरूषः इस वाक्यघटितशाब्दसामग्री में राजकीयं स्वत्वम् तथा राजस्वत्ववान् पुरूषः इन दो अनुमितियों की दो प्रतिबन्धकता प्रकारतावाद में माननी पड़ेगी यह कहकर इस मत में गौरव दिखाया तथा स्वयं उन स्थलों में अनुमिति का होना ही स्वीकार करके प्रतिबन्धकता की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी यह लाघव दिखाया। ये सब बातें उचित नहीं। क्योंकि आप संसर्गतावादी जिस राज्ञः पुरूषः इस शाब्दसामग्री स्थल में जैसी राजकीयं स्वत्वम् तथा राजस्वत्ववान् पुरूषः ये दो अनुमिति मानते हैं हम प्रकारतावादी भी उस शाब्दसामग्री स्थल में अर्थात् राज्ञः पुरूषः इस वाक्यघटित शाब्दसामग्री स्थल में उपर्युक्त दो अनुमिति का होना ही मानते हैं तो हमें भी क्यों दो प्रतिबन्धकता की कल्पना करनी पड़ेगी। इसी तरह

राज्ञः पुरूषः इस वाक्यघटित शाब्द सामग्री में जैसे राजकीयः प्ररूषः इस एक अनुमिति की एक प्रतिबन्धकता आप संसर्गतावादी मानते हैं। हम भी इसी एक अनुमिति की एक प्रतिबन्धकता, राज्ञः पुरूषः में मानते हैं, तो अधिक प्रतिबन्धकता की कल्पना क्यों हमें करनी पड़ेगी? अर्थात् नहीं करनी पड़ेगी। इस प्रकार कोई गौरव प्रकारतावाद में नहीं है। प्रकारतावाद में आये अधिक प्रतिबन्धकताकल्पना रूप गौरव का परिहार करने के लिए भट्टाचार्य ने जो राज्ञः पुरूपः इस वाक्य घटित शाब्दबोध की सामग्री के रहने पर भी राजकीयं स्वत्वम् तथा राजस्वत्ववान् पुरूषः इस अनुमिति का होना स्वीकार कर लिया वह निर्युक्तिक प्रतीत होता है। क्योंकि समान विषयक अनुमिति के प्रति जब समान विषयक शाब्दबोध सामग्री प्रतिवन्धक होती है, तो राज्ञः पुरूषः इस वाक्य से ज्ञात सामग्री चूँकि राजकीयस्वत्व तथा राजस्वत्व रूप विषय से घटित है तभी तो संसर्गतावादी ने दोष दिया था, ऐसे अकारण तो नहीं दिया था, तो जब दोनों अनुमितियाँ तथा शाब्दबोध की सामग्री अतिरिक्त विषयक हैं तब भला वहाँ उन्होंने अनुमिति होना कैसे स्वीकार कर लिया? अतः भवन्मते यत्र यादृशानुमित्तिः इत्यादि कथन असंगत लगता है। गुरूजी उपर्युक्त ग्रन्थ का आशय इस प्रकार बताते हैं - अनुमिति में जो शाब्दबोध की प्रतिबध्यता रहती है उसका प्रयोजक (अवच्छेदक) केवल अनतिरिक्तविषयकत्व अर्थात् अतिरिक्त (भिन्न) विषय वाला न होना ही नहीं है। क्योंकि अनुमिति में रहने वाली प्रतिबध्यता का अवच्छेदक यदि केवल अनतिरिक्तविषयकत्व को माना जाएगा तो जहाँ पर राजकीयं स्वत्वम् इस अनुमिति की सामग्री भी है और "राजनिरूपितस्वत्ववान् पुरूषः" इस शाब्दबोध की सामग्री भी है, परन्तु राजकीयस्वत्वविषयक अनुमिति की इच्छा रूप उत्तेजिका भी है, वहाँ जो राजकीयं स्वत्वम् ऐसी अनुमिति होती है वह नहीं हो पाएगी। क्योंकि उपर्युक्त राजकीयंस्वत्वं इस अनुमिति में प्रतिबध्यतावच्छेदक अनतिरिक्तविषयकत्व तो है ही अर्थात् अनुमिति में शाब्दबोध से अतिरिक्त विषय तो नहीं ही है, तो अनुमिति यहाँ भी जबकि इच्छा रूप उत्तेजक है प्रतिबध्य हो जाएगी, नहीं हो पाएगी। अतः अनुमिति में रहने वाली प्रतिबध्यता का अवच्छेदक स्वतन्त्र रूप से अनतिरिक्त विषयकत्व नहीं है, अपितु अनुत्पत्ति के नियतरूप से ज्ञात ही अनतिरिक्त विषयकत्व प्रतिबध्यता का प्रयोजक अर्थात् अनुमिति की अनुत्पत्ति तथा अनतिरिक्तविषयकत्व दोनों समान रूप से ज्ञात होकर ही अनुमिति में प्रतिबध्यता के प्रयोजक होते हैं। तात्पर्य यह है कि - अनतिरिक्तविषयक अनुमिति चूँकि उत्पन्न नहीं होती है। अतएव अनतिरिक्त विषयकत्व को अनुमिति में रहने वाली प्रतिबध्यता का प्रयोजक कहा जाता है। इच्छा आदि उत्तेजक के रहते अनुमिति चूँकि उत्पन्न होती है। अतः वहाँ अनतिरिक्तविषयकत्व रहते हुए भी प्रतिबध्यता का प्रयोजक नहीं होता। ऐसी स्थिति

में जबकि अनतिरिक्तविषयकत्व भी अनुमिति की अनुत्पत्ति के बिना प्रतिबध्यता का अवच्छेदक नहीं होता, तो अनुमिति की प्रतिबधयता का प्रयोजक; अनतिरिक्त विषयकत्व को मानने की अपेक्षा लाघवात् अनुमिति की अनुत्पत्ति को ही मानना उचित होगा। तात्पर्य यह निकला कि जिस प्रकार की शाब्द सामग्री के रहते जिस प्रकार की अनुमिति का उत्पन्न न होना प्रामाणिक परम्परा सिद्ध है उस अनुमिति में प्रतिबध्यता मानकर, उस अनुमिति की प्रतिबन्धकता वहाँ शाब्द सामग्री में मानी जाती है। अब प्रकृत में आयें।

राज्ञः पुरूषः इस वाक्य घटित शाब्द सामग्री के रहते जैसे संसर्गतावादियों ने राजकीयं स्वत्वम् तथा राजस्वत्ववान् पुरूषः इन दोनों की अनुमिति का होना स्वीकार किया, केवल राजकीयः पुरूषः इस अनुमिति की अनुत्पत्ति का होना स्वीकार करके अनुत्पत्ति रूप प्रयोजक को केवल राजकीयः पुरूषः इस अनुमिति में मानकर इसी अनुमिति को प्रतिबंध्य मानकर एक ही प्रतिबन्धकता राज्ञः पुरूषः में माना है। हम प्रकारतावादी भी आपके इस प्रमाण सिद्ध बात को स्वीकार करते हुए यह मानते हैं कि राज्ञः पुरूषः इस वाक्य घटित शब्द सामग्री के रहते राजकीयं स्वत्वम् तथा राजस्वत्ववान् पुरूषः ये दोनों अनुमितियाँ होती है यह प्रमाण सिद्ध है। अतः हम भी अनुत्पत्ति रूप प्रतिबध्यता के प्रयोजकं न होने से इन अनुमितियों में प्रतिबध्यता नहीं मानते तो हमें भी राज्ञः पुरूषः इस वाक्य घटित शाब्द सामग्री में इन दोनों अनुमितियों की दो प्रतिबन्धकताएँ नहीं माननी पड़ती। हाँ! राज्ञः पुरूषः इस वाक्य घटित सामग्री के रहते राजकीयः पुरुषः इस अनुमिति का होना प्रामाणिक नहीं है। अतः इस अनुमिति की अनुत्पत्ति ही रहती है उपर्युक्त शाब्दसामग्री के रहते। अतः अनुत्पत्ति रूप प्रयोजक के रहने से उपर्युक्त अनुमिति प्रतिबध्य मानी जाती है और इस एक प्रतिबध्य अनुमिति की एक प्रतिबन्धकता हम भी राज्ञः पुरुषः इस वाक्य घटित शाब्दसामग्री में मानते हैं। इस प्रकार प्रकारतावाद में संसर्गतावाद की अपेक्षा कोई गौरव नहीं है।

भट्टाचार्य का उपर्युक्त - भवन्मते यत्र यादृशानुमितिः इत्यादि कथन कुछ गम्भीर अर्थ वाला उत्तर था। अब सरल उत्तर देते हैं भवतापि तादृशशाब्दं प्रति इत्यादि। तात्पर्य यह है कि - जैसे समानविषयक होने के कारण हम प्रकारतावादियों को राजकीयं स्वत्वम् तथा राजस्वत्ववान् इन दो अनुमितियों की दो प्रतिबन्धकता, राज्ञः पुरूषः इस शाब्द सामग्री में माननी पड़ती है। वैसे आपको भी "स्वत्वसम्बन्धेन राजवान् पुरूषः" तथा राजकीयः पुरूषः इन दो अनुमितियों की प्रतिबन्धकता उस राज्ञः पुरूषः इस वाक्य घटित शाब्दसामग्री में माननी ही पड़ेगी। इस प्रकार दोनों में समानता ही है गौरव या लाघव नहीं।

एवं राजपुरूष इत्यादिसमासवाक्यात् स्वत्वसंसर्गकशाब्दबोधस्वीकारे तादृशशाब्दबोधसामग्रयाः स्वत्वसंसर्गेण राजविशिष्टपुरूषतात्पर्य-ज्ञानादिघटितायाः भिन्नविषयकप्रत्यक्षादिकं प्रति प्रतिबन्धकत्वाधिक्येन गौरवात्। तत्र राजसम्बन्धिप्रकारकाभेदान्वयबोधस्वीकार एवोचितः। न च भवन्मतेऽपि तादृशाभेदान्वयबोधसामग्रयाः प्रतिबन्धकताधिक्येन गौरवमिति वाच्यम्। राजपदस्य राजसम्बन्धिनि स्वारसिकलक्षणा- ग्रहदशायाम-भेदसम्बन्धेन राजसम्बन्धिविशिष्टपुरूषे तात्पर्यग्रहसत्त्वे भवन्मतेऽपि कर्मधारयत्वेनाभिमतात् तथाविधसमासवाक्यात् तादृशशाब्दबोध-स्वीकारस्यावश्यकतया तादृशसामग्रीप्रतिबन्धकताया उभयमतसिद्धत्वात्।

भट्टाचार्य संसर्गतावाद में अन्य दोष का प्रदर्शन करते हुए एवम् इत्यादि कहते हैं। अर्थ यह है - कि यदि स्वत्व को प्रकार न मानकर संसर्ग मानोगे और "राजपुरूषः" इस समस्त वाक्य से स्वत्व संसर्गक शाब्दबोध "स्वत्वसम्बन्धेन राजवान् पुरूषः" ऐसा स्वीकार करोगे, तो इस शाब्दबोध की सामग्री "स्वत्वसंसर्ग से राजविशिष्टपुरूष ऐसे तात्पर्य ज्ञान आदि से घटित होगी तो, भिन्नविषयक प्रत्यक्षादि अर्थात घटादिविषयक प्रत्यक्षादि के प्रति उपर्युक्त स्वत्वसंसर्गेण राजविशिष्टपुरूषतात्पर्यज्ञान घटितशाब्दसामग्री में अधिक प्रतिबन्धकता माननी पड़ेगी। इस प्रकार गौरव होगा। अतः राज्ञः पुरूषः में राजसम्बन्धिप्रकारक अभेदान्वय बोध राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरूषः ऐसा शाब्दबोध मानना ही उचित है। संसर्गतावादी इस पर कहता है कि राज्ञः पुरूषः से यदि राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरूषः ऐसा अभेदान्वय बोध होना माना जाए तब भी तो इस शाब्दबोध की सामग्री भी तो भिन्न विषयक प्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धक होगी ही, तो उपर्युक्त अभेदान्वय बोध की सामग्री में भिन्न विषयक प्रत्यक्ष की अधिक प्रतबबन्धकता की कल्पना प्रकारतावाद में भी तो करनी ही पड़ती है।

इस पर भट्टाचार्य कहते हैं - राजपुरूषः में तो हम अभेदान्वय मानते ही हैं, आपके मत में भी जब उपर्युक्त स्थल में राजपद की राजसम्बन्धी अर्थ में स्वारसिकलक्षणा हो जाए तो अभेद सम्बन्ध से राजसम्बन्धी से विशिष्ट पुरूष में राजपुरूषः इस वाक्य का तात्पर्य ग्रह हो जाने पर आपके मतानुसार कर्मधारय रूप "राजपुरूषः" इस वाक्य से राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरूषः" ऐसा अभेदान्वय बोध स्वीकार किया ही जाता है। इस प्रकार राजपुरूषः इस समास वाक्य से अभेदान्वय बोध जब उभय मत सिद्ध है तो इस उभयमत सिद्ध अभेदान्वय बोध की सामग्री में, भिन्न विषयक प्रत्यक्ष की प्रतिबन्धकता भी उभयमत सिद्ध है। अर्थात् अभेदान्वयबोध की सामग्री में तो प्रतिबन्धकता आप भी मानते हैं और हम भी,

तो इस अंश में तो समानता ही है। परन्तु आप तो बिना स्वारसिकलक्षणा के राजपुरूष से भेदान्वय बोध भी मानते हैं, तो भेदान्वयबोध की सामग्री में भी आपको भिन्नविषयक प्रत्यक्ष की प्रतिबन्धकता माननी पड़ेगी।

इस प्रकार संसर्गतावाद में राज्ञः पुरूषः इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध की सामग्री तात्पर्यज्ञान में दो प्रतिवन्धकता माननी पड़ती है, यह गौरव होगा। अतः स्वत्व को प्रकार ही मानो।

यत्तु दधि पश्य इत्यादौ लुप्तद्वितीयाविभक्तिस्मरणेन दधिकर्मकदर्शनबोधवद् राजपुरूष इत्यादावपि लुप्तषष्ठीविभक्तिस्मरणेन राजसम्बन्धप्रकारकभेदान्वयबोधनिर्वाहे राजसम्बन्धिनिनिरूढ़लक्षणां स्वीकृत्याभेदान्वयबोधोपगमो निरर्थकः। न च षष्ठीतत्पुरूषादिस्थलेऽपि लुप्तविभक्तिस्मरण एव चेदन्वयबोधस्तदा "ऋद्धस्य राजमातङ्गा" इत्यादिप्रयोगापत्तिस्तत्र मातङ्गादौ राजादीनामन्वयबोधोपपत्तये राजादिपदोत्तरषष्ठ्यादि विभक्त्यनुसन्धानस्यावश्यकत्वेन समानविभक्तिकतया राजादौ ऋद्धादिपदार्थस्याभेदान्वयबोधसंभवादिति वाच्यम्। यतस्तत्र ऋद्धराजादीनामभेदान्वयबोधानुपपत्त्या नाभियुक्तानामप्रयोगः, अपि तु समासाघटकपदसापेक्षतया राजपदस्यासामर्थ्यातिदेशात् समासासाधुत्वेन। तत्सापेक्षत्वं च तदर्थान्वितस्वार्थपरत्वम्। स्वार्थश्च स्वीयवृत्तिग्रहविशेष्यः। अतएव शरैः शातितपत्रः, चैत्रस्य दासभार्या इत्यादौ न समस्यमानशातितदासपदादेः सापेक्षता। तदर्थैकदेशशातनदासत्वादावेवशरकरणकत्वचैत्रनिरूपितत्वादीनामन्वयात्। तदर्थान्वितेत्यत्र अभेदान्वयो वा निवेशनीय इति।

कोई कहता है कि - "दधि पश्य" यहाँ पर दधिपदोत्तर आयी अम् विभक्ति का लोप हो गया है तथापि उस लुप्त द्वितीया विभक्ति (अम्) का स्मरण करके जैसे "दधिकर्मकं दर्शनम्" ऐसा बोध उपर्युक्त वाक्य से होना मानते हैं। वैसे ही राजपुरूषः इस समास स्थल में भी राजपदोत्तर लुप्त षष्ठी विभक्ति का स्मरण मानकर, यहाँ भी राजसम्बन्ध प्रकारक भेदान्वयबोध अर्थात् "राजस्वत्ववान् पुरूषः" इस प्रकार का शाब्दबोध मान लेने से भी निर्वाह संभव है। पुनः राजपद की राजसम्बन्धी अर्थ में निरूढ़ लक्षणा स्वीकार करके वहाँ "राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरूषः" ऐसा अभेदान्वयबोध मानना व्यर्थ है।

इस कथन पर कोई न च इत्यादि से आक्षेप करता है कि - यदि षष्ठीतत्पुरूष समासस्थल में भी लुप्तविभक्ति का स्मरण करके ही अन्वयबोध होना माना जाएगा,

तो "ऋद्धस्य राजमातङ्गा" ऐसा अनिष्ट प्रयोग भी होने लगेगा। क्योंकि राजपुरूषः की तरह यहाँ भी राजमातङ्गा में षष्ठी तत्पुरूष समास हुआ है तो राजपदार्थ का मातङ्ग पदार्थ के साथ अन्वयबोध के लिए, आपके मतानुसार, राजपदोत्तर लुप्तषष्ठी विभक्ति का स्मरण करना आवश्यक होगा, और जब राजपदोत्तर षष्ठी विभक्ति का स्मरण करेंगें, तो षष्ठ्यन्त राजपद तथ षष्ठ्यन्त "ऋद्ध" पद दोनों समानविभक्तिक हो जाएंगें, तो राजपदार्थ में, समानविभक्तिक ऋद्ध पदोपस्थाप्य ऋद्ध पदार्थ के अभेदान्वय बोध की आपत्ति आएगी। इस मध्यपतित आपत्ति का यत्तु वारण करते हुए "यतस्तत्र" इत्यादि से कहता है कि - ऋद्ध पदार्थ का राजपदार्थ में अभेदान्वयबोध नहीं होता एतावता; प्रामाणिक लोग "ऋद्धस्य राजमातङ्गा" ऐसा प्रयोग नहीं करते है ऐसी बात नहीं है। अपितु ऋद्धस्य राजमातङ्गाः ऐसा प्रयोग करने पर राजमातङ्ग समास घटक राजपद, समास के अघटक ऋद्धपद सापेक्ष हो जाएगा, तो "सापेक्षमसमर्थवद्भवति" इस अतिदेश के अनुसार राजपद में असामर्थ्य आ जाने से राजपद का मातङ्ग पद के साथ समास होना असाधु हो जाएगा। क्योंकि समर्थः पदविधिः के अनुसार तो समर्थ का समर्थ के साथ ही समास होता है। अब यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि "राजपद ऋद्ध पद सापेक्ष हो जाएगा "ऐसा जो कहा गया, सो सापेक्ष का अर्थ क्या है? जिसके कारण पद में असामर्थ्य आ जाता है। यत्तु के ब्याज से भट्टाचार्य सापेक्षत्व की परिभाषा बताते हैं -

"तत्सापेक्षत्वं च तदर्थान्वितस्वार्थपरत्वम्"। अर्थात् किसी पद का सापेक्ष होने का अर्थ है उस पद के अर्थ से अन्वित स्वार्थ (अपने अर्थ) का प्रतिपादन करना। अब ऋद्धस्य राजमातङ्गाः में राजपद, ऋद्ध पद के अर्थ ऋद्ध से युक्त ही अपने राज अर्थ का प्रतिपादन करेगा। अतः ऋद्ध अन्वित राजपद सापेक्ष कहलाएगा। अतः सापेक्ष हो जाने से राजपद में असामर्थ्य आ जाने से उसका समास मातङ्ग पद के साथ नहीं हो पाएगा। अब प्रश्न यहाँ यह होता है कि यदि तदर्थान्वित स्वार्थपरत्व को तत्सापेक्ष माना जाएगा तो शरैः शातितपत्रः, चैत्रस्य दासभार्याः यहाँ भी शातित पद तथा दास पद सापेक्ष कहलाने लगेंगे। क्योंकि शरैः शातितपत्रः यहाँ पर शातित पद भी असमस्यमान शरैः पद के अर्थ के साथ अन्वित होकर ही अपने शातन अर्थ को कहता है, उसी प्रकार चैत्रस्य दासभार्या यहाँ भी दास पद भी असमस्यमान चैत्रस्य पद के अर्थ के साथ अन्वित ही अपने अर्थ को कहता है। इस प्रकार दोनों वाक्यों में शातित तथा दास पद के सापेक्ष हो जाने से असामर्थ्य आ जाएगा, पुनः समास असाधु हो जाएगा। तथापि शरैः शातितपत्रः तथा चैत्रस्यदासभार्या ऐसा प्रयोग प्रामाणिक लोग कैसे करते आ रहे हैं इसी आपत्ति को ध्यान में रखकर तदर्थान्वित स्वार्थपरत्वम् में आये स्वार्थ

शब्द की व्याख्या भट्टाचार्य ने स्वयं किया - स्वीयवृत्तिग्रहविशेष्यः। अर्थात् असमस्यमान पदार्थ से अन्वित स्वार्थ का अर्थ है स्व = सापेक्षत्वेन अभिमत पद, उसमें रहने वाली जो वृत्ति, उस वृत्तिज्ञान में विशेष्य जो हो। अब शरैः शातितपत्रः में शातितपद की वृत्ति शातनत्वविशिष्ट शातन अर्थ में है, तो वृत्तिज्ञान होगा - शातितपदं शातनत्वविशिष्टशातनं बोधयतु" इस वृत्तिज्ञान में विशेष्य है शातन। जबकि शरैः पद के अर्थ शरकरणकत्व के साथ अन्वित होता है शातनत्व, न कि शातन। इस प्रकार शातनत्व वृत्तिज्ञान में विशेष्य नहीं है अतः उसके शरकरणकत्व सापेक्ष होने पर भी शातितपद सापेक्ष नहीं कहलाएगा तो उसमें असामर्थ्य भी नहीं आएगा समास हो जाएगा। इसी प्रकार दास पद से होने वाला वृत्तिज्ञान में भी दासत्व विशिष्ट दास विशेष्य है दासत्व नहीं। अतः दासत्व विशिष्ट दास ही स्वार्थ है। जबकि चैत्रस्य दासभार्या में चैत्रस्य पद के अर्थ चैत्रनिरूपितत्व में, दासपदार्थतावच्छेदक दासत्व सापेक्ष है, दास नहीं। अतः यहाँ भी दास पद चैत्रनिरूपितत्वान्वित स्वार्थ = दास परक नहीं होने से सापेक्ष नहीं कहलाएगा, तो उसमें असामर्थ्य भी नहीं आएगा, तो समास हो जाएगा। ऋद्धस्य राजमातङ्गा में राजपद ऋद्धस्य पदार्थ ऋद्धनिरूपितत्व से अन्वित स्वकीयवृत्तिज्ञानीयविशेष्य राजपदार्थपरक ही है। अतः राजपद सापेक्ष हो जाएगा उसमें असामर्थ्य आ जाएगा तो समास असाधु होने लगेगा। इसीलिए प्रामाणिक लोग ऐसा प्रयोग नहीं करते। भट्टाचार्य ने सापेक्षत्व की व्याख्या में जो कहा तदर्थान्वित स्वार्थपरत्वम्। उसमें आये तदर्थान्वित की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यहाँ अन्वय से अभेदान्वय लिया जाना चाहिए ऐसी व्याख्या कर लो। अर्थात् असमस्यमान पदार्थ के साथ अभेद सम्बन्ध से अन्वित अपने अर्थपरक पद सापेक्ष कहलाता है। अब ऋद्धस्य राजमातङ्गा में अभेद सम्बन्ध से ऋद्ध पदार्थ में अन्वित ही राजपदार्थपरक यहाँ राजपद है, तो वह सापेक्ष कहलाएगा, तो असामर्थ्य आ जाएगा उसका मातङ्गापद के साथ समास असाधु हो जाएगा। अतः ऐसा प्रयोग अभियुक्तजन नहीं करते।

शरैः शातितपत्रः चैत्रस्यदासभार्या इन दोनों स्थलों पर क्रमशः शर पदार्थ का शातन पदार्थ में तथा चैत्र पदार्थ का दास पदार्थ में करणकत्व, निरूपितत्व रूपभेदसम्बन्ध से ही अन्वय होता है। अतः शातित या दास पद सापेक्ष नहीं कहलाते, तो उनमें असामर्थ्य भी नहीं आता और समास हो जाता है। अभियुक्तजन प्रयोग भी करते हैं। इस प्रकार ऋद्धस्य राजमातङ्गा में अभेदान्वयबोध की आपत्ति आ जाने से वहाँ पर लुप्त विभक्ति का स्मरण नहीं करेंगें, परन्तु राजपुरूषः में तो लुप्तषष्ठी विभक्ति का स्मरण मानकर भेद सम्बन्ध से अन्वय मानने में कोई

आपत्ति नहीं। पुनः वहाँ राजपद की राजसम्बन्धी में निरूढ़ लक्षणा मानकर अभेदान्वय बोध मानना निरर्थक ही है।

भट्टाचार्य इस मत का खण्डन करने के लिए कहते हैं -

तदसत्। स्वारसिकलक्षणाग्रहस्थलानुरोधेन तादृशसमभिव्याहारज्ञानादेस्तथाविधबोधजनकतायाः क्लृप्तत्वात् तत्र निरूढलक्षणास्वीकारे गौरवाभावात्। यत्र राजपदस्य राजसम्बन्धिनिस्वारसिकलक्षणाग्रहस्तत्र तादृशबोधस्योभयमतसिद्धतया तादृशसमभिव्याहारज्ञानस्य राजसम्बन्ध्यभिन्न-पुरुषबोधे कारणतायाः क्लृप्तत्वात्। तयैव निर्वाहेण सर्वत्र लुप्तविभक्तिस्मरणकल्पने मानाभावात्

भट्टाचार्य यत्तु के उपर्युक्त मत का तदसत् इत्यादि के द्वारा खण्डन करते हुए कहत्ते हैं कि स्वारसिकलक्षणाग्रहस्थल के अनुरोध से उस प्रकार के समभिव्याहार ज्ञान में अर्थात् राजपुरूषः इस समभिव्याहार ज्ञान में, स्वारसिकलक्षणा होने पर राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरूषः ऐसे अभेदान्वयबोध की कारणता निश्चित है, सभी मानते हैं। पुनः उसी राजपुरूषः इस समभिव्याहार में राजपद की राजसम्बन्धी अर्थ में यदि निरूढ़लक्षणा स्वीकार किया जाता है, तो कोई गौरव नहीं है। भट्टाचार्य अपनी इसी बात को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि - यदि राजपुरूषः के राजपद की राजसम्बन्धी अर्थ में किसी को स्वारसिक लक्षणा का ज्ञान हो जाए तो ऐसी स्थिति में राजपुरूषः इस वाक्य से राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरूषः ऐसा अभेदान्वयबोध होना लुप्तविभक्ति का अनुसन्धान कर भेदान्वय मानने वाले, तथा अभेदान्वय वाले दोनों मत में स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार जब राजपद की स्वारसिक लक्षणा राजसम्बन्धी अर्थ में मानते ही है तो उसी पद की उसी अर्थ में निरूढ लक्षणा मानने में कोई गौरव नहीं है, तो उसी निरूढ लक्षणा से अभेदान्वय बोध मानने से निर्वाह हो जाएगा। इसके लिए राजपदोत्तर षष्ठी विभक्ति का स्मरण मानने की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि सर्वत्र लुप्त विभक्ति का स्मरण की कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं है।

न च स्वारसिकलक्षणाग्रहस्थले तत्र तादृशान्वयबोधस्योभयवादिसिद्धत्वेऽपि, निरूढ़लक्षणामते सम्बन्धितात्पर्यस्यानादित्व-कल्पनागौरवम्, अनादितात्पर्यविषयीभूतार्थनिष्ठलक्षणाया एव निरूढलक्षणात्वादितिवाच्यम्। राज़पुरूष इत्यादिवाक्यजन्यशाब्दबोधात्पूर्वं नियमतो लुप्तविभक्तिस्मरणकल्पनापेक्षया तात्पर्यस्यानादित्वकल्पनायां गौरवविरहादिति।

पूर्वपक्षी पुनः प्रश्न करता है कि राजपुरूषः इस स्थल में स्वारसिकलक्षणाग्रह होने पर भले ही अभेदान्वयबोध का होना उभयमत सिद्ध हो, परन्तु वहाँ निरूढ़लक्षणा स्वीकार करने पर "सम्बन्धी" अर्थ में तात्पर्य को अनादि मानने की कल्पना करनी पड़ेगी, यह गौरव होगा। क्योंकि - अनादि तात्पर्य के विषयीभूत अर्थ में होने वाली लक्षणा को ही निरूढ़ लक्षणा कहा जाता है। भट्टाचार्य इस गौरवदोष का परिहार करते हुए कहते हैं कि - जब जब राजपुरूषः इस वाक्य से शाब्दबोध होगा सर्वदा उस शाब्दबोध से पूर्व निश्चित रूप से लुप्तविभक्ति के स्मरण की कल्पना करने की अपेक्षा, तात्पर्य में अनादित्व की कल्पना करने में कोई गौरव नहीं है, अपितु लाघव ही है।

न चैवं दधिपश्यति इत्यादावपि दध्यादिपदस्य दधिकर्मकादौ लक्षणां स्वीकृत्य धात्वर्थेन समं तस्याभेदान्वयबोधोपपादनसंभवात् तत्रापि लुप्तविभक्तिस्मरणकल्पनमनुचितमिति वाच्यम्। दध्यादिपदस्य दधिकर्मकादौ लक्षणाग्रहदशायामपि तस्य द्वितीयेतरविभक्त्यन्तत्वभ्रमदशायां दधिकर्मकः पश्यति, दधिकर्मकेण पश्यतीत्यादाविव उक्तस्थलेऽपि दधिकर्मकदर्शनान्वयबोधानुदयात्। भवन्मते दधिपश्यतिइत्यादिस्थली-यदधिपदोत्तरपश्यतिपदत्वरूपाकाँक्षाज्ञानादिघटितसामग्रीसत्वाद् दधिकर्मक-दर्शनान्वयस्यापत्तेर्द्वितीयान्तदध्यादिपदत्वावच्छिन्न धर्मिकतादृशधात्वा-दिसमभिव्याहारज्ञानस्य तादृशान्वयबोधे हेतुताया आवश्यकत्वात्। दधिपश्यति इत्यादौ लुप्तद्वितीयानुसन्धानस्यावश्यकत्वात्।

पूर्वपक्षी इस पर कहता है कि - यदि राजपुरूषः में राजपदोत्तर लुप्त षष्ठी विभक्ति के स्मरण की आवश्यकता नहीं: लक्षणा से ही निर्वाह हो जाएगा; तो दधिपश्यति इत्यादि वाक्य में भी दधि आदि पद की ही दधिकर्मक आदि अर्थ में लक्षणा मानकर, उस लक्ष्यार्थ दधिकर्मकत्व का दृशधात्वर्थ दर्शन के साथ अभेदान्वयबोध का उपपादन संभव है अर्थात् दधिकर्मकं दर्शनम् पुनः दधिपश्यति में भी लुप्तविभक्ति के स्मरण की कल्पना करना अनुचित ही है। भट्टाचार्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि दधिपश्यति में यदि दधि पद की दधिकर्मक अर्थ में लक्षणाग्रह हो जाए तब भी यदि दधि पद के द्वितीयाभिन्नविभक्त्यन्त होने का भ्रम हो जाए अर्थात् दधि पद को द्वितीयान्त न समझकर प्रथमान्त तृतीयान्त आदि समझ लें, तो उसे दधिपश्यति से दधिकर्मकः पश्यति या दधिकर्मकेण पश्यति ऐसा बोध होगा। जैसे दधिकर्मकः पश्यति या दधिकर्मकेण पश्यति इन वाक्यों से दधि का दर्शन क्रिया में अभेदान्वयबोध नहीं होता; वैसे ही दधि पद की दधि कर्मक अर्थ में लक्षणा होने पर भी, यदि दधि पद को द्वितीयेतरविभक्त्यन्त समझ लिया

तो तब भी उस भ्रान्त व्यक्ति को दधिकर्मकः पश्यति या दधिकर्मकेण पश्यति ऐसा भेदान्वयबोध ही होगा; दधिकर्मकाऽभिन्नं दर्शनम् ऐसा अभेदान्वयबोध नहीं होता। परन्तु आप तो लुप्तविभक्ति का स्मरण मानते नहीं तो आपके मत में - जहाँ पर दधिकर्मकाऽभिन्नदर्शन ऐसा अभेदान्वय बोध होता है ऐसे "दधि पश्यति" स्थलीय अभेदान्वयबोधोपयोगी "दधिपदोत्तरपश्यतिपदत्व रूप" आकाँक्षा ज्ञान घटित सामग्री; उपर्युक्त स्थल जहाँ कि दधि पद की दधिकर्मक में लक्षणा है और दधि में द्वितीयेतर विभक्त्यन्त होने का भ्रम है, में भी रहेगी तो उस अभेदबोधौपयिक सामग्री के बल से वहाँ भी अभेदान्वयबोध की आपत्ति आने लगेगी। इस आपत्ति से बचने के लिए आपको भी द्वितीयान्तदधिपदत्वावच्छिन्नधर्मिक दृश् धातु समभिव्याहार ज्ञान को उपर्युक्त "दधिकर्मकाऽभिन्नदर्शन" रूप अभेदान्वयबोध में कारण मानना आवश्यक होगा। यदि ऐसा मानते हैं तो उपर्युक्त भ्रम स्थल में दधिपद में द्वितीयान्त दधिपदत्व का ज्ञान न होने से अभेदौपयिक शाब्दसामग्री भी नहीं रही तो अभेदान्वयबोध की आपत्ति भी नहीं रही। इस प्रकार जब उपर्युक्त अभेदान्वय बोध में द्वितीयान्त दधिपदत्व धर्मिक आदि समभिव्याहार ज्ञान को कारण मानना आवश्यक है, तो लुप्त द्वितीया विभक्ति का अनुसन्धान मानना भी आवश्यक है, अन्यथा द्वितीयान्त दधिपदत्व का ज्ञान रूप समभिव्याहार ज्ञान ही अशक्य होगा।

राजसम्बन्धिपुरूषाद्यन्वयबोधे च राजपदाव्यवहितोत्तर- पुरूषादित्व-प्रकारकज्ञानस्य हेतुतायाः स्वारसिकलक्षणाग्रह- स्थलानुरोधेनावश्य-कल्पनीयतया राजपुरूष इत्यादौ राजादिपदस्य तृतीयाद्यन्तत्वभ्रमदशायां राजसम्बन्धिपुरूषाद्यन्वयबोधापत्त्यसंभवात्, तृतीयादिविभक्त्याव्यवधानात्। दधिपश्यति इत्यादौ दधिपदाव्यवहितोत्तरत्व प्रकारकधातुपदज्ञानस्य हेतुताया अक्लृप्तत्वात्। पश्यति दधि, पश्यति चैत्रो दधि इत्यादावपि दधिकर्मकदर्शनान्वयबोधात् तादृशज्ञानहेतुताया अशक्यकल्पनीयत्वाच्चेति।

राजसम्बन्धि पुरूष इस अभेदान्वय बोध में, राजपदाव्यवहितोत्तरपुरूषपदादित्व प्रकारक ज्ञान अर्थात् राजपुरूष इस प्रकार का ज्ञान की कारणता, स्वारसिकलक्षणा ग्रह स्थल के अनुरोध से अवश्य कल्पनीय है। ऐसी स्थिति में जबकि राजपद की स्वारसिक लक्षणा राजसम्बन्धी अर्थ में हो तो वहाँ राजसमबन्धी पुरूषः ऐसा अभेदान्वयबोध जब सर्वसम्मत है तो इस प्रकार के अभेदान्वयबोध की कारणता की राजपदाव्यवहितोत्तर पुरूषपदत्वप्रकारक समभिव्याहार ज्ञान अर्थात् राजपुरूष इस समभिव्याहार ज्ञान में अवश्य कल्पना करनी पड़ेगी। तो; यदि किसी को राजपुरूषः के राजपद में तृतीयान्तत्व का भ्रम हो जाए अर्थात् राजपद को राज्ञा ऐसा समझ

ले तो वहाँ "राजसम्बन्धी पुरूषः" इस अभेदान्वय बोध की आपत्ति नहीं दी जा सकती। क्योंकि उस भ्रान्त व्यक्ति के अनुसार राजपद तथा पुरूष पद के मध्य तृतीया विभक्ति का व्यवधान होगा, तो राजपदाव्यवहितोत्तर पुरूष पदत्व प्रकारक ज्ञान रूप अभेदान्वयबोधोपयोगी सामग्री न होने से अभेदान्वय बोध नहीं होगा। दधि पश्यति में अभेदान्वय बोध के लिए तो दधिपदाव्यवहितोत्तरत्व प्रकारक धातु पद ज्ञान को कारण मानना निश्चित नहीं है। क्योंकि जहाँ - जहाँ दधिकर्मकाभिन्नदर्शन ऐसा अभेदान्वय बोध होता है सर्वत्र दधिपदाव्यवहितोत्तरत्व प्रकारक धातु पद का ज्ञांन नहीं होता। क्योंकि उपर्युक्त अभेदान्वयबोध तो पश्यति दधि, पश्यति चैत्रोदधि इत्यादि स्थलों में भी होता है; परन्तु इन स्थलों में दधिपदाव्यवहितोत्तरत्व प्रकारक दृश् पद का ज्ञान तो नहीं हो रहा है। अतः दधिकर्मकाभिन्नं दर्शनम् इस अभेदान्वय बोध की कारणता दधिपदाव्यवहितोत्तरत्व प्रकारक दृश् पदत्व रूप समभिव्याहार ज्ञान में अशक्य कल्पनीय होने से यदि किसी को दधि पद में तृतीयान्तत्व का भ्रम हो जाए तब भी उसे उपर्युक्त अभेदान्वयबोध की आपत्ति होगी ही। उस आपत्ति का वारण तभी हो सकता, यदि द्वितीयान्त दधि पदत्वावच्छिन्न धर्मिक दृश् धातु समभिव्याहार में उपर्युक्त अभेदान्वय की कारणता मानें। इस प्रकार लुप्तद्वितीया विभक्ति का स्मरण मानना दधिपश्यति में आवश्यक है राजपुरूषः में नहीं।

तण्डुलं पचति इत्यादौ तण्डुलादिपदस्यैव तण्डुलादिकर्मके लक्षणा विभक्तिस्तुसाधुत्वार्था, एवं राज्ञः पुरूष इत्यादावपि राजादिपदस्य सम्बन्ध्यादौ लक्षणा विभक्तिः साधुत्वार्था। तत्तद्विभक्त्यन्त-समभिव्याहारस्य तत् तल्लाक्षणिकार्थबोधनियामकत्वान्नातिप्रसङ्गः। विभक्तेरेव प्रकृत्यर्थ विशेषित स्वार्थेलक्षणेति न संभवति। विभक्तेः कुत्रापि शक्तेरक्लृप्ततया, तत्र शक्यसम्बन्धरूपलक्षणाया असंभवात्। तण्डुलः प्रमेयः इत्यादौ विभक्त्यर्थामिश्रितस्यैव प्रकृत्यर्थस्य भानात्।

गदाधर भट्टाचार्य अब प्रातिपदिकार्थ तथा धात्वर्थ का साक्षात् भेद सम्बन्ध से अन्वय नहीं होता इसलिए कहते हैं कि - तण्डुलं पचति इत्यादि स्थल में तण्डुल पदोत्तर अम् विभक्ति का कर्मत्व अर्थ करके उसका धात्वर्थ में अन्वय अर्थात् भेदान्वय करने की अपेक्षा तण्डुल पद की ही तण्डुल कर्मक अर्थ में लक्षणा करनी चाहिए और विभक्ति को साधुत्वार्थक मानना चाहिए। इस प्रकार तण्डुलं पचति का तण्डुलकर्मकः पाकः या तण्डुलकर्मकाऽभिन्नः पाकः ऐसा अभेदान्वय ही मानना चाहिए। इसी प्रकार राज्ञः पुरूषः इस असमास स्थल में भी राजादि पद की समवन्धी आदि में अर्थात् राजसम्बन्धी अर्थ में लक्षणा करके, विभक्ति को साधुत्वार्थक ही मानना चाहिए और यहाँ भी राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरूषः ऐसा

अभेदान्वय बोध ही मानना चाहिए। तब प्रश्न यह हो सकता है कि यदि इस रीति से विभक्तियाँ सांधुत्वार्थक होगी तो राजा पुरूषः राजानम् पुरूषः इत्यादि स्थलों में भी विभक्ति को साधुत्वार्थक मानकर राजपद की राजसम्बन्धी में लक्षणा करके अभेदान्वय बोध की आपत्ति आएगी। भट्टाचार्य इस आपत्ति को ध्यान में रखकर कहते हैं - तत् तद् विभवक्तयन्तत्वादि। अर्थात् "राजसम्बन्धी इस लाक्षणिक अर्थ को कहने की शक्ति राजपद में जो रहती है, उस शक्ति का नियामक षष्ठीविभक्त्यन्तराजपद रूप समभिव्याहार है। अर्थात् जहाँ पर षष्ठीविभक्त्यन्तराजपद "राज्ञः" रहेगा वहीं पर राजपद लक्षणया "राजसम्बन्धी" अर्थ का बोधक होगा, अन्यत्र नहीं। इसी प्रकार राजकर्मक इस अर्थ को राज पद लक्षणया तभी बोधित कराएगा यदि वह द्वितीया विभक्त्यन्त राजानम् हो। इस प्रकार राजा पुरूषः या राजानम् पुरूषः में षष्ठीविभक्त्यन्त राजपद समभिव्याहार रूप कारण नहीं होने से राजसम्बन्धी रूप अर्थ का बोध भी नहीं होगा। यदि कोई राज्ञः पुरूषः में राजरूप प्रकृति की ही जैसे विभक्त्यन्त राज्ञः के अर्थ "राजसम्बन्धी" में लक्षणा करते हैं, इसके विपरीत ङस् विभक्ति की ही प्रकृत्यर्थ राजविशिष्ट सम्बन्धी रूप स्वार्थ में लक्षणा मान ली जाए, तो ऐसा नहीं कर सकते। क्योंकि विभक्ति की किसी भी अर्थ में शक्ति क्लृप्त (निश्चित) नहीं है, तो जब विभक्ति का कोई शक्यार्थ ही क्लृप्त (निश्चित) नहीं है तो उस विभक्ति का शक्य सम्बन्ध रूप लक्षणा किसी अर्थ में कैसे सम्भव होगी। अर्थात् असम्भव ही है। विभक्ति की शक्ति किसी अर्थ में क्लृप्त नहीं होती इसमें प्रमाण रूप से अनुभव को बताते हुए भट्टाचार्य कहते हैं कि - "तण्डुलः प्रमेयः" इस वाक्य से जो अभेदान्वय बोध होता है उसमें सुविभक्त्यर्थ संख्या से अमिश्रित केवल प्रकृत्यर्थ प्रमेय ही भासित होता है। इसलिए विभक्ति रूप प्रत्यय की शक्ति किसी भी अर्थ में अक्लृप्त है ऐसा कहा गया।

तात्पर्य यहाँ यह है कि - पद की शक्ति का निर्णय व्यवहार या कोष या व्याकरण आदि प्रमाणों के आधार पर किया जाता है। तो जैसे घटमानय घटं नय पटमानय इत्यादि वाक्यों में किये गये घट पट आदि शब्दों के अवाप उद्वाप को सुनकर तथा तदनुसारव्यवहार को देखकर बालक को प्रकृतिभूत घट पट आदि शब्दों की घट पट आदि में रहने वाली शक्ति का ज्ञान होता है उसी प्रकार घटम् घटेन आदि प्रत्यय के अवाप उद्वाप तथा "कर्मणि द्वितीया" आदि व्याकरणानुशासन के द्वारा भी प्रत्यय की शक्ति कर्मत्व आदि अर्थ में जब ज्ञात होती है, तो पुनः भट्टाचार्य का "विभक्तेः कुत्रापि शक्तेरक्लृप्ततया" यह कथन युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। अतः भट्टाचार्य के उपर्युक्त कथन का आशय गुरूजी कहते हैं कि - शक्तिग्राहक व्यवहार कोष व्याकरण आदि प्रमाणों के द्वारा प्रकृत्यर्थ

रूप से जाने गये अर्थ का सर्वत्र शाब्दबोध में भान जैसे ज्ञात होता है, उसी प्रकार उन शक्तिग्राहकों के द्वारा प्रत्ययार्थ रूप में जाने गये अर्थ का सर्वत्र शाब्दबोध में भासित होना निश्चित नहीं है। जैसे तण्डुलः प्रमेयः में ही प्रकृत्यर्थ रूप में ज्ञात तण्डुल जैसे विषय रूप में भासित हो रहा है, सु प्रत्ययार्थ संख्या नहीं। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त व्यवहार कोष व्याकरण आदि शक्ति ग्राहकों के ज्ञाता पुरूषों को; शाब्दबोध में भासित होने वाले प्रकृत्यर्थ में रहने वाली शाब्दबोधीय विषयता का प्रयोजक प्रकृति पद है ऐसा निश्चय होता है। पद में अर्थनिष्ठविषयता की प्रयोजकता पदार्थोपस्थिति के द्वारा ही होती है। इस प्रकार प्रकृतिजन्य पदार्थोपस्थिति शाब्दबोध की निश्चित सामग्री है यह बात ज्ञात होती है। प्रत्ययजन्य पदार्थोपस्थिति शाब्दबोध की निश्चित सामग्री नहीं है यह बात भी ज्ञात होती है। इस तरह शाब्दबोध के विषय का निश्चित रूप से उपस्थापक रूप में ज्ञात प्रकृति को ही, शाब्दबोध में अनिश्चित रूप से भासित होने वाले अर्थ के उपस्थापक प्रत्यय के अर्थ का भी उपस्थापक होने की कल्पना करना युक्त है। क्योंकि प्रकृत्यर्थ की प्रतीति प्रथमतः होवे इसमें कोई बाधक नहीं है। इसलिए प्रकृत्यर्थान्वित स्वार्थबोधकत्वं प्रत्ययानाम् इस नियम में भी पूर्व में प्रकृत्यर्थ की उपस्थित होने पर ही उससे अन्वित प्रत्ययार्थ का उपस्थापक प्रत्यय को माना जाता है। यदि प्रत्यय को ही प्रकृत्यर्थ का उपस्थापक माना जाए तो "तण्डुलः प्रमेयः" इस वाक्य में ही इस नियम का व्यभिचार होगा। क्योंकि यहाँ प्रत्ययार्थ तो कोई है नहीं तो वह प्रकृत्यर्थ का उपस्थापन कैसे कर पाएगा? अतः प्रत्ययार्थ के द्वारा प्रकृत्यर्थ की प्रतीति बाधित है। इस प्रकार शाब्दबोध में प्रथमतः पदार्थोपस्थापक रूप में ज्ञात प्रकृति के द्वारा ही लक्षणया प्रत्ययार्थ का भी उपस्थापन संभव है, प्रत्ययार्थ के द्वारा प्रकृत्यर्थ का नहीं। जब प्रकृति के द्वारा ही प्रत्ययार्थ विशिष्ट प्रकृत्यर्थ की उपस्थिति करा दी जाएगी तो शाब्दबोध में भासित होने वाले विषयों में रहने वाली विषयताओं की प्रयोजकता; उपस्थिति के द्वारा; जैसी प्रकृति में क्लृप्त है निश्चित है, वैसी प्रत्यय में नहीं। प्रत्यय में शाब्दबोधीयविषयता की प्रयोजकता क्लृप्त नहीं है। यही तात्पर्य है "विभक्तेः कुत्रापि शक्तेरक्लृप्तत्वात्" का, जिसको भट्टाचार्य ने तण्डुलः प्रमेयः" इस स्थल में दिखाया।

प्रकृतिशक्तेः स्वार्थक्लृप्ततया तत्र लक्षणासंभवादिति तु चिन्तनीयम्। राजादिपदस्य राजसम्बन्ध्यादौ शक्तत्वभ्रमदशायामिव तदर्थलक्षणाग्रहदशायामपि राजसम्बन्धिनः पुरूष इत्यादाविव राजसम्बन्धिसम्बन्धी पुरुष इत्याद्यन्वयबोधस्य सर्वजनानुभवसिद्धत्वात्।

अभी-अभी ऊपर के ग्रन्थ से यह बात सिद्ध हो गयी कि प्रकृति की अपने अर्थ में शक्ति क्लृप्त है, तो अपने अर्थ में क्लृप्त शक्ति वाली राजन्

आदि प्रकृतिभूत पद की ही राजसम्बन्धी अर्थ में लक्षणा करके राज्ञः पुरूषः में राजसम्बन्धी पुरूषः अर्थ की प्रतीति मान लेंगे, ङस् विभक्ति की शक्ति सम्बन्ध (स्वत्व) अर्थ में मानने की आवश्यकता नहीं है। यह जो बात कही गयी; भट्टाचार्य उसके सम्बन्ध में कहते हैं इति तु चिन्तनीयम्, अर्थात् यह बात चिन्तनीय है अर्थात् अमान्य है। इस चिन्ता का बीज भट्टाचार्य स्वयं आगे बताते हैं कि - जैसे राज्ञः पुरूषः यहाँ पर राज पद की शक्ति का भ्रम यदि राजसम्बन्धी अर्थ में हो जाए तो उपर्युक्त वाक्य से जैसे राजसम्बन्धिसम्बन्धी पुरूषः ऐसा शाब्दबोध होता है, वैसे ही "राजसम्बन्धिनः पुरूषः" इस वाक्य से होने वाले बोध की तरह राजसम्बन्धिसम्बन्धी पुरूषः इस प्रकार का अन्वयबोध भी सर्वानुभव सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि जैसे "राजसम्बन्धिनः पुरूषः" इस वाक्य से राजसम्बन्धिसम्बन्धी पुरूष इस प्रकार का शाब्दबोध होता है। वैसे ही राज्ञः पुरूषः इस वाक्य में आये राज पद की राजसम्बन्धी अर्थ में शक्ति भ्रम हो जाने पर जैसे राजसम्बन्धि-सम्बन्धीपुरूषः ऐसा अन्वय बोध होता है, इसी प्रकार राजपुरूषः के राजपद की राजसम्बन्धी अर्थ में लक्षणा ग्रह हो जाने पर भी राजसम्बन्धिसम्बन्धी पुरूषः ऐसा अन्वयबोध सर्वजनानुभव सिद्ध है। ऐसी स्थिति में आपके कथनानुसार यदि राज्ञः पुरूषः में प्रकृतिभूत राजपद की राजसम्बन्धी अर्थ में लक्षणा करने पर विभक्ति का कोई अर्थ न मानकर उसे साधुत्वार्थक मात्र माना जाएगा तो राजसम्बन्धिसम्बन्धी पुरूष इस सर्वजनानुभव सिद्ध शाब्दबोध में दूसरे "सम्बन्ध" रूप अर्थ का भासित होना कैसे उपपन्न होगा? अर्थात् नहीं हो पाएगा। अतः प्रकृति की अर्थ विशेष में लक्षणा करके विभक्ति का अर्थ नहीं मानना, उचित नहीं है। अर्थात् राज्ञः पुरूषः में राज पद की राज सम्बन्धी में लक्षणा मानकर विभक्ति को साधुत्वार्थक मानकर वहाँ भेदान्वय मानना उचित नहीं। इस तरह अथैतादृशरीत्यापत्तिवारणेऽपि इत्यादि ग्रन्थ से असमास स्थल राज्ञः पुरूषः में ङस् विभक्ति का सम्बन्ध अर्थ नहीं स्वीकार करना चाहिए, यह जो कहा गया था, उसका परिहार हो गया।

पचति चैत्रः इत्यादावपि कृतिसम्बन्धेन पाकादेश्चैत्राद्यंशे विशेषणत्वोपगमे चैत्रो न पचति इत्यादावन्वयबोधानुपपत्तिर्द्रष्टव्या, कृतिसम्बन्धस्यापिवृत्यनियामकतया तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताका-भावस्याप्रसिद्ध्या तद्बोधनासंभवात्।

पूर्व में जो पचति चैत्रः इत्यादावपिकृतिसम्बन्धेन पाकादेशेचेत्राद्यंशेऽन्वय-बोधस्वीकारस्तूचितः कहा गया; उसका परिहार किया जा रहा है। पचति चैत्रः इत्यादि वाक्य में भी कृति सम्बन्ध से पाक आदि धात्वर्थ को चैत्रादिप्रातिपदिकार्थ में विशेषण मानकर शाब्दबोध मानना भी उचित नहीं। क्योंकि तब "चैत्रो न पचति" इस वाक्य से होने वाला शाब्दबोध अनुपपन्न होने लगेगा। क्योंकि यदि नञ्

रहित चैत्रः पचति इस समभिव्याहार स्थल में पाक का कृति सम्बन्ध से चैत्र में अन्वय होगा तो चैत्रो न पचति इस नञ् घटित स्थल में भी कृति सम्बन्ध से पाक का अभाव चैत्र में मानना होगा; जबकि कृति सम्बन्ध वृत्यनियामक सम्बन्ध होने के कारण अभावीयप्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं होगा तो, कृति सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता के अप्रसिद्ध होने से कृतिसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक पाकाभाव भी अप्रसिद्ध हो जाएगा, तो उसका बोध उपर्युक्त नञ् घटित स्थल में नञ् के द्वारा संभव नहीं होगा।

अथैवमपि चैत्रो जानातीत्यादौ चैत्राद्यंशे ज्ञानादेराश्रयतासम्बन्धेनान्वयबोधोपगमे क्षतिविरहः। आश्रयतासम्बन्धस्याभावप्रतियोगितावच्छेदकतया न जानाति चैत्र इत्यादावाश्रयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकज्ञानाद्यभावस्यैव भानसंभवात्। तथा चाख्यातस्याश्रयत्वार्थकत्वं निर्युक्तिकम्।

वृत्यनियामक सम्बन्ध के प्रतियोगितानवच्छेदक होने के कारण आख्यात का अर्थ कृति मानने पर भी यह प्रस्तुत ग्रन्थ शङ्कापरक है जो इतिचेत् तक चलेगा। अस्तु। आशङ्का का आशय यह है कि चैत्रो जानाति यहाँ पर "ति" रूप आख्यात का आश्रयता रूप अर्थ मानने की अपेक्षा चैत्र में ज्ञा धात्वर्थ ज्ञान का आश्रयता सम्बन्ध से अन्वयबोध "आश्रयतासम्बन्धेन ज्ञानवाँश्चैत्रः" ऐसा मानने में कोई क्षति नहीं। क्योंकि आश्रयता के वृत्ति नियामक सम्बन्ध होने के कारण, आश्रयता सम्बन्ध अभावीयप्रतियोगिता का अवच्छेदक हो सकता है, तो, "न जानाति चैत्रः" यहाँ पर आश्रयतासम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक ज्ञानाभाववाँश्चैत्रः ऐसा शाब्दबोध होना संभव है। इस तरह जब आश्रयता सम्बन्ध से ही धात्वर्थ ज्ञान का प्रातिपदिकार्थ चैत्र में अन्वय संभव है, तब आख्यात का अर्थ आश्रयत्व मानने की क्या आवश्यकता?

न च धात्वर्थज्ञानादेराश्रयतासम्बन्धेन चैत्रादिरूपप्रातिपदिकार्थे साक्षात्प्रकारत्वोपगमे ज्ञानं चैत्र इत्यादावपि तथान्वयबोधापत्तिरितिवाच्यम्, तादृशान्वयबोधे आख्यातान्तधातुसमभिव्याहारज्ञानस्य हेतुत्वात्। भवतोऽप्याश्रयताप्रकारकबोधे तादृशसमभिव्याहारज्ञानस्य हेतुताया आवश्यकत्वात्।

अब प्रश्न यह होता है कि - यदि आश्रयता सम्बन्ध से ज्ञाधात्वर्थ ज्ञान को चैत्र आदि प्रातिपदिकार्थ में साक्षात् विशेषण माना जाएगा अर्थात् आश्रयता सम्बन्धेन ज्ञानवाँश्चैत्रः इत्याकारक शाब्दबोध चैत्रः जानाति से माना जाएगा तो, इस प्रकार का शाब्दबोध "ज्ञानं चैत्रः" यहाँ भी होने लगेगा, यह आपत्ति आएगी। संसर्गतावादी उत्तर देता है कि आश्रयता सम्बन्धेन ज्ञानवाँश्चैत्रः इस प्रकार के

भेदान्वयबोध के लिए "आख्यातान्त धातु पद के समभिव्याहार का ज्ञान "कारण माना जाता है। इस प्रकार के आख्यातान्तधातुपदसमभिव्याहरज्ञान को; आप प्रकारतावादी को भी जो कि उपर्युक्त चैत्रः जानाति में आश्रयताप्रकारक बोध अर्थात् ज्ञानाश्रयतावाँश्चैत्रः ऐसा अन्वयबोध स्वीकार करते हैं, कारण मानना आवश्यक है। क्योंकि चैत्रः जानाति में यदि ति आख्यात का अर्थ आश्रयता मानकर उसे चैत्र में प्रकार भी मानें और ज्ञानाश्रयतावाँचैत्रः ऐसा शाब्दबोध मानें, तब भी तो ज्ञानं चैत्रः में उक्त आश्रयताप्रकारक चैत्र विशेष्यक शाब्दबोध की आपत्ति होगी ही। उस आपत्ति का वारण प्रकारतावादी भी तो "आख्यातान्त ज्ञा धातु "जानाति" पदसमभिव्याहारज्ञान को ही मानकर करेंगें। इस प्रकार आख्यातान्त धातु = जानाति पद के समभिव्याहार का ज्ञानरूप कारण के न होने से ज्ञानं चैत्रः में आश्रयतासम्बन्धेन ज्ञानवाँश्चैत्रः ऐसे शाब्दबोध की भी आपत्ति नहीं है। पुनः आश्रयता में आख्यात की वृत्ति की कल्पना करना निर्युक्तिक ही है।

यत्तु पचति चैत्र इत्यादौ पाककृतिमाँश्चैत्र इत्याकारकाख्यातार्थप्रकारकशाब्दबोधोत्पत्त्या तत्राख्यातजन्यकृत्युपस्थिते-र्हेतुत्वकल्पनमावश्यकम्। तथा च तत् तदर्थविशेषान्निवेश्यात्म-निष्ठप्रत्यासत्त्या पदार्थोपस्थितेर्हेतुत्वकल्पने शक्यलक्ष्य सहस्रार्थ-भेदेनाख्यातजन्योपस्थितेः कारणताबाहुल्यमित्यर्थविशेषाननिवेश्य धात्वर्थ-प्रकारकान्वयं प्रति प्रत्ययजन्योपस्थितेः समानविशेष्यताप्रत्यासत्त्यैव हेतुत्वमुपेयते। तथा च तादृशकारणबाधेन चैत्रादेर्धात्वर्थज्ञानविशेष्यताया भानं न सम्भवति। यदि च धातुत्वप्रत्ययत्वादीनामनुगतानां दुर्निर्वचतया नैतादृशानुगतकार्यकारणभावकल्पनं संभवतीतिमन्यते; तदापि, यत्र ज्ञाधातोरेव पाकादौ लक्षणा तत्र जानातीत्यादिवाक्यात् पाककृत्यादि-प्रकारकान्वयबोधोत्पत्त्या ज्ञाधात्वर्थप्रकारकान्वयबोधे तदव्यवहितोत्तर-तिप्त्वादिप्रकारकज्ञानजन्योपस्थितेः समानविशेष्यत्वप्रत्यासच्या हेतुतायास्तत्र कल्पनीयतया तादृशकारणबाधाच्चैत्रो जानातीत्यादौ चैत्रादेर्ज्ञानविशेष्यतया भानानुपपत्तिर्दुर्वारैवेति।

कोई व्यक्ति ज्ञानं चैत्रः यहाँ पर आये ज्ञानप्रकारक चैत्रविशेष्यक "ज्ञानवाँश्चैत्रः" इस बोधापत्ति के वारण के लिए, विषयता सम्बन्ध से कार्य कारणभाव प्रस्तुत करते हुए कहता है कि -

पचति चैत्रः इत्यादि स्थल में पाककृतिमाँश्चैत्रः ऐसा आख्यातार्थकृतिप्रकारक चैत्र विशेष्यकशाब्दबोध उत्पन्न होता है। अतः यहाँ पर आख्यात ति पदजन्य कृति की उपस्थिति में कारणता की कल्पना करना आवश्यक है, अन्यथा कृति का प्रकार

रूप से भासित होना कैसे उपपन्न होगा? ऐसी स्थिति में तत् तत् पद के तत् तद् अर्थों का विशेषतः नामनिर्देशपूर्वक निवेश करके आत्मनिष्ठप्रत्यासत्त्या अर्थात् समवाय सम्बन्ध से पदार्थोपस्थिति में कारणता की कल्पना करने पर, पदों के शक्यार्थ (वाच्यार्थ) तथा लक्ष्यार्थ के हजारों भेद होने से आख्यातजन्य उपस्थिति में कारणता का बाहुल्य आ जाएगा। अतः अर्थ विशेष का निवेश नहीं करके "धात्वर्थ प्रकारक अन्वय के प्रति; प्रत्यय (आख्यात) जन्य उपस्थिति समानविशेष्यता सम्बन्ध से कारण होती है। ऐसा कार्यकारणभाव मानेंगे। तब "ज्ञानं चैत्रः" यहाँ पर समानविशेष्यतासमवन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति चैत्र आदि प्रथमान्त पद बोध्य में नहीं रहेगी, तो कारण के न होने से ज्ञाधात्वर्थ ज्ञान प्रकारक शाब्दबोध में चैत्र आदि का विशेष्य रूप से भान होना सम्भव नहीं होगा। अर्थात् ज्ञान प्रकारक चैत्र विशेश्यक शाब्दवोध ज्ञानं चैत्रः इस वाक्य से नहीं हो पाएगा। क्योंकि कारणरूप प्रत्ययजन्य उपस्थिति विशेष्यता सम्बन्ध से चैत्र में नहीं रहेगी।

तात्पर्य यह है कि पचति चैत्रः इस वाक्य से पाककृतिमाँश्चैत्रः ऐसा आख्यातार्थकृति प्रकारक चैत्र विशेष्यक शाब्दवोध होता है, तो आख्यात पद से होने वाली कृति की उपस्थिति को उपर्युक्त शाब्दबोध में अवश्य कारण मानना पड़ेगा। अन्यथा कृति का प्रकार रूप से शाब्दबोध में भासित होना कैसे उपपन्न हो पाएगा? नहीं हो पाएगा। ऐसी स्थिति में यदि शाब्दबोध तथा उपस्थिति का कार्यकारणभाव समवाय सम्बन्ध से मानेंगे तो आख्यात पद के वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ हजारों हैं, जैसे पचति में ति का अर्थ कृति है तो रथोगच्छति में तिका लक्ष्यार्थ व्यापार है और चैत्रो ज़ानति में ति का अर्थ आश्रयत्व; तो उन सबका नाम ले लेकर निवेश करना पड़ेगा, आख्यातार्थ कृति प्रकारक शाब्दबोधं प्रति आख्यातजन्योपस्थितिः क़ारणम्, आख्यातार्थ व्यापार प्रकारक शाब्दबोधं प्रति आख्यातजन्योपस्थितिः कारणम्। इस प्रकार आख्यातजन्य उपस्थिति में आख्यातार्थ के हजारों होने से हजारों कारणता माननी पड़ेगी। इसलिए आख्यातार्थकृति आदि का विशेष रूप से निवेश किये बिना, आख्यातार्थ में प्रकारता न मानकर धात्वर्थ में प्रकारता मानकर तथा आख्यातार्थ में विशेष्यता मानकर विषयता सम्बन्ध से कार्यकारणभाव मानेंगे - धात्वर्थप्रकारक अन्वयं प्रति समानविशेष्यता सम्बन्धेन प्रत्ययजन्योपस्थितिः कारणमृ अर्थात् विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति कारण होती है। ऐसी स्थिति में जबकि उपर्युक्त विशेष्यता सम्बन्ध से कार्यकारणभाव मान लिया तो ज्ञानं चैत्रः में चूँकि प्रत्ययजन्य उपस्थिति विशेष्यता सम्बन्ध से चैत्र में नहीं रहती, अतः वहाँ धात्वर्थप्रकारक शाब्दबोध भी विशेष्यता सम्बन्ध से नहीं रहेगा तो धात्वर्थ ज्ञान रूप प्रकार की विशेष्यता भी चैत्र में नहीं रहेगी। यदि कहो धातुत्व या प्रत्ययत्व का अनुगत रूप से निर्वचन नहीं किया जा सकता।

अतः कार्यकारणभाव में धातुत्वेन धातु का तथा प्रत्ययत्वेन प्रत्यय का निवेश करके उपर्युक्त अनुगत कार्यकारणभाव की कल्पना संभव नहीं है, ऐसा यदि मानते हो तब भी जहाँ जानाति के ज्ञा धातु की पाक आदि में लक्षणा ग्रह किसी को हो जाए तो वहाँ पर जानाति इस वाक्य से पाककृति प्रकारक ही शाब्दबोध होता है। अतः वहाँ ज्ञा धात्वर्थ प्रकारक अन्वय बोध के प्रति, ज्ञा धातु के अव्यहित उत्तर में तिप्त्वप्रकारक ज्ञानजन्य उपस्थिति को समानविशेष्यता सम्बन्ध से कारणता की कल्पना करनी पड़ेगी। चैत्रो जानाति में ज्ञा धातूत्तरतिप्त्वप्रकारक ज्ञान अर्थात् "जानाति" इस प्रकार के ज्ञान से जन्य उपस्थिति चूँकि विशेष्यता सम्बन्ध से चैत्र में नहीं रहती, वह तो आख्यातार्थ आश्रयत्व में विशेष्यता सम्बन्ध से रहेगी। अतः ज्ञाधात्वर्थ ज्ञान प्रकारक शाव्दबोध भी विशेष्यता सम्बन्ध से चैत्र में नहीं रहेगा, तो उपर्युक्त शाब्दबोध की ज्ञाननिष्ठ प्रकारता की विशेष्यता भी चैत्र में भासित नहीं होगी। इस प्रकार ज्ञान की विशेष्यता का चैत्र में भासित न हो पाने की अनुपपत्ति दुर्वार हो जाएगी। यत्तु के कहने का अभिप्राय यह है कि ज्ञाधात्वर्थ ज्ञान का आख्यातार्थ आश्रयत्व में निरूपितत्व सम्बन्ध से अन्वय करने के लिए आख्यात की आश्रयत्व में शक्ति मानना आवश्यक है उपर्युक्त "धात्वर्थ प्रकारकान्वयबोधं प्रति प्रत्ययजन्योपस्थितिः समान विशेष्यता सम्बन्धेन कारणम्" इस कार्यकारणभाव के अनुसार। इस तरह आख्यात का कृति या आश्रयत्व अर्थ यथास्थल मानने पर भी वह आख्यातार्थ ही उपर्युक्त कार्यकारणभाव के अनुसार शाब्दबोध में ज्ञाधात्वर्थ के विशेष्यरूप से भासित होगा, चैत्रादि नहीं। जानाति चैत्रः में जो आश्रयता सम्बन्ध से ज्ञान प्रकारक चैत्र विशेष्यक शाब्दबोध ज्ञानवाँश्चैत्रः ऐसा संसर्गतावादी मानते हैं वह अनुपपन्न ही होगा। क्योंकि संसर्गतावादियों का उपर्युक्त शाब्दबोध भी ज्ञा धात्वर्थ ज्ञान प्रकारक है। यह शाब्दबोध विशेष्यता सम्बन्ध से जिस चैत्र में उत्पन्न होगा वहाँ विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति को होनी चाहिए। परन्तु प्रत्ययजन्य उपस्थिति विशेष्यता सम्बन्ध से चैत्र में रहती नहीं। अतः आश्रयता सम्बन्धेन ज्ञानवाँश्चैत्रः इस शाब्दबोध की अनुपपत्ति होगी, संसर्गतावाद में।

संसर्गतावाद का इस प्रकार से खण्डन करने वाले यत्तु के मत का खण्डन भट्टाचार्य करते हुए करते हैं -

तदप्यसत्। प्रत्ययान्तरार्थविशेष्यकशाब्दबोधे व्यभिचारवारणाय तादृशोपस्थितिवैशिष्ट्यस्य तादृशोपस्थितिजन्यतावच्छेदककोटौ अवश्यं निवेशनीयतया, तदनुत्तरशाब्दबोधे चैत्रादेर्ज्ञानादिविशेष्यतया भाने तादृशकारणबाधस्याकिञ्चित्करत्वात्। तादृशानुपूर्वीघटकज्ञादिधातुजन्य-

ज्ञानाद्युपस्थितिचैत्रादिरूपविशेष्योपस्थितियोग्यताज्ञानादिघटितसामग्र्या आश्रयतासंसर्गकशाब्दबोधजनने बाधकाभावात्।

यत्तु का उपर्युक्त मत निस्तत्त्व है। क्योंकि जैसे "जानाति" वाक्य से ज्ञाधात्वर्थ ज्ञान प्रकारक आख्यातार्थ आश्रयत्व विशेष्यक "ज्ञानाश्रयत्वम्" ऐसा शाब्दबोध होता है, वैसे ही "जानीते" इस वाक्य से भी होता है। ऐसी स्थिति में एक शाब्दबोध के प्रति दो वाक्यों के कारण होने से व्यभिचार दोष तो होगा ही। क्योंकि जब जानाति इस वाक्य से उपर्युक्त शाब्दबोध होगा, तो "जानीते" वाक्यरूप कारण का अभाव होने से व्यभिचार होगा और जानीते से उपर्युक्त शाब्दबोध होगा, तो "जानाति" वाक्य रूप कारण के अभाव रहने से। अतः इस व्यभिचार दोष के वारण करने के लिए शाब्दबोध के कारणीभूत "प्रत्ययजन्योपस्थिति" के जन्यतावच्छेदक कोटि "ति" या "ते" रूप प्रत्ययजन्योपस्थिति" का वैशिष्ट्य अव्यवहितोत्तरत्व सम्बन्ध से अवश्य निवेश करना पड़ेगा। अर्थात् "जानाति" इति ति प्रत्ययजन्य आश्रयत्वोपस्थित्यव्यहितोत्तरजायमानं धात्वर्थ प्रकारक शाब्दबोधं प्रति, ति प्रत्ययजन्योपस्थितिः कारणम् तथा जानीते इति ते प्रत्ययजन्य आश्रयत्वोपस्थित्यव्यवहितोत्तरजायमानं धात्वर्थप्रकारकशाब्दबोधं प्रति ते प्रत्ययजन्योपस्थितिः कारणम् ऐसा पृथक्-पृथक् कार्यकारणभाव मानना पड़ेगा। इस प्रकार ति प्रत्ययजन्योपस्थिति तो अपने अव्यवहितोत्तर होने वाले धात्वर्थ प्रकारक शाब्दबोध के प्रति ही कारण होगा इसी प्रकार ते प्रत्ययजन्योपस्थिति भी। ऐसी स्थिति में ति प्रत्ययजन्य उपस्थिति के अव्यवहित उत्तरक्षण में नहीं होने वाले अर्थात् उस ति प्रत्ययजन्य उपस्थिति के पूर्व या उस उपस्थिति के एक आध घण्टे के पश्चात् होने वाले आश्रययता सम्बन्ध से, ज्ञाधात्वर्थप्रकारक चैत्र विशेष्यक "ज्ञानवाँश्चैत्रः" इस शाब्दबोध में, तो वह ति प्रत्ययजन्योपस्थिति विशेष्यता सम्बन्ध से कारण ही नहीं है, तो उस ति प्रत्ययजन्योपस्थितिरूप कारण का अभाव इस आश्रयत्तासम्बन्ध से "ज्ञानवाँश्चैत्रः" इस शाब्दबोध की उत्पत्ति में अकिञ्चित्कर है अर्थात् कोई प्रतिबन्धक नहीं होगा अर्थात् उपर्युक्त ति प्रत्ययजन्य उपस्थिति के नहीं रहने पर भी आश्रयता सम्बन्ध से ज्ञान प्रकारक चैत्र विशेष्यक शाब्दबोध उत्पन्न हो ही सकता है।

भट्टाचार्य स्वयं आगे हेतु देते हुए कहते हैं कि - क्योंकि -

"चैत्रो जानाति" इस वाक्य के "जानाति" इस आनुपूर्वी का घटक जो ज्ञा धातु है, उस ज्ञा धातु से ज्ञान की उपस्थिति, चैत्र पद से विशेष्य रूप से चैत्र की उपस्थिति, योग्यता ज्ञान आदि से घटित उपर्युक्त शाब्द बोध की सामग्री वहाँ जब है, तो उस सामग्री के रहते आश्रयता सम्बन्ध से "ज्ञानवाँश्चैत्रः" इस शाब्दबोध के उत्पन्न होने में बाधा क्या हो सकती है? अर्थात् कोई बाधा न होने से

उपर्युक्त उपस्थितियोग्यताज्ञान आदि कारणकलाप उपर्युक्त शाब्दबोध को अवश्य उत्पन्न करेगा। अतः यत्तु का मत असार है।

न चैतन्मते आश्रयतासम्बन्धेन ज्ञानादिप्रकारकशाब्दबोधे तादृशयोग्यताज्ञानहेतुत्वान्तरकल्पनाधिक्यम्। आश्रयतासम्बन्धेनज्ञानविशिष्ट-चैत्रादितात्पर्यकात् सर्वनाम्नः साङ्केतिकशब्दान्तराद् वा तादृशसम्बन्धेन ज्ञानादिप्रकारकचैत्रादिविशेष्यकशाब्दबोधस्य सर्वमत एव प्रसिद्धावपि तादृशशाब्दबोधे पदार्थान्तरभाननैयत्येन तन्मिश्रितयोग्यताज्ञानस्य तत्र हेतुताया आवश्यकत्वात्।

ज्ञानादिविशिष्टचैत्रादिमात्रविषयकयोग्यताज्ञानस्य ज्ञानादिविशिष्ट-चैत्रादिविषयकशाब्दबोधे हेतुतायाः कुत्राप्यक्लृप्त्वादिति वाच्यम्।

प्रकारतावादियों के मत में ज्ञा धातु का वाच्यार्थ ज्ञान हो, या लक्ष्यार्थ पाक उसी प्रकार ति का अर्थ आश्रयत्व हो या कृति, दोनों ही स्थिति में, "ज्ञा धात्वर्थनिष्ठप्रकारता निरूपित ज्ञा धातूत्तर आख्यातार्थनिष्ठविशेष्यताशालियोग्यता ज्ञान" में एक ही कारणता माननी पड़ेगी, जबकि संसर्गतावादियों के मत में आश्रयता सम्बन्ध से ज्ञाधात्वर्थ ज्ञानप्रकारक शाब्दबोध की कारणता योग्यता ज्ञान में अधिक कल्पना करनी पड़ेगी। इसी बात को न चैतन्मते से कहा जा रहा है। तात्पर्य यह है कि - आश्रयता को संसर्ग मानने पर "जानाति" में ज्ञा धातु की लक्षणा यदि पाक में होगी तो आख्यात = ति का अर्थ कृति होगा, तो, आख्यातार्थ कृतिप्रकारक योग्यताज्ञान में अर्थात् पाकानुकूलकृतिप्रकारकयोग्यताज्ञान में "पाकानुकूलकृतिमाश्चैत्रः" इस पाकानुकूलकृतिप्रकार शाब्दबोध की भी कारणता माननी पड़ेगी और यदि ज्ञाधातु मुख्यार्थ ज्ञान परक होगा तो ऐसी स्थिति में आख्यात के उच्चारणार्थक मानने के कारण निरर्थक होगा तो उन्हें आश्रयता सम्बन्ध से "ज्ञानवाँश्चैत्र" इस ज्ञान प्रकारक शाब्दबोध की कारणता आश्रयता सम्बन्धेन ज्ञानप्रकारकयोग्यता ज्ञान में भी माननी पड़ेगी। इस तरह उन्हें दो प्रकारक के शाब्दबोध के लिए दो प्रकार के योग्यताज्ञान में दो कारणता माननी पड़ेगी। यदि कहो - "स गच्छति" इस वाक्य में आये = तत् शब्द का तात्पर्य "आश्रयता सम्बन्धेन ज्ञान विशिष्ट चैत्र" अर्थ में हो तो वहाँ पर आश्रयता सम्बन्ध से ज्ञान प्रकारक चैत्र विशेष्यक शाब्दबोध का होना सर्वमत सिद्ध है। इसी प्रकार यदि "डित्थ" शब्द का संकेत आश्रयता सम्बन्धेन ज्ञानविशिष्ट चैत्र अर्थ में हो तो "डित्थः गच्छतिः" इस वाक्य से भी आश्रयता सम्बन्ध से ज्ञान प्रकारक चैत्र विशेष्यक शाब्दबोध का होना भी सर्वमत सिद्ध है तो, इन स्थलों पर होने वाले ज्ञान प्रकारक चैत्र विशेष्यक शाब्दबोध के कारण ज्ञान प्रकारक चैत्र विशेष्यक योग्यता ज्ञान में

ही "जानति" में होने वाले आश्रयता सम्बन्ध से ज्ञान प्रकारक चैत्र विशेष्यक शाब्दबोध की भी कारणता मान लेंगें, तो कोई अतिरिक्त कारणता की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी। तो, ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि आश्रयतासम्बन्ध से ज्ञानविशिष्टचैत्र में तात्पर्य वाले तत् पद घटित "स गच्छति" या, आश्रयतासम्बन्ध से ज्ञान विशिष्ट चैत्र में साङ्केतिक डित्थ पद घटित डित्थः गच्छति इन वाक्यों से होने वाला शाब्दबोध "आश्रयता सम्बन्ध से ज्ञानप्रकारक चैत्रविशेष्यक" होता है, यह बात भले ही सर्वमत सिद्ध हो, परन्तु इस शाब्दबोध में गच्छति रूप दूसरे पद के अर्थ "गमनानुकूलकृति" का भासित होना निश्चित होता है। क्योंकि यदि उपर्युक्त तात्पर्य वाले "सः" पद घटित या साङ्केतिक "डित्थ" पदघटित वाक्य से होने वाले शाब्दबोध में गच्छति पदार्थ गमनानुकूलकृति भासित न होवे अपितु केवल "आश्रयतासम्बन्धेन ज्ञानविशिष्टचैत्र" ही भासित हो, तो, वह शाब्दबोध कहलाएगा ही नहीं, अपितु पदार्थोपस्थिति ही कहलाएगा। क्योंकि "आश्रयतासम्बन्ध से ज्ञानविशिष्टचैत्र" अर्थ तो सः पद या डित्थ पद के द्वारा ही उपस्थित होने वाला अर्थ है। शाब्दबोध तो एक पदार्थानुयोगिक अपरपदार्थप्रतियोगिक सम्बन्धज्ञान को कहा जाता है। "आश्रयतासम्बन्ध से ज्ञानविशिष्ट चैत्र" तो केवल एक पद का अर्थ है, तो यदि इसी का भान बोध में मानें तो वह बोध उपस्थिति रूप होगा, शाब्दबोध नहीं। अतः उपर्युक्त स गच्छति या डित्थः गच्छति में गच्छति पदार्थ गमनानुकूलकृति का भासित होना निश्चित है। ऐसी स्थिति में इस गमनानुकूलकृति रूप पदार्थान्तर से मिश्रित शाब्दबोध की कारणता जिस आश्रयता सम्बन्धेन ज्ञानविशिष्टचैत्रविशेष्यक योग्यता ज्ञान में रहेगी, वह योग्यता ज्ञान भी गमनानुकूलकृति रूप पदार्थान्तर से मिश्रित अवश्य होगा। तो इस पदार्थान्तर मिश्रित योग्यता ज्ञान से "जानाति" में होने वाले शाब्दबोध में निर्वाह नहीं हो सकता। इसके लिए आश्रयता सम्बन्ध से ज्ञानप्रकारक चैत्र विशेष्यक योग्यता ज्ञान में अतिरिक्त कारणता माननी पड़ेगी। ज्ञानविशिष्ट चैत्र विषयक शाब्दबोध की कारणता पदार्थान्तर से अमिश्रित केवल ज्ञानविशिष्ट चैत्रविषयक योग्यता ज्ञान में क्लृप्त नहीं है। अभी-अभी ऊपर इस बात को दिखाया जा चुका है। इस तरह संसर्गतावाद में योग्यताज्ञान में अतिरिक्त कारणता की कल्पना करने से गौरव होगा? संसर्गतावादी प्रत्युत्तर देते हुए प्रकारतावादी से कहता है - आप प्रकारतावादी के मत में भी तो ज्ञानाश्रयता प्रकारक चैत्रविशेष्यक "ज्ञानाश्रयतावॉश्चैत्रः" इस शाब्दबोध के लिए ज्ञानाश्रयताप्रकारक चैत्र विशेष्यक योग्यता ज्ञान में अधिक कारणता माननी ही पड़ेगी, तो आपको लाघव या हमें गौरव कैसा? इसी बात को मूल में निम्न ग्रन्थ से कहा जा रहा है -

भवन्मतेऽपि ज्ञानाश्रयताप्रकारकचैत्रादिविशेष्यकशाब्दबोधे तथाविधयोग्यताज्ञानहेतुताया आधिक्यात्। आश्रयतासंसर्गकज्ञानीय-कारणतावच्छेदकस्य तदीयसंसर्गविषयताघटिततत्प्रकारकज्ञानकारण-तावच्छेदकापेक्षया लघुशरीरतया आश्रयतायाः संसर्गतामतस्यैव लघुत्वात्।

तात्पर्य यह है कि प्रकारतावादियों को भी ज्ञानाश्रयताप्रकारकचैत्रविशेष्यक शाब्दबोध में ज्ञानाश्रयत्व प्रकारक चैत्र विशेष्यक योग्यता ज्ञान में अधिक कारणता तो माननी ही पड़ती है। अतः इस मत में भी कोई लाघव नहीं है। किं बहुना इस प्रकारतावाद में गौरव ही है। क्योंकि "जानाति चैत्रः" इस वाक्य से यदि "आश्रयता सम्बन्धेन ज्ञानवॉश्चैत्रः" ऐसा शाब्दबोध मानते हैं तो इस शाब्दबोध के कारण योग्यताज्ञान में भी आश्रयता संसर्ग रूप से, ज्ञान प्रकार रूप से तथा चैत्र विशेष्य रूप से भासित हैं। इस प्रकार कारणता तीन विषयों में ही रहती है तो कारणतावच्छेदक विषयताएँ संसर्गता प्रकारता तथा विशेष्यता तीन ही होती हैं। प्रकारतावाद में तो उपर्युक्त वाक्य से ज्ञानाश्रयतावॉश्चैत्रः ऐसा शाब्दबोध मानते हैं। अर्थात् चैत्रो जानाति इस वाक्य से होने वाले शाब्दवोध की कारणता जिस योग्यताज्ञान में रहती है, उस योग्यताज्ञान में चैत्र पद से चैत्र की उपस्थिति, जो कि योगयता ज्ञान में विशेष्य रूप से भासित होता है, ज्ञा धातु से ज्ञान की उपस्थिति, जो कि योग्यता ज्ञान में प्रकार रूप से भासित होता है, आख्यात ति पद से आश्रयता की उपस्थिति, जो कि प्रकार रूप से भासित होती है। ये तीन विषय तो भासित होते ही हैं। इनके अतिरिक्त ज्ञाधात्वर्थ ज्ञान रूप प्रकार का आख्यातार्थ आश्रयता के साथ जो निरूपित्व सम्बन्ध है वह भी विषय रूप से भासित होता है, इसी तरह उसी आख्यातार्थ का विशेष्य चैत्र के साथ "स्वरूप" सम्वन्ध भी विषय रूप से भासित होता है। इस प्रकार प्रकारतावाद में "ज्ञानाश्रयतावॉश्चैत्रः" इस शाब्दबोध की तरह इसके योग्यताज्ञान में भी पाँच विषयों में रहने वाली पाँच विषयताएँ भासित होती है। ज्ञाननिष्ठाप्रकारतारूपा, आख्यातार्थ आश्रयत्व निष्ठाविशेष्यताभिन्नप्रकारतारूपा, तथा इन दोनों के संसर्ग "निरूपितत्व" में संसर्गतारूपा, तथा आश्रयत्वनिष्ठप्रकारतारूपा तथा चैत्रनिष्ठविशेष्यतारूपा तथा आश्रयत्व रूप प्रकार तथा चैत्ररूपविशेष्य के संसर्ग "स्वरूप" में संसर्गता रूपा। इस प्रकार आश्रयताप्रकारक शाब्दबोधीय योग्यता ज्ञान में पॉच विषयताओं के रहने के कारण, तीन विषयताओं वाले आश्रयत्व संसर्गक योग्यतान की अपेक्षा, आश्रयता प्रकारक शाब्दबोधीययोग्यता ज्ञान में रहने वाली कारणता का अवच्छेदक योग्यताज्ञानत्व को गुरू शरीर वाला तथा आश्रयतासंसर्गकशाब्दबोधीय योग्यता ज्ञान में रहने वाले कारणता का अवच्छेदक योग्यता ज्ञानत्व को लधु शरीरवाला कहा गया। अब पंक्ति पर ध्यान दें - आश्रयतासंसर्गकज्ञानीय =

आश्रयतासंसर्गकशाब्दबोध निरूपित, कारणतावच्छेदकस्य = कारणता वाले योग्यताज्ञान में रहने वाले योग्यताज्ञानत्व रूप कारणतावच्छेदक के, तदीय संसर्ग विषयता घटिततत्प्रकारक ज्ञान = तदीय = आख्यातार्थ आश्रयत्व का संसर्गविषयक = जो स्वरुप सम्बन्ध उस स्वरुप सम्बन्ध में रहने वाली विषयता से घटित जो आश्रयत्व प्रकारक शाब्दबोध, उसकी कारणतावच्छेदकापेक्षया = कारणता वाले योग्यता ज्ञान में रहने वाले योग्यताज्ञानत्व रुप कारणतावच्छेदक की अपेक्षा, लघुशरीरतया = लघुशरीर वाला होने के कारण, आश्रयतायाः = आश्रयता को, संसर्गतामतस्यैव = संसर्ग मानने वाला पक्ष ही, लघुत्वात् = लघुत्व वाला अर्थात् लाघव युक्त है। अतः आश्रयता को संसर्ग ही मानना चाहिए आख्यातार्थ मानकर प्रकार नहीं।

न च यत्राश्रयत्वे ज्ञाधातुसमभिव्याहृताख्यातस्य शक्तिभ्रमः स्वारसिकलक्षणाग्रहो वा तत्र ज्ञानाश्रयताप्रकारक शाब्दबोध-स्योभयमतसिद्धतया तत्र तादृशयोग्यताज्ञानहेतुत्वमुभयमतसिद्धमेवेतिवाच्यम्। आश्रयतायाः संसर्गतावादिना तत्राप्याश्रयताप्रकारकबोधस्या-नभ्युपगन्तव्यत्वादिति चेत्, सत्यम्। एतदभिप्रायेणैव जानातीत्यादा-वाख्यातस्य निरर्थकतां मणिकार ऊरीचकार।

प्रकारतावादी अपने ऊपर गौरव दोष दिये जाने पर संसर्गतावादी से कहता है कि आपके मत में चैत्रो जानाति के जानाति घटक ति निरर्थक है तथापि यदि किसी को ज्ञा धातु के समीप में उच्चरित ति में आश्रयत्व अर्थ का शक्तिभ्रम हो जाए अथवा उस ति का आश्रयत्व अर्थ में स्वारसिकलक्षणाग्रह हो जाए, तब तो उपर्युक्त वाक्य से ज्ञानाश्रयत्व प्रकारक "ज्ञानाश्रयत्ववाँश्चैत्रः" शाब्दबोध होना उभयमत सिद्ध है अर्थात् आप भी मानते हैं और हम प्रकारतावादी तो मानते ही हैं। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त ज्ञानाश्रयत्व प्रकारक शाब्दबोध की कारणता तो आप संसर्गतावादियों को भी ज्ञानाश्रयत्व प्रकारक योग्यता ज्ञान में माननी पड़ेगी और हम तो मानते ही हैं। इस प्रकार आप संसर्गतावादियों को चैत्रो जानाति इस वाक्य से होने वाले दो प्रकार के योग्यताज्ञान में दो कारणता माननी पड़ती है एक आश्रयता संसर्गक तथा दूसरा आश्रयता प्रकारक यह गौरव होगा। हम प्रकारतावादी तो उपर्युक्त वाक्य से आश्रयत्व प्रकारक ही शाब्दबोध मानते हैं। अतः हमें एक ही आश्रयत्व प्रकारक योग्यताज्ञान में एक ही कारणता माननी पड़ती है। यह लाघव है।

संसर्गतावादी कहता है कि - जहाँ ज्ञा धातु समभिव्याहृत आख्यात = ति, में आश्रयत्व अर्थ का शक्तिभ्रम हो जाता है या उस अर्थ में ति पद की स्वारसिक लक्षणा का ज्ञान हो जाता है, वहाँ भी आश्रयत्व संसर्गक शाब्दबोध ही माना जाता है। यह बात सत्य है। इसी अभिप्राय से अर्थात् उपर्युक्त दोनों

स्थितियों में भी आश्रयत्व संसर्गक शाब्दबोध होना मानकर ही चिन्तामणिकार गङ्गेशोपाध्याय ने जानाति में आख्यात = ति, को निरर्थक स्वीकार किया है।

तत्राश्रयत्वे निरूढलक्षणामभ्युपगच्छतां दीधितिकाराणां पुनरेष आशयः - यत्र ज्ञाधातोर्ज्ञानाश्रयत्वे शक्तिभ्रमः स्वारसिकलक्षणाग्रहो वा तत्र चैत्राद्यंशे धात्वर्थैकदेशस्य ज्ञानादेरन्वयानुपपत्त्या स्वरूपसम्बन्धेन ज्ञानाश्रयताप्रकारकचैत्रादिविशेष्यकान्वयबोध एव तत्र मणिकृता स्वीकरणीयः। तथा च तत्र ज्ञानाश्रयताप्रकारकशाब्दबोधे तत्प्रकारक योग्यताज्ञानहेतुतायाः क्लृप्तत्वादाश्रयतासंसर्गकशाब्दबोधे तादृशयोग्यता-ज्ञानहेतुताकल्पनमधिकमेव मणिकृन्मते।

इससे पूर्व के ग्रन्थ से यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि मणिकार चैत्रो जानाति में आश्रयता संसर्गक ज्ञानप्रकारक चैत्रविशेष्यक शाब्दबोध मानते हैं। परन्तु दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि "ति" आख्यात की आश्रयत्व अर्थ में निरूढ़लक्षणा मानते हैं अर्थात् वे उपर्युक्त स्थल में स्वरूप सम्बन्ध से ज्ञानाश्रयत्व प्रकारक चैत्र विशेष्यक शाब्दबोध मानने वाले प्रकारतावादी हैं। भट्टाचार्य दीधितिकार का आशय बताते हुए कहते हैं कि - जहाँ पर जानाति के ज्ञा धातु का "ज्ञानाश्रयत्व" अर्थ में किसी को शक्तिभ्रम हो जाए या स्वारसिकलक्षणाग्रह हो जाए तो ऐसी स्थिति में ज्ञाधात्वर्थ = ज्ञानाश्रयत्व रूप पदार्थ के एक देश ज्ञान का विशेषण रूप से चैत्र रूप विशेष्य (पदार्थ) में अन्वय नहीं हो सकता। पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन इस नियम के कारण। अतः वहाँ ज्ञान प्रकारक शाब्दबोध न होकर, स्वरूप सम्बन्ध से ज्ञानाश्रयत्व प्रकारक चैत्र विशेष्यक शाब्दबोध ही मणिकार को भी स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में ज्ञानाश्रयता प्रकारक शाब्दबोध में, ज्ञानाश्रयताप्रकारक योग्यता ज्ञान की कारणता क्लृप्त है। इस प्रकार जानाति में आश्रयता संसर्ग से ज्ञान प्रकारक शाब्दबोध मानने वाले मणिकार के मत में आश्रयतासंसर्गकयोग्यता ज्ञान में कारणता की अधिक कल्पना करनी पड़ेगी। अर्थात् ज्ञानाश्रयत्व अर्थ में शक्तिभ्रम या स्वारसिक लक्षणा ग्रह होने पर "ज्ञानाश्रयत्व प्रकारक योग्यताज्ञान में कारणता माननी पड़ी और शक्ति भ्रम न होने पर ज्ञान प्रकारक योग्यताज्ञान में भी कारणता माननी पड़ी। इस तरह मणिकार को जानाति इस वाक्य से होने वाले दो योग्यताज्ञान में दो शाब्दबोध की दो कारणता माननी पड़ी। प्रकारतावादी तो उपर्युक्त स्थल में ज्ञान प्रकारक ही शाब्दबोध मानते हैं। अतः एक ज्ञानाश्रयत्वप्रकारक योग्यताज्ञान में एक ही कारणता माननी पड़ती है। इस प्रकार दीधितिकार के मत की अपेक्षा मणिकार के मत में गौरव है।

न च दीधितिकृन्मते तादृशयोग्यताज्ञानहेतुत्वाकल्पनलाघवेऽपि, जानातीत्याद्यानुपूर्वीज्ञानघटितज्ञाधातुशक्तिज्ञानजन्यज्ञानोपस्थितिघटितशाब्दसामग्र्या भिन्नविषयकप्रत्यक्षं प्रति प्रतिबन्धकतायां आख्यातजन्याश्रयत्वोपस्थितेर्निवेशनस्याधिक्याद् गौरवमिति वाच्यम्। भवन्मतेऽपिज्ञानाश्रयत्वाभाववाँश्चैत्रः सुन्दर इत्यादिविशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिप्रत्यक्षे जानाति चैत्र इत्याद्यानुपूर्वीज्ञानघटितज्ञाधातुजन्यज्ञानोपस्थितिघटितसामग्रयाः प्रतिबन्धकताधिक्येन गौरवात्। मन्मते च तादृशसामग्रया विरोधिज्ञानाश्रयत्वाभाववत्तानिश्चयघटिततया तथाविधविशिष्टवैशिष्ट्यबोधसामग्रयास्तादृशशाब्दसामग्र्या समं युगपदवस्थानासंभवेन तादृशप्रतिबन्धकत्वकल्पनाविरहादित्यधिकं दर्शितदिशावसेयम्।

मणिकार की ओर से कोई कहता है कि - प्रकारतावादी दीधितिकार के मत में शक्तिभ्रमस्थल में ज्ञानाश्रयत्व प्रकारक योग्यताज्ञान में अधिक कारणता की कल्पना नहीं करनी पड़ी अथवा आश्रयत्व संसर्गक ज्ञानप्रकारक योग्यताज्ञान की कारणता की कल्पना नहीं करनी पड़ी यह लाघव तो है। तथापि उनके प्रकारतावाद में "जानाति" इस आनुपूर्वी के ज्ञान से घटित जो ज्ञा धातु का शक्तिज्ञान, उस शक्तिज्ञान से जन्य जो ज्ञानरूप अर्थ की उपस्थिति, उस उपस्थिति से घटित जो वहाँ होने वाले शाब्दबोध की सामग्री (योग्यता ज्ञान आदि) उस सामग्री में भिन्नविषयक प्रत्यक्ष (घटादि प्रत्यक्ष) की रहने वाली जो प्रतिबन्धकता, उस प्रतिबन्धकता में, आख्यातजन्य आश्रयत्व की उपस्थिति का अधिक निवेश करना पड़ेगा। इस प्रकार प्रकारतावाद में गौरव है। तात्पर्य यह है कि प्रकारतावाद में तो आख्यात का अर्थ आश्रयत्व प्रकार रूप से शाब्दबोध तथा उसके कारण योग्यता ज्ञान में भासित होता है तो जानाति इस आनुपूर्वी से होने वाले योग्यताज्ञान में प्रकार रूप से भासित होने वाले आश्रयत्व की उपस्थिति भी आख्यातजन्य है यह माननी पड़ेगी। ऐसी स्थिति में भिन्न विषयक प्रत्यक्ष के प्रति जब उपर्युक्त जानाति इस आंनुपूर्वी से होने वाला योग्यता ज्ञान, प्रतिबन्धक होगा तो उसमें रहने वाली प्रतिबन्धकता आख्यातजन्य आश्रयत्वरूप अर्थ की उपस्थिति से भी घटित होगी इसलिए प्रकारतावाद में भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति उपर्युक्त स्थल के योग्यता ज्ञान में रहने वाली प्रतिवन्धकता, अधिक पदार्थ की उपस्थिति से घटित होने के कारण गौरवग्रस्त है। जबकि संसर्गतावाद में आश्रयत्वसंसर्गविधया भासित होने के कारण उसकी उपस्थिति उपर्युक्त प्रतिबन्धकयोग्यता ज्ञान में भासित नहीं होती यह लाघव है।

इस पर प्रकारतावादी प्रत्युत्तर देते हुए संसर्गतावादी से कहता है कि - आप संसर्गतावादियों के मत में भी तो "ज्ञानाश्रयत्वाभाववाँश्चैत्रः सुन्दरः" इस भिन्नविषयक विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष की अधिक प्रतिबन्धकता "जानाति चैत्रः" इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध का "जानाति चैत्रः" इस आनुपूर्वी ज्ञान से घटित जो ज्ञा धातु से जन्य ज्ञान उस ज्ञा धातु से जन्य ज्ञान से जन्य जो ज्ञान रूप अर्थ की उपस्थिति, उस उपस्थिति से घटित जो योग्यताज्ञान आदि सामग्री, में माननी पड़ती है। अतः गौरव है। अर्थात् "ज्ञानाश्रयत्वाभाववाँश्चैत्रः सुन्दरः" यह विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष चूंकि भिन्न विषयक है। क्योंकि यहाँ पर चैत्र के विशेषण रूप में ज्ञानाश्रयत्वाभाव भासित हो रहा है। जबकि संसर्गतावाद में "जानाति चैत्रः" इस वाक्य से होने वाले आश्रयत्व सम्बन्धेन ज्ञानवाँश्चैत्रः" इस शाब्दबोध में ज्ञान विशेषण रूप से चैत्र में भासित हो रहा है, तो इस शाब्दबोध की कारणता जिस योग्यता ज्ञान आदि सामग्री में है वह सामग्री भी तो आश्रयत्व संसर्गक ज्ञानप्रकारक ही होगी। तो दोनों के विषय भिन्न भिन्न होने से उपर्युक्त विशिश्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष की प्रतिबन्धकता, जानाति चैत्रः यहाँ के योग्यताज्ञान आदि शाब्द सामग्री में माननी पड़ेगी। यह गौरव है। प्रकारतावादी अपने मत में लाघव दिखाने के लिए कहता है कि - हमारे मत में तो उपर्युक्त विशिंष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष की प्रतिबन्धकता जानाति चैत्रः यहाँ के योग्यता ज्ञान आदि सामग्री में मानने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। अतः हमारे मत में लाघव है। क्योंकि हमारे मत में जानाति चैत्रः में होने वाले "ज्ञानाश्रयत्ववाँश्चैत्रः" इस ज्ञानाश्रयत्वप्रकारक शाब्दबोध की सामग्री भी "ज्ञानाश्रयत्व प्रकारक ही होगी, जबकि उपर्युक्त प्रत्यक्ष का विशेषणतावच्छेदक "ज्ञानाश्रयत्वाभाव" है। अर्थात् प्रत्यक्ष की सामग्री ज्ञानाश्रयत्वाभाव प्रकारक है और शाब्दबोध की सामग्री ज्ञानाश्रयत्वप्रकारक। इस तरह प्रत्यक्ष तथा शाब्दबोध की सामग्रियाँ परस्पर विरूद्ध होने से एक समय एक जगह रह ही नहीं सकती। अतः जब ज्ञानाश्रयत्व प्रकारक शाब्दसामग्री वहाँ उपस्थित होगी तो ज्ञानाश्रयत्वाभाव प्रकारक प्रत्यक्ष सामग्री के असंभव होने से प्रत्यक्ष ज्ञान होने की संभावना ही नहीं रहेगी तो उस असंभव प्रत्यक्ष की प्रतिबन्धकता हम शाब्दबोध सामग्री में क्यों मानें? अर्थात् हमें प्रतिबन्धकता की कल्पना उपर्युक्त स्थल की शाब्दसामग्री में नहीं करनी पड़ती। यह लाघव है।

भट्टाचार्य अन्त में कहते हैं कि इससे अधिक पूर्व में दिखायी गयी दिशा से समझना। तात्पर्य यह है कि यदि संसर्गतावादियों की ओर से पुनः प्रश्न किया जाए कि आश्रयत्व सम्बन्ध से ज्ञानाभाववाँश्चैत्रः इस विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष की प्रतिबन्धकता प्रकारतावादियों को भी भिन्न विषयक "जानाति चैत्रः" इस वाक्य से होने वाले "ज्ञानाश्रयत्वाँश्चैत्रः" इस योग्यताज्ञान आदि सामग्री में माननी पड़ेगी।

यह गौरव प्रकारतावाद में भी है। तो इस प्रश्न का समाधान भी पूर्व प्रदर्शित रीति से समझना चाहिए। अर्थात् निरूपितत्व सम्बन्ध से "ज्ञानाभाववत् जो आश्रयत्व, उस आश्रयतावाँश्चैत्रः" अर्थात् "निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक ज्ञानाभाववदाश्रयत्ववाँश्चैत्रः" इस विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष की अतिरिक्त प्रतिबन्धकता संसर्गतावादियों को जानाति चैत्रः से होने वाले ज्ञान प्रकारक योग्यता ज्ञान में माननी पड़ेगी। यह समझना।

अथैवं रीत्या "भूतले न घटः" इत्यादौ घटादिपदस्य घटप्रतियोगिकादौ तदुत्तरसुब्विभक्तेरेव वा प्रतियोगितायां लक्षणामभ्युपेत्य घटप्रतियोगिकाभावो भूतलवृत्तिरित्याद्याकारकप्रतियोगिताप्रकारक-शाब्दबोधोपगम एव समुचितः। तथा सति तथाविधसमभिव्याहार-ज्ञानघटितसामग्र्या घटप्रतियोगिकत्वाभाववानभावः प्रमेयः इत्यादिविशिष्ट-वैशिष्ट्यबोधं प्रति प्रतिबन्धकत्वाकल्पनेन लाघवादित्युक्तनियमे निपातातिरिक्तत्वविशेषणवैयर्थ्यमिति चेत्।

संसर्गतावादी की ओर से दीधितिकार के मत पर आक्षेप करते हुए कोई कहता है कि - आपकी उपर्युक्त रीति से "भूतले न घटः" इत्यादि स्थल में "घटादि" पद की घट प्रतियोगिक आदि अर्थ में, या, घट पदोत्तर सु विभक्ति की ही प्रतियोगिता अर्थ में लक्षणा स्वीकार करके, उपर्युक्त "भूतले न घटः" इस वाक्य से "घट प्रतियोगिक अभाव्भूतलवृत्ति" इत्यादि आकार वाले प्रतियोगिताप्रकारक शाब्दबोध मानना ही उचित होगा तथा ऐसा मानने में "भूतले न घटः" इस समभिव्याहार ज्ञान से घटित योग्यताज्ञान आदि सामग्री में, "घट प्रतियोगिकत्वाभाववान् अभावः प्रमेयः" इत्यादि विशिष्टवैशिष्ट्यबोध के प्रति प्रतिबन्धकता की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी, यह लाघव भी होगा। इस प्रकार "निपातातिरिक्त नामार्थयोः क्रियातादृशप्रातिपदिकार्थयोश्च भेदेन साक्षादन्वयस्याव्युत्पन्नत्वम्" इस नियम में निपातातिरिक्तत्व विशेषण लगाना व्यर्थ है।

तात्पर्य यह है कि - दीधितिकार ने जिस रीति से जानाति के ज्ञा धातु की ज्ञानाश्रयत्व में लक्षणा मानकर धात्वर्थ ज्ञानाश्रयत्व का प्रातिपदिकार्थ चैत्र में साक्षात् स्वरूप सम्बन्धरूप भेद सम्बन्ध से अन्वय होना सिद्ध किया है। उसी रीति से "भूतले न घटः" यहाँ भी घट रूप प्रातिपदिक की लक्षणा "घट प्रतियोगिक" में होने पर या घट पदोत्तर आयी सु विभक्ति का ही प्रतियोगिता अर्थ में लक्षणा स्वीकार करके घट प्रतियोगिक रूप प्रातिपदिकार्थ का; नञर्थ अभाव रूप निपातार्थ में "घट प्रतियोगिकः अभावः" इस प्रकार का अभेदान्वय होगा, तो उपर्युक्त नियम में निपासातिरिक्तत्व विशेषण लगाना व्यर्थ है। क्योंकि उपर्युक्त

निपातातिरिक्तनामार्थयोः क्रियातादृशप्रातिपदिकार्थयोश्च" इस नियम से निपात के अतिरिक्त दो नामार्थ का परस्पर भेद सम्बन्ध से अन्वय नहीं होता है" ऐसा ज्ञान होने पर यह भी ज्ञान होता है कि निपातार्थ और प्रातिपदिकार्थ का परस्पर भेद सम्बन्ध से अन्वय होता है। परन्तु दीधितिकार के उपर्युक्त रीति के अनुसार प्रकृत में घट रूप प्रातिपदिक के "घट प्रतियोगिक" रूप अर्थ का नञ् रूप निपात के अर्थ अभाव में जब अभेद सम्बन्ध से ही अन्वय होगा तो इसका अर्थ हुआ कि प्रातिपदिकार्थ निपातार्थ का भेद सम्बन्ध से अन्वपय सम्भव नहीं तो पुनः निपातातिरिक्तत्व विशेषण उपर्युक्त नियम में लगाना व्यर्थ ही है। क्योंकि "सम्भवव्यभिचाराभ्यां विशेषणमर्थवत्" ऐसा अभियुक्तों का कथन है। दीधितिकार की उपर्युक्त रीति से घट प्रातिपदिक की घट प्रतियोगिक अर्थ में लक्षणा मानने में दूसरा लाभ यह भी है कि - "भूतले न घटः" इस वाक्य से घट प्रतियोगिकोऽभावोभूतलवृत्तिः ऐसा शाब्दबोध मानने पर इस शाब्दबोध की कारण सामग्री योग्यता ज्ञान भी प्रतियोगिता प्रकारक ही होगा तो "घट प्रतियोगिकत्वाभाववानभावः प्रमेयः" इस विशिष्टवैशिष्ट्यबोध की अतिरिक्त प्रतिबन्धकता भी उपर्युक्त प्रतियोगिता प्रकारक शाब्दबोध सामग्री में नहीं माननी पड़ती यह लाघव भी है। क्योंकि घट प्रतियोगिकत्व प्रकारक शाब्दसामग्री तथा घटप्रतियोगिकत्वाभावप्रकारक प्रत्यक्ष (विशिष्ट वैशिष्ट्य बोध) सामग्री परस्पर विरूद्ध होने से युगपद् नहीं रह सकती।

अतः जिस समय घट प्रतियोगिकत्वप्रकारक शाब्दसामग्री उपस्थित रहेगी उस समय घटप्रयोगिकत्वाभाव प्रकारक विशिष्टवैशिष्ट्यबोध (प्रत्यक्ष) सामग्री, रहेगी ही नहीं, तो उस विशिष्टवैशिष्ट्यवोध (प्रत्यक्ष ज्ञान) की उत्पत्ति की सम्भावना ही नहीं रहेगी तो उसकी प्रतिबन्धकता की कल्पना भी "घट प्रतियोगिक अभावः भूतलवृत्तिः" इस शाब्दसामग्री में नहीं करनी पड़ेगी। यह कल्पना लाघव भी प्रकारतावाद में होगा। इस पर प्रकारतावादी उत्तर देने जा रहे हैं न, इत्यादि से-

न। भूतले न घट इत्यादौ घटाद्यभावे भूतलाद्यन्वितसप्रम्यर्थाधेयत्वस्येव तात्पर्यवशाद् घटादौ सप्तम्यन्तार्थभूतलादि-वृत्तित्वाभावस्यान्वयबोधोऽप्यनुभवसिद्धः। अन्यथा तादृशवाक्यजन्यस्या-प्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितबोधस्य भूतले घट इत्यादिवाक्यजन्यघटा-दिविशेष्यकभूतलाद्याधेयत्वप्रकारकबोधविरोधितायाः सर्वानुभव सिद्धाया अनुपपत्तेः। नञ् पदं विना यत्र धर्मिणि यस्य विशेषणतया भानं यादृशसमभिव्याहाराद् भवति तादृशसमभिव्याहारस्थले नञ् सत्वे तत्र धर्मिणि तदभावः प्रतीयते इत्यनुभवापलापप्रसंगाच्च। एवं च

नञर्थाभावेऽनुयोगितया घटाद्यन्वयबोधोपपत्तये निपातातिरिक्तत्वविशेषवमाणश्यकम्।

उपर्युक्त आपत्ति का वारण न, इत्यादि से प्रकारतावादी करता हुआ कहता है कि - उपर्युक्त रीति से भूतले न घटः" इस वाक्य से जैसे घट प्रतियोगिकाभावोभूतलवृत्तिः या घटनिष्ठप्रतियोगिताकाभावो भूतलवृत्तिः ऐसा शाब्दबोध होना माना जाता है अर्थात् जैसे घटाभाव (घट प्रतियोगिक या घटनिष्ठ प्रतियोगिताका भाव) में भूतलरूप प्रकृत्यर्थ में अन्वित सप्तम्यर्थ आधेयत्व का अर्थात् "भूतले" इस सप्तम्यन्त के अर्थ भूतलवृत्तित्व का अभेदान्वय होता है तथा उपर्युक्त प्रतियोगिता प्रकारकशाब्दबोध वहाँ माना जाता है। वैसे ही उपर्युक्त भूतले न घटः इस वाक्य से तात्पर्यवशात् घट में भी; सप्तम्यन्त "भूतले" के अर्थ भूतलवृत्तित्व के अभाव का भी विशेषण रूप से बोधित होना अनुभव सिद्ध है। अर्थात् जैसे उपर्युक्त स्थल में प्रतियोगिता प्रकारक अभाव विशेष्यक बोध होता है वैसे ही अभावप्रकारक घट विशेष्यक शाब्दवोध होना भी अनुभव सिद्ध है अर्थात् भूतले न घटः इस वाक्य से जैसे घट प्रतियोगिकाभावः या घटनिष्ठप्रतियोगिताकाभावः भूतलवृत्तिः ऐसा शाब्दबोध होता है वैसे ही भूतलवृत्तित्वाभाववान् घटः ऐसा वोध होना भी अनुभव सिद्ध है। अन्यथा यदि भूतले न घटः इस वाक्य से भूतलवृत्तित्वाभाववान् घटः ऐसा अभाव प्रकारक घटविशेष्यक शाब्दवोध का होना न मानें तो उपर्युक्त भूतले न घटः इस वाक्य से उत्पन्न अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित बोध का; भूतले घटः इस वाक्य से उत्पन्न घट विशेष्यक भूतल आदि आधेयत्व प्रकारक बोध के साथ अर्थात् "भूतलवृत्तिर्घटः" इस बोध के साथ सर्वानुभव सिद्ध विरोधिता की अनुपपत्ति होने लगेगी। क्योंकि भूतले घटः इस प्रतीति में भूतलवृत्तित्व प्रकार रुप से विशेष्य घट में भासित हो रहा है। अतः इस प्रतीति की विरोधिता की उपपत्ति के लिए "भूतले न घटः" इस नञ् विशिष्टवाक्य से होने वाली प्रतीति में भी भूतलवृत्तित्वाभाव का प्रकार रूप से भासित होना मानना पड़ेगा। यहाँ कोई यह कह सकता है कि समान प्रकारक ज्ञान में ही विरोधिता नहीं हुआ करती। क्योंकि जैसे ह्रदोवह्निमान् इस ज्ञान का विरोध ह्दोवन्यभाववान् इस निश्चय से है, वैसे ह्रदावृत्तिर्वह्निः वह्निव्यापकाभाववान् ह्रदः, ह्रदनिष्ठाभाव प्रतियोगिवह्निः इत्यादि ज्ञानों से भी है। अतः यदि भूतलने न घटः से घटाभावो भूतलवृत्तिः" ऐसा बोध भी माना जाए तब भी भूतले घटः इस वाक्य से जन्य बोध की विरोधिता भूतलेन घटः इस वाक्य से जन्य अप्रामाण्याज्ञानानास्कन्दित बोध में उपपन्न हो ही सकती। भट्टाचार्य इसी आशङ्का से स्वयं आगे नञ् पदं विना इत्यादि के द्वारा कहते हैं कि यदि भूतले न घटः इस वाक्य से अभाव प्रकारक घट विशेष्यक भूतलवृत्तित्वाभाववान् घटः ऐसा बोध होना न माना जाए, तो "नञ् पद के बिना जिस धर्मी में जिसकी

विशेषण रूप से प्रतीति जैसे समभिव्याहार से होती है, उस समभिव्याहार के रहते नञ् का प्रयोग होने पर; उस धर्मी में उसके अभाव की प्रतीति होती है" इस अनुभव का अपलाप होने लगेगा। क्योंकि नञ् रहित भूतले घटः इस समभिव्याहार से घट रूप धर्मी में, भूतलवृत्तित्व प्रकार रूप से भासित होता है, तो नञ् का प्रयोग रहने पर उसी समभिव्याहार से अर्थात् "भूतले न घटः" इस समभिव्याहार से यदि भूतलवृत्तित्वाभाव का प्रकार रूप से धट रूप धर्मी में भासित होना स्वीकार नहीं किया जाएगा। अतः भूतले न घटः इस वाक्य से "भूतलवृत्तित्वाभाववान् घटः" ऐसा बोध होना मानना ही पड़ेगा और तब उपर्युक्त नियम में निपातातिरिक्तत्व विशेषण लगाना भी आवश्यक होगा क्योंकि निपातार्थ और प्रातिपदिकार्थ का भेद सम्बन्ध से अन्वय होना सम्भव होगा। तात्पर्य यह है कि यदि भूतले न घटः इत्यादि नञ् घटित स्थल में सर्वदा नञर्थ अभाव में घट रूप प्रातिपदिकार्थ का ही प्रतियोगिता सम्बन्ध से अन्वय होता, तो घट रूप प्रातिपदिक की "घट प्रतियोगिक" अर्थ में लक्षणा करके उसका नञर्थ अभाव में अभेद सम्बन्ध से अन्वय हो सकता था, परन्तु जब नञर्थ अभाव का भी घट प्रातिपदिकार्थ में अन्वय = "भूतलवृत्तित्वाभाववान् घटः" ऐसा होता है अर्थात् अभाव में प्रतियोगिता सम्बन्ध से घट का अन्वय न होकर सप्तम्यर्थ वृत्तित्व का ही और उस वृत्तित्वाभाव का अनुयोगिता सम्वन्ध से (स्वरूप सम्बन्ध से) घट में अन्वय होता है, तो नञर्थ = अभाव का घटप्रातिपदिकार्थ में; अभेद सम्बन्ध से अन्वय सम्भव नहीं अपितु अनुयोगिता रूप भेद सम्बन्ध से ही। इस प्रकार सर्वत्र नञ् स्थल में घट प्रातिपदिक का घट प्रतियोगिक अर्थ में लक्षणा करना संभव नहीं है और न ही नञर्थ रूप निपातार्थ और प्रातिपदिकार्थ का परस्पर अभेद सम्बन्ध होना सम्भव है। इस प्रकार उपर्युक्त नियम में निपातातिरिक्तत्व विशेषण लगाना आवश्यक है तभी तो भूतले न घटः से होने वाले भूतलवृत्तित्वाभाववान् घटः इस बोध में वृत्तित्वाभाव रूप निपातार्थ का घट प्रातिपदिकार्थ में स्वरूप सम्बन्धरूप भेद सम्बन्ध से साक्षात् अन्वय उपपन्न हो पाएगा।

इस प्रकार नञर्थ अभाव में अनुयोगी रूप में घट आदि प्रातिपदिकार्थ के अन्वयबोध की उपपत्ति के लिए उपर्युक्त नियम में निपातातिरिक्तत्व विशेषण आवश्यक है।

भट्टाचार्य उपर्युक्त नियम में निपातातिरिक्तत्व विशेषण की आवश्यकता अग्रिम ग्रन्थ से भी प्रदर्शित करते हैं -

एवं न पचति चैत्रः चैत्रस्य न धनमित्यादौ पाककृतिस्वत्वाद्यभावस्य नञर्थस्य चैत्रधनादावन्वयबोधोपपत्तये घटो न पट इत्यादौ नञर्थघटादि-भेदस्यान्वयबोधोपपत्तये च तदावश्यकम्। न चोक्तस्थलेषु नञोऽभाव-

वल्लाक्षणिकतयाऽभाववता सममनुयोगिनोऽभेदान्वय बोध एव तत्रोपेयत इति वाच्यम्। तथा सति सर्वत्राभाववत एव नञर्थतया मुख्यार्थपरनञो दुर्लभत्वापत्तेः।

तात्पर्य यह है कि - "न पचति चैत्रः" यहाँ पर होने वाले "पाककृत्यभाव वाँश्चैत्रः" इस बोध की उपपत्ति के लिए, इसी प्रकार "चैत्रस्य न धनम्" इस वाक्य से होने वाले "चैत्रस्वत्वाभाववद्धनम्" इस बोध की उपपत्ति के लिए, तथा "घटो न पटः" इस वाक्य से होने वाले घटभेदवान् पटः" इस बोध की उपपत्ति के लिए भी उपर्युक्त नियम में निपातातिरिक्तत्व विशेषण आवश्यक है। क्योंकि पचति न चैत्रः में जो नञर्थ अर्थात् "पचति न" इस नञन्त के अर्थ पाककृत्यभाव का; चैत्र में अन्वय होगा वह अभेद सम्बन्ध से तो होगा नहीं और न ही चैत्रस्य न धनम् में चैत्रस्वत्वाभाव का ही अन्वय धन में अभेद सम्बन्ध से हो सकता है और न ही घटो न पटः में घटभेद रूप नञर्थ का अभेद सम्बन्ध से पट में अन्वय होता है, अपितु उपर्युक्त तीनों स्थलों में नञर्थ अभाव का स्वरूप सम्बन्ध रूप भेद सम्बन्ध से ही अन्वय होता है। अतः इन स्थलों पर भेद सम्बन्ध से होने वाले नञर्थ रूप निपातार्थ और प्रातिपदिकार्थ के अन्वयबोध की उपपत्ति के लिए उपर्युक्त नियम में निपातातिरिक्तत्व विशेषण लगाना आवश्यक है।

इस पर कोई कहता है कि यदि उपर्युक्त तीनों स्थलों पर नञ् की अभाववत् अर्थ में लक्षणा मान लें, और उस अभाववान् के साथ अनुयोगी का अभेदान्वय बोध ही मानें, तो पुनः निपातातिरिक्तत्व विशेषण व्यर्थ ही होगा। तात्पर्य यह है कि पचति न चैत्रः में नञ् का अर्थ अभाव न करके उसकी अभाववान् अर्थ में लक्षणा करेंगे, तब "पचति न" का अर्थ "पाककृत्यभाव" न होकर "पाककृत्यभाववान्" होगा, और इस नञन्तार्थ पाककृत्यभाववान् का अभेदसम्बन्ध से चैत्र रूप अनुयोगी में अन्वय करेंगे अर्थात् उपर्युक्त वाक्य से पाककृत्यभाववदभिन्नश्चैत्रः" ऐसा शाब्दबोध होगा, तथा चैत्रस्य न धनम् से चैत्रस्वत्वाभाववदभिन्नं धनम् घटो न पटः घटभेदवदभिन्नः पटः, भूतले न घटः में भूतलवृत्तित्वाभाववदभिन्नो घटः इस तरह सर्वत्र नञ् घटित स्थल में अभेदान्वय ही मान लें, तो पुनः भेद सम्बन्ध से नञर्थ के अन्वय का प्रसङ्ग ही नहीं रहेगा तो उसकी उपपत्ति के लिए उपर्युक्त नियम में निपातातिरिक्तत्व विशेषण व्यर्थ ही है।

भट्टाचार्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि सर्वत्र नञ् घटितवाक्यस्थल में अभेदान्वय बोध ही मानोगे तो इसका अर्थ यह होगा कि सर्वत्र नञ् की अभाववान् में लक्षणा ही मानोगे। इस प्रकार नञ् का अपने मुख्य अर्थ अभाव में प्रयोग ही दुर्लभ हो जाएगा। भट्टाचार्य का तात्पर्य यह है कि जब नञ् अपने मुख्यार्थ = अभावपरक कहीं नहीं मिलेगा तो उसका अभाववान्

अर्थ में लक्षणा करना भी असंभव हो जाएगा। क्योंकि लक्षणा है शक्यसम्बन्धरूपा, और यदि नञ् का कोई शक्य ही नहीं मिलेगा तो उससे सम्बद्ध अर्थ में लक्षणा कैसे कर पाओगे? अर्थात् नहीं कर सकते। अतः सर्वत्र नञ् का अभाववान् अर्थ में लक्षणा संभव न होने से सर्वत्र अभेदान्वय होना भी सम्भव नहीं। कार्य के भेदान्वय की उपपत्ति के लिए निपातातिरिक्तत्व विशेशण उपर्युक्त नियम में आवश्यक ही है।

भट्टाचार्य अग्रिम ग्रन्थ से नञ् का अभाववान् अर्थ में लक्षणा मानने में अनौचित्य दिखाते हुए कहते हैं कि -

अभावस्य भेदान्वयबोधोपगमेऽपि कार्यकारणभावकल्पनाधिक्यविरहेणाभाववति लक्षणानौचित्यात्। अभाववतोऽभेदान्वयबोधोपगमे भूतले घट इति वाक्यजन्यबोधे भूतले न घट इत्यादिवाक्यजन्यबोधस्याऽविरोधितापत्तेश्च लाघवात् स्वरूपसंबन्धेन ग्राह्याभावनिश्चयस्यैव विशिष्टबुद्धिविरोधित्वान्न त्वभेदसंसर्गकग्राह्याभावाश्रयप्रकारक निश्चयस्येति, नीलो घट इत्यादौ विशेषणविभक्तेरभेदार्थकत्वमतेऽपि यद्यप्युक्तरीत्या लाघवं संभवति तथापि तत्रापि न नो विद्वेष इति दिक्।

तात्पर्य यह है कि - नञर्थ रूप निपातार्थ और प्रातिपदिकार्थ का परस्पर यदि भेदान्वय बोध भी माना जाए तो कार्यकारणभाव की कोई अतिरिक्त कल्पना तो करनी नहीं पड़ेगी। पुनः नञ् का अभाववान् अर्थ में लक्षणा मानना अनुचित है। तात्पर्य यह है कि नञ् का जो मुख्यार्थ अभाव है, उसे छोड़कर अभाववान् अर्थ में लक्षणा करने में लाभ क्या है? इस पर यदि विचार किया जाए तो कोई लाभ दिखाई नहीं देता। हाँ। इतना अवश्य है कि नञ् को मुख्यार्थ अभावपरक मानने में नञर्थप्रातिपदिकार्थ का परस्पर भेदसम्बन्ध से अन्वय होगा, और यदि नञ् का अभाववान् अर्थ में लक्षणा करें तो नञर्थप्रातिपदिकार्थ का अभेद सम्बन्ध से, जहाँ तक कार्यकारणभाव का प्रश्न है तो भेदान्वयबोध में इसके अतिरिक्त जहाँ नञ् पदजन्य अभाव की उपस्थिति को कारण मानना पड़ता है, वहीं अभेदान्वयबोध में भी तो नञ पदजन्य अभाव की उपस्थिति को कारण मानना ही पड़ता है। इन पदार्थोपस्थिति आदि के अतिरिक्त कोई कारण जैसे अभेदान्वय में नहीं मानना पड़ता वैसे भेदान्वय में भी नहीं मानना पड़ता। पुनः क्यों? मुख्यार्थ अभाव को छोड़कर अभाववत् अर्थ में नञ् की लक्षणा स्वीकार की जाए? किं बहुना लक्षणा मानकर अभेदान्वय पक्ष में गौरव ही होगा। क्योंकि नञ् पद से लक्षणया उपस्थित होने वाला अभाववत् अर्थ, नञ् पद के मुख्यार्थ = अभाव के साथ ही उपस्थित होगा। लक्षणा है ही शक्य सम्बन्ध रूपा। इस

तरह लक्षणा मानने में मुख्यार्थ की भी उपस्थिति माननी पड़ेगी। यह गौरव होगा। अतः नञ् पद की अभाववत् अर्थ में लक्षणा मानना उचित नहीं होने से उसका अभाव अर्थ ही मानना होगा तो उसका भेदान्वय होगा जिसकी उपपत्ति के लिए निपातातिरिक्तत्व विशेषण आवश्यक ही है। किं बहुना यदि नञ् की अभाववत् अर्थ में लक्षणा मानकर उस अभाववान् का अनुयोगी के साथ अभेदान्वय बोध स्वीकार किया जाए तो "भूतले घटः" इस वाक्य से होने वाले "भूतलवृत्तिर्घटः" इस बोध में, भूतले न घटः" इस वाक्य से होने वाले बोध की अविरोधिता की आपत्ति आएगी। क्योंकि आपके अनुसार भूतले न घटः का अर्थ होगा "भूतलवृत्तित्वाभाववदभिन्नो घटः"। यह अभेद सम्बन्ध से भूतलवृत्तित्वाभाववत् प्रकारक घट विशेष्यक निश्चय; भूतलवृत्तित्व प्रकारक घट विशेष्यक भूतलवृत्तिर्घटः का विरोधी नहीं हो सकता है। क्योंकि विशिष्ट बुद्धि का अर्थात् भूतले घटः से होने वाली "भूतलवृत्तिर्घटः" इस बुद्धि का विरोधी लाघवात् स्वरूप सम्बन्ध से ग्राहयाभाव निश्चय अर्थात् "स्वरूप सम्बन्ध से भूतलवृत्तित्वाभाव" का निश्चय ही होगा, न कि ग्राहयाभावाश्रयप्रकारक अर्थात् भूतलवृत्तित्वाभाववदभिन्नो घटः यह निश्चय। अतः नञ् को मुख्यार्थ अभाव परक ही भूतले न घटः में मानना चाहिए। इस तरह यहाँ नञर्थ रूप निपातार्थ का प्रातिपदिकार्थ के साथ होने वाले भेदान्वय की उपपत्ति के लिए उपर्युक्त नियम में निपातातिरिक्तत्व विशेषण सार्थक ही है, निरर्थक नहीं।

इस प्रकार प्रकारतावाद पक्ष में लाघव होने से, विभक्तिरूप प्रत्यय का अर्थ स्वीकार करके उसमें प्रकृतिरूप प्रातिपदिक के अर्थ का अन्वय करके पुनः उस प्रकृत्यर्थान्वित प्रत्ययार्थ का अन्य प्रातिपदिकार्थ या धात्वर्थ में अन्वय होगा न कि साक्षात् भेद सम्बन्ध से दो प्रातिपदिकार्थों का या प्रातिपदिकार्थ का धात्वर्थ के साथ। यहाँ पर यह बात कही जा सकती है कि यदि प्रकारतावाद में लाघव है तो "नीलो घटः" इत्यादि स्थल में भी नील आदि विशेषणवाचक पद के आगे आयी विभक्तियों का अर्थ भी अभेद मानकर वहाँ भी अभेद प्रकारक नीलाभेदवान् घटः ऐसा ही शाब्दबोध मानने में उपर्युक्त रीति से नीलाभेदाभाववान् घटः प्रमेयः इत्यादि भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति अधिक प्रतिबन्धकता की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी, लाघव संभव है। तो, नीलो घटः में भी अभेद प्रकारक ही शाब्दबोध स्वीकार करना चाहिए न कि अभेद संसर्गक। भट्टाचार्य कहते हैं कि यदि नीलो घटः इत्यादि स्थल में अभेद प्रकारक शाब्दबोध मानने में लाघव संभव है तो वहाँ अभेद प्रकारक शाब्दबोध मानने में मुझे कोई द्वेष (आपत्ति) नहीं है।

यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि भट्टाचार्य ने प्रकारतावादी के उपर्युक्त लाघव प्रदर्शनपूर्वक अभेद को प्रकारतया भासित होने के मत में, अपनी

सम्मति न दिखाकर अर्थात् "तत्रापि नः सम्मतिः" ऐसा नहीं कहकर ननो विद्वेषः जो कहा उसका तात्पर्य यह है कि - प्रकारतावादी की उपर्युक्त युक्ति से अभेद के प्रकारतया शाब्दबोध में भासित होने में मुझे (भट्टाचार्य को) कोई द्वेष तो नहीं है, परन्तु अभेद में प्रकारता की सिद्धि करने वाली उक्त प्रतीति में मेरी श्रद्धा नहीं है।

पूर्व में विशेष्यता सम्बन्ध से नामार्थप्रकारकभेदान्वय बोध के प्रति विशेष्यता सम्बन्ध से प्रत्ययजन्य उपस्थिति को कारण माना गया है। अतः प्रसंगवश प्रत्यय का निरूपण करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं -

प्रत्ययाश्च विभक्तिकृत्तद्धितादिभेदेन नानाविधाः। विभक्तिश्च सुप्तिङ्भेदेन द्विविधा। सुब्विभक्तयः प्रथमाद्वितीयादयः सप्त। तत्र प्रथमार्थः प्रकृत्यर्थे विशेषणविधयान्वयिनी संख्यैव। अतएव यत्र विशेष्यवाचकसमानविभक्तिकपदं निपातपदं वा नास्ति, तत्र प्रथमान्तार्थस्य विशेष्यभासकसामग्र्यभावादसौ मुख्यविशेष्यतयैव भासते।

प्रत्यय तो विभक्ति, कृत्, तद्धित आदि के भेद से अनेक प्रकार के हैं। इन अनेक प्रत्ययों में विभक्ति रूप प्रत्यय सुप् और तिङ के भेद से दो प्रकार का होता है। अर्थात् सुप् तथा तिङ ये दो प्रकार की विभक्तियाँ होती हैं। इन दो विभक्तियों में सुप् विभक्ति प्रथमा, द्वितीया, तृतीया आदि नाम की सात हैं। उन प्रथमा आदि सात सुप् विभक्तियों में प्रथमा विभक्ति का अर्थ - प्रकृत्यर्थ में विशेषण विधया अन्वित होने वाली संख्या ही होता है। अतएव जहाँ विशेष्यवाचक समान विभक्ति वाला (कोई दूसरा पद) नहीं होता या निपात पद नहीं होता, वहाँ प्रथमान्तार्थ के, विशेष्य को भासित करनेवाली सामग्री के नहीं होने से प्रथमान्तार्थ ही मुख्य विशेष्य रूप से भासित होता है।

तात्पर्य यहाँ है कि प्रथमा विभक्ति का अर्थ बताते हुए भट्टाचार्य जी ने जो "प्रकृत्यर्थे विशेषण विधयान्वयिनी संख्यैव" कहा है। सो, इस वाक्य में प्रयुक्त "एव" का अन्वय प्रकृत्यर्थ के साथ विशेषण विधया के साथ तथा संख्या के साथ अर्थात् तीनों शब्दों के साथ होता है। इस प्रकार उपर्युक्त वाक्य का तात्पर्य यह निकला कि प्रथमा का अर्थ संख्या ही होता है और वह विशेषण रूप से ही प्रकृत्यर्थ में ही अन्वित होती है।

प्रथमार्थ = संख्या, "प्रकृत्यर्थ में ही अन्वित होती है" ऐसा कहने से संख्या का स्वाश्रयकर्तृकत्व सम्बन्ध से प्रधानीभूतक्रिया में ही अन्वय होने के भ्रम का वारण हो गया। क्योंकि संख्यावाचक सु आदि प्रथमा विभक्ति तथा राम आदि प्रकृति (प्रातिपदिक) चूँकि रामः इत्यादि प्रयोग (पद) में एक पदोपात्त है। अतः धातुवाच्य क्रिया की अपेक्षा प्रकृत्यर्थ (प्रातिपदिकार्थ) की उपस्थिति संख्यान्वयी

के रूप में शीघ्र होती है। अतः प्रथमा विभक्त्यर्थ संख्या का अन्वय प्रथमा विभक्ति की प्रकृति (प्रातिपदिक) के अर्थ में ही होना उचित है। इसी प्रकार "संख्या विशेषण विधया ही अन्वित होती है" ऐसा मानने से - अन्य प्रत्ययार्थों की तरह संख्या में भी प्रकृत्यर्थ विशेषण विधया अन्वित होती है इस भ्रम का निवारण होता है। क्योंकि - "घटम्" इत्यादि द्वितीयान्त पदस्थल में यदि प्रकृत्यर्थान्वित स्वार्थबोधकत्वं प्रत्ययानाम्" इस औत्सर्गिक नियमानुसार घट रूप प्रकृत्यर्थ का संख्या और कर्मत्व ये दोनों प्रत्ययार्थ (अमर्थ) विशेष्य माने जाएँ, तो वाक्यभेद की आपत्ति होगी। यदि प्रत्ययार्थ = कर्मत्व ही प्रकृत्यर्थ = घट में विशेषणविधया अन्वित होता है ऐसा मानें। तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि संख्या में प्रकृत्यर्थ को विशेषण सिद्ध करते समय जो कहा गया था "अन्य प्रत्ययार्थों की तरह" सो यह यह दृष्टान्तकथन असंगत हो जाएगा। अतः द्वितीयार्थ कर्मत्व में ही प्रकृत्यर्थ का विशेषण रूप में अन्वित होना मानना उचित है। तो द्वितीयार्थ ऐसी स्थिति में जब प्रकृत्यर्थ का विशेष्य कर्मत्व होगा तो पुनः प्रकृत्यर्थ का विशेष्य संख्या नहीं हो सकती वाक्यभेद की आपत्ति के कारण। अतः वहाँ द्वितीयार्थ संख्या प्रकृत्यर्थ में विशेशण रूप से ही अन्वित होगी। एवञ्च यदि द्वितीयास्थल में प्रत्ययार्थ संख्या विशेषण रूप से अन्वित होती है यह बात सिद्ध हो गयी तो प्रथमास्थल में भी प्रत्ययार्थ = प्रथमार्थ = संख्या का प्रकृत्यर्थ में विशेषण रूप से ही अन्वय मानना उचित है। अतः विशेशणविधयाऽन्वयिनी एव" ऐसा कहा गया। इसी प्रकार संख्यैव प्रथमार्थः अर्थात् प्रथमा विभक्ति का अर्थ संख्या ही है ऐसा कहने से लिङ्ग और परिमाण भी प्रथमा विभक्ति के अर्थ हैं "इस भ्रम का निराकरण हो गया। क्योंकि - तटः तटी तटम् इस प्रकार तट शब्द का प्रयोग तीनों लिङ्गों में होता है। तट पदार्थ में लिङ्गवत्व रूप पुरूषत्व या योनिमत्व रूप स्त्रीत्व तो प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है, तथापि पदसाधुत्व के लिए महर्षि पाणिनि द्वारा परिभाषित पुंस्त्व आदि तो वहाँ मानना ही पड़ेगा। अब इस प्रकार का पारिभाषिक लिङ्ग (त्व आदि) तो जिस किसी भी पदार्थ में रह सकता है। तथापि तटं पश्य, तटीं पश्य, तटानि पश्य यहाँ भी लिङ्ग का अनुभव तो होता ही है, तो इस अनुभव के आधार पर यह बात सिद्ध हो गयी कि द्वितीयान्त तट शब्द से भी पुंस्त्व आदि लिङ्ग का बोध होता है। जबकि वहाँ प्रथमा का प्रयोग नहीं है। इस प्रकार यदि प्रथमा के प्रयोग के बिना भी लिङ्ग का बोध होता है तो लिङ्ग रूप अर्थ प्रथमा विभक्ति का मानना उचित नहीं है।

इसी प्रकार "द्रोणं व्रीहिमानय" इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध में भी परिमाणरूप अर्थ का भासित होना अनुभव सिद्ध है। एवञ्च यदि प्रथमा के नहीं रहने पर भी परिमाण रूप अर्थ की प्रतीति होती है तो प्रथमा विभक्ति का अर्थ

परिमाण मानना उचित नहीं। अपितु प्रथमा द्वितीयादि सभी विभक्ति स्थलों में उपस्थित रहने वाली प्रकृति (प्रातिपदिक) का अर्थ ही परिमाण मानना चाहिए। इस प्रकार प्रथमा विभक्ति का अर्थ न तो लिङ्ग हो सकता है और न ही परिमाण। प्रातिपदिकार्थ (व्यक्ति या जाति या जाति विशिष्ट व्यक्ति) तो प्रथमार्थ माना ही नहीं जा सकता, क्योंकि तब प्रातिपदिक का उच्चारण करना ही व्यर्थ हो जाएगा। अतः "प्रथमा विभक्ति का अर्थ संख्या ही है" ऐसा भट्टाचार्य जी ने कहा है।

इसके आगे भट्टाचार्य जी ने जो "अतएव यत्र विशेष्यवाचकसमान-विभक्तिकपदं निपातपदं वा नास्ति तत्र प्रथमान्तार्थस्य विशेष्य भासक सामग्र्यभावादसौ मुख्य विशेष्यतयैव भासते" कहा है। इसकी व्याख्या की जा रही हैं उपर्युक्त वाक्य में "असौ = का अर्थ संख्या मानकर अनेक आदरणीय व्याख्याकारों ने की है। जिसका तात्पर्य यह है कि - जहाँ प्रथमान्तार्थ को विशेष्य बताने वाला कोई दूसरा समान विभक्तिक (प्रथमान्त) पद या निपात पद न हो, तो, वहाँ संख्या ही मुख्य विशेष्य रूप से भासित होती है। अतः जहाँ कोई चैत्र आदि पुरूषगत एकत्व संख्या का ही बोध कराने के तात्पर्य से केवल "चैत्रः" इस वाक्य का प्रयोग करता है, वहाँ "चैत्रवृत्ति एकत्वम्" इस प्रकार का संख्या विशेष्यक ही शाब्दबोध होता है। संख्याप्रकारक "एकत्ववाँश्चैत्रः" ऐसा शाब्दबोध नहीं होता। क्योंकि यदि चैत्रः इस वाक्य से एकत्ववाँश्चैत्रः ऐसा संख्या प्रकारक शाब्दबोध स्वीकार किया जाए तो चैत्रत्व की तरह एकत्व को भी प्रकृत्यर्थ मानना पड़ेगा इत्यादि i) इन पूज्य नैयायिकों की व्याख्या के सम्बन्ध में किसी प्रकार की प्रतिकूल टिप्पणी करना "छोटा मुँह बड़ी बात" होगी। तथापि इस न्यायशास्त्र की परम्परा तर्क तथा प्रमाण से परीक्षित वस्तु को ही स्वीकार करने की है। अतः उपर्युक्त व्याख्या मुझे उचित नहीं प्रतीत होती। क्योंकि सबसे पहली बात यह है कि - प्रकृत अत एव इत्यादि ग्रन्थ भट्टाचार्य जी ने "प्रकृत्यर्थ में विशेषण विधया अन्वित होने योग्य संख्या ही प्रथमार्थ है" इस बात को सिद्ध करने के लिए लिखा है। ऐसी स्थिति में यदि "चैत्रः" इस वाक्य से संख्या विशेष्यक = "चैत्रवृत्ति एकत्वम्" शाब्दबोध माना जाएगा तो प्रथमार्थ संख्या में "प्रकृत्यर्थ में विशेषण विधयैव संख्या अन्वेति" यह बात कैसे सिद्ध होगी अपितु उपर्युक्त शाब्दबोध तो उपर्युक्त विशेषणविधयैव नियम के विपरीत ही होगा। अब रही दूसरी बात कि यदि चैत्रः इस वाक्य से एकत्व प्रकारक एकत्ववाँश्चैत्रः शाब्दबोध माना जाए तो चैत्रत्व के समान एकत्व को भी प्रकृत्यर्थ माना जाएगा। तो इस सम्बन्ध में मुझे यह कहना है कि - क्या प्रकृत्यर्थ में प्रकृत्यर्थ ही प्रकार रूप से भासित होता है? अन्य पदार्थ नहीं। यदि ऐसा माना जाए तो घटवद् भूतलम् यहाँ पर प्रकृत्यर्थ भूतलम् इस प्रकृति के अर्थ भूतल में घट का प्रकार विधया भासित होना जो माना जाता

है वह असंगत हो जाएगा। क्योंकि घट रूप अर्थ भूतल पद का नहीं है। अतः प्रकृत्यर्थ से भिन्न पदार्थ भी प्रकृत्यर्थ में प्रकार विधया भासित होता है, ऐसा मानना चाहिए। तब भला प्रथमार्थ = एकत्व संख्या, प्रकृत्यर्थ चैत्र में प्रकार रूप से भासित क्यों नहीं हो सकती। मेरी समझ से तो अवश्य हो सकती है। एवं च जब प्रथमार्थ एकत्व संख्या का प्रकार (विशेषण) रूप से प्रकृत्यर्थ रूप में अन्वित होना स्वीकार कर लेते हैं तो भट्टाचार्य के उपर्युक्त अत एव ग्रन्थ की संगति भी लग जाती है। अब उपर्युक्त ग्रन्थ में आए "असौ" पद का प्रथमान्तार्थ अर्थ मानकर व्याख्या की जा रही है। "जहाँ विशेपणवाचक पद के समान विभक्ति वाला विशेष्यवाचक कोई दूसरा पद या निपात पद न हो वहाँ पर प्रथमान्तार्थ मुख्य विशेष्य रूप से ही भासित होता है। जैसे "चैत्रः" इस वाक्य में न तो चैत्र को विशेष्य बताने वाला कोई दूसरा समान विभक्ति वाला पद है और न ही कोई निपात पद है। अतः यहाँ प्रथमान्तार्थ = चैत्र ही मुख्य विशेष्य रूप से भासित होता है और एकत्ववॉश्चैत्रः ऐसा शाब्दबोध होना जव निश्चित है तो "चैत्रः पचति" यहाँ भी चैत्रः के समान प्रथमान्त न तो कोई दूसरा पद है जिससे चैत्र का विशेष्यत्व भासित हो और न ही कोई निपात ही है। अतः यहाँ भी प्रथमान्तार्थ चैत्र मुख्य विशेष्यक ही शाब्दबोध "पाकानुकूलकृतिमदभिन्न एकत्वॅवॉश्चैत्रः मानना चाहिए। इस प्रकार जहाँ केवल चैत्रः का प्रयोग है, या जहाँ चैत्रः पचति ऐसा वाक्य है, दोनों ही स्थिति में चूँकि प्रथमान्तार्थ मुख्यविशेष्यक ही शाब्दबोध होता है। अतः नैयायिकों ने माना है कि "सति संभवे प्रथमान्तार्थ मुख्य विशेष्यक एव शाब्दबोधः" अर्थात् यदि संभव हो तो प्रथमान्तार्थ मुख्य विशेष्यक ही शाव्दबोध स्वीकार करना चाहिए। इसी "सति सम्भवे प्रथमान्तार्थस्यैव मुख्य विशेष्यत्वम्" नियम को सूचित करने के अभिप्राय से भट्टाचार्य ने अतएव इत्यादि ग्रन्थ लिखा है। मेरी उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार "प्रकृत्यर्थे विशेषणविधयैव अन्वययोग्यासंख्यैव प्रथमार्थः" इस बात की पुष्टि भी हो जाती है। क्योंकि चैत्रः सुन्दरः या चैत्रः पचति सर्वत्र प्रथमान्तार्थचैत्र मुख्य विशेष्यक ही शाब्दबोध होता है और सर्वत्र प्रथमार्थ = एकत्व संख्या प्रकृत्यर्थ चैत्र में विशेषण रूप से ही भासित होती है। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि भट्टाचार्य के अतः एव इत्यादि ग्रन्थ से सूचित होने वाले "सति सम्भवे प्रथमान्तार्थस्यैव मुख्यविशेश्यत्वम्" नियम में "सतिसम्भवे" इस अंश के निवेश से कौण्डभट्ट आदि वैयाकरणों द्वारा भूषणसार में न्यायमत का खण्डन करते हुए जो "प्रथमान्तार्थस्यैव मुख्यविशेष्यत्वम्" को न्यायमत मानकर "पश्यमृगो धावति" आदि उदाहरण में दोष दिया है। वह सब भ्रममूलक ही है। क्योंकि किसी नैयायिक ने "प्रथमान्तार्थस्यैव मुख्य विशेष्यत्वम्" ऐसी प्रतिज्ञा नहीं की है। नैयायिक लोग तो - "पचति" इस वाक्य से "पाकानुकूलाकृतिः"

इतना मात्र कृतिमुख्यविशेष्यक ही शाब्दबोध मानते हैं। इसी प्रकार "चैत्रेण सुप्यते" इस वाक्य से "चैत्रकर्तृकं शयनम्" ऐसा व्यापारमुख्य शाब्दबोध मानते हैं। अतएव उपर्युक्त नियम में "सति सम्भवे" इतने अंश का निवेश करना आवश्यक था। ऐसी स्थिति में जब उपर्युक्त नियम में सति सम्भवे का निवेश है तो जहाँ "पश्य मृगो धावति" आदि स्थल में प्रथमान्तार्थ मृग मुख्य विशेष्यक शाब्दबोध मानने में कर्तृत्वबोधक द्वितीया विभक्ति का दृश् धातु के आगे आना असंभव होने से दोष आता है, तो ऐसे स्थल में नैयायिक लोग प्रथमान्तार्थ मुख्य विशेष्यक शाब्दबोध को न मानने में कोई क्षति नहीं देखते। अस्तु।

संख्यावाचकानां च एकवचनद्विवचनबहुवचनानामेकत्वत्वद्वि-त्वत्व-बहुत्वत्वावच्छिन्नेषु शक्तिः। शक्तता च सुत्व-औत्व-जस्त्वादिना, न तु स्वादितिबादिसाधारणैकवचनत्वादिना। एकवचनत्वादेर्दुर्वचत्वात्। नचैकत्वादिवाचकत्वं तत्। वाचकतायाः शक्ततावच्छेदकत्वे आत्माश्रयात् बोधकतारूपत्वे शक्तिभ्रमेण द्विवचनादीनामपि एकत्वबोधकतया अतिप्रसक्तत्वात्। न चैकवचनत्वादिकं जातिविशेषः सुत्वादिना साङ्कर्यात्।

संख्यावाचक (संख्या अर्थ को कहने वाले) एकवचन अर्थात् सु, द्विवचन अर्थात् औ और बहुवचन अर्थात् जस् आदि विभक्तियों की क्रमशः एकत्वत्वावच्छिन्न एकत्व में, द्वित्वत्वावच्छिन्नद्वित्व में तथा बहुत्वत्वावच्छिन्न बहुत्व में शक्ति है। अर्थात् एकवचन सु की शक्ति एकत्वत्वावच्छिन्न एकत्व में द्विवचन औ की शक्ति द्वित्वत्वावच्छिन्न द्वित्व में तथा बहुवचन जस् की शक्ति बहुत्वत्वावच्छिन्न बहुत्व संख्या में रहती है। और एकत्वसंख्यानिरूपित शक्ति चूँकि सु पद में, द्वित्व संख्यानिरूपित शक्ति औ पद में तथा बहुत्व संख्या निरूपितशक्ति जस् पद में रहती है। अतः सु, औ जस् ये विभक्तियाँ शक्त हैं। ग्रन्थकार अब इन सु आदि पदों में रहने वाली शक्तता का अवच्छेदक क्या है इसे बताने जा रहे हैं। अर्थात् सु आदि पदों में जो शक्तता रहती है वह किस रूप में। क्योंकि सु आदि पदों में रहने वाले रूप (धर्म) अनेक हैं। जैसे सु में सुत्व भी है और एकवचनत्व भी है और सुप्त्व भी। इसी प्रकार औ आदि विभक्तियों में जानना चाहिए। ऐसी स्थिति में सु आदि पदों में रहने वाली शक्तता का अवच्छेदक रूप क्या है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि शक्तता च सुत्वऔत्वजस्त्वादिना इत्यादि। अर्थात् सु में रहने वाली शक्तता का अवच्छेदक रूप सुत्व है, न कि एकवचनत्व। इसी प्रकार औ में रहने वाली शक्तता का

अवच्छेदक रूप औत्व है, न कि द्विवचनत्व। तथा जस् में रहने वाली शक्तता का अवच्छेदक रूप है जस्त्व; न कि बहुवचनत्व।

अब यहाँ स्वाभाविक रूप से जिज्ञासा होती है कि - जब सु में एकवचनत्व औ में द्विवचनत्व तथा जस् में बहुवचनत्व रहते हैं तो ये धर्म सु आदि में रहने वाली शक्तता का अवच्छेदक क्यों नहीं हो सकते? तो, इस जिज्ञासा का समाधान स्वयं ग्रन्थकार करते हुए कहते हैं कि - सुप् आदि और तिप् आदि दोनों स्थलों पर साधारण (समान) रूप से रहने वाले ये एकवचनत्व आदि धर्म, शक्तता के अवच्छेदक इसलिए नहीं हो सकते, क्योंकि एकवचनत्व, द्विवचनत्व तथा बहुवचनत्व का निरूपण करना निर्वचन करना दुर्वच है अर्थात् असंभव या बहुत कठिन है। यहाँ मूल में आये स्वादितिबादिसाधारण का अर्थ है - एकवचनत्व जैसे सु में है वैसे तिप् में भी, द्विवचनत्व जैसे औ में है वैसे तस् में भी बहुवचनत्व जैसे जस् में है वैसे झि में भी। अस्तु। इन दोनों प्रकार की विभक्तियों में रहने वाले एकवचनत्व आदि का निर्वचन चूँकि दुर्वच है। अतः ये सु आदि में रहने वाली शक्तता का अवच्छेदक नहीं हो सकते। इस पर कोई कह सकता है कि - एकवचनत्व का निर्वचन हम "एकत्ववाचकत्व" द्विवचनत्व का द्वित्ववाचकत्व आदि रूप में कर सकते हैं। पुनः क्यों एकवचनत्व को दुर्वच कहकर उसे शक्तावच्छेदक नहीं मानते? भट्टाचार्य इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि - वाचकता को शक्ततावच्छेदक मानने पर आत्माश्रय दोष होगा।

ग्रन्थकार का तात्पर्य यहाँ यह है कि - एकत्वसंख्या है शक्य, और एकत्व की शक्ति रहने से एकत्वशक्तता है सु में, और सु में रहने वाली एकत्वशक्तता का अवच्छेदक यदि एकवचनत्व को मानें, और उस एकवचनत्व की व्याख्या एकत्ववाचकत्व करें तो वाचकत्व और शक्तता चूँकि एक ही वस्तु है। अतः एकत्वशक्तता का अवच्छेदक हो गया एकत्ववाचकत्व अर्थात् एकत्वशक्तता। इस प्रकार स्व = शक्तता का अवच्छेदक स्व = वाचकत्व के हो जाने से अर्थात्, स्व की अपेक्षा स्व को हो जाने से आत्माश्रय दोष होगा। अतः एकवचनत्व का निर्वचन एकत्ववाचकत्व नहीं होगा तो वह शक्तावच्छेदक भी नहीं होगा इस पर कोई एकवचनत्व का दूसरे प्रकार से निर्वचन करते हुए कहता है किं - "एकत्वबोधकता" ही एकवचनत्व है और इसी एकत्वबोधकता रूप एकवचनत्व को सु में रहने वाली शक्तता का अवच्छेदक मानेंगे तो इस प्रश्न का समाधान करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं कि -

यदि एकवचनत्व को एकत्वबोधकता रूप मानोगे तो कभी-कभी शक्ति भ्रम के कारण औ विभक्ति से भी किसी-किसी को एकत्व संख्या का बोध होता है। ऐसी स्थिति में एकत्वबोधकता तो द्विवचन = औ, में रह गयी। इस प्रकार

जहाँ एकवचनत्व नहीं है उस द्विवचन औ में भी एकत्वबोधकता के अतिव्याप्त हो जाने से वह एकत्वशक्तता का अवच्छेदक नहीं हो सकता। क्योंकि अन्यून-अनतिप्रसक्त धर्म ही अवच्छेदक होता है। इस प्रकार एकवचनत्व का निरूपण असंभव होने के कारण उसे एकत्वशक्तता का अवच्छेदक नहीं मान सकते। इस पर एकवचनत्व को शक्तावच्छेदक सिद्ध करने के उद्देश्य से कोई पुनः प्रयास करते हुए कहता है कि - एकवचनत्व को हम एक जाति विशेष मानेंगे और इस प्रकार एकवचनत्व का जातित्वेन निर्वचन तो हो ही सकता है पुनः उसे क्यों न एकत्वशक्तावच्छेदक माना जाए? भट्टाचार्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि - एकवचनत्व आदि को जाति नहीं मान सकते। क्योंकि सुप्त्व आदि के द्वारा साङ्कर्य है और साङ्कर्य दोष जातित्व का बाधक है यह तो सभी जानते हैं। जैसे - सुप्त्वाभाववान् = तिप् में रहने वाला धर्म है एकत्व; और एकत्वाभाववान् = औ, में रहने वाला धर्म है सुप्त्व। इस प्रकार एकवचनत्व और सुप्त्व ये दोनों धर्म परस्पर विरूद्ध है और अत्यन्ताभावसमानाधिकरण भी हैं। इन परस्पर विरूद्धात्यन्ताभावसमानाधिकरण दोनों धर्मों का एकत्र = सु विभक्ति में सामानाधिकरण्य है। क्योंकि सु में एकत्व भी है और सुप्त्व भी। इस प्रकार सुप्त्व से साङ्कर्य होने के कारण एकवचनत्व को जाति नहीं मान सकते। इस पर यदि कोई पुनः कहे कि - जाति का साङ्कर्य ही जाति का बाधक माना जाता है। नहीं तो - जलाभाववान् = ऑवा में रहने वाला घट है और घटाभाववान् = तालाब में रहने वाला जल है। इन अत्यन्ताभावसमानाधिकरण दोनों का साङ्कर्य है घटजल संयोग (जलपूर्ण घट) में। क्योंकि इस संयोग में घट भी है और जल भी। इस प्रकार के साङ्कर्य को भी यदि जातिबाधक मान लिया जाए तो पृथिवीत्व जलत्व आदि सर्वानुभव सिद्ध जातियों में भी जातित्व का बाध मानना पड़ेगा। अतः जातिसाङ्कर्य को ही जातिबाधक मानना चाहिए। ऐसी स्थिति में सुप्त्व को तो किसी ने भी जाति माना नहीं है। अतः इस सुप्त्व के साङ्कर्य के होने पर भी एकवचनत्व को जाति मानने में कोई बाधा नहीं है। ग्रन्थकार ने इन्हीं सब आपत्तियों को हृदय में रखकर सुप्त्वेन के स्थान पर सुप्त्वादि कहा। जिसका तात्पर्य यह है कि - सुप्त्वेन होने वाला साङ्कर्य भले ही एकवचनत्व के जातित्व का बाधक न हो परन्तु अत्व मत्व आदि के साथ होने वाला साङ्कर्य एकवचनत्व के जातित्व का तो निश्चित ही बाधक होगा। जैसे - अत्वाभाववान् = सु में रहने वाला धर्म है एकवचनत्व, और एकवचनत्वाभाववान् = जस् में रहने वाला धर्म जकारोत्तरवर्ती अकार में रहने वाला अत्व इन दोनों अत्यन्ताभावसमानाधिकरण एकवचनत्व और अत्व धर्मों का सामानाधिकरण्य है अम् विभक्ति के अकार में। यदि कोई कहे कि एकवचनत्व तो अकारोत्तर वर्तीमकार में है अकार में नहीं, तो

उनको यह समझना चाहिए कि एकवचनत्व जैसे अकारोत्तरवर्ती मकार में है, वैसे ही मकाराव्यवहितपूर्ववर्तीअकार में भी रहता है। इस पर भी यदि दुराग्रह करे कि नहीं अकारोत्तरवर्तीमकार में ही एकवचनत्व रहता है। तो भी मत्व के साथ एकवचनत्व का साङ्कर्य तो निश्चित है। एकवचनत्वाभाववान् = श्याम् में रहने वाला धर्म है मत्व और मत्वाभाववान् = सु में रहने वाला धर्म है एकवचनत्व, और अम् के म् अकार में मत्व तथा एकवचनत्व का साङ्कर्य है। इस प्रकार मत्व के साथ साङ्कर्य होने के कारण एकवचनत्व को जाति नहीं माना जा सकता। मत्व को जाति तो माना ही जाता है। इस प्रकार मत्व जाति के साथ साङ्कर्य होने के कारण एकवचनत्व को न तो जाति माना जा सकता है और तब नहीं उसका जातित्वेन निर्वचन ही किया जा सकता।

न च शक्तिसम्बन्धेनैकवचनादिपदवत्त्वं तत्, तादृशज्ञानदशायां च सुत्वादिना शक्तिभ्रमादेव शाब्दबोधः। एकवचनादिशब्दस्य पदद्वयात्मकतया तादृशसमुदायशक्तेरेवाप्रसिद्धिरिति तु नाशङ्कनीयम्। एकं वक्ति इत्यादिव्युत्पत्त्या एकवचनादिशब्दस्य स्वादिबोधकत्वे; एकादिशब्देऽपि तादृशव्यवहारापत्तेः। एकवचनादिशब्दस्य स्वादौ रूढिस्वीकारस्यावश्यकत्वादिति वाच्यम्। ग्रन्थकारीयसङ्केतेनैवोपपत्तौ एकवचनादिपदे शक्तेरप्रामाणिकत्वात्। तान्येकवचनद्विवचनेत्यादिपाणिनिसूत्रस्य तदीयसङ्केतपरतयाप्युपपत्तेः। न हि यूस्त्र्याख्यौ नदीत्यनुशासनात् स्त्र्याख्ये ईदूदादिशब्दे नद्यादिपदस्य शक्तिः सिध्यति, किन्तु तदीय सङ्केत एव। अत एव नद्यादिसंज्ञा आधुनिकसङ्केतशालित्वात् पारिभाषिक्येव न त्वौपाधिकी।

एकवचनत्व का निर्वचन करने के लिए कोई कहता है कि शक्ति सम्बन्ध से एकवचनपदवान् होना ही एकवचनत्व है अर्थात् सु को बोध कराने की शक्ति एकवचन पद में रहती है। उस 'सु' से निरूपित शक्ति को ही सम्बन्ध मानकर, उस शक्ति सम्बन्ध से एकवचनपदवान् होगा 'सु' पद। इसी तरह सु का एकवचनपदवान् होना ही सु में रहने वाला एकवचनत्व है। इस प्रकार एकवचनपदवत्त्व रूप से एकवचनत्व का निरूपण जब हो सकता है, तो भी उसे शक्तावच्छेदक क्यों नहीं माना जा सकता? इस पर यदि कोई कहे कि शाब्दबोध के लिए शक्ति का ज्ञान होना आवश्यक है परन्तु 'एकवचनपदवत् एकत्वे शक्तम्' अर्थात् शक्ति सम्बन्ध से एकवचनपदवान् एकत्व संख्या अर्थ में शक्त है ऐसा शक्तिज्ञान नहीं होने पर भी, सुत्वं एकत्वे शक्तम् इस प्रकार के शक्ति ज्ञान से भी जब शाब्दबोध होता है तो एकवचनपदवत्ता अर्थात् एकवचनत्व को शक्तावच्छेदक

कैसे माना जा सकता है? पूर्वपक्षी कहता है कि शाब्दबोध के लिए शक्ति ज्ञान होना चाहिए। वह शक्तिज्ञान चाहे प्रमात्मक हो या भ्रमात्मक। अतः सुपदम् एकत्वे शक्तम् इस प्रकार के शक्तिभ्रम से भी शाब्दबोध होता। तथापि इस भ्रमात्मक शक्तिज्ञान से होने वाले शाब्दबोध के आधार पर उपर्युक्त एकवचनपदवत्ता रूप एकवचनत्व को शक्ततावच्छेदक होने से नहीं रोका जा सकता। इस पर यदि कोई कहे कि -

नैयायिक लोग समुदाय में शक्ति मानते ही नहीं है। "एकवचन" शब्द तो (1) एक, और (2) वचन, इन दो पदों का समुदाय है। तो इस पदद्वयसमुदाय रूप "एकवचन" शब्द में जब कोई शक्ति ही नहीं रहती है तो शक्तिसम्बन्ध से एकवचनपदवान् सु कैसे होगा? पूर्वपक्षी इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहता है कि - "एकवचन" शब्द दो पदों का समुदाय नहीं है। क्योंकि एकवचन शब्द को पदद्वयात्मक मानने का अर्थ है कि इसमें "एकं वक्ति" इति एकवचनम् ऐसी व्युत्पत्ति मानी जाए। परन्तु यह व्युत्पत्ति तो "एक" शब्द में घटित होती है। क्योंकि एक अर्थ को तो "एक शब्द भी कहता ही है; तो एक शब्द के लिए भी एकवचनत्व के व्यवहार की आपत्ति आएगी अर्थात् एक शब्द भी एकवचन कहलाने लगेगा। अतः एकवचन शब्द को पदद्वयात्मक यौगिक संज्ञा नहीं मानना चाहिए। अपि तु "सु" अर्थ में एकवचन शब्द रूढ़ है ऐसा मानना चाहिए।

एवञ्च जब "सु" अर्थ में एकवचन शब्द रूढ है तो इसका अर्थ हुआ कि सु पद निरूपित शक्ति (रूढ़ि) एकवचन शब्द में है तो शक्ति सम्बन्ध से एकवचन पदवान् "सु" पद हुआ और सु में रहने वाली यही एकवचनपदवत्ता एकवचनत्व हुआ। पुनः उसे शक्ततावच्छेदक क्यों न माना जाए? न च शक्तिसम्बन्धेन से लेकर यहाँ तक रूढिस्वीकारादितिवाच्य तक पूर्वपक्षी ने जो एक वचनत्व को शक्ततावच्छेदक सिद्ध करने का प्रयास किया, उसका खण्डन करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं कि - ग्रन्थकार के सङ्केत से ही एकवचन पद से सु पद रूप अर्थ के बोध की उपपत्ति हो जाएगी, एकवचन पद में शक्ति मानना अप्रामाणिक है। तात्पर्य यह है कि - एकवचन पद का सु पदरूप अर्थ में ग्रन्थकार (पाणिनि) का संकेत होने के कारण ही एकवचन पद से सु का बोध व्याकरणशास्त्र में होता है ऐसा मान लाने से भी एकवचन पद और सुपद का बोध्यबोधकभाव उपपन्न हो जाएगा। इसके लिए सु निरूपितशक्ति एकवचन पद में मानना उचित नहीं। क्योंकि एकवचनपद में सुनिरूपित शक्ति के रहने में कोई प्रमाण नहीं है। इस पर पूर्वपक्षी कह सकता है कि सुपदनिरूपित शक्ति एकवचनपद में रहती है इसमें "तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः" यह सूत्र ही प्रमाण है।

भट्टाचार्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि "तान्येकवचनद्विवचन इत्यादि सूत्र सुपद निरूपितशक्ति "एकवचन" इस पद में रहती हैं इस बात में प्रमाण नहीं है अपितु एकवचन पद का पाणिनीयसङ्केत सु पद में है इस बात में प्रमाण है यह मानना चाहिए। क्योंकि - "यू स्त्र्याख्यौ नदी" इस सूत्र से स्त्रीसंज्ञकईकारान्त ऊकारान्त शब्द में नदी पद की शक्ति रहती है यह बात सिद्ध नहीं होती। अपितु नदी पद का पाणिनीय संकेत, ईकारान्त ऊकारान्त स्त्रीसंज्ञक शब्द में है यही सिद्ध होता है। इसीलिए आधुनिक पाणिनीय सङ्केत शाली होने के कारण नदी आदि संज्ञा पारिभाषिक संज्ञा मानी जाती है औपाधिक नहीं।

इसी प्रकार सु आदि की एकवचन आदि संज्ञा पारिभाषिक है। एकवचन पद में शक्ति (रूढ़ि) नहीं मान जा सकती। इसलिए शक्ति सम्बन्ध से एकवचनपदवान् सु नहीं कहला सकता।" और न ही एकवचन पदवत्ता को एकवचनत्व माना जा सकता है। पूर्वपक्षी पुनः एकवचनत्व का निर्वचन करने का प्रयास करते हुए कहता है कि -

अथैवमपि पाणिनिसङ्केतसम्बन्धेन तादृशपदवत्त्वमेव एकत्वादि-शक्ततावच्छेदकमस्त्विति चेत्1 न, तादृशसङ्केतस्य केन रूपेण सम्बन्धता? सङ्केतत्वेनेति चेत्, तर्हि कस्यचित्पुंसः एकवचनपदात् सु औ जसादिर्बोद्धव्य इत्याकारकसङ्केतस्यापि सम्भवादतिप्रसक्तिर्दुवारैव। पाणिनिसङ्केतत्वेन तथेति चेत् तर्हि व्याकरणप्रणेतुः पुरुषान्तरस्यापि तादृशसङ्केतस्य संभवात्। तदीयसङ्केतसम्बन्धेन तत्पदवत्त्वस्य डित्थादिपदात् सु औजसादिर्बोद्धव्य इत्याकारकपुरूषसङ्केतसम्बन्धेन डित्थादिपदवत्त्वस्य वा विनिगमनाविरहेण शक्ततावच्छेदकताप्रसङ्गः। तथा चानुपूर्वी एव शक्ततावच्छेदक इति।

पूर्वपक्षी के कहने का तात्पर्य यह है कि - ठीक है एकवचन पद में बोध की शक्ति नहीं है, परन्तु पाणिनि का सङ्केत तो है। तो हम उसी पाणिनिसङ्केत को सम्बन्ध मानकर, उस पाणिनिसङ्केत सम्बन्ध से एकवचनपदवान् होने को ही सु में रहने वाला एकवचनत्व कहते हैं। हमारा तात्पर्य तो एकवचनत्व के निर्वचन में है वह हो गया। इस तरह एकवचनत्वशक्ततावच्छेदक हो सकता है। ग्रन्थकार पूर्वपक्षी के इस प्रयास का खण्डन करने के लिए उसके समक्ष दो विकल्प रखते हुए कहते हैं कि -

"एकवचन पद और सु पद" के बीच जो आपने पाणिनिसङ्केत को सम्बन्ध माना है; सो उस पाणिनिसङ्केत में सम्बन्धत्व किस रूप में आप मानते हैं -
(1) प्रथम - यदि सङ्केतत्वेन पाणिनिसङ्केत को सम्बन्ध मानें - अर्थात्

पाणिनिसङ्केत चूँकि सङ्केत है इसलिए उसे सम्बन्ध मानते हैं। तो - किसी पुरूष का "एकवचनपद से सु औ जसादि समझना" ऐसा भी सङ्केत हो सकता है। पुरूष के इस सङ्केत में भी सङ्केतत्व तो है ही अर्थात् यह भी सङ्केत ही है तो जैसे पाणिनिसङ्केत रूप सम्बन्ध से एकवचनपदवान् सु होता है वैसे उस पुरूष के "एकवचनपदात् सु औजसादिर्बोद्धिव्यः" इस सङ्केत रूप सम्बन्ध से एकवचनपदवान् सु औ जसादि भी होंगे। इस प्रकार एकवचनपदवत्त्व की, अलक्ष्य = औ जसादि में भी चले जाने से अतिव्याप्ति दुर्वार होगी। अर्थात् एकवचनत्व सु में रहने वाली शक्तता का अवच्छेदक नहीं होगा अतिरिक्त वृत्ति धर्म हो जाने से। इस अव्याप्ति से बचने के लिए यदि - (2) पाणिनि सङ्केतत्वेन अर्थात् वह पाणिनि का सङ्केत है इसलिए पाणिनि सडकेत को एकवचनपद और सुपदरूप अर्थ का सम्बन्ध मानें। तो - व्याकरण बनाने वाले किसी दूसरे पुरूष का भी "एकवचनपपदं सौ शक्तम्" अर्थात् "एकवचन पद से सु विभक्ति को समझना" ऐसा सङ्केत हो सकता है। ऐसी स्थिति में - व्याकरणप्रणेता पुरूपान्तरीय सङ्केत सम्बन्ध से भी एकवचनपदवत्ता सु पद में रहेगी। तो पुरूषान्तरीय सडकेत सम्बन्धेन एकवचन पदवत्त्व को भी सु में रहने वाली शक्तता का अवच्छेदक मानना पड़ेगा। किं च किसी पुरूष का "डित्थ पद से सु अम् - आदि को, डवित्थ पद से औ, औट् आदि को तथा फट् शब्द से जस् शसादि को समझना" ऐसा भी सङ्केत हो सकता है। ऐसी स्थिति में सङ्केतकर्ता उस पुरूष के सङ्केत रूप सम्बन्ध से डित्थपदवत्ता सु में डवित्थपदक्ता औ औट् आदि में तथा फट्पदवत्ता जस् शसादि में रहेगी तो सु औ जस् आदि में रहने वाली शक्तता का अवच्छेदक डित्थपदवत्त्व आदि को भी मानना पड़ेगा। यदि कहो "पुरूषान्तरीयसङ्केत सम्बन्ध से तत् पदवत्त्व = एकवचन पदवत्त्व या डित्थपदवत्त्व को शक्ततावच्छेदक नहीं मानेंगे। तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि जैसे पाणिनि के सङ्केत के कारण एकवचन पद से सु विभक्ति का बोध होता है। इसीलिए तो पाणिनिसङ्केत सम्बन्ध से एकवचनपदवत्त्व को सु में रहने वाली शक्तता का अवच्छेदक आप मानते हैं। इसी प्रकार व्याकरणप्रणेता किसी दूसरे पुरूष के सङ्केत के कारण भी एकवचन पद से सु का, या किसी अन्य पुरूष के कारण डित्थ आदि से सु आदि विभक्ति का बोध हो ही सकता। क्योंकि उक्त सङ्केतग्रह से शाब्दबोध होने में कोई बाधा तो है नहीं। इस प्रकार तत् पुरूषीय सम्बन्ध से एकवचनपदवत्ता या डित्थपदवत्ता सु में आ ही जाएगी तो उसे भी सु में रहने वाली एकत्व शक्तता का अवच्छेदक मानना ही पड़ेगा। अतः तदीयसङ्केत सम्बन्ध से तत् पदवत्व या कहिए एकवचनपदवत्त्व को एकवचनत्व मानकर उसे सु में रहने वाली शक्तता का अवच्छेदक नहीं मान सकते। अतः अगत्या सु में रहने वाली आनुपूर्वी

"सुत्व" को ही सु में रहने वाली शक्तता का अवच्छेदक मानना पड़ेगा। इसीलिए भट्टाचार्य ने कहा "शक्तता च सुत्व औत्व जस्त्वादिना"।

संख्या सम्बन्धी वैयाकरण के मत का खण्डन करने के लिए भट्टाचार्य यत्तु इत्यादि के द्वारा व्याकरणमत का उपस्थापन करने जा रहे हैं -

यत्तु संख्यापि प्रकृतेरर्थः। "एकवचनादिकं" च एकत्वाद्यर्थे तात्पर्यग्राहकमेव। न चैवमेकप्रकृत्युपस्थाप्ययोरर्थयोः परस्परान्वये आकाँक्षा-विरहाद् घटादावेकत्वाद्यन्वयानुपपत्तिः। अन्यथा हर्यादिपदादुपस्थितयोर-श्वसूर्ययोराधाराधेयभावेनान्वयापत्तिः। घटादिपदस्य एकत्वविशिष्टघटादौ च न शक्तिसंभवः, घटरूपं पश्येत्यादौ संख्यानवच्छिन्नघटादेरेवान्वयबोधादिति वाच्यम्।

किसी के मत में संख्या भी प्रकृति का ही अर्थ है। अर्थात् पञ्चकं प्रातिपदिकार्थः मानने वाले वैयाकरण के मत में संख्या भी प्रातिपदिक (प्रकृति) का ही अर्थ है। इस मत में प्रातिपदिक के आगे आने वाली एकवचन आदि विभक्तियों का अर्थात् सु आदि विभक्तियों का अर्थ एकत्व संख्या नहीं है अपितु वे एकत्व आदि अर्थ में तात्पर्यग्राहक होती हैं। अर्थात् प्रकृति के आगे यदि सु विभक्ति आयी है तो वह सु विभक्ति इस बात का ज्ञान कराती है कि यहाँ इस प्रकृति का तात्पर्य एकत्व संख्या का बोध कराने में है इसी प्रकार यदि प्रकृति के आगे औ विभक्ति है तो "प्रकृति यहाँ द्वित्व संख्या का बोध कराने के तात्पर्य से उच्चरित है" ऐसा तात्पर्य ज्ञान औ विभक्ति कराती है। इस प्रकार एकत्व, द्वित्व या बहुत्व सभी सँख्या प्रकृति के ही अर्थ है। कब वह एकत्व बोध कराने के लिए उच्चरित होती है और कब द्वित्व आदि का? इस तात्पर्य का ज्ञान प्रकृति के आगे आयी विभक्तियों से होता है। इस पर कोई प्रश्न करता है कि आपके मतानुसार तो "घटः" यहाँ पर घट पद का ही अर्थ "घट और एकत्व संख्या हुआ। इस प्रकार एक ही घट पदरूप प्रकृति के द्वारा उपस्थापित होने वाले घट और एकत्व रूप दो अर्थों का परस्पर अन्वय नहीं हो पाएगा। क्योंकि दो पदार्थों का सम्बन्ध (अन्वय) या तु वृत्तिभास्य होता है या आकाँक्षाभास्य। इनमें आकाँक्षाभास्य सम्बन्ध वही होता है जिनके प्रतियोगी = विशेषण में रहने वाली विशेषणता का प्रयोजक पद तथा अनुयोगी (विशेष्य) में रहने वाली विशेष्यता का प्रयोजक पद भिन्न हो। यहाँ तो अन्वित होने वाले दोनों एकत्व (प्रकार) और घट विशेष्य इन दोनों में रहने वाली प्रकारता तथा विशेष्यता का प्रयोजक पद

एक ही घट पद है। अतः एकत्व और घट का सम्बन्ध आकाँक्षाभास्य नहीं होगा। ऐसी स्थिति में घट और एकत्व के सम्बन्ध को वृत्तिभास्य मानने की आपत्ति आपके मत में आएगी।

यदि कहो घटपदाव्यवहित उत्तर सु पदत्वरूप आकाँक्षा है, अन्वय हो जाएगा, तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि जिन अर्थों का परस्पर अन्वय करना हो उन अर्थों के बोधक पदों के समभिव्याहार को ही आकाँक्षा माना जाता है। यहाँ तो दोनों अर्थों का उपस्थापक एक ही घट पद है दूसरा पद तो कोई है नहीं जिसके समभिव्याहार को आकांक्षा माना जाए। इस प्रकार घट और एकत्व की परस्पर आकांक्षा नहीं होने से इनका परस्पर अन्वय बोध नहीं हो पाएगा। यदि निराकाँक्ष अर्थों का भी परस्पर अन्वय आप मानें। तब यहाँ तो अन्वय हो जाएगा परन्तु अनेकार्थक हरि पद के द्वारा उपस्थापित अश्व और सूर्य रूप अर्थों का भी परस्पर आधाराधेयभावसम्बन्ध से अन्वय होने लगेगा। यह अतिव्याप्ति दोष होगा। वैयाकरणों के पक्ष का समर्थक कोई अन्य व्यक्ति इस पर यह कह सकता है कि - ठीक है, घट और एकत्व की आकांक्षा न होने के कारण इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध नहीं होगा। परन्तु आप नैयायिक लोग जैसे एक ही घट पद से उपस्थित होने वाले घट तथा घटत्व रूप दो अर्थों का परस्पर अन्वय मानते हैं। वैसे ही हम भी एक घट पद से उपस्थित होने वाले घट-एकत्व इन दोनों का अन्वय करेंगे। इस पर नैयायिक कहता है कि घट और घटत्व का सम्बन्ध तो वृत्तिभास्य है। अर्थात् 'जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः' के अनुसार एक ही अभिधावृत्ति से घट और घटत्व की उपस्थिति होती है अर्थात् घट पद से घटत्वविशिष्ट घट की उपस्थिति होती है। अतः हम नैयायिक लोग घट और घटत्व का सम्बन्ध वृत्तिभास्य मानते हैं। इस पर वैयाकरण कहता है कि हम भी घट पद की शक्ति एकत्वविशिष्ट घट में मानेंगे। अर्थात् घट पद से घट और एकत्व की उपस्थिति एक ही अभिधावृत्ति से मानेंगे। तात्पर्य यह है कि घट और एकत्व के सम्बन्ध को हम भी वृत्तिभास्य मानेंगे। अतः आकाँक्षा के न होने पर भी दोनों का परस्पर अन्वय हो जाएगा।

नैयायिक इसका खण्डन करते हुए कहता है - घटपदस्य एकत्वविशिष्टघटादौ न शक्तिसम्भवः (अर्थात् जैसे घट पद की शक्ति घटत्वविशिष्ट घट में मानी जाती है वैसे ही घट पद की शक्ति एकत्वविशिष्ट घट में मानना संभव नहीं है। क्योंकि "घटरूप पश्य" इस वाक्य से संख्यानवच्छिन्न अर्थात् संख्या से अविशिष्ट ही घट का अन्वय धात्वर्थ में (कर्मत्वेन) होता है। इस प्रकार घट और एकत्व के अन्वयानुपपत्ति को देखते हुए प्रकृति का अर्थ संख्या को नहीं मानना चाहिए। वैयाकरण अपने मत की स्थापना हेतु अग्रिम ग्रन्थ से कहता है कि -

आकाँक्षावैचित्र्यादेकप्रकृत्युपस्थाप्ययोरपि घटैकत्वयोः परस्परमन्वर्य-संभवात्। अतएव खण्डशक्त्यैवकाराद्युपस्थाप्ययोरन्ययोग-व्यवच्छेदयोः परस्परमन्वयबोधः। न चैवं कर्मत्वादिकमपि प्रकृत्यर्थ एवास्तु किं तत्र द्वितीयादिशक्त्येति वाच्यम्। नामार्थधात्वर्थयोः साक्षाद्भेदेनान्वय-बोधस्याव्युत्पन्नतया कर्मत्वादेर्नामार्थत्वे तेन समं धात्वर्थान्वयासंभवात्।

तात्पर्य यह है कि आकाँक्षा की विचित्रता के कारण एक घटपदरूप प्रकृति से उपस्थाप्य घट और एकत्व का भी परस्पर अन्वय संभव है। क्योंकि ऐसे स्थल में अन्वित होने वाले दो अर्थों के उपस्थापक प्रकृति की आनुपूर्वी को ही आकाँक्षा मानेंगे। इस प्रकार एक प्रकृति के द्वारा उपस्थाप्य घट और एकत्व का परस्पर अन्वय संभव होने से प्रकृति का ही अर्थ संख्या मानने में कोई आपत्ति नहीं है। आकाँक्षावैचित्र्य से एक प्रकृति से उपस्थाप्य दो अर्थों का परस्पर अन्वयबोध होने के कारण ही - "एव" कार के द्वारा खण्डशक्ति से उपस्थाप्य अन्ययोग और व्यवच्छेद, इन दो अर्थों का, भी परस्पर अन्वय होता है अर्थात् अन्ययोग का प्रतियोगिता सम्बन्ध से व्यवच्छेद पदार्थ अभाव में अन्वय जो होता है। वहाँ भी इन दोनों अर्थों का उपस्थापक पद तो एक ही है तथापि आकाँक्षा की विचित्रता के कारण ही इन दोनों का परस्पर अन्वय बोध होता है। इस पर वैयाकरण से कोई पूछता है कि - यदि इस प्रकार की आकाँक्षा से एक प्रकृत्युपस्थाप्य दो अर्थों का अन्वय होना संभव है तो पुनः कर्मत्व आदि अर्थात् कर्मत्व, करणत्व, सम्प्रदानत्व, अपादानत्व, अधिकरणत्व ये सभी अर्थ प्रकृति के ही क्यों न मान लिये जाएँ? द्वितीया आदि विभक्तियों को भी प्रथमा विभक्ति की तरह उन उन अर्थों में तात्पर्य ग्राहक मान लेंगें। इन कर्मत्व आदि अर्थों में द्वितीया आदि विभक्तियों की शक्ति मानने की क्या आवश्यकता? वैयाकरण इस आपत्ति का वारण करते हुए कहता है कि - नामार्थ और धात्वर्थ का परस्पर साक्षात् भेद सम्बन्ध से अन्वय होना अव्युत्पन्न है अर्थात् कार्यकारणभाव के विरूद्ध है। ऐसी स्थिति में यदि कर्मत्व को भी प्रकृत्यर्थ अर्थात् प्रातिपदिकार्थ मानेंगे तो नामार्थरूप कर्मत्व का धात्वर्थ क्रिया में साक्षात् भेद सम्बन्ध से अन्वय होना असंभव हो जाएगा। (अभेद सम्बन्ध से तो कर्मत्व और धात्वर्थ (क्रिया) का अन्वय हो ही नहीं सकता। क्योंकि दोनों भिन्न वस्तु है)। जबकि कर्मत्व और धात्वर्थ का अन्वय शाब्दबोध में भासित होता है। अतः कर्मत्व को प्रकृत्यर्थ नहीं माना जा सकता। इसलिए कर्मत्व आदि में द्वितीया आदि विभक्तियों की शक्ति मानी जाती है। संख्या को प्रातिपदिकार्थ मानने में कोई व्यक्ति और आपत्ति देने की दृष्टि से कहता है -

न च संख्यायाः प्रातिपदिकार्थत्वे, सति तात्पर्यज्ञाने विनैव शक्तिभ्रमं लक्षणाग्रहं वा द्विवचनाद्यन्तपदादेकत्वादिबोधसंभवात्, एकत्वादितात्पर्येण एकवचनान्तस्येव द्विवचनान्तस्यापि पदस्य स्वारसिकप्रयोगापत्तिरितिवाच्यम्। अनादितात्पर्यस्यैव स्वारसिकप्रयोग-मूलत्वादेकवचनाद्यन्तपदस्यैव एकत्वादावनादितात्पर्योपगमेनातिप्रसङ्ग-विरहात्। द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने इत्याद्यनुशासनं च तादृशतात्पर्यग्राह-कमेवेतिवैयाकरणमतम्॥

आपत्ति देने वाले का तात्पर्य है कि - यदि संख्या प्रातिपदिक का ही अर्थ है तो - जैसे "घटपदम् एकत्वविशिष्टं घटं बोधयतु" अर्थात् "घट पद, एकत्वविशिष्ट घट का बोध करावे" ऐसा तात्पर्य ज्ञान होने पर, बिना शक्तिभ्रम के तथा बिना लक्षणाग्रह के भी द्विवचनाद्यन्त घटौ घटाः पद से भी एकत्व आदि का बोध होना संभव है। क्योंकि संख्या प्रातिपदिक का ही अर्थ है और एकत्व संख्या का बोधक वह प्रातिपदिक द्विवचनान्त घटौ बहुवचनान्त घटाः इन प्रयोगों में भी है ही। अतः तात्पर्य ज्ञान रहने पर घटौ घटाः आदि प्रयोगों से भी एकत्व संज्ञा का बोध संभव है। ऐसी स्थिति में जैसे एकत्व का बोध कराने के तात्पर्य से एकवचनान्त घट पद का प्रयोग होता है वैसे ही एकत्व का बोध कराने के तात्पर्य से द्विवचनान्त "घटौ" पद का भी स्वारसिक प्रयोग होने लगेगा। स्वारसिक प्रयोग - शक्तिभ्रम के बिना, लक्षणा ग्रह के बिना तथा प्रयोजन का अनुसन्धान किये बिना केवल बोध कराने की इच्छा मात्र से किया गया प्रयोग कहलाता है।

वैयाकरण उपर्युक्त आपत्ति का वारण करने के लिए कहता है कि - स्वारसिक प्रयोग का मूल अनादि तात्पर्य ही होता है। अतः एकवचनान्त घटः आदि प्रयोग का ही एकत्वबोध में अनादितात्पर्य स्वीकार करने से अतिप्रसङ्ग नहीं है। तात्पर्य यह है कि केवल एकत्वबोध में तात्पर्य रहने मात्र से ही एकत्वबोध के लिए पद के प्रयोग को स्वारसिक प्रयोग नहीं कहा जाता। अपितु अनादितात्पर्य के रहने पर एकत्वबोध के लिए किया गया प्रयोग ही स्वारसिक प्रयोग कहलाता है। एकत्व बोध में एकवचनान्त घटः पद का ही अनादि तात्पर्य रहता है, द्विवचनान्त घटौ या बहुवचनान्त घटाः पद का एकत्वबोध में तात्पर्य ही नहीं रहता। अतः एकत्वबोध के तात्पर्य से द्विवचनान्त बहुवचनान्त पदों के स्वारसिक प्रयोग की आपत्ति नहीं दी जा सकती। अब प्रश्न उठता है कि एकत्वबोध में अनादितात्पर्य एकवचनान्त पद का ही रहता है इसमें प्रमाण क्या है? तो इसका समाधान करते हुए वैयाकरण कहता है कि महर्षिपाणिनि का "द्वयेकयोर्द्विवचेनेकवचने" यह सूत्र ही तात्पर्य ग्राहक है। अर्थात् इस बात में प्रमाण है कि एकवचनान्त पद का ही

अनादितात्पर्य एकत्वबोध में रहता है। भट्टाचार्य यत्तु के द्वारा प्रस्तुत का समापन करते हुए कहते हैं इति वैयाकरणमतम्। अर्थात् यत्तु वाला यह व्याख्यान वैयाकरणों का मत था। इसका खण्डन करने के लिए ग्रन्थकार कहते हैं

तदसत्। अनन्तानां प्रकृत्यानुपूर्वीणां शक्ततावच्छेदकत्वापेक्षया अल्पतरविभक्त्याद्यानुपूर्वीणामेकत्वादिशक्तावच्छेदकत्वस्यैवोचितत्वात्। न च प्रातिपदिकत्वमेव शक्ततावच्छेदकम् न तु घटपदत्वादिकमिति न शक्त्यानन्त्यमिति वाच्यम्। प्रातिपदिकत्वस्य दुर्निर्वचत्वात्। तदज्ञानेऽपि एकत्वादिज्ञानस्यानुभविकत्वात्। पदत्वेन वर्णत्वेन वा शक्तत्वे विभक्तेरपि तद्वाचकतासिद्धेः। एकत्वादिशाब्दबोधात्पूर्वं वर्णत्वाद्युपस्थितेरप्यनावश्यकत्वाच्च। फलानुरोधेन तत्कल्पने च कल्पनागौरवात्। एवमानुपूर्वीभिन्नधर्मस्य वाचकतावच्छेदकत्वे घटपदं सुपदं च न संख्यावाचकमिति विपरीतनिश्चयकालेऽपि तादृशधर्मावच्छिन्नस्य वाचकताग्रहसंभवाद् घट इत्यादौ संख्याया बोधापत्तिः।

भट्टाचार्य का तात्पर्य यह है कि - अभी तक वैयाकरणों ने जो संख्या के सम्बन्ध में कहा है वह सब असत् है युक्तिपूर्ण नहीं है क्योंकि यदि प्रकृति का अर्थ संख्या मानेंगे तो संख्या अर्थ में प्रकृति शक्त कहलाएगी। अब प्रकृति में रहने वाली शक्तता का अवच्छेदक प्रकृति में रहने वाली आनुपूर्वी को मानना पड़ेगा। प्रकृति (प्रातिपदिक) अनन्त हैं। अतः अनन्त प्रकृति आनुपूर्वी को शक्ततावच्छेदक मानना पड़ेगा। अर्थात् प्रकृति की अनन्तता के कारण संख्या की शक्ति भी अनन्त माननी पड़ेगी। अतः अनन्त प्रकृति में संख्याबोधक अनन्त शक्ति को मानने की अपेक्षा, अथवा अनन्त प्रकृति आनुपूर्वियों में शक्ततावच्छेदकता मानने की अपेक्षा अल्पतर विभक्तियों की आनुपूर्वियों को ही शक्ततावच्छेदक मानना उचित है।

इस पर वैयाकरण कहता है कि - प्रतिपदिक में रहने वाली शक्तता का अवच्छेदक हम प्रातिपदिक की आनुपूर्वियों घटपदत्व या पटपदत्व को नहीं मानते जिससे अनन्त आनुपूर्वियों के कारण हमें अनन्त शक्ति या अनन्तशक्ततावच्छेदक मानना पड़े। अपितु प्रातिपदिकनिष्ठ सक्तता का अवच्छेदक हम प्रातिपदिकत्व को मानते हैं। प्रातिपदिकत्व तो घट पद पट पद आदि सभी प्रकृतियों में एक ही है। अतः अनन्त शक्ति की कल्पना हमें नहीं करनी पड़ेगी। पुनः प्रकृति का अर्थ संख्या को क्यों न मान लिया जाए। ग्रन्थकार इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि - प्रथम बात तो यह है कि - प्रातिपदिकत्व का निर्वचन ही बहुत कठिन है और शाब्दबोध के लिए शक्तावच्छेदक का ज्ञान होना आवश्यक है। दूसरी बात

यह है कि - यदि कथञ्चित्, प्रातिपदिकत्व का निर्वचन हो भी जाए तो - "जिस व्यक्ति को निरूक्त उस प्रातिपदिकत्व का ज्ञान नहीं होता है उस व्यक्ति को भी एकत्व का ज्ञान (शाब्दबोध) होता है" यह बात अनुभवसिद्ध है। ऐसी स्थिति में यदि एकत्व की शक्ति प्रातिपदिकत्वेन प्रातिपदिक (प्रकृति) में मानी जाए और शक्ततावच्छेदक रूप प्रातिपदिकत्व को मानें तो जिसे शक्ततावच्छेदक रूप प्रातिपदिकत्व का ज्ञान नहीं हुआ उसे शक्य एकत्व का भी ज्ञान नहीं होना चाहिए था। जबकि वैसी स्थिति में एकत्व का ज्ञान होना अनुभवसिद्ध है। अतः शक्ततावच्छेदक प्रातिपदिकत्व को नहीं मानना चाहिए। यदि कहें एकत्वबोधक शक्ति का आश्रय जो प्रकृति है उसमें रहने वाली शक्तता का अवच्छेदक हम प्रकृति में रहने वाले प्रातिपदिकत्व को नहीं मानेंगे अपि तु प्रकृति में रहने वाले पदत्व या वर्णत्व को ही शक्ततावच्छेदक मानेंगें। अर्थात् प्रकृति को पदत्वेन रूपेण या वर्णत्वेन रूपेण ही एकत्व का वाचक मानेंगे। अब पदत्व या वर्णत्व चूँकि जाति है अनुगत है। अतः अनन्त शक्ति की कल्पना या व्यभिचारदोष नहीं हो सकता। क्योंकि जब किसी को घट आदि शब्द को सुनने के बाद एकत्वसंख्या का ज्ञान होगा तो उसे निश्चित ही पदरूप से या वर्ण रूप से प्रकृति का भी ज्ञान होगा ही। भट्टाचार्य कहते हैं कि - यदि पदत्वेन या वर्णत्वेन ही एकत्वबोध की कारणता प्रकृति में मानते हो तो यह पदत्व या वर्णत्व तो विभक्तियों में भी रहता है। इस प्रकार एकत्व बोध की कारणता अर्थात् एकत्वबोधकशक्ति पदत्वेन या वर्णत्वेन विभक्तियों में भी सिद्ध हो गयी। जोआपको इष्ट नहीं। अतः प्रकृति में पदत्वेन या वर्णत्वेन शक्ततावच्छेदकता नहीं मान सकते। एकत्व के शाब्दबोध होने से पूर्व पदत्व या वर्णत्व की उपस्थिति अनावश्यक है अर्थात् एकत्व बोध के पूर्व यदि पदत्व या वर्णत्व की उपस्थिति (ज्ञान) नहीं भी रहता है तब भी एकत्व का शाब्दबोध होता है। अतः पदत्व या वर्णत्व में एकत्वशाब्दबोध की कारणता सिद्ध न हो पाने से, पदत्व या वर्णत्व को एकत्वबोध की शक्तता का अवच्छेदक नहीं माना जा सकता। तात्पर्य यह है कि एकत्वबोध के पूर्व प्रकृति या विभक्ति का यदि पदत्वेन या वर्णत्वेन ज्ञान नहीं भी रहता है, तब भी एकत्व का शाब्दबोध तो होता ही है। अतः एकत्वबोध के पूर्व पदत्वेन या वर्णत्वेन प्रकृति की उपस्थिति को अनावश्यक कहा गया। इस पर वैयाकरण यदि कहे कि कार्य को देखकर कारण की कल्पना की जाती है। ऐसी स्थिति में एकत्वबोध रूप फल को देखते हुए उसके कारण के रूप में पदत्वेन या वर्णत्वेन प्रकृति की उपस्थिति की कल्पना एकत्वशाब्दबोध से पूर्व करेंगे। तो इसका खण्डन करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं - तब कल्पना गौरव होगा। तात्पर्य यह है कि जहाँ पर घटरूप प्रकृति की उपस्थिति पदत्वेन या वर्णत्वेन नहीं हुई अपितु आनुपूर्वीरूप से अर्थात्

घटपदत्वेन हुई वहाँ भी एकत्व का शाब्दबोध होता है तो वहाँ कारणता प्रकृत्यानुपूर्वी की उपस्थिति में माननी पड़ेगी और यदि आपके अनुसार पदत्वेन या वर्णत्वेन प्रकृति की उपस्थिति होती है तब भी आपके मत में एकत्व का शाब्दबोध होता है। तो पदत्वेन या वर्णत्वेन भी प्रकृति की उपस्थिति में कारणता माननी पड़ेगी। इस प्रकार दो रूप में कारणता की कल्पना करनी पड़ेगीं यह कल्पना गौरव होगा। एवञ्च आनुपूर्वी से भिन्न धर्म पदत्व या वर्णत्व को यदि वाचकतावच्छेदक = शक्ततावच्छेदक माना जाए तो "घटपद या सुपद संख्यावाचक नहीं है" ऐसा विपरीतिनिश्चय होने पर भी, पदत्व या वर्णत्व रूप धर्म से अवच्छिन्न प्रकृतिरूप पद या विभक्ति (सु) रूप में वाचकता का ज्ञान संभव होने से "घटः" यहाँ संख्या का बोध होने लगेगा। क्योंकि आप तो शक्ततावच्छेदक पदत्व या वर्णत्व को मानते हैं, तो आपके अनुसार तो "पदत्वावच्छिन्नं एकत्वे शक्तम् या वर्णत्वावच्छिन्नं एकत्वे शक्तम् यही शक्तिज्ञान होगा तो घटपदं न एकत्ववाचकम् या सुपदं न एकत्ववाचकं ऐसा विपरीत निश्चय हो तब भी पदत्वावच्छिन्नं एकत्ववाचकम् या वर्णत्वावच्छिन्नम् एकत्ववाचकम् ऐसा वाचकताज्ञान अर्थात् शक्तिज्ञान तो रह ही सकता है तो वाचकता का ज्ञान रहने से उपर्युक्त विपरीत निश्चय होने पर भी घटः वाक्य से एकत्व = संख्या के बोध की आपत्ति आएगी। इसलिए वाचकतावच्छेदकता = शक्ततावच्छेदकता रूप पदत्व या वर्णत्व को नहीं माना जा सकता। इस प्रकार प्रकृति में यदि एकत्व की शक्तता मानेंगें तो उसमें शक्ततावच्छेदकता रूप न तो पदत्व या न तो वर्णत्व माना जा सकता है अपितु प्रकृतिगत आनुपूर्वी को ही मानना पड़ेगा और शक्ततावच्छेदकता की अनन्तता की आपत्ति होगी। अतः लाघव को देखते हुए सु आदि प्रत्ययों का ही अर्थ संख्या को मानना चाहिए। जिससे सुत्व औत्व और जस्त्व इन तीन में ही संख्या की शक्ततावच्छेदकता माननी ही पड़ेगी।

अथ विभक्तीनां संख्यार्थकतामते प्रकृतिविभक्त्योरेकवाक्यताविरहनिश्चयदशायां विभक्त्युपस्थाप्यैकत्वादेः प्रकृत्यर्थेऽन्वयबोधवारणाय तयोः समभिव्याहारज्ञानस्य घटादिविशेष्यकैकत्वान्वयबोधं प्रति कारणत्वमधिकं कल्पनीयम्। एकपदोपस्थापितयोर्घटैकत्वाद्योरन्वयबोधोपगमे च न समभिव्याहारज्ञानस्य तत्र हेतुता कल्प्यते इति लाघवात् प्रकृत्याद्यानुपूर्वीणां संख्यावाचकतावच्छेदकत्वमुपेयत इतिचेन्न आकाँक्षाविचारे समभिव्याहाराकाँक्षाज्ञानस्य हेतुताया निराकृतत्वात्।

कोई विभक्ति का अर्थ संख्या मानने में आपत्ति दिखाने के लिए कहता है। यदि विभक्तियों का अर्थ संख्या माना जाए तो जब प्रकृति या विभक्ति में

एक वाक्यता के अभाव का निश्चय हो उस समय भी विभक्ति के द्वारा उपस्थाप्य एकत्वआदि संख्या का प्रकृत्यर्थ में अन्वयबोध होने लगेगा। अतः उसके वारण के लिए प्रकृति तथा विभक्ति के समभिव्याहारज्ञान को, घटविशेष्यक एकत्वान्वयबोध के प्रति अतिरिक्त कारण मानना पड़ेगा। यह गौरव होगा। तात्पर्य यह है कि यदि विभक्ति का अर्थ संख्या मानें तो प्रकृति तथा प्रत्यय दोनों अपने-अपने अर्थ का बोध कराने की इच्छा से उच्चरित हैं ऐसा मानना पड़ेगा। क्योंकि दोनों सार्थक है। ऐसी स्थिति में यदि प्रकृति और विभक्ति दोनों में एकवाक्यता नहीं है अर्थात् "मिलकर एक अर्थ का बोध कराने की इच्छा से दोनों (प्रकृति और विभक्ति) उच्चरित नहीं है। तब भी विभक्त्यर्थ संख्या का प्रकृत्यर्थ में अन्वय न हो जाए। (क्योंकि " जिन दो पदों में उपर्युक्त एकवाक्यता नहीं होती उनके अर्थों का परस्पर अन्वयबोध नहीं होता" यह अनुभव सिद्ध है।) इसके वारण के लिए - प्रकृत्यर्थ घटविशेष्यक तथा विभक्त्यर्थ संख्याप्रकारक "एकत्ववान् घटः" ऐसे शाब्दबोध के प्रति प्रकृति तथा विभक्ति के समभिव्याहार ज्ञान में अतिरिक्त कारणता माननी पड़ेगी। यहाँ यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि समभिव्याहार से यहाँ केवल प्रकृति और विभक्ति का पौर्वापर्य ही नहीं लेना है। क्योंकि यदि केवल दोनों का पौर्वापर्य ही समभिव्याहार होगा तब तो जहाँ प्रकृति तथा विभक्ति में एकवाक्यता ज्ञान (मिलकर एक अर्थ की प्रतीति कराने के इच्छा से उच्चरित होने का ज्ञान) नहीं है, वहाँ भी प्रकृति तथा विभक्ति का पौर्वापर्य का ज्ञान तो होता ही है, तो समभिव्याहारज्ञान को अतिरिक्त कारण मानने पर भी उपर्युक्त अनिष्ट स्थल में (एक वाक्यताज्ञानाभावं स्थल में) संख्याप्रकारक घटविशेष्यक शाब्दबोध की आपत्ति रह जाएगी। अतः यहाँ समभिव्याहार का अभिप्राय है -

"यह पद, इस पद के साथ मिलकर अन्वयबोध करावे" यह इच्छा; इस इच्छा का ज्ञान ही समभिव्याहार ज्ञान है। अब जहाँ - किसी पद के अर्थ का किसी पद के अर्थ में अन्वय करना इष्ट होगा वहाँ तो उन पदों के विषय में उपर्युक्त् इच्छा का ज्ञान होगा ही। अतः वहाँ शाब्दबोध हो जाएगा। परन्तु जहाँ विभक्ति या प्रकृति का मिलकर एक अर्थ का बोध कराने की इच्छा से उच्चारण नहीं किया गया है वहाँ पर इदं पदमनेनपदेन सहान्वयबोधं जनयतु" यह इच्छा रूप समभिव्याहार भी नहीं है, तो समभिव्याहार ज्ञान रूप कारण के नहीं होने से वहाँ विभक्त्यर्थ संख्या का प्रकृत्यर्थ घट में अन्वय बोध अर्थात् एकत्ववान् घटः यह शाब्दबोध भी नहीं होगा। अस्तु। इस प्रकार - एकवाक्यता के न रहने की दशा में विभक्त्यर्थ का प्रकृत्यर्थ में अन्वय का वारण करने के लिए, संख्या को विभक्त्यर्थ मानने वालों के मत में संख्या प्रकारक अन्वयबोध के प्रति प्रकृति तथा विभक्ति के समभिव्याहार ज्ञान को अतिरिक्त कारण मानना पड़ेगा। यह

गौरव होगा। परन्तु यदि संख्या को प्रकृत्यर्थ माना जाए तो समभिव्याहार ज्ञान को अतिरिक्त कारण मानने की आवश्यकता नहीं होगी। क्योंकि संख्या को प्रकृत्यर्थ मानने वाले प्रथमा विभक्ति को तात्पर्य ग्राहक मानते हैं और उसे साधुत्वार्थक मानते हैं। अतः इस मत में प्रथमा विभक्ति का उच्चारण अर्थ प्रतीति कराने की इच्छा से तो होता ही नहीं। अतः इस मत में एकवाक्यतानिश्चय का अभाव तो रहता ही है। तथापि शाब्दबोध होना इष्ट ही है। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त समभिव्याहार ज्ञान भी नहीं रहता। क्योंकि सुपदं घटपदेन सहान्वयबोधं "जनयतु" ऐसी इच्छा इस मतमें हो ही नहीं सकती विभक्ति के साधुत्वमात्रार्थक होने से। ऐसी स्थिति में जब एकवाक्यताज्ञान के नहीं रहने पर भी शाब्दबोध इष्ट है तो सुतरां सिद्ध है कि समभिव्याहार ज्ञान के बिना भी उपर्युक्त शाब्दबोध होता है। इस प्रकार जब समभिव्याहार ज्ञान के बिना भी उपर्युक्तस्थल में शाब्दबोध होता है तो समभिव्याहार ज्ञान को उपर्युक्त शाब्दबोध में कारण मानने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार संख्या को प्रकृत्यर्थ मानने की अपेक्षा विभक्त्यर्थ मानने में गौरव होगा। अतः लाघवात् प्रकृति की आनुपूर्वियों को ही शक्ततावच्छेदक मानना चाहिए अर्थात् प्रकृति का ही अर्थ संख्या मानना चाहिए। भट्टाचार्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं : आकाँक्षाविचारे समभिव्याहाराकाँक्षाज्ञानस्य हेतुताया निराकृतत्वात्। अर्थात् आकाँक्षा विचार के प्रसङ्ग में समभिव्याहार रूप आकाँक्षा के ज्ञान की शाब्दबोध में कारणता का खण्डन किया जा चुका है। तात्पर्य यह है कि अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम् यहाँ "राज्ञः पुरुषः" यह एक वाक्य नहीं है ऐसा निश्चय होने पर भी आसत्ति योग्यता आकाँक्षा आदि कारण के रहने के कारण प्राप्त शाब्दबोधापत्ति का वारण करने के लिए वहाँ समभिव्याहार ज्ञान को कारण माना गया। परन्तु नानार्थक शब्द से होने वाले शाब्दबोध के अनुरोध से तात्पर्य ज्ञान को भी शाब्दबोध में कारण माना गया है। किंरूप तात्पर्य का स्वरूप है ? "इदं वाक्यम् एतदर्थान्वित एतदर्थ विषयकबोधं जनयतु" ऐसी वाक्यविषयक इच्छा रूप या कि "इदं पदमेतदर्थबोधेच्छयोच्चरितम्" ऐसी पदविषयक इच्छारूप। क्योंकि यदि पदविषयक इच्छा को तात्पर्य मानें और उसके ज्ञान को शाब्दबोध में कारण मानें तो नानार्थक अनेक शब्द से घटित वाक्य से होने वाले शाब्दबोध स्थल में कारण रूप से अनेक तात्पर्यज्ञान को स्वीकार करना पड़ेगा। अतः वाक्यविषयक इच्छा को ही तात्पर्य मानकर उसके ज्ञान को कारण मानना चाहिए। ऐसी स्थिति में "अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषः" के "राज्ञः पुरुषः" में एक वाक्यता का ज्ञान नहीं होने से "राजसम्बन्ध्यन्वितपुरुषबोधेच्छया उच्चरितम्" रूपी तात्पर्यज्ञान के भी नहीं रहने से ही शाब्दबोध का वारण हो जाएगा। इसके लिए समभिव्याहार ज्ञान को कारण नहीं मानना चाहिए। इस तरह समभिव्याहारज्ञान की

कारणता का निराकरण किया जा चुका है। ऐसी स्थिति में यदि तात्पर्यज्ञान हो तो एकवाक्यता का या समभिव्याहार का संशय रहे या अभाव शाव्दबोध होना इष्ट ही है। अतः "घटः" इत्यादि स्थल में यदि एक्यवाक्यता विरह का निश्चय भी हो और यदि तात्पर्य ज्ञान है तो एकत्वप्रकारक घटविशेष्यक शाब्दबोध का होना हम मानते ही है। इस प्रकार क्यों हम उसके वारण के लिए समभिव्याहार ज्ञान को अतिरिक्त कारण मानें? अर्थात् हमें वहाँ शाव्दवोध का वारण करना इष्ट ही नहीं है तो हमें समभिव्याहार ज्ञान में अतिरिक्त कारणता मानने की आवश्यकता भी नहीं है। इस प्रकार संख्या को विभक्त्यर्थ मानने में कोई गौरव नहीं है।

प्रथमा विभक्ति का अर्थ संख्या मानने में पुनः दोष देते हुए पूर्वपक्षी अथ से कहता है -

अथैवमपि विभक्तेः संख्यार्थकत्वे विनिगमनाविरहेण प्रकृतिधर्मिकस्य विभक्तिधर्मिकस्य च संख्याप्रकारकान्वयबोधपरत्वज्ञानस्य हेतुता कल्पनीया। विभक्तेर्द्योतकतामते तु विभक्तितात्पर्यविरहेण प्रकृतिधर्मिकमेव तात्पर्यज्ञानं तादृशान्वयधीहेतुरिति लाघवमितिचेत्। न; विभक्ते संख्यावाचकताविरहेऽपि प्रकृतिविभक्त्योरानुपूर्वीज्ञानस्य तादृशान्वयबोधहेतुताया निर्विभक्तिकादिपदज्ञानादन्वयबोधवारणाया-वश्यकल्पनीयतया संख्यावाचकप्रकृतेरिव तदवाचकविभक्तेरपि संख्यान्वय-बोधकत्वप्रकारकेच्छाविषयत्वरूपतादृशबोधपरत्वसंभवेन विभक्तिधर्मिक-तद्ज्ञानहेतुताया विनिगमनाविरहेणाऽऽवश्यकत्वात्।

तात्पर्य है कि - तात्पर्यज्ञान को कारण मानकर समभिव्याहार ज्ञान में कारणता नहीं मानने पर भी "विभक्ति का अर्थ संख्या" मानने पर प्रकृतिधर्मिक संख्याप्रकारक अन्वयबोधपरक तात्पर्यज्ञान अर्थात् "घटपदं घटविशेष्यक एकत्व प्रकारक बोधेच्छयोच्चरितम्" तथा विभक्तिधर्मिकसंख्याप्रकारक अन्वयबोधपरक तात्पर्य ज्ञान अर्थात् सु पदं घटविशेष्यकएकत्वप्रकारकबोधेच्छयोच्चरितम् ऐसे दो तात्पर्य ज्ञान में घटविशेष्यक एकत्वप्रकारक शाब्दवोध की कारणता माननी पड़ेगी। परन्तु जब संख्या को प्रकृति का अर्थ मानते हैं तो - विभक्ति में द्योतकता (तात्पर्य ग्राहकता) मानते हैं। तो इस मत में विभक्ति चूँकि किसी अर्थ बोध कराने की इच्छा से उच्चरित नहीं मानी जाती है। अतः विभक्ति में तात्पर्य के न होने से घट विशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबोध के लिए केवल एक प्रकृतिधर्मिक तात्पर्य "घटपदं घटविशेष्यक एकत्वप्रकारक बोधेच्छयोच्चरितम्" के ज्ञान को ही कारण मानना पड़ता है। इस प्रकार प्रकृति का अर्थ संख्या मानने में लाघव है। भट्टाचार्य इसका खण्डन "न" इत्यादि के द्वारा करते हैं। तात्पर्य यह है कि - विभक्ति को संख्यावाचक

नहीं मानने पर भी (द्योतक मानने पर भी) अर्थात् प्रकृति का अर्थ संख्या मानने वाले मत में भी - निर्विभक्तिकादिपदज्ञानात् = अर्थात् विभक्ति से रहित है आदि पद जिसका ऐसे पद के ज्ञान से। जैसे "घटरूपम्" इस पद का आदिपद घट निर्विभक्तिक ही है। तो ऐसे पद से "घट विशेष्यक संख्या प्रकारक" शाब्दबोध नहीं होता है। अतः उसके वारण के लिए घट विशेष्यक संख्या प्रकारक अन्वय बोध में "प्रकृति और विभक्ति की आनुपूर्वी के ज्ञान को अवश्य कारण मानना पड़ेगा। प्रकृति विभक्ति की आनुपूर्वी को उपर्युक्त शाब्दबोध में कारण मानने से घटरूपं में प्रकृति घटपद तथा इसके अव्यवहित उत्तर में विभक्ति की आनुपूर्वी का ज्ञान नहीं हो रहा है। अतः वहाँ घट विशेष्यक एकत्व संख्या प्रकारक अन्वय बोध नहीं होता। इस प्रकार प्रकृत्यर्थ संख्या को मानने पर भी घटविशेष्यक संख्या प्रकारक अन्वयबोध के प्रति प्रकृतितथा विभक्ति के आनुपूर्वी के ज्ञान को जब अवश्य कारण मानना पड़ता है तो संख्यावाचक प्रकृति की तरह अर्थात् संख्यावाचक प्रकृति धर्मिक उपर्युक्त तात्पर्य ज्ञान की तरह, संख्या का अवाचक विभक्ति धर्मिक भी संख्यान्वय बोधकत्व प्रकारकेच्छाविषयत्व रूप = अर्थात् सुपदं घटविशेष्यक एकत्व प्रकारक बोधेच्छयोच्चरितम्" तात्पर्य ज्ञान में कारणता अवश्य माननी पड़ेगी। क्योंकि तात्पर्य के स्वरूप में शक्ति का निवेश तो होता नहीं है। अतः विभक्ति का अर्थ भले ही संख्या को न मानें तथापि विभक्ति के विषय में " सुपदम् एकत्वप्रकारक बोधेच्छयोच्चरितम्" ऐसा तात्पर्य ज्ञान तो हो ही सकता है। एवञ्च वहाँ विभक्तिक धार्मिक तात्पर्य ज्ञान नहीं होगा। केवल प्रकृतिधर्मिक ही तात्पर्यज्ञान होगा इस बात में कोई एकतरपक्षपातिनी युक्तिरूप विनिगमना तो है नहीं। अतः उपर्युक्त घट विशेष्यक एकत्व प्रकारक शाब्दबोध में प्रकृत्यर्थ को संख्या मानने वाले मत में भी दो तात्पर्यज्ञान को कारण मानना ही पड़ता है। इस प्रकार इस पक्ष में कोई लाघव नहीं है।

प्रकृत्यर्थ संख्या है इस मत को मानने वाला पुनः कहता है -

अथ स्वादीनां संख्यावाचकत्वकल्पनापेक्षया प्रकृतेस्तत्र-लक्षणैवोचिता; शक्यलक्ष्ययोः परस्परमन्वयोपगमेक्षतिविरहात्; प्रथमाविभक्तेः कुत्रापि शक्तेरक्लृप्ततया तस्या शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणा न संभवति, द्वितीयादेः कर्मत्वादौ शक्तत्वेऽपि तादृशविभक्तेस्तत् समभिव्याहृतप्रकृतेर्वासंख्यायां लक्षणेत्यत्र विनिगमकं दुर्लभम्।

तात्पर्य यह है कि - सु आदि विभक्तियों का अर्थ संख्या मानने की अपेक्षा प्रकृति की ही लक्षणा संख्या अर्थ में मानना उचित है। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि - पूर्वपक्षी अब प्रकृति का वाच्यार्थ संख्या है इस मत को छोडकर अब प्रकति का लक्ष्यार्थ संख्या मानना चाहिए इस बात को कह रहा

है। इस प्रकार यदि प्रकृति की लक्षणा संख्या में मानते हैं अर्थात् प्रकृति का लक्ष्यार्थ संख्या को मानते हैं तो उस लक्ष्यार्थ संख्या का प्रकृति के वाच्यार्थ = व्यक्ति के साथ अन्वय भी हो जाएगा। क्योंकि वाच्यार्थ का अन्वय लक्ष्यार्थ के साथ मानने में कोई आपत्ति भी नहीं है। इस पर यदि कोई कहे कि संख्या अर्थ में प्रकृति की लक्षणा मानने की अपेक्षा विभक्ति की ही लक्षणा उपर्युक्त संख्या अर्थ में क्यों न मान ली जाए? तो इस प्रश्न का उत्तर क्रमशः देते हुए पूर्वपक्षी कहता है कि - विभक्तियों में प्रथमा विभक्ति की लक्षणा इसलिए संख्या में नहीं कर सकते; क्योंकि प्रथमा विभक्ति की शक्ति कहीं भी क्लृप्त नहीं है। अर्थात् प्रथमा विभक्ति का कोई वाच्यार्थ निश्चित नहीं है। वह तो द्योतक है, तात्पर्य ग्राहक है। एवञ्च लक्षणा है शक्य सम्बन्ध रूप। अतः जिस पद का कोई शक्य ही नहीं अर्थात् जिस पद का उच्चारण करने के बाद नियमित रूप से किसी शक्य अर्थ की उपस्थिति ही नहीं होती उस पद की शक्य सम्बन्ध रूप लक्षणा किसी अर्थ में कैसे कर सकते हैं। तात्पर्य यह है कि लक्षणा एक सम्बन्ध रूप है और प्रत्येक सम्बन्ध के दो सम्बन्धी होते है और इस लक्षणा रूप सम्बन्ध का भी दो सम्बन्धी हुआ करता है एक शक्यार्थ = वाच्यार्थ और दूसरा लक्ष्यार्थ। ऐसी स्थिति में जिस पद का कोई शक्य अर्थ ही नहीं इसका अर्थ हुआ कि वहाँ लक्षणा का एक सम्बन्धी नहीं है तो उस वाच्यार्थ = शक्यार्थ से सम्बद्ध दूसरे सम्बन्धी लक्ष्यार्थ की उपस्थिति वह पद कैसे करा पाएगा? अर्थात् नहीं करा पाएगा। इसलिए कहा जाता है कि लक्षणा उसी पद की होती है जिसका कोई वाच्यार्थ भी हो। इस प्रकार प्रथमा विभक्ति का कोई वाच्यार्थ नहीं होने से उसकी लक्षणा भी संख्या अर्थ में नहीं हो सकती। अब रही द्वितीया आदि विभक्तियों की, तो यद्यपि द्वितीया आदि विभक्तियों की शक्ति कर्मत्व आदि अर्थों में है। अतः द्वितीया आदि विभक्ति का शक्यार्थ होने से उन विभकतियों की शक्य सम्बन्ध रूपा लक्षणा संख्या में हो तो सकती है। परन्तु संख्या अर्थ में द्वितीया आदि विभक्तियों की लक्षणा हो या उस विभक्ति के अव्यवहित पूर्व में उच्चरित प्रकृति की हो इसमें कोई विनिगमक (निर्णायक तत्त्व) दुर्लभ है। अर्थात् द्वितीया आदि विभक्तियों की ही लक्षणा संख्या अर्थ में हो प्रकृति की नहीं। इस बात में कोई एकतारपक्षपातिनी युक्ति न होने से प्रकृति की ही लक्षणा संख्या अर्थ में माननी चाहिए। पूर्वपक्षी ने जो यहाँ "प्रथमा विभक्तेः कुत्रापि शक्तेरक्लृप्ततया" कहा है वह विशेषण विभक्ति को अभेदार्थक नहीं मानने के पक्ष में।

न चैकत्वाद्यन्वयबोधे घटपदादिज्ञानजन्योपस्थितित्वेनानन्तहेतुताकल्पनमपेक्ष्य स्वादिपदज्ञानजन्यतदुपस्थितित्वेन कतिपयहेतुताकल्पनायां लाघवात्,

कतिपयशक्तिकल्पने गौरवमकिञ्चित्करम्। सामान्यतः पदवृत्तिज्ञानजन्य-तदुपस्थितित्वेनैककारणताकल्पनं तु न सम्यक्। निर्विभक्तिककुम्भपदादितः संख्योपस्थितौ तदगृहीतवृत्तिकघटादिपदे तत्तद्विभक्त्यन्तत्वज्ञानवतः पुंसो घटादौ संख्यान्वयबोधप्रसङ्गात्। घटपटादिपदज्ञानजन्यैकत्वाद्युपस्थितित्वे-नैकत्वादिविषयकशाब्दबोधहेतुतां कल्पयित्वा विभक्तिघटादिपदा-नुपूर्वीज्ञानतादृशोपस्थित्योः परस्परसहकारेण फलजनकतायाः अवश्याभ्युपे-यत्वादिति वाच्यम्।

तात्पर्य यह है कि - विभक्ति का अर्थ संख्या मानने वाला यदि यह कहे कि प्रकृति का अर्थ यदि संख्या मानें तो एकत्वप्रकारक शाब्दबोध के प्रति घट पद आदि के ज्ञान से जन्य उपस्थिति को कारण मानना पड़ेगा। इस प्रकार घटः कलशः कुम्भः कम्बुग्रीवादिमान् आदि अनन्त स्थल में घट आदि प्रकृति के अनन्त होने से कहीं पर एकत्वादिप्रकारक शाब्दबोध के लिए घटपदजन्योपस्थिति को, तो कहीं कलशपदजन्योपस्थिति को तो कहीं पर कुम्भपदजन्य उपस्थिति को कारण मानना पड़ेगा। इस प्रकार प्रकृति के अनन्त होने के कारण अनन्त उपस्थितियों में अनन्त कारणता की कल्पना करनी पड़ेगी। इसकी अपेक्षा यदि विभक्ति का अर्थ संख्या को मानें तो एकत्वादिप्रकारक अन्वयबोध के प्रति केवल सु औ जस् इन तीन ही पद के ज्ञान से जन्य उपस्थितियों को कारण मानना पड़ेगा यह लाघव होगा। अतः सु आदि पद के ज्ञान से जन्य उपस्थितियों में कारणता की कल्पना करने में जो गौरव होता है। वह दोषाधायक नहीं माना जा सकता। क्योंकि संख्या को प्रकृत्यर्थ मानने में तो अनन्त उपस्थितियों में अनन्त कारणता की कल्पना करनी पड़ेगी। विभक्त्यर्थ पक्ष में तो केवल तीन उपस्थितियों में तीन कारणता की ही कल्पना करनी पड़ती है। यदि आप प्रकृत्यर्थ संख्या को मानने वाले कहें कि - हम अलग-अलग घट पद ज्ञानजन्य उपस्थिति को पृथक् तथा कलशपदज्ञानजन्य उपस्थिति को पृथक्, एकत्वप्रकारक शाब्दबोध के प्रति कारण नहीं मानेंगे जिससे अनन्त कारणता की कल्पना करनी पड़े, अपितु सामान्य रूप से पदत्वेन पदज्ञानजन्य उपस्थिति को कारण मानेंगे घटपदज्ञानजन्य उपस्थिति या कलशपदज्ञानजन्य उपस्थिति सभी पदज्ञानजन्य उपस्थिति हैं। अतः पदज्ञानजन्यउपस्थितित्वेन रूपेण मुझे एक ही कारणता की कल्पना करनी पड़ेगी; जबकि संख्या को विभक्त्यर्थ मानने वाले आपको तीन कारणता माननी पड़ती है। तो, आप संख्या को प्रकृत्यर्थ मानने वाले ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि यदि सामान्य रूप से पदज्ञानजन्य उपस्थिति को संख्याप्रकारक शाब्दबोध के प्रति कारण माना जाए, तो विभक्तिरहित कुम्भ पद =. "कुम्भरूपम्" प्रयोगघटक कुम्भपद

से भी संख्या की उपस्थिति होने पर, जिस पुरूष को "घटः" इस विभक्त्यन्त घट पद की शक्ति का ज्ञान संख्या अर्थ में नहीं है, उस पुरूष को भी एकत्वप्रकारक घटविशेष्यक शाब्दबोध होने लगेगा। क्योंकि उस पुरूष में कुम्भरूपम् इस प्रयोग के घटक कुम्भ पद से एकत्व संख्या की उपस्थिति तो है ही। इस प्रकार शाब्दबोध रूप कार्य के कारण उपस्थिति के, उस पुरूष में विद्यमान होने से भले ही घटः की प्रकृति घट पद की शक्ति का ज्ञान एकत्व संख्या में न हो तथापि कुम्भपदज्ञान जन्य एकत्व की उपस्थिति रहने से उस एकत्व का अन्वय घट पदार्थ में होने लगेगा। जबकि होता नहीं है। अतः पदत्वेन पदज्ञानजन्य उपस्थिति को कारण नहीं माना जा सकता। अपितु उपर्युक्त आपत्ति का वारण करने के लिए विशेष रूप से कार्यकारण भाव की कल्पना करनी पड़ेगी। अर्थात् घटपटादिज्ञानजन्य एकत्व की उपस्थिति को विशेष रूप से "घटः" स्थल में होने वाले एकत्व प्रकारक शाब्दबोध में कारण मानना पड़ेगा। तब प्रश्न उठेगा कि यदि घटपदज्ञानजन्यएकत्वोपस्थिति को कारण मान भी लें तो जहाँ "घटः" के घट पद की शक्ति का ज्ञान एकत्व संख्या में नहीं है और उस पुरूष को विभक्तिरहित कुम्भ पद से एकत्व की उपस्थिति है तो उस पुरूष में एकत्वप्रकारक घटविशेष्यक शाब्दबोध का कारण एकत्वोपस्थिति तो वहाँ है ही। इसलिए आगे कहा कि - एकत्वप्रकारक शाब्दबोध के प्रति घटादिपदजन्य घट की उपस्थिति तथा एकत्व की उपस्थिति तो कारण है ही इसके साथ विभक्ति तथा प्रकृति की आनुपूर्वी का ज्ञान भी कारण है। इसका अर्थ है कि विभक्तिरहित प्रकृति मात्र से एकत्व की उपस्थिति नहीं होती है। विशेषण रूप एकत्व की उपस्थिति तथा विशेष्य रूप घटादि की उपस्थिति प्रकृति तथा विभक्ति के आनुपूर्वी ज्ञान के साथ मिलकर ही एकत्वप्रकारक शाब्दबोध को उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार विभक्ति तथा प्रकृति का आनुपूर्वीज्ञान भी संख्या की उपस्थिति तथा विशेष्य घटादि की उपस्थिति के साथ मिलकर ही शाब्दबोध का कारण होता है। अकेला आनुपूर्वी ज्ञान या अकेली उपस्थिति शाब्दबोध को उत्पन्न नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में विभक्ति रहित कुम्भ पद से तो एकत्व की उपस्थिति होगी ही नहीं। जिस विभक्त्यन्त घटः से एकत्व की उपस्थिति और घट की उपस्थिति हो सकती थी और जहाँ दोनों की आनुपूर्वी का ज्ञान भी हो रहा है। वहाँ घट पद की शक्ति का ज्ञान एकत्व अर्थ में नहीं है। अतः वहाँ घटः के घट पद से एकत्व की उपस्थिति ही नहीं हो रही है तो वहाँ एकत्व प्रकारक शाब्दबोध की आपत्ति नहीं होगी। परन्तु एकत्व प्रकारक घट विशेष्यक शाब्दबोध के प्रति घटादिपदजन्य एकत्व की उपस्थिति को तथा विभक्ति तथा प्रकृति के आनुपूर्वीज्ञान को कारण मानने के कारण इस मत में

प्रकृति की अनन्तता के कारण अनन्त कारणता की कल्पना तो करनी ही पड़ेगी। अतः संख्या को विभक्त्यर्थ ही मानना चाहिए।

घटादिपदस्यैकत्वादौ लक्षणाग्रहसत्त्वे घटः प्रमेय इतिवाक्यात् एकत्वं प्रमेयम् इत्याद्यन्वयबोधस्य सर्वसम्मततया, तदनुरोधेनैकत्वादिविषयक-शाब्दबोधे घटादिपदजन्यैकत्वाद्युपस्थितित्वेन हेतुतायाः सर्वसम्मत्वात्।

अर्थात् जहाँ घट आदि प्रकृति पद की एकत्व आदि संख्या अर्थ में लक्षणाग्रह रहता है वहाँ घटः प्रमेयः इस वाक्य से एकत्वं प्रमेयम् ऐसा शाब्दबोध होता है यह सर्वसम्मत है। इस सर्वसम्मत मत के अनुरोध से एकत्वविषयक शाब्दबोध के प्रति अर्थात् जिस शाब्दबोध में एकत्व आदि संख्या विषय रूप से भासित होती हैं उस शाब्दबोध के प्रति घटादि पदजन्य एकत्वादि संख्या की उपस्थिति कारण होती है। यह भी सर्वसम्मत है। इस प्रकार घट पद की एकत्व आदि संख्या अर्थ में लक्षणा रहने पर यदि घटादिपदजन्य एकत्वादि संख्या की उपस्थिति एकत्वप्रकारक शाब्दबोध में कारण है तो इसका अर्थ हुआ कि प्रकृति के अनन्त होने पर भी प्रकृतिजन्य एकत्वादि उपस्थिति को कारण मानना आवश्यक है, तो जहाँ प्रकृति की संख्या अर्थ में लक्षणा नहीं है वहाँ भी प्रकृति का अर्थ संख्या माने और प्रकृतिजन्य संख्या की उपस्थिति को एकत्वप्रकारक शाब्दबोध में कारण मानना चाहिए। प्रकृति की अनन्तता के रहने पर भी लक्षणा स्थल में प्रकृतिजन्य एकत्व की उपस्थिति हो तो सभी लोग कारण मानते ही है तो यह कोई दोष नहीं हुआ।

भट्टाचार्य "अथ स्वादीनां संख्या वाचकत्वकल्पनापेक्षया से प्रारम्भ किये गये पूर्व पक्ष का जो अभी तक चला, खण्डन करते हुए कहते हैं -

मैवम्। यादृशयादृशपदानां लक्षणया एकत्वादिशाब्दधीजनकत्वं नोभयवादिसिद्धं, तादृशानन्तपदज्ञानजन्यैकत्वाद्युपस्थितीनां तच्छाब्दहेतुत्व-कल्पनं प्रकृतेः संख्यावाचकतावादिनामधिकमिति, तत्कल्पनापेक्षया चाल्पतरस्वादिपदजन्यैकत्वाद्युपस्थितिहेतुताकल्पनमेव लाघवम्।

भट्टाचार्य का तात्पर्य यह है कि - जहाँ पर घटादि पद रूप प्रकृति की एकत्व आदि संख्या अर्थ में लक्षणा है वहाँ पर तो प्रकृति ज्ञानजन्य एकत्व आदि की उपस्थिति में, एकत्व विषयक शाब्दबोध की कारणता उभयमत सिद्ध है। परन्तु जिन-जिन पदों में, लक्षणा से एकत्वप्रकारकशाब्दबोध की कारणता उभयमत सिद्ध नहीं है अर्थात् जिन-जिन पदों की लक्षणा, संख्या अर्थ में, दोनों पक्ष के अनुसार मान्य नहीं है, उन पदों से होने वाले एकत्वप्रकारक शाब्दबोध की कारणता तो उन अनन्त प्रकृति के शक्तिज्ञान से जन्य एकत्वोपस्थिति में माननी पड़ेगी। क्योंकि

बिना एकत्व की उपस्थिति के, एकत्वविषयक शाब्दबोध तो होगा नहीं और प्रकृति पद से एकत्व की उपस्थिति लक्षणा से मान नहीं सकते। क्योंकि उन पदों की संख्या अर्थ में लक्षणा सर्वसम्मत या उभयमत सिद्ध नहीं है, तो एकत्व की उपस्थिति के लिए ऐसे स्थल पर प्रकृति की शक्ति ही संख्या अर्थ में माननी पड़ेगी। इस प्रकार प्रकृति को संख्या का वाचक मानने वालों को कहीं पर एकत्व प्रकारक शाब्दबोध के लिए प्रकृति पद से लक्षणया एकत्वोपस्थिति को कारण मानना पड़ेगा तो कहीं शक्त्या एकत्वोपस्थिति को कारण मानना पड़ेगा। इस प्रकार सर्वसम्मत स्थल से अतिरिक्त स्थल में शक्ति से होने वाली एकत्व की उपस्थिति मेंअधिक कारणता की कल्पना, संख्या को प्रकृत्यर्थ मानने वालों को करनी पड़ेगी। इसलिए प्रकृति को संख्या का वाचक मानने की अपेक्षा अल्पतर सु औ जस् इन तीन विभक्तियों की ही शक्ति संख्या अर्थ में मानकर स्वादिपदज्ञानजन्य एकत्वादि की उपस्थिति को ही एकत्वादिप्रकारकशाब्दबोध में कारण मानना चाहिए।

एतेन संख्याविशेषावच्छिन्नघटादिर्लक्षणया प्रकृतेरर्थः। न तु संख्याविभक्त्यर्थः। शाब्दबोधे विभक्तिजन्यसंख्योपस्थितिहेतुताकल्पनाधिक्येन गौरवात्। घटादिपदस्यैकत्वादिविशिष्टघटादौ लक्षणाग्रहदशायां सर्वमत एव तज्जन्यविशिष्टविषयकोपस्थित्या विशिष्टविषयकशाब्दधीजननात्तथाविधोपस्थितिहेतुतायाः सर्वानुमतत्वात्। पदान्तरासमभिव्याहृताद् घट इत्यादिपदादेकत्वादिविशिष्टघटादि- शाब्दबोधस्त्वलीकएव। तद्विषयकस्मरणस्य तत्रोपगमात्। तथा चोक्तं सर्वं हि वाक्यं क्रियायां परिसमाप्यते इत्यपि निरस्तम्। यादृशपदानां लक्षणया एकत्वादिविशिष्टस्वार्थबोधहेतुत्वं नोभयवादिसिद्धं तादृशानन्तपदजन्यविशिष्टोपस्थितीनां शाब्दबोधहेतुताकल्पनमपेक्ष्य विभक्तिजन्यसंख्योपस्थितीनामल्पानां तत्कल्पने लाघवात्।

उपर्युक्त रीति के अनुसार जो - संख्या विशेष से अवच्छिन्न घट आदि लक्षणा से प्रकृति का ही अर्थ है, विभक्ति का अर्थ संख्या नहीं है " ऐसा मानते हैं अर्थात् एकत्व आदि संख्या से विशिष्ट घट ही लक्षणावृत्ति से घट पद के द्वारा बोधित है। तात्पर्य यह है कि इसके पहले घट पद से घट रूपं अर्थ तो शक्ति से तथा एकत्वआदि संख्या लक्षणा के द्वारा बोधित होता है ऐसा कहा गया था, परन्तु अब घट पद के द्वारा लक्षणया एकत्वविशिष्टघटरूपअर्थ बोधित होता है यह कहा जा रहा है। इस तरह जब प्रकृति पद का ही लक्षणा से संख्याविशिष्ट घट आदि अर्थ है तो पुनः विभक्ति का अर्थ संख्या क्यों माना जाए? अतः कहा गया न तु संख्या विभक्त्यर्थः। क्योंकि यदि विभक्ति का अर्थ

संख्या मानेंगे तो एकत्व प्रकारक शाब्दबोध में प्रकार रूप से एकत्व के भान के लिए विभक्तिजन्य संख्या की उपस्थिति में अधिक कारणता की कल्पना करनी पड़ेगी। तात्पर्य यह है कि "एकत्वप्रकारक घटविशेष्यक" शाब्दबोध में प्रकार रूप से एकत्व के भान की उपपत्ति के लिए सु विभक्तिजन्य एकत्व की उपस्थिति तथा विशेष्य रूप से भासित होने वाले घट के भान की उपपत्ति के लिए घट पदजन्यघट की उपस्थिति को कारण मानना पड़ेगा। इस प्रकार दो उपस्थितियों में दो कारणताओं की कल्पना करनी पड़ेगी। जबकि लक्षणा से घट पदरूप प्रकृति का ही अर्थ यदि एकत्व विशिष्ट घट मानते हैं तो एकत्वप्रकारक घटविशेष्यक शाब्दबोध में केवल घटपदजन्य एकत्वविशिष्ट घट की उपस्थिति को ही एक कारण मानना पड़ेगा तो एक कारणता की ही कल्पना करनी पड़ेगी। इस तरह विभक्ति का अर्थ संख्या मानने में गौरव होगा। घटपद की एकत्वविशिष्ट घट में लक्षणा ग्रह होने पर, सभी के मत में घट पद जन्य एकत्व विशिष्ट घट की उपस्थिति से एकत्वविशिष्ट घट अर्थात् एकत्वप्रकारक घटविशेष्यक शाब्दबोध माना जाता है। इस प्रकार एकत्व विशिष्ट घटोपस्थिति में शाब्दबोध की कारणता, तो सभी मानते हैं। अतः सर्वत्र घट पद की लक्षणा एकत्वविशिष्ट घट अर्थ में मानकर एकत्वविशिष्ट घट की उपस्थिति को एकत्वप्रकारक घट विशेष्यक शाब्दबोध का कारण मान लेंगे। इसके लिए विभक्ति का अर्थ संख्या को क्यों मानें जिससे कि विभक्तिजन्य एकत्व की उपस्थिति में अतिरिक्त कारणता की कल्पना करनी पड़े। इस पर कोई यदि कहे कि - घट पद का अर्थ (लक्ष्यार्थ) यदि एकत्वविशिष्ट घट मानें? तो "घटः" इस वाक्य से होने वाला एकत्वप्रकारक घटविशेष्यक शाब्दबोध, शाब्दबोध नहीं कहलाएगा। क्योंकि दो पदार्थों के संसर्ग का अवगाहन करने वाला बोध ही शाब्दबोध कहलाता है। प्रकृत में तो प्रकार रूप से भासित होने वाला एकत्व तथा विशेष्य रूप से भासित होने वाला घट दोनों एक ही पद के अर्थ हैं ऐसा आपका मानना है। इसलिए उपर्युक्त बोध में शाब्दबोधत्व की उपपत्ति के लिए घट पद का अर्थ एकत्वविशिष्ट घट को न मानकर घट पद का अर्थ घट तथा सु पद का अर्थ एकत्व संख्या को मानना चाहिए। तो, इसका खण्डन करने के लिए संख्या को प्रकृत्यर्थ मानने वाला कहता है कि - पदान्तरासमभिव्याहृताद् इत्यादि। तात्पर्य यह है कि - किसी दूसरे पद के समीप में उच्चारण हुए बिना केवल "घटः" इतने मात्र से एकत्वप्रकारक घटविशेष्यक शाब्दबोध वन्ध्या पुत्र की तरह अलीक है अप्रसिद्ध है अर्थात् नहीं होता। घटः इतने मात्र से होने वाला एकत्वप्रकारक घटविशेष्यक बोध को तो स्मरण मात्र माना गया है। इस तरह मात्र घटः पद से होने वाला बोध स्मरण है शाब्दबोध तो है ही नहीं, तो उसकी उपपत्ति के लिए विभक्ति का अर्थ संख्या भी मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

मात्र घटः पद से शाब्दबोध नहीं होता है इसलिए ऐसे स्थलों पर शाब्दबोधत्व की उपपत्ति के लिए दूसरे पद का अध्याहार करना पड़ता है। कहा भी गया है सर्वं वाक्यं क्रियायां परिसमाप्यते। अर्थात् जहाँ केवल घटः पढ़ा गया है वहाँ भी अस्ति पद के द्वारा वर्तमानकालीन सत्ता रूप अर्थ की भी उपस्थिति होगी। इस प्रकार वहाँ दो पदार्थं के सम्बन्ध का अवगाहन होगा ही तो शाब्दबोधत्व भी उपपन्न हो जाएगा। जहाँ पदान्तर का अध्याहार नहीं किया ऐसे घटः पद से होने वाला बोध तो शाब्दबोध ही नहीं माना जाता वह तो केवल पदार्थस्मरण मात्र है। इस तरह उस स्मरण में पदार्थद्वय के संसर्ग के भान का नियम न होने से विभक्ति का अर्थ संख्या मानने की आवश्यकता नहीं।

भट्टाचार्य कहते हैं कि संख्या को प्रकृत्यर्थ मानने वालों का उपर्युक्त यह सभी कथन निरस्त हो गया खण्डित हो गया। क्योंकि - जिन पदों की लक्षणा संख्या विशेष विशिष्ट स्वार्थ में उभयमत सिद्ध नहीं है, ऐसे अनन्त पद जन्य एकत्वविशिष्ट स्वार्थ की उपस्थितियों में शाब्दबोध की अनन्त कारणता की कल्पना करनी पड़ेगी। अतः अनन्त विशिष्ट उपस्थितियों में अनन्त कारणता की कल्पना करने की अपेक्षा विभक्ति जन्य संख्या की उपस्थितियों में ही कारणता की कल्पना करने में लाघव है। क्योंकि तीन ही कारणता की कल्पना करनी पड़ती है। अतः विभक्ति का अर्थ संख्या मानना चाहिए।

इदं पुनरिहावधेयम् - विभक्तेः संख्याबोधकत्वे समानविषयकानुमित्यादिकं प्रतिशाब्दसामग्रीप्रतिबन्धकतायां या प्रातिपदिकजन्या घटाद्युपस्थितिर्याच विभक्तिजन्या संख्योपस्थितिः प्रवेश्या, तयोश्च मिथो विशेष्यविशेषणभावे विनिगमनाविरहात् प्रतिबन्धकता-बाहुल्यम्। प्रकृतेर्विशिष्टलाक्षणिकत्वे तु तदुभयस्थलीय विशिष्टविषय-कोपस्थितिरेकैव सामग्र्यामन्तर्भवति इति लाघवम्। न च विशिष्टविषयकोपस्थितेरपि एकत्वादिप्रकारतानिरूपितघटादिविशेष्यता-शालित्वेन घटादिविशेष्यतानिरूपितैकत्वादिविषयताशालित्वेन वा प्रवेश इति विनिगमनाविरहात् साम्यमिति वाच्यम्। भवन्मते योग्यताज्ञानघटोपस्थित्येकत्वोपस्थितीनां तिसृणां विशेष्य विशेषणभावे विनिगमनाविरहेण प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावषट्कम्। मन्मते तत्र योग्यताज्ञाने विशिष्टविषयकोपस्थितेः प्रत्येकं दर्शितोभयरूपेण वैशिष्ट्यं निवेश्य तदुभयं; प्रत्येकं तादृशरूपद्वयावच्छिन्नायामुपस्थितौ योग्यताज्ञानस्य वैशिष्ट्यं निवेश्य च द्वयमिति तच्चतुष्टयमात्रमितिरीत्याऽस्माकमल्पतरतत्कल्पने महालाघवम्।

गदाधर भट्टाचार्य इससे पूर्व तक के ग्रन्थ के द्वारा विभक्ति का ही अर्थ संख्या मानना चाहिए" इस बात को प्रमाणित करके अब संख्या को प्रकृत्यर्थ मानने में ही महालाघव है इस बात को इदं पुनरिहावधेयम् - से कहने जा रहे हैं - तात्पर्य यह है कि - विभक्ति को यदि संख्या का बोधक माना जाएगा, तो समान विषयक अनुमिति या प्रत्यक्ष के प्रति जो शाब्दबोध सामग्री में प्रतिबन्धकता रहती है, उस प्रतिबन्धकता में जो प्रातिपदिक (प्रकृति) जन्य जो घटादि की उपस्थिति का तथा विभक्तिजन्य संख्या की उपस्थिति का निवेश करना पड़ेगा, निवेश्यमान उन दोनों उपस्थितियों में परस्पर विशेष्य विशेषणभाव मानने में किसी विनिगमना के न होने से अनेक प्रतिबन्धकता माननी पड़ेगी।

तात्पर्य यह है कि - समानविषयक अनुमिति के प्रति तथा समानविषयक प्रत्यक्ष के प्रति शाब्दबोध की सामग्री प्रतिबन्धक होती है, यह बात पूर्व में बतायी जा चुकी है। पदजन्य पदार्थोपस्थितिः योग्यताज्ञान आदि शाब्दबोध की सामग्री है। यह वात भी प्रसिद्ध ही है। ऐसी स्थिति में यदि संख्या को विभक्त्यर्थ माना जाए तो समान विषय के अनुमिति आदि (प्रत्यक्ष) के प्रति जो शाब्द सामग्री में प्रतिबन्धकता रहती है वह प्रतिबन्धकता शाब्दसामग्री के भेद से भिन्न-भिन्न होती है। अतः शाब्दबोध की सामग्री होने के कारण, प्रतिबन्धकता में प्रातिपदिक (प्रकृति रूप = घट पद) जन्य घट की उपस्थिति का तथा सु आदि विभक्ति जन्य संख्या की उपस्थिति का भी निवेश करना होगा। एवञ्च प्रतिबन्धकता में निविष्ट इन दोनों उपस्थितियों में कौन सी उपस्थिति विशेष्य हो और कौन सी विशेषण, इसका निर्णय करने वाली कोई युक्ति न होने से क्रमशः दोनों ही उपस्थितियाँ विशेष्य और विशेषण हो सकती हैं। अर्थात् घट पदजन्य घटोपस्थिति विशिष्ट विभक्तिजन्य संख्या की उपस्थिति में प्रतिबन्धकता मानें या विभक्तिजन्यसंख्योपस्थितिविशिष्ट घटपदजन्य घटोपस्थिति में प्रतिबन्धकता मानें "इस बात का निर्णायक कोई युक्ति न होने से दोनों प्रकार की विशिष्ट उपस्थितियों में प्रतिबन्धकता की कल्पना करनी पड़ेगी। यही प्रतिबन्धकता बाहुल्य हुआ। यहाँ यह बात ध्यान रखने की है प्रतिबन्धक प्रथम उपस्थिति में घटपदजन्य घटोपस्थिति विशेषण है और विभक्तिजन्य संख्योपस्थिति विशेष्य; जबकि दूसरी उपस्थिति में - विभक्तिजन्यसंख्योपस्थिति विशेषण है और घटप्रातिपदिकजन्य घटोपस्थिति विशेष्य। इस तरह प्रतिबन्धकता में निविष्ट उपस्थितियों में परस्पर विशेष्य विशेशणभाव के अनियम होने से दो प्रतिबन्धकता की कल्पना पड़ी। परन्तु प्रकृति को यदि विशिष्ट लाक्षणिक मानते हैं अर्थात् लक्षणा से यदि प्रकृति का ही अर्थ एकत्व विशिष्टघट आदि मानें तो घटादि विशेष्य विषयक तथा एकत्व संख्याविषयक दोनों को विषय बनाने वाली विशिष्ट उपस्थिति दोनों को विषय बनाने वाली

विशिष्ट उपस्थिति = एकत्व विशिष्ट घट आदि की उपस्थिति एक ही होगी जो एकत्वप्रकारक घटविशेष्यक शाब्दबोध की सामग्री होगी। इस प्रकार विशेषण = एकत्व आदि संख्या तथा विशेष्य = घट आदि को विषय बनाने वाले एक ही विशिष्ट उपस्थिति = एकत्व विशिष्ट घट की उपस्थिति, उपर्युक्त एकत्वप्रकारक घटविशेष्यक शाब्दबोध का कारण मानना पड़ता है। अर्थात् शाब्दबोध की सामग्री उपर्युक्त विशिष्ट उपस्थिति चूँकि एक ही है तो उसमें समानविषयक अनुमिति आदि की प्रतिबन्धकता भी एक ही माननी पड़ेगी। यह लाघव है प्रकृति को एकत्वादि संख्या विशिष्टस्वार्थ में लाक्षणिक मानने में। संख्या को विभक्त्यर्थ मानने वाला इस पर प्रश्न करता है कि - प्रकृति को संख्या विशिष्टस्वार्थ में लाक्षणिक मानने पर भी प्रकृति से जो एकत्वविशिष्ट घट आदि की उपस्थिति होगी वह उपस्थिति भी तो विशेष्यता तथा प्रकारता से विशिष्ट है। अर्थात् इस विशिष्ट उपस्थिति में भी तो संख्या प्रकार रूप से तथा स्वार्थ = घटादि विशेष्य रूप से भासित हो रहा है। इस प्रकार यह उपस्थिति भी - एकत्व निष्ठ प्रकारता निरूपित घट निष्ठ विशेष्यताशाली तथा घट निष्ठ विशेष्यता निरूपित एकत्वनिष्ठ विषयता (प्रकारता) शाली भी कहला सकती है। इस प्रकार शाब्दबोध की सामग्री = इस विशिष्ट उपस्थिति में भी उपर्युक्त प्रकारता निरूपित विशेष्यता या विशेष्यता निरूपित प्रकारता में विनिगमना के न होने से दोनों प्रकार की उपस्थितियों में दो प्रतिबन्धकता की कल्पना तो करनी ही पड़ती है। इस प्रकार दोनों मतों में समानता ही है। आपके मत में कोई लाघव नहीं है। इस पर संख्या विशिष्ट स्वार्थ में प्रकृति को लाक्षणिक मानने वालों की ओर से भट्टाचार्य भवन्मते इत्यादि से कहते हैं कि - संख्या को विभक्त्यर्थ मानने वाले आपके मत में प्रातिपदिकजन्यघटादि की उपस्थिति, विभक्तिजन्य संख्या की उपस्थिति तो शाब्दबोध की सामग्री है ही साथ ही उभयमत सिद्ध योग्यता ज्ञान भी शाब्दबोध की सामग्री है। इस प्रकार आपके मत में शाब्दबोध की सामग्री की संख्या तीन है।

एवञ्च इन तीनों शाब्दसामग्रियों के विशेष्यविशेषणभाव में किसी विनिगमना के न होने से विशेष्य विशेषणभाव के व्यत्यास से छः प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभाव की कल्पना करनी पड़ेगी।

हमारे मत में अर्थात् प्रकृति को संख्याविशिष्ट स्वार्थ में लाक्षणिक मानने वालों के मत में तो योग्यता ज्ञान में, एकत्व विशिष्ट स्वार्थविषयक उपस्थिति की उपर्युक्त दोनों रीतियों से वैशिष्ट्य का निवेश करने से दो प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभाव तथा उपर्युक्त दो रूपों वाली दो उपस्थितियों में योग्यता ज्ञान का वैशिष्ट्य निवेश करने से दो प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभाव की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार हमारे मत में चार ही प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भाव की कल्पना करनी पड़ेगी। भट्टाचार्य

की दृष्टि यहाँ यह है कि संख्या को विभक्त्यर्थ मानने में शाब्दबोध की सामग्री होगी विभक्तिजन्य संख्योपस्थिति, प्रकृतिजन्य घटोपस्थिति तथा योग्यताज्ञान। इन तीनों को क्रमशः विशेष्य और विशेषण होने पर इन शाब्दबोध की सामग्रियों की संख्या छः हो जाएगी। जैसे -

(1) योग्यता ज्ञान विशिष्ट विभक्तिजन्य संख्योपस्थिति विशिष्ट प्रकृतिजन्य घटोपस्थिति।

(2) योग्यता ज्ञान विशिष्ट प्रकृतिजन्य घटोपस्थिति विशिष्ट विभक्तिजन्य संख्योपस्थिति।

(3) विभक्तिजन्योपस्थिति विशिष्ट प्रकृतिजन्य घटोपस्थिति विशिष्ट योग्यता ज्ञान।

(4) प्रकृतिजन्य घटोपस्थितिविशिष्ट विभक्तिजन्य संख्योपस्थिति विशिष्ट योग्यता ज्ञान।

(5) विभक्तिजन्य संख्योपस्थिति विशिष्ट योग्यता ज्ञान विशिष्ट प्रकृति जन्य घटोपस्थिति।

(6) प्रकृतिजन्य घटोपस्थिति विशिष्ट योग्यता ज्ञान विशिष्ट विभक्तिजन्य संख्योपस्थिति।

इन छः शाब्दसामग्रियों में छः प्रतिबन्धकता माननी पड़ेगी। परन्तु प्रकृति की संख्या विशिष्ट स्वार्थ में लाक्षणिक मानने पर

(1) एकत्वनिष्ठ प्रकारता निरूपित घटनिष्ठ विशेष्यताशाली उपस्थिति विशिष्ट योग्यता ज्ञान।

(2) घटनिष्ठ विशेष्यता निरूपित एकत्वनिष्ठप्रकारताशाली उपस्थिति विशिष्ट योग्यता ज्ञान।

(3) योग्यता ज्ञान विशिष्ट एकत्वनिष्ठ प्रकारतानिरूपित घटनिष्ठ विशेष्यता शाली उपस्थिति।

(4) योग्यता ज्ञान विशिष्ट घटनिष्ठ विशेष्यता निरूपित एकत्वनिष्ठ प्रकारतशाली उपस्थिति। इन चार शाब्दसामग्रियों में चार प्रतिबन्धकताओं की ही कल्पना करनी पड़ेगी।

इस प्रकार प्रकृति को विशिष्ट अर्थ में लाक्षणिक मानने में प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव की कल्पना करने में लाघव होने से प्रकृति की ही संख्याविशिष्ट स्वार्थ में लक्षणा माननी चाहिए, न कि विभक्ति का अर्थ संख्या है इस बात को।

तादृशरीत्यैव च प्रणमति इत्यादौ प्रकर्षविशिष्टनतिर्धातूनामेवार्थः। प्रादयो द्योतका एव न तु प्रकर्षादिवाचका इति सर्वानुमतः पन्थाः परिष्कर्तुं- शक्यते। अन्यथा अनन्तधातुजन्यप्रकर्षादिविशिष्टतत्तत्स्वार्थोपस्थितीनां

शाब्दधीजनकतामपेक्ष्य कतिपयोपसर्गाधीनप्रकर्षाद्युपस्थितीनांतज्जनकता-कल्पने लाघवात् स्वादीनामिव प्रादीनामपि वाचकता निराबाधा सिद्ध्येतेति।

इसी प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव की कल्पना के लाघव रूप रीति से - प्रणमति इत्यादि स्थल में प्रकृष्ट विशिष्ट नमस्कार "धातु का ही अर्थ है। प्र आदि उपसर्ग द्योतक ही है न कि उनकी शक्ति प्रकर्ष आदि अर्थ में है, यह सर्वस्वीकृत मार्ग भी परिष्कृत किया जा सकता है। अर्थात् प्र आदि उपसर्ग को सभी लोग द्योतक ही मानते हैं प्रकर्ष आदि अर्थ के वाचक नहीं। इस सर्वानुमत सिद्धान्त की उपपत्ति भी हो जाती है जब प्रकृति की ही विशिष्ट अर्थ में लक्षणा मानने वाली रीति के अनुसार नम् धातु का ही अर्थ प्रकृष्ट विशिष्ट नमस्कार मान लेते हैं। अन्यथा - यदि धातु (प्रकृति) की विशिष्ट में लक्षणा न मानें तो - अनन्त धातुओं से प्रकृष्ट विशिष्ट तत् तद् धात्वर्थ की उपस्थिति मानकर उन उपस्थितियों में शाब्दबोध की कारणता मानने की अपेक्षा कतिपय (22) उपसर्गों की प्रकर्ष आदि अर्थ में शक्ति मानकर, कुछ ही उपसर्ग से जन्य प्रकर्ष आदि अर्थों की उपस्थिति में शाब्दबोध की कारणता मानने में लाघव होने से जैसे सु आदि विभक्तियों को आप संख्यावाचक मानते हैं वैसे ही प्र आदि उपसर्गों में प्रकर्ष आदि अर्थों की वाचकता सिद्ध होने लगेगी, जो कि आपको भी इष्ट नहीं है। अतः प्रकृति की ही संख्याविशिष्टस्वार्थ में लक्षणा माननी चाहिए न कि विभक्ति का अर्थ संख्या है इस बात को। इस प्रकार गदाधर भट्टाचार्य ने संख्या को विभक्त्यर्थ मानने में प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव की कल्पना करने में गौरव दिखाकर यह सिद्ध किया कि प्रकृति की ही संख्याविशिष्ट अर्थ में लक्षणा माननी चाहिए तथा सु आदि विभक्तियों को साधुत्वार्थ। इस प्रसङ्ग में व्युत्पत्तिवाद के मूर्धन्य व्याख्याकार जिनकी व्याख्या को आज प्रमाण के रूप में माना जाता है स्व. धर्मदत्तबच्चा झाजी ने जो इदन्तु चिन्त्यते से कहा है उसका तात्पर्य प्रसङ्गवश लिखना आवश्यक जानकर लिखा जा रहा है - शक्तिग्राहक व्याकरण-कोष आदि प्रमाण शब्दविशेष की अर्थ विशेष में शक्ति का निश्चय कराते हैं। उस शक्ति के निश्चय कराने में शक्ततावच्छेदक और शक्यतावच्छेदक के लाघव-गौरव का विचार करना आवश्यक होता है क्योंकि अस्मात्पदाद् अयमर्थो बोद्धव्यः या घटपदाद् घटो बोद्धव्यः इस शक्ति के शरीर में शक्ततावच्छेदक घटपदत्व और शक्यतावच्छेदक घटत्व का प्रवेश होता है। क्योंकि शब्दार्थसम्बन्धरूप वृत्ति (शक्ति-लक्षणा) की कल्पना पद से पदार्थ की उपस्थिति के लिए की गयी है, इसलिए शक्तिकल्पना का फल है पदार्थोपस्थिति। इस प्रकार शक्ति कल्पना की उपस्थिति अन्तरङ्ग होने से उपस्थिति के विषय रूप में शक्यतावच्छेदक तथा शक्ततावच्छेदक का शक्तिग्रह के समय उपस्थित होना ध्रुव है। अतः उनके लाघव-गौरव का ज्ञान आवश्यक है अपेक्षित

है। अन्य प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभाव आदि, शब्दविशेष के शक्तिग्रह के समय अनुपस्थित रहते है। अतः उनके लाघव गौरव का विचार उस समय अनावश्यक होता है। क्योंकि उनके लाघव-गौरव का ज्ञान शक्तिग्रह के लिए अपेक्षित नहीं होता। इसलिए घट पद की शक्ति का ग्रह कहाँ माना जाए घटत्व में या कार्यान्वित घट में? इसका विचार करते समय ही अवाप और उद्वाप के द्वारा कार्यान्वित घटत्व में शक्तिग्रह होने पर भी कार्यान्वित घटत्व को शक्यतावच्छेदक मानने में गौरव होने से ही उसका त्याग कर केवल घटत्व में घट पद की शक्ति मानी जाती है न कि प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभाव के कल्पना गौरव आदि के कारण।

इस प्रकार जब व्याकरण कोष आदि के द्वारा शक्ति का ज्ञान हो जाए और लाघव गौरव विचारपूर्वक अर्थ विशेष में पद विशेष की शक्ति व्यवस्थित हो जाती है तो पश्चात् यदि प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव आदि के कारण किसी प्रकार उस शक्तिज्ञान में गौरव ज्ञान हो भी जाए तो उपर्युक्त गौरवज्ञान का विषय शक्तिज्ञानरूप फल मुखगौरव होने से उपर्युक्त गौरव ज्ञान अकिञ्चित्कर ही होता है। इसी प्रकार व्यवस्थित शक्ति के विषय में यदि लाघव ज्ञान हो जाए तो वह लाघव ज्ञान उपर्युक्त शक्तिज्ञान को पुष्ट करता है। क्योंकि पदविशेष की शक्ति के अर्थ विशेष में व्यवस्थित हो जाने पर, पश्चात् हजारों तर्क भी उस शक्ति को उस अर्थ से हटाने में तो असमर्थ ही होते हैं। जैसे अनन्त प्रागभाव ध्वंस आदि की कल्पना का गौरव होने पर भी इस गौरव ज्ञान से शब्द नित्य तो नहीं हो जाते। अतः पश्चात् होने वाला भी गौरव ज्ञान अकिञ्चित्कर ही होता है।

इस प्रकार घट आनीयताम् पट आनीयताम्; घटौ आनय पटौ आनय, तण्डुलान् पच यवान् पच तण्डुलैः ब्राह्मणान् भोजय यवैः ब्राह्मणान् भोजय इस तरह के आवाप उद्वाप रूप व्यवहार से, द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने, बहुषु बहुवचनम्, कर्मणि द्वितीया, कर्तृकरणयोस्तृतीया इत्यादि पाणिनीय सूत्रों से तथा कोश आदि के द्वारा उपस्थिति के कार्यकारणभाव के ज्ञानं में अर्थ विशेष में पदविशेष की शक्ति मानने में शक्ततावच्छेदक लघु होगा" ऐसा लाघव ज्ञान होने से जब घट आदि प्रातिपदिक की घट आदि अर्थों में, सु आदि एकवचन की एकत्व आदि अर्थ में, अम् आदि द्वितीया विभक्ति की कर्मत्व आदि अर्थ में, शक्ति रहती है यह बात व्यवस्थित हो गयी तो पश्चात् प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभाव की कल्पना का गौरव होने पर भी वह गौरव ज्ञान उपर्युक्त अर्थ विशेष से शक्ति को हटाने में असमर्थ होने से अकिञ्चित्कर ही है। अतः शक्ततावच्छेदक के लघु होने से संख्या अर्थ की शक्ति अनन्त प्रकृति में न मानकर सु औ जस् इन तीन प्रथमा विभक्ति में मानना ही उचित है। यदि उपर्युक्त रीति से प्रथमा समभिव्याहृत घट आदि प्रातिपदिक का एकत्व आदि संख्या विशिष्ट घट आदि अर्थ मानकर प्रथमा विभक्ति को

साधुत्वमात्रार्थक या द्योतकमात्र माना जाए तब तो द्वितीयासमभिव्याहृत घट पद का ही कर्मत्व विशिष्ट घट अर्थ मान लेंगें। इस प्रकार तो सभी विभक्तियाँ व्यर्थ (साधुत्वार्थक) होने लगेंगी। अतः उपर्युक्त शक्ततावच्छेदक के लघु होने के कारण प्रथमा विभक्ति की ही संख्या अर्थ में शक्ति माननी चाहिए। पश्चात् प्रतिवध्य प्रतिबन्धकभाव की कल्पना में गौरव होने पर भी वह गौरवज्ञान अकिञ्चित्कर ही होगा। इसलिए संख्याविशिष्ट घट आदि अर्थ में प्रातिपदिक की लक्षणा मानने की बात जो भट्टाचार्य जी ने इदं पुनरिहावधेयम् प्रतीक से कही है। वह चिन्तनीय ही है।

संख्यायाश्च प्रकृत्यर्थे पर्याप्तिसम्बन्धेनैव विशेषणत्वं, न तु समवायादिना। तथासति एकव्यक्तिबोधपरादाकाशशब्दादपि द्विवचनबहुवचनाद्यापत्तेः। तत्तदर्थयोर्द्वित्वबहुत्वयोः समवायादिना आकाशाद्यन्वययोग्यत्वात्। न च पर्याप्तेः संसर्गत्वेऽपि तद्दोषतादवस्थ्यम्, घटाकाशादौ द्वित्वादेः पर्याप्तिसत्वे प्रत्येकमाकाशादौ तत् पर्याप्तिर्नास्ति इति वक्तुमशक्यत्वात्, प्रत्येकस्योभयानतिरिक्तत्वादिति वाच्यम्। उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यत्वविशिष्टपर्याप्तेरेवसंसर्गतोपगमात्। आकाशत्वा-दिव्याप्यताया द्वित्वादिपर्याप्तावसत्वेनातिप्रसङ्गविरहात्॥

प्रकृत्यर्थ में संख्या पर्याप्ति सम्बन्ध से ही विशेषण होती है, न कि समवाय आदि सम्बन्ध से। क्योंकि यदि समवाय सम्बन्ध से संख्या को प्रकृत्यर्थ में विशेषण माना जाएगा, तो जहाँ एक आकाश व्यक्ति का बोध कराने के तात्पर्य से "आकाश" पद का उच्चारण किया गया है, ऐसे एक व्यक्तिबोधपरक आकाश शब्द से भी द्विवचन = औ बहुवचन = जस् आदि विभक्तियाँ आने लगेगीं। क्योंकि घटाकाशौ यहाँ पर द्विवचन = औ के अर्थ द्वित्व का अन्वय समवाय सम्बन्ध से आकाश में तथा घटपटाकाशाः यहाँ पर बहुवचन = जस् के अर्थ बहुत्व का अन्वय समवाय सम्बन्ध से आकाश में होता है। इस प्रकार द्विवचन के अर्थ द्वित्व का तथा बहुवचन = जस् के अर्थ बहुत्व को समवाय सम्बन्ध से आकाश में अन्वित होने की योग्यता होने से एकव्यक्तिबोधपरकआकाश पद से भी द्विवचन बहुवचन विभक्तियों के आने की आपत्ति आएगी। अतः प्रत्ययार्थ संख्या का प्रकृत्यर्थ में पर्याप्ति सम्बन्ध से ही अन्वय मानना चाहिए। इस पर प्रश्न यह उठता है कि जो आपत्ति समवाय सम्बन्ध से संख्या को विशेषण मानने में भट्टाचार्य ने दिया है वह आपत्ति तो पर्याप्ति सम्बन्ध से भी संख्या को प्रकृत्यर्थ में विशेषण मानने पर हो सकती है। क्योंकि "घटाकाशौ" यहाँ पर यदि द्वित्व की पर्याप्ति घट और आकाश दोनों में है, तो वह पर्याप्ति आकाश में नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते।

अर्थात् पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व यदि घट और आकाश दोनों में रह सकता है तो वह आकाश में नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उभय = दोनों, प्रत्येक से अतिरिक्त नहीं होता है। अर्थात् घट और आकाश इन दोनों में रहने वाला उभयत्व, इन घटाकाश समुदाय के घटक प्रत्येक घट और आकाश में भी रहता है क्योंकि यहाँ घट और आकाश के अतिरिक्त कोई उभय नहीं है। घट और आकाश ही तो उभय है। अतः उभय में रहने वाला विशेषण उभय घटक प्रत्येक में भी अवश्य रहता है। "घटपटौ न घटः" ऐसी प्रतीति किसी को नहीं होती। ऐसी स्थिति में यदि द्वित्व की पर्याप्ति घटाकाशोभय में है तो अलग-अलग घट और आकाश में भी है। इस प्रकार पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व का विशेषण रूप से प्रकृत्यर्थ में अन्वित होने की योग्यता होने से एक व्यक्तिबोधपरक आकाश पद से द्विवचन वहुवचन विभक्तियों के आने की आपत्ति तो रहेगी ही। पुनः पर्याप्ति सम्बन्ध से ही संख्या को विशेषण क्यों कहा गया? भट्टाचार्य इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि हम शुद्ध पर्याप्ति को केवल सम्बन्ध नहीं मानते, अपितु उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यत्वविशिष्ट पर्याप्ति को ही सम्बन्ध माना जाता है। इस प्रकार घटाकाशौ में जो द्वित्व की पर्याप्ति घट या आकाश में रहती है वह शुद्ध पर्याप्ति नहीं है अपितु उद्देश्यतावच्छेदक = घटाकाशोभयत्व व्याप्य पर्याप्ति है। यहाँ उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यत्वविशिष्टपर्याप्ति का तात्पर्य यह है कि इस विशिष्ट सम्बन्ध रूप पर्याप्ति में दो अंश हैं। एक है उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यत्व और दूसरा है पर्याप्ति। इनमें उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यत्व है विशेषण और पर्याप्ति है विशेष्य। एवंञ्च घटाकाशौ में जो द्वित्व की पर्याप्ति रहती है वह उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यत्व रूप विशेषण से विशिष्ट है। क्योंकि वहाँ घट और आकाश इस उभय को उद्देश्य करके द्वित्व को विशेषण बनाया जाता है। इसलिए यहाँ उद्देश्यता रहेगी घटाकाशोभय में, उद्देश्यतावच्छेदक होगा घटाकाशोभयत्व अर्थात् उभयत्व। इस उभयत्वरूप उद्देश्यतावच्छेदक की व्याप्यता द्वित्वपर्याप्ति में रहती है। क्योंकि यत्र-यत्र द्वित्वपर्याप्तिः तत्र-तत्र उभयत्वम् ऐसा व्याप्तिज्ञान तो होता ही है। इस प्रकार उद्देश्यतावच्छेदक उभयत्वव्याप्यत्व रूप विशेषण द्वित्व की पर्याप्ति में रहने से घटाकाशौ में उद्देश्यतावच्छेदक (उभयत्व) विशिष्ट पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व का अन्वय घटाकाशोभय में तो होगा परन्तु उभयघटक प्रत्येक में अर्थात् घट में या आकाश में नहीं होगा। क्योंकि घट में यदि पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व का अन्वय करोगे तो उद्देश्यतावच्छेदक घटत्व होगा और घटत्वरूप उद्देश्यतावच्छेदक की व्याप्यता द्वित्वपर्याप्ति में नहीं रहती। इसी प्रकार आकाश में पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व का अन्वय करने पर उद्देश्यतावच्छेदक होगा आकाशत्व, उस आकाशत्व रूप उद्देश्यतावच्छेदक की व्याप्यता द्वित्व पर्याप्ति में नहीं रहती। अतः उद्देश्यतावच्छेदक आकाशत्वव्याप्यत्वविशिष्ट पर्याप्ति

सम्वन्ध से द्वित्व का अन्वय एक व्यक्तिबोधपरक आकाश पद के अर्थ में नहीं हो सकने के कारण एक व्यक्ति बोधपरक आकाश पद से द्विवचन औ विभक्ति नहीं आ सकती। इसी प्रकार बहुवचन के सम्वन्ध में भी समझना चाहिए। समवाय सम्बन्ध से यदि संख्या को विशेषण माना जाए, तो उपर्युक्त आपत्ति होगी ही। अतः भट्टाचार्य ने पर्याप्ति सम्बन्ध से ही संख्या को विशेषण मानना चाहिए ऐसा कहा है।

वैशिष्ट्यञ्च वैज्ञानिकं न तु वास्तवम्। तेन यत्र योग्यताभ्रमजन्य-आकाशावित्यादिवाक्यजन्यद्वित्वादिप्रकारकाकाशबोधस्तत्र विशिष्टसंसर्गाप्रसिद्धावपि न क्षतिः। द्वित्वादिपर्याप्तावन्यत्रप्रसिद्धस्याकाशत्वादिव्याप्यत्वस्य भ्रान्तेस्तत्रोपगमात्। सम्बन्धतावच्छेदकांशे प्रकारतायां भ्रमस्य सर्वानुभवसिद्धत्वेऽपि व्याप्यत्वांशे भ्रमत्वस्यान्यत्रोपपादितत्वात्

अब प्रश्न यहाँ यह उठता है कि - यदि उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यत्वविशिष्ट पर्याप्ति सम्बन्ध से ही संख्या का अन्वय प्रकृत्यर्थ में होगा तो एक व्यक्ति का बोध कराने के उद्देश्य से आकाशौ यह प्रयोग नहीं होगा। परन्तु यदि किसी को योग्यताभ्रम के कारण "आकाशौ" इस वाक्य से भी द्वित्व प्रकारक आकाशविशेष्यकशाब्दबोध होता है तो वहाँ के द्वित्व का अन्वय आकाश में कैसे होता है? क्योंकि वहाँ तो उद्देश्यतावच्छेदक है आकाशत्व और आकाशत्व व्याप्यत्व द्वित्वपर्याप्ति में रहती नहीं। भट्टाचार्य इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए कहते हैं - वैशिष्ट्यं च वैज्ञानिकं न तु वास्तवम्। अर्थात् उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यत्व रूप विशेशण का विशेष्यरूपद्वित्वपर्याप्ति में वास्तविक रूप से रहना अपेक्षित नहीं है, अपितु उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यत्व का द्वित्वपर्याप्ति में, विशेषण रूप से ज्ञान होना अपेक्षित है। अर्थात् पर्याप्ति उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यत्व प्रकारक भले ही न हो परन्तु उसका ज्ञान उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यत्वप्रकारकत्वेन होना चाहिए। लोक में देखा जाता है कि - अन्यत्र विशेषण (प्रकार) रूप से जिसका रहना प्रसिद्ध है, उसकी अन्यत्र विशेषण रूप से कभी-कभी प्रतीति होती है। जैसे - रजतत्व का विशेषण रूप से रजत में रहना प्रसिद्ध है, तथापि कभी-कभी उस रजतत्व की विशेषण रूप से शुक्ति में भी प्रतीति होती है। तभी शुक्ति के विषय में "इदं रजतम्" ऐसा भ्रमात्मक ज्ञान होता है। इसी प्रकार शब्द आदि में उद्देश्यतावच्छेदक = आकाशत्व व्याप्यत्व प्रसिद्ध है। क्योंकि आकाश विभु पदार्थ (द्रव्य) है और शब्द का समवायिकारण है जबकि शब्द व्याप्यपदार्थ (गुण) है। इस तरह शब्द में आकाशत्व व्याप्यता सिद्ध है। क्योंकि शब्द बिना आकाश के तो होगा नहीं। अतः यत्र-यत्र शब्दः, तत्र-तत्र आकाश यह अन्वय व्याप्ति तो है ही साथ ही यत्र-यत्र आकाशाभावः तत्र-तत्र शब्दाभावः यह व्यतिरेक व्याप्ति भी है। इस तरह

आकाशत्वव्याप्यत्व शब्द आदि में प्रसिद्ध है। उस शब्द में रहने वाले आकाशत्वव्याप्यत्व का प्रकार रूप से द्वित्वपर्याप्ति में रहने की प्रतीति (भ्रम) तो हो ही सकती है। इस प्रकार योग्यताभ्रम के कारण जहाँ "आकाशौ" पद से द्वित्वप्रकारक आकाशविशेष्यक बोध होता है वहाँ भी द्वित्वपर्याप्ति के उद्देश्यतावच्छेदक आकाशत्वप्रकारकत्वेन ज्ञायमान होने से, द्वित्वपर्याप्तिरूप सम्बन्ध उद्देश्यतावच्छेदक = आकाशत्वव्याप्यत्व विशिष्ट है ही, तो इस विशिष्ट पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व का अन्वय प्रकृत्यर्थ = आकाश में होना उपपन्न होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि - उपर्युक्त द्वित्वपर्याप्ति रूप संसर्ग में रहने वाली संसर्गता का अवच्छेदक = आकाशत्वव्याप्यत्व, अंश में यदि प्रकारता मानी जाए तो प्रकारता में भ्रम होना तो सर्वानुभव सिद्ध है। क्योंकि भ्रम का लक्षण है - तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं भ्रमः जैसे रजतत्वाभाववान् शुक्ति में, तत्प्रकारक = अर्थात् रजतत्व प्रकारक ज्ञान "इदं रजतम्" ऐसा ज्ञान होता है। यहाँ पर रजतत्व में वस्तुतः प्रकारता है ही नहीं तथापि चाकचिक्यवशात् उसमें प्रकारता का भ्रमात्मक ज्ञान होता है। परन्तु प्रकृत स्थल में आकाशव्याप्यत्व अंश में तो प्रकारता ही नहीं है, पुनः उसके ज्ञान को भ्रम कैसे माना जा सकता है। क्योंकि संसर्ग प्रकार विशेष्य भाव से घटित नहीं होता अपितु विशेषण विशेष्यभाव से घटित होता है। प्रकृति में द्वित्वपर्याप्ति का विशेषण है आकाशत्व व्याप्यत्व, न कि प्रकार। जब कि भ्रम प्रकारत्व धटित होता है 'तदभाववतितत्प्रकारकं' भ्रमः। इस प्रकार शब्द आदि में प्रसिद्ध आकाशत्व व्याप्यत्व का ज्ञान भले ही द्वित्वपर्याप्ति में होवे, परन्तु उस आकाशत्व व्याप्यत्व ज्ञान को भ्रम कैसे कह सकते हैं? भट्टाचार्य इसी प्रश्न को ध्यान में रखकर कहते हैं व्याप्यत्वांशे भ्रमत्वस्यान्यत्रोपपादितत्वात्। तात्पर्य यह है कि जैसे भ्रमज्ञान प्रकारता विशेष्यता से घटित होता है वैसे ही विशेषणता विशेष्यता से भी घटित होता है। यह बात अन्यत्र उपपादित है। कहाँ और कैसे? इसका कथन सम्प्रति नहीं किया जा रहा है व्याख्या के विस्तृत हो जाने के भय से। अस्तु। तात्पर्य यह है कि विशेषण - विशेष्यभाव घटित भी जब भ्रमात्मक ज्ञान होता है तो प्रकृत में भी आकाशत्व व्याप्यत्व में भले ही विशेषणता रहे, उसके ज्ञान को भी भ्रम कहा जा सकता है।

न च प्रकृत्यर्थतावच्छेदक एव व्यापकत्तासम्बन्धेन द्वित्वान्वयधीः किं नोपेयत इति वाच्यम्। घटावित्यादौ घटत्वादीनां स्वरूपत एवोपस्थिततया तत्रोक्तान्वयबोधस्यासंभवात्। स्वव्यापकीभूतोद्देश्यता-वच्छेदकवत्त्वरूपपरम्पराया एव प्रकृत्यर्थे द्वित्वादेः सम्बन्धतास्वीकारे च व्यापकतारूपसम्बन्धतावच्छेदकांशे भ्रमत्वस्यावश्यकतया उद्देश्यतावच्छेदक-व्याप्यत्वविशिष्टपर्याप्तेः सम्बन्धतोपेक्षाया निर्वीजत्वात्।

संख्यान्वय के विषय में कोई कहता है कि - प्रकृत्यर्थ में पर्याप्ति सम्बन्ध से संख्या का अन्वय मानने में ऊपर उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यत्व का निवेश करना पड़ता है। इसकी अपेक्षा - व्यापकतासम्बन्ध से प्रकृत्यर्थतावच्छेदक में ही द्वित्व (संख्या) का अन्वय क्यों न मान लिया जाए। कहने वाले का तात्पर्य यहाँ है कि ऊपर पर्याप्तिसम्बन्ध से द्वित्व का अन्वय जब करते थे, तो द्वित्व में उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्यत्व का निवेश करते थे। इससे इतना तो निश्चित हो गया कि उद्देश्यतावच्छेदक = प्रकृत्यर्थतावच्छेदक में द्वित्व का व्यापकत्व है, तो इसी व्यापकता सम्बन्ध से द्वित्व का अन्वय व्यापक = प्रकृत्यर्थतावच्छेदक = घटत्व आदि में कर देंगे। आकाशत्व रूप प्रकृत्यर्थतावच्छेदक में द्वित्व की व्यापकता नहीं है। अतः व्यापकतासम्बन्ध से प्रकृत्यर्थतावच्छेदक = आकाशत्व में द्वित्व का अन्वय न हो पाने से निर्भ्रान्त "आकाशौ" यह प्रयोग नहीं होता। योग्यताभ्रम स्थल में तो जैसे द्वित्व में, अन्यत्र प्रसिद्ध आकाशत्वव्याप्य की प्रतीति होना मानकर "आकाशौ" प्रयोग की उपपत्ति करते हैं वैसे ही अन्यत्र प्रसिद्ध द्वित्व व्याकपत्व की प्रतीति प्रकृत्यर्थतावच्छेदक = आकाशत्व में मान कर हो ही जाएगी। इस प्रकार व्यापकता सम्बन्ध से प्रकृत्यर्थतावच्छेदक में ही क्यों न द्वित्व का अन्वय मान लिया जाए। इसके लिए पर्याप्ति सम्बन्ध से प्रकृत्यर्थ में द्वित्वान्वय क्यों माना जाए? इस प्रश्न का समाधान करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं कि - घटावित्यादि। अर्थात् घटौ यहाँ पर प्रकृत्यर्थतावच्छेदक घटत्व आदि की स्वरूपतः उपस्थिति होती है, न कि अन्वयितावच्छेदक रूप से। जबकि नियम है कि एक पदार्थ का उसी दूसरे पदार्थ में अन्वय होता है, जिसकी अन्वयितावच्छेदक रूप से उपस्थिति हुई हो। जैसे प्रकृत में घट पद से घटरूप अर्थ की उपस्थिति घटत्व रूप अन्वयितावच्छेदकेन होती है। अतः घट पदार्थ में तो द्वित्व आदि पदार्थान्तर का अन्वय हो सकता है, परन्तु प्रकृत्यर्थतावच्छेदक घटत्व में पदार्थान्तर द्वित्व का अन्वय नहीं हो सकता। क्योंकि यहाँ घट पद से घटत्व की उपस्थिति अन्वयितावच्छेदक घटत्वत्वेन नहीं हो रही है अपितु स्वरूपतः हो रही है। इस प्रकार व्यापकता सम्बन्ध से प्रकृत्यर्थतावच्छेदक में द्वित्व संख्या का अन्वय नहीं हो सकता। अतः पर्याप्ति सम्बन्ध से प्रकृत्यर्थ में ही संख्या का अन्वय मानना चाहिए। इस पर कोई पुनः प्रश्न करता है कि - यदि प्रकृति के अर्थ में ही संख्या का अन्वय करना आवश्यक है, तो "स्वव्यापकीभूत उद्देश्यतावच्छेदकवत्त्व" रूप परम्परा सम्बन्ध से ही करिये। पर्याप्ति सम्बन्ध से क्यों? समन्वय इस प्रकार होगा - उपर्युक्त परम्परा सम्बन्ध - स्वव्यापकोद्देश्यतावच्छेदकवत्त्व में आए स्व शब्द से संख्या को लेंगें, उसका व्यापक जो उद्देश्यतावच्छेदक वह है घटत्व, तद्वान् होगा घट। इस प्रकार घटौ इत्यादि स्थल में द्वित्व संख्या का अन्वय उपर्युक्त

स्वव्यापकोद्देश्यतावच्छेदकवत्त्व" सम्बन्ध से, प्रकृत्यर्थ घट में हो ही जाएगा। इसके लिए यहाँ पर्याप्ति सम्बन्ध को क्यों मानना? भट्टाचार्य इस प्रश्न का समाधान यह करते हैं कि - प्रकृत्यर्थ में संख्या का अन्वय मेरे द्वारा प्रदर्शित उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्यत्वविशिष्टपर्याप्ति सम्बन्ध से नहीं करके उसकी उपेक्षा करके "स्वव्यापकोद्देश्यतावच्छेदकवत्त्व सम्बन्ध से करने में कोई लाघव आदि बीज तो है नहीं। क्योंकि जैसे पर्याप्ति को सम्बन्ध मानने पर योग्यता भ्रम से हुए "आकाशौ" आदि प्रयोग की उपपत्ति के लिए उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्यत्व का भ्रम द्वित्वपर्याप्ति में मानना पड़ता है वैसे ही स्वव्यापकीभूतोद्देश्यतावच्छेदकवत्त्व रूप परम्परा सम्बन्ध मानने पर भी स्वं = द्वित्व संख्या, का व्यापकत्व उद्देश्यतावच्छेदक = आकाशत्व में नहीं होने से, इस पक्ष में भी सम्बन्धतावच्छेदकव्यापकता अंश में भ्रमत्व मानना ही पड़ेगा। अर्थात् अन्यत्र प्रसिद्ध द्वित्वव्यापकत्व की प्रतीति उद्देश्यतावच्छेदक आकाशत्व में माननी ही पड़ेगी। पुनः इस परम्परा सम्बन्ध को मानकर उपर्युक्त उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्यत्वविशिष्टपर्याप्ति की सम्बन्धता की उपेक्षा में कोई बीज न होने से आपका इस परम्परा सम्बन्ध से संख्या का प्रकृत्यर्थ में अन्वय करना उचित नहीं।

अथाऽत्र व्याप्तिर्व्यापकसामानाधिकरण्यरूपैत्र वाच्या, न तु तद्वदन्यावृत्तित्वरूपा, केवलान्वयिधर्मस्य प्रकृत्यर्थतावच्छेदकता यत्र तत्राप्रसिद्धेः। एवं चोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्तिविशिष्टपर्याप्त्यपेक्षया लघोः स्वव्यापकतादृशधर्मवत्त्वस्यैव सम्बन्धत्वमुचितमिति चेत् तर्हि आकाशो न द्वावित्यादिवाक्यजन्यशाब्दबोधदशायामपि आकाशावित्यादिवाक्याद् द्वित्वबोधापत्तिः। तथाहि आकाशो न द्वावित्यादितो द्वित्वावच्छिन्नभेदः प्रतीयते। स च न स्वव्यापकाकाशत्ववत्त्वादिसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकताकः। तादृशसम्बन्धेन द्वित्ववतोऽप्रसिद्धेः। अपितु पर्याप्तिसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकताकः एव, तत्काले च पर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्वविशिष्ट बुद्धिरेवप्रतिबध्यते न तूक्तपरम्परासम्बन्धेन तद्विशिष्टबुद्धिरपीति।

भट्टाचार्य जी ने ऊपर कहा है कि उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यत्वविशिष्टपर्याप्ति सम्बन्ध की उपेक्षा करने में कोई लाघव आदि बीज न होने से उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए अर्थात् स्वव्यापकोद्देश्यतावच्छेदकवत्त्व सम्बन्ध से संख्या का अन्वय प्रकृत्यर्थ में नहीं मानना चाहिए। पूर्वपक्षी प्रकृत ग्रन्थ के द्वारा उपर्युक्त विशिष्टपर्याप्ति सम्बन्ध में गौरव तथा अपने स्वव्यापक इत्यादि परम्परा सम्बन्ध में लाघव दिखाते हुए अथाऽत्र इत्यादि ग्रन्थ से कहता है कि -

उपर्युक्त उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यत्वविशिष्टपर्याप्ति सम्बन्ध में आये व्याप्य का अर्थ है व्याप्ति का आश्रय; क्योंकि जिसमें व्याप्ति रहती है वह व्याप्य कहलाता है। एवञ्च यहाँ जो व्याप्ति पद है उसका अर्थ व्यापकसामानाधिकरण्यरूपा ही व्याप्ति लेना होगा, न कि तद्वदन्यावृत्तित्वरूपा। क्योंकि यदि यहाँ तद्वदन्यावृत्तित्वरूपा व्याप्ति लेंगें तो सम्बन्ध का स्वरूप होगा - उद्देश्यतावच्छेदकवदन्यावृत्ति पर्याप्ति। एवञ्च "प्रमेयौ" यहाँ पर उद्देश्यतावच्छेदक है प्रमेयत्व, तद्वदन्य अर्थात् प्रमेयत्ववदन्य ही अप्रसिद्ध है। क्योंकि प्रमेयत्व केवलान्वयिधर्म अर्थात् ऐसा कोई पदार्थ नहीं होता जिसमें प्रमेयत्व नहीं रहता है। इस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थ मात्र प्रमेयत्ववत् ही होगा। तदन्यत्व अर्थात् तद्भिन्नत्व तो कहीं रहता ही नहीं। इस प्रकार उपर्युक्त सम्बन्ध घटक उद्देश्यतावच्छेदकवदन्यत्व के अप्रसिद्ध होने से पूरा सम्बन्ध ही अप्रसिद्ध हो जाएगा। अतः यहाँ व्याप्ति व्यापकसामानाधिकरण्यरूपा ही माननी पड़ेगी। एवञ्च सम्बन्ध का स्वरूप होगा "उद्देश्यतावच्छेदक रूपंव्यापकसमानाधिकरण्यपर्याप्ति" अर्थात् उद्देश्यतावच्छेदकवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मावच्छिन्नपर्याप्ति। ऐसे वृहत् स्वरूप वाले पर्याप्ति सम्बन्ध की अपेक्षा स्वव्यापकोद्देश्यतावच्छेदकवत्त्व रूप लघु परम्परा सम्बन्ध से ही द्वित्व आदि संख्या का प्रकृत्यर्थ में अन्वय मानना उचित है। भट्टाचार्य पूर्वपक्षी के इस प्रश्न का समाधान तर्हि इत्यादि से करते हैं। तात्पर्य यह है कि - यदि उपर्युक्त स्वव्यापकोद्देश्यतावच्छेदकवत्त्व सम्बन्ध से द्वित्व का प्रकृत्यर्थ में अन्वय माना जाएगा तो जिस समय "आकाशो न द्वौ" इस वाक्य से शाब्दबोध हो रहा है उसी समय "आकाशौ" इस वाक्य से भी द्वित्वप्रकारक शाब्दबोध होने लगेगा। इस बात को भट्टाचार्य स्वयं तथाहि से स्पष्ट करते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि - यदि उक्त परम्परा सम्बन्ध से द्वित्व का अन्वय प्रकृत्यर्थ में माना जाए तो - "आकाशो न द्वौ" इस वाक्य से - आकाश में द्वित्वावच्छिन्न का जो भेद (अन्योन्याभाव) प्रतीत हो रहा है, उस भेद की प्रतियोगिता, उपर्युक्त स्वव्यापकोद्देश्यतावच्छेदक = आकाशत्ववत्त्व सम्बन्ध से तो अवच्छिन्न है नहीं। क्योंकि यह नियम है कि जिस सम्बन्ध से किसी वस्तु का कहीं रहना प्रसिद्ध हो उसी सम्बन्ध से उस वस्तु का अभाव कहीं रहता है। जैसे संयोग सम्बन्ध से घट का रहना भूतल में प्रसिद्ध है, तो संयोग सम्बन्ध से घट का अभाव भूतल में रह सकता है। प्रकृतस्थल में स्व = द्वित्व संख्या, तद्व्यापकोद्देश्यतावच्छेदक = आकाशत्व, अप्रसिद्ध है। क्योंकि आकाश तो एक है उसमें द्वित्व नहीं रहता। इस प्रकार उद्देश्यतावच्छेदक = आकाशत्व में स्वव्यापकत्व अर्थात् द्वित्वव्यापकत्व के अप्रसिद्ध होने से स्वव्यापकोद्देश्यतावच्छेदकवत्त्व सम्बन्ध = द्वित्वव्यापकाकाशत्ववत्त्व सम्बन्ध से, द्वित्ववान् ही जब अप्रसिद्ध है तो उस द्वित्वव्यापकोद्देश्यतावच्छेदक सम्बन्ध से द्वित्व का भेद (अभाव) भी कहीं नहीं रह

सकता तो भेद की प्रतियोगिता का अवच्छेदक उपर्युक्त स्वव्यापकोद्देश्यतावच्छेदकवत्त्व रूप परम्परा सम्बन्ध नहीं होगा। अतः प्रतियोगिता स्वव्यापकोद्देश्यतावच्छेदक आकाशत्ववत्व - रूप परम्परासम्बन्धावच्छिन्ना नहीं है" ऐसा कहा गया। अपितु उपर्युक्त "आकाशो न द्वौ से प्रतीत होने वाला द्वित्व भेद की प्रतियोगिता आकाशत्वत्व्याप्यत्वविशिष्टपर्याप्ति सम्बन्धावच्छिन्न ही है। क्योंकि इस पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व का रहना प्रसिद्ध है अर्थात् इस सम्बन्ध से द्वित्ववान् प्रसिद्ध है। इस प्रकार जब यह बात सिद्ध हो गयी कि आकाशो न द्वौ में प्रतीत होने वाले द्वित्वावच्छिन्न भेद की प्रतियोगिता उपर्युक्त विशिष्ट पर्याप्ति सम्बन्ध से ही अवच्छिन्न है न कि स्वव्यापक आदि परम्परा सम्बन्ध से। तो जिस समय उपर्युक्त सम्बन्ध से आकाश में द्वित्वावच्छिन्न द्वित्व के भेद (अभाव) का ज्ञान होगा उसी समय "आकाशौ" इस वाक्य से आपके द्वारा स्वीकृत परम्परा सम्बन्ध से आकाश में प्रकार रूप से द्वित्व की प्रतीति होने लगेगी। क्योंकि जैसे संयोगेन घटाभाववत्ता बुद्धि से संयोगेनघटवत्ता बुद्धि ही प्रतिबन्धित होती है, न कि समवायेन घटवत्ताबुद्धि भी। इसी तरह पर्याप्ति सम्बन्ध से आकाश में द्वित्वाभाववत्ता बुद्धि होने पर भी स्वव्यापकोद्देश्यतावच्छेदक आकाशत्ववत्त्व सम्बन्ध से द्वित्ववत्ता बुद्धि तो हो ही सकती है। क्योंकि उपर्युक्त पर्याप्ति सम्बन्ध से होने वाली द्वित्वाभाववत्ताबुद्धि के द्वारा पर्याप्ति सम्बन्ध से ही होने वाली द्वित्ववत्ता बुद्धि प्रतिबन्धित होगी, न कि स्वव्यापकाकाशत्ववत्ता सम्बन्ध से होने वाली द्वित्ववत्ता बुद्धि भी। इस प्रकार एक ही समय में आकाश में सम्बन्ध भेद के कारण द्वित्वाभाव और द्वित्व दोनों विरूद्ध धर्म की प्रतीति होने की आपत्ति आएगी। अतः संख्या का अन्वय पर्याप्ति सम्बन्ध से ही मानना चाहिए।

अथाकाशो न द्वावित्यादितः केवलपर्याप्तिसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगितावच्छेदकताकभेदो यत्र बोधयितुं न शक्यते। आकाशेऽप्युक्तयुक्त्या द्वित्वपर्याप्तेःसत्त्वेन तत्र तेन सम्बन्धेन; तद्वद्भेदस्य बोधयितुमशक्यत्वात्। आकाशत्वव्याप्यपर्याप्तिसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता-वच्छेदकताकद्वित्वादिमद्भेदश्चाप्रसिद्ध एवेति चेत्। न, द्वित्वादि-पर्याप्तेरुभयादिवृत्तिधर्मेणैवावच्छेदात्। तदनवच्छेदकैकमात्रवृत्तिधर्मावच्छेदेन-तद्वद्भेदस्य तेन सम्बन्धेन द्वित्वादिमद्भेदस्य च तद्वतिवृत्तौ बाधकाभावात्॥

भट्टाचार्य ने पर्याप्ति सम्बन्ध से संख्या का अन्वय प्रकृत्यर्थ में करना चाहिए इस बात को सिद्ध करने के प्रसङ्ग में अभी-अभी ऊपर जो कहा कि आकाशो न द्वौ इस वाक्य से पर्याप्ति सम्बन्धावच्छिन्न द्वित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक द्वित्ववान् का भेद आकाश में प्रतीत होता है। पूर्वपक्षी उसमें दो विकल्पों के

द्वारा दोष दिखाते हुए अथाऽत्र इत्यादि से कहता है कि - आकाशो न द्वौ इस वाक्य से शुद्ध पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्ववान् के भेद की प्रतीति नहीं मानी जा सकती। क्योंकि यह नियम है कि - प्रत्येकापर्याप्तस्य उभयापर्याप्तत्वम् अर्थात् उभयघटक प्रत्येक में अपर्याप्त, उभय में भी पर्याप्त नहीं होता। इसका अर्थ है कि उभय में पर्याप्त उभयघटक प्रत्येक में भी पर्याप्त होता है। ऐसी स्थिति में "घटाकाशौ" इस वाक्य से पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व की प्रतीति घटाकाशोभय में होती है अर्थात् द्वित्व घटाकाशोभय में पर्याप्त है। इसका अर्थ हुआ कि पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्ववान् = जैसे घटाकाशोभय है वैसे ही घटाकाशोभय घटक प्रत्येक घट और आकाश भी पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्ववान् हुआ। इस प्रकार पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्ववान्आकाश में आकाशो न द्वौ इस वाक्य से शुद्ध पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्ववान् का भेद कैसे प्रतीत हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। इस पर यदि कहें कि आकाशो न द्वौ में शुद्ध पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्ववान् का भेद प्रतीत न होता अपि तु आकाशत्वव्याप्यपर्याप्तिसम्बन्ध से। तो ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि यदि आकाशत्वव्याप्यपर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्ववान् होना प्रसिद्ध होता, तो तादृश पर्याप्तिसम्बन्ध से द्वित्ववान् के भेद की प्रतीति मानी जा सकती थी। परन्तु आकाशत्वव्याप्यपर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्ववान् ही अप्रसिद्ध है। क्योंकि द्वित्वपर्याप्ति में आकाशत्व व्याप्यत्व ही अप्रसिद्ध है। इस प्रकार आकाशत्वव्याप्य द्वित्वपर्याप्तिरूप सम्बन्ध के अप्रसिद्ध होने के कारण यह अप्रसिद्ध विशिष्टपर्याप्ति सम्बन्ध भेदीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं हो सकता। इसलिए आकाशत्वव्याप्यपर्याप्ति सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक द्वित्ववान् का भेद भी अप्रसिद्ध है। इस प्रकार "आकाशौ न द्वौ" इस वाक्य से न तो शुद्धपर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्वावच्छिन्न (द्वित्ववान्) के भेद की प्रतीति मान सकते और न ही आकाशत्वव्याप्यपर्याप्ति सम्बन्ध से। ऐसी स्थिति में जब यहाँ "द्वित्ववान् के भेद" की प्रतीति नहीं हो सकती, तो भट्टाचार्य ने जो दोष दिया था कि जिस समय उपर्युक्त वाक्य से "द्वित्ववान्" का भेद" प्रतीत होगा उसी समय "आकाशौ" इस वाक्य से द्वित्व की भी प्रतीति माननी पड़ेगी। वह दोष नहीं दिया जा सकता। क्योंकि "आकाशो न द्वौ" वाक्य से शुद्ध पर्याप्ति या विशिष्ट पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्ववान् के भेद की प्रतीति हो ही नहीं सकती। भट्टाचार्य; पूर्वपक्ष की इस आशङ्का का निवारण न इत्यादि से करते हुए कहते हैं कि - द्वित्व आदि की पर्याप्ति उभय (दो) में रहने वाले धर्म से ही अवच्छिन्न होती है। तात्पर्य यह है कि - "घटाकाशौ" यहाँ घटाकाशोभय में रहने वाली पर्याप्ति का अवच्छेदक घट और आकाश दोनों में रहने वाला द्वित्व या उभयत्व होता है। अतः वहाँ की पर्याप्ति; द्वित्वावच्छिन्न पर्याप्ति कही जाती है। इस प्रकार घटाकाशौ में रहने वाली

द्वित्व पर्याप्ति द्वित्वेन रहती है। अतः उपर्युक्त द्वित्वावच्छिन्न पर्याप्ति सम्बन्ध से घटाकाशोभय घटक प्रत्येक घट और आकाश भेले ही उभयत्वेन रूपेण द्वित्ववान् हो। परन्तु घटाकाशोभय में रहने वाली पर्याप्ति का जो धर्म अवच्छेदक नहीं है जैसे घटत्व और आकाशत्व, उस आकाशत्वेन रूपेण पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्ववान् का भेद, पर्याप्ति सम्बन्ध से उभयत्वेन रूपेण द्वित्ववान् आकाश में भी रह सकता है क्योंकि इसमें कोई बाधक नहीं है। तात्पर्य यह है कि - "घटाकाशौ" इस घटाकाशोभय घटक घट और आकाश में पर्याप्तिसम्बन्ध से भले ही द्वित्व रहता है परन्तु घटाकाशोभयत्वेन रूपेण; न कि घटत्वेन या आकाशत्वेन। इस प्रकार जैसे- घटाकाशोभयत्वेन रूपेण पर्याप्ति सम्बन्ध से घट और आकाश दोनों द्वित्ववान् हैं, उसी प्रकार आकाशत्वेन या घटत्वेन रूपेण पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्वाभाववान् भी हैं।

अतः "आकाशो न द्वौ" इस वाक्य से पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्ववान् के भेद की प्रतीति होना मानना ही चाहिए।

न चैवं घटपटौ न द्वौ इति प्रयोग आपद्येत। घटपटयोरपि प्रत्येकं द्वित्वावच्छिन्नभेदसत्त्वादिति वाच्यम्। द्विवचनाद्युपस्थापितद्वित्वावच्छेदेनैव द्वित्वावच्छिन्नभेदस्य बाधेन तादृशप्रयोगाभावोपपत्तेः। नञा व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकभेदश्च उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेनैव बोध्यत इति व्युत्पत्तेर्द्वित्वसामानाधिकरण्येन तदबाधस्याकिञ्चित्करत्वात्।

पूर्वपक्षी इस पर पुनः प्रश्न करता है कि - यदि घटाकाशौ यहाँ पर प्रत्येक घट और आकाश में उभयत्वेन रूपेण द्वित्व के रहने पर भी घटत्वेन घट में तथा आकाशत्वेन आकाश में द्वित्व का अभाव भी माना जाए तो "घटपटौ न द्वौ" इस प्रकार का प्रयोग भी होने लगेगा। क्योंकि घट और पट में पर्याप्ति सम्बन्ध से जो द्वित्व रहता है उसका अवच्छेदक रूप तो दोनों में रहने वाला उभयत्व ही है। इस प्रकार उभयत्वेन रूपेण घट और पट में पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व भले ही रहे, परन्तु उस पर्याप्ति के अनवच्छेदकरूप घटत्वेन और पटत्वेन अर्थात् घटत्वेन घट में तथा पटत्वेन पट में द्वित्ववान् के भेद की प्रतीति उपर्युक्त् "घटपटौ न द्वौ" इस वाक्य से माननी पड़ेगी?

भट्टाचार्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि - उपर्युक्त "घटपटौ न द्वौ" इस वाक्य में आये "घटपटौ" में जो द्विवचन = औ विभक्ति आयी है उसके द्वारा द्वित्व संख्या उपस्थित होती है, उसका अन्वय पर्याप्ति सम्बन्ध से घटपटोभयत्वेन घटपटोभय में होता है इस प्रकार घटपटोभय के द्वित्ववान् होने से तद्घटक प्रत्येक घट और पट भी घटपटोभयत्वेन रूपेण द्वित्ववान् है, तो उस प्रत्येक द्वित्ववान् घट और पट में नञ् द्वित्ववद्भेद कैसे बोध करा पाएगा। क्योंकि

जिस रूप में, जिस सम्बन्ध से जिस वस्तु में द्वित्व का रहना औ विभक्ति के द्वारा बोधित हो चुका है उसी रूप में, उसी सम्बन्ध से उसी वस्तु में द्वित्व का अभाव तो नहीं रह सकता। अतः "घटपटौ न द्वौ" ऐसे प्रयोग की आपत्ति नहीं दी जा सकती।

पूर्वपक्षी पुनः प्रश्न कर सकता है कि - "घटपटौ" में आये द्विवचन के द्वारा उपस्थापित द्वित्व का पर्याप्ति सम्बन्ध से घटपटोभयत्वेन घटपटोभय में तथा घट या पट में भले ही हो अर्थात् उभयत्वेन रूपेण प्रत्येक घट और पट पर्याप्ति सम्बन्ध से भले ही द्वित्ववान् होवे, परन्तु घटत्वेन घट तथा पटत्वेन पट तो द्वित्वाभाववान्. है ही तो उसमें नञ् के द्वारा "द्वित्ववद्भेद" का बोध तो हो ही सकता है। पुनः उपर्युक्त प्रयोग की आपत्ति तो रह ही गयी। ग्रन्थकार इसी प्रश्न को ध्यान में रखकर कहते हैं कि - नञा व्यासज्यवृत्ति इत्यादि। तात्पर्य यह है कि "नञ् के द्वारा, व्यासज्यवृत्ति धर्म = उभयत्व, द्वित्व, त्रित्व आदि धर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगितावाले भेद का बोध उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन्न ही कराया जाता है" ऐसी व्युत्पत्ति है नियम है। ऐसी स्थिति में "घटपटौ न द्वौ" इस वाक्य से, घटपट दोनों को उद्देश्य करके द्वित्ववान् के भेद (द्वित्ववद्भेद) का विधान किया जा रहा है। इस प्रकार यहाँ उद्देश्यतावच्छेदक होगा घटपटोभयत्व, उसको उद्देश्य करके द्वित्ववद्भेद का बोध बाधित है। क्योंकि घटपटोभयत्वेन रूपेण् घटपटोभय में द्वित्व रहता है इस बात का बोध तो घटपटौ में आयी औ विभक्ति करा चुकी है तो घटपटोभय में घटपटोभयत्वेन (उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदन) द्वित्व के अभाव का रहना बाधित है, तो नञ् के द्वारा यहाँ द्वित्ववद्भेद का बोध नहीं हो सकता है। हाँ यदि द्वित्वसामानाधिकरण्येन प्रत्येक घट पट में द्वित्वाभाव का रहना बाधित नहीं भी है तब भी, इस प्रकार के प्रयोग की आपत्ति नहीं है। तात्पर्य यह है समुदायापर्याप्तस्य प्रत्येकापर्याप्तत्वम् इस नियम के अनुसार "घटपटौ" में द्विवचन औ विभक्ति के द्वारा उपस्थापित द्वित्व, पर्याप्ति सम्बन्ध से यदि घटपटोभय में है तो प्रत्येक घट और पट में भी उभयत्वेन रूपेण है। इस प्रकार प्रत्येक घट तथा पट उभयत्वेन रूपेण द्वित्ववान् हैं और इनमें घटत्वेन तथा पटत्वेनद्वित्व का अभाव भी रहता है। इस प्रकार द्वित्वसामानाधिकरण्येन अर्थात् जिस घट और पट में घटपटोभयत्वेन रूपेण द्वित्व रहता है उसी घट में घटत्वेन तथा पट में पटत्वेन द्वित्व का अभाव भी रहता है। तथापि इस आधार पर "घटपटौ न द्वौ" ऐसे वाक्य प्रयोग की आपत्ति नहीं दी जा सकती। क्योंकि नञ् के द्वारा द्वित्वावच्छिन्न या उभयत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक द्वित्वभेद उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन अर्थात् घटपटोभयत्वेन ही कराया जा सकता है, जो कि यहाँ बाधित है।

न च घटत्वादेरतिप्रसक्ततया द्वित्वादिपर्याप्तेरनवच्छेदकत्वात् तदवच्छेदेन द्वित्ववद्भेदस्य भवतामप्यनुमतत्वात्, प्रकृत्यर्थगतैकत्वाविवक्षायां "घटो न द्वौ" इत्यादिप्रयोगापत्तिरितिवाच्यम्। तादृशप्रयोगाभावे घटत्वादेर्द्वित्वपर्याप्तेरिव द्वित्वादिमद्भेदस्याप्यनुयोगितावच्छेदकताया अप्रामाणिकत्वात्। प्रतियोगितावच्छेदकानवच्छेदकताया भेदावच्छेदकता-नियतत्वासिद्धेः। अस्तु वा अतिप्रसक्तोऽपि घटत्वादिदिर्द्वित्व-पर्याप्तेरवच्छेदकः घटौ इत्यादिप्रतीतिबलात्। वस्तुतस्तु घटत्वादेः प्रत्येकं द्वित्वपर्याप्त्यनवच्छेदकत्वेऽपि द्वित्वपर्याप्तित्वावच्छिन्नानतिप्रसक्ततया तदवच्छिन्नावच्छेदकत्वमव्याहतमेव ॥

पूर्वपक्षी पुनः प्रश्न करता है कि - घटत्व आदि धर्म द्वित्वपर्याप्ति का अवच्छेदक नहीं माना जा सकता। क्योंकि अतिप्रसक्त धर्मअवच्छेदक नहीं हुआ करता और घटत्व तो द्वित्वपर्याप्ति का अतिप्रसक्त धर्म है। क्योंकि जहाँ द्वित्वपर्याप्ति नहीं रहती घटत्व वहाँ भी रहता है। जैसे घटाः यहाँ पर घट में द्वित्वपर्याप्ति तो नहीं है, परन्तु घटत्व तो है। इस प्रकार द्वित्वपर्याप्ति की अपेक्षा घटत्व के अधिक देश में रहने के कारण घटत्व, द्वित्वपर्याप्ति का अतिप्रसक्त धर्म है। अतः घटत्व द्वित्वपर्याप्ति का अवच्छेदक नहीं होता।

द्वित्वपर्याप्ति के अनवच्छेदक उस घटत्वावच्छेदेन द्वित्ववान् का भेद रहता है यह बात तो आपको (भट्टाचार्य को) भी अभिमत है। ऐसी स्थिति में "घटो न द्वौ" इस वाक्य में आये "घटः" की प्रकृति = घट पद, के अर्थ घट में रहने वाला एकत्व जब विवक्षित नहीं होगा उस स्थिति में, यहाँ पर द्वित्वपर्याप्ति के अनवच्छेदक = घटत्वेन रूपेण घटत्वरूप उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन द्वित्ववान् के भेद की प्रतीति माननी पड़ेगी। इस प्रकार प्रकृत्यर्थगत एकत्व की अविवक्षा रहने पर भी घटत्वावच्छेदेन घट में द्वित्ववान् के भेद के बोधक "घटो न द्वौ" ऐसे प्रयोग की आपत्ति होगी। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि घटो न द्वौ इस वाक्य प्रयोग की आपत्ति प्रकृत्यर्थगत एकत्व विवक्षित होगा तब तो एकत्ववान् घट में द्वित्ववान् के भेद का बोध कराना इष्ट ही होगा तो उपर्युक्त वाक्य प्रयोग भी इष्ट ही है। परन्तु जब प्रकृत्यर्थगत एकत्व विवक्षित नहीं हो तब प्रकृत्यर्थ में उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन द्वित्ववान् के भेद का बोध कराना इष्ट नहीं होने से "घटो न द्वौ" ऐसा वाक्य प्रयोग नहीं होता है। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त वाक्य का प्रयोग यद्यपि इष्ट नहीं होता तथापि उसकी आपत्ति होगी। क्योंकि घटो न द्वौ में उद्देश्यतावच्छेदक = घटत्व, द्वित्वपर्याप्ति का अवच्छेदक नहीं है। अतः

उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन = घटत्वावच्छेदेन द्वित्ववद्भेद का बोध तो यहाँ नञ के द्वारा हो ही सकता है।

ग्रन्थकार, पूर्वपक्षी के उपर्युक्त आपत्ति का वारण करते हुए कहते हैं कि घटत्व आदि जैसे द्वित्व पर्याप्ति की अनुयोगिता का अवच्छेदक नहीं हो सकता, उसी प्रकार द्वित्वादिमद्भेद की अनुयोगिता का अवच्छेदक भी नहीं होता। क्योंकि घटत्व के द्वित्वादिमद्भेद की अनुयोगिता का अवच्छेदक होना अप्रामाणिक है। क्योंकि "प्रतियोगितावच्छेदक का जो अवच्छेदक नहीं होता वह भेदावच्छेदक होगा ही" ऐसा कोई नियम नहीं है। तात्पर्य यह है कि - जैसे अतिप्रसक्त होने के कारण घटत्व द्वित्वपर्याप्ति का अनुयोगितावच्छेदक नहीं होता उसी तरह द्वित्वादिमद्भेद अर्थात् द्वित्ववान् के भेद की अनुयोगिता का अवच्छेदक भी नही हो सकता। क्योंकि द्वित्ववान् का भेद जहाँ रहता है घटत्व वहाँ भी रहता है जैसे "एको घटो न द्वौ" यहाँ पर घटगत एकत्वविवक्षित है अतः ऐसे घट में द्वित्ववान् का भेद है और इस द्वित्ववान् के भेद वाले (अनुयोगी) घट में घटत्व है, तथा जहाँ द्वित्ववान् का भेद नहीं रहता जैसे "घटपटौ द्वौ" यहाँ घटपटोभय में द्वित्व ही रहता है द्वित्व का अभाव नहीं। ऐसे द्वित्ववद्भेद के अननुयोगी घट में भी घटत्व रहता है। इस प्रकार द्वित्ववद्भेद की अनुयोगिता की अपेक्षा घटत्व अधिक देश में रहने के कारण अतिप्रसक्त होने से घटत्वको द्वित्ववद्भेद की अनुयोगिता का अवच्छेदक मानना अप्रामाणिक ही है। ऐसी स्थिति में जब घटत्व द्वित्ववद्भेदीय अनुयोगिता का अवच्छेदक नहीं हो सकता, तो उस अनवच्छेदक घटत्वावच्छेदेन द्वित्ववद्भेद का विधान भी नञ् के द्वारा नहीं हो सकता। अतः प्रकृत्यर्थगत एकत्व की अविवक्षा वाली स्थिति में घटो न द्वौ" इस प्रयोग की आपत्ति नहीं होगी। पूर्वपक्षी इस पर कहता है कि जो भेदीय प्रतियोगिता के अवच्छेदक का अवच्छेदक नहीं होता वह भेद का अवच्छेदक होता है। जैसे घटत्ववान् न पटः" यहाँ पर नञ् बोध्य भेद का प्रतियोगी है पट; प्रतियोगितावच्छेदक है पटत्व, उसका अवच्छेदक घटत्व नहीं है। इस प्रकार घटत्व भेदीय प्रतियोगितावच्छेदकानवच्छेदक है। अतः वह उपर्युक्त पटभेद का अवच्छेदक होगा। क्योंकि पटभेद भी घट में है और घटत्व भी। इस तरह सामानाधिकरण्येन घटत्व पटभेद का अवच्छेदक है अर्थात् घटत्व आदि धर्म भेदीय अनुयोगिता का अवच्छेदक होता है तो द्वित्वादिमद्भेद की अनुयोगिता का अवच्छेदक हो सकता है तो उसको उद्देश्य करके अर्थात् घटत्वावच्छेदेन द्वित्ववद्भेद का विधान तो हो ही सकता। पुनः उपर्युक्त स्थिति में घटो न द्वौ इस वाक्य प्रयोग की आपत्ति तो रह ही गयी। ग्रन्थकार पूर्वपक्षी की इसी आशङ्का को ध्यान में रखकर कहते हैं कि जो प्रतियोगितावच्छेदकानवच्छेदक होगा वह भेद का अवच्छेदक होगा ही ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है। अतः

प्रकृत्यर्थगतएकत्व की अविवक्षा रहने पर घटत्व के; भेदानुयोगितावचछेदक नहीं होने से घटत्वावच्छेदेन द्वित्ववद्भेद का विधान करने के तात्पर्य से "घटौ न द्वौ" इस वाक्य का प्रयोग नहीं होता। उसकी आपत्ति नहीं दी जा सकती।

भट्टाचार्य इसी आपत्ति का वारण दूसरे प्रकार से करते हैं कि उपर्युक्त आपत्ति पूर्वपक्षी ने अतिप्रसक्त धर्म को द्वित्व पर्याप्ति का अवच्छेदक नहीं मानकर दिया था। परन्तु "घटौ" इस प्रतीति के बल पर अति प्रसक्त धर्म घटत्व को द्वित्वपर्याप्ति का अवच्छेदक मानना ही पड़ता है। तभी तो घटौ में घटत्वावच्छेदेन घट में द्विवचनोपस्थापितद्वित्व का अन्वयबोध होता है। इस प्रकार घटौ इस प्रतीति के आधार पर जब अतिप्रसक्त धर्म घटत्व भी द्वित्वपर्याप्ति का अवच्छेदक है और प्रकृत्यर्थ घटगत एकत्व विवक्षित नहीं है तो उसमें द्वित्वावच्छिन्नपर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व ही है, और जव घट में द्वित्व है अर्थात् घट द्वित्ववान् है तो उसमें द्वित्ववद्भेद का अन्वय बाधित है। अतः प्रकृत्यर्थगत एकत्व की अविवक्षा रहने पर भी घटो न द्वौ" ऐसा वाक्य प्रयोग नहीं हो सकता।

भट्टाचार्य वस्तुतः इत्यादि के द्वारा घटत्व द्वित्व पर्याप्ति का अतिप्रसक्त धर्म नहीं है इस बात को सिद्ध करके उपर्युक्त प्रयोग की आपत्ति का वारण करते हैं। तात्पर्य यह है कि द्वित्वपर्याप्ति अनेक है जैसे घटपटद्वय में रहने वाली द्वित्वपर्याप्ति भिन्न है और घटमठद्वय में रहने वाली द्वित्वपर्याप्ति भिन्न। इस प्रकार तत्तत् द्वित्वपर्याप्ति की अपेक्षा घटत्व अतिप्रसक्त है, तथापि द्वित्वपर्याप्तित्वेन रूपेण सभी द्वित्व पर्याप्तिव्यक्तियाँ एक है, तो द्वित्वपर्याप्तित्वावच्छिन्न द्वित्वपर्याप्ति का अनतिप्रसक्त होने से घटत्व अवच्छेदक हो ही सकता है। तात्पर्य यह है कि पहले जहाँ द्वित्वपर्य्राप्ति नहीं रहती जैसे "घटः" में, वहाँ भी घटत्व के रहने से, घटत्व को द्वित्वपर्याप्ति का अतिप्रसक्त धर्म मानते थे परन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि जहाँ भी घटत्व रहेगा सर्वत्र कोई-न-कोई द्वित्वपर्याप्ति अवश्य रहती है। क्योंकि जहाँ केवल एक ही घट होगा वहाँ भी भूतल, आकाश आदि की अपेक्षा से उस घट में द्वित्व की पर्याप्ति रहेगी ही। इस प्रकार घटत्व द्वित्वपर्याप्तित्वावच्छिन्न द्वित्वपर्याप्ति का अतिप्रसक्त धर्म नहीं होने से द्वित्वपर्याप्त्यवच्छिन्न का अवच्छेदक होगा ही तो घटत्वावच्छेदेन घट द्वित्ववान् ही होगा तो उसमें यदि एकत्व अविवक्षित रहेगा तो द्वित्ववान् घट में द्वित्ववद्भेद का बोध कराने के तात्पर्य से "घटो न द्वौ" ऐसे वाक्य के प्रयोग की आपत्ति भी नहीं दी जा सकती।

अथ पर्याप्त्याख्यविलक्षणसम्बन्धएवाप्रामाणिकः तत्कथं तत्सम्बन्धता। आकाशो न द्वौ इति प्रतीतिस्तु समवायसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगितावच्छेदकताकद्वित्वावच्छिन्नभेदविषयिकैवास्ताम्। आकाशादौ द्वित्वसमवायसत्त्वेऽपि द्वित्वादेरेवोभयादिवृत्तिधर्ममात्रावच्छिन्नत्वोपगमात्

तदनवच्छेदकाकाशत्वाद्यवच्छेदेन समवायसम्बन्धेन तद्वतो भेदस्य वृत्तौ बाधकाभावादिति, चेत्।

पूर्वपक्षी पर्याप्ति नामक सम्बन्ध को अप्रमाणिक बताकर प्रश्न करता है कि पर्याप्ति नामक सम्बन्ध ही जब अप्रमाणिक है तो वह पर्याप्ति भला द्वित्व आदि संख्या का सम्बन्ध कैसे माना जा सकता है और शाब्दबोध में संख्या के सम्बन्ध रुप में उसका भासित होना कैसे स्वीकार किया जा सकता है। यदि कोई कहे कि पर्याप्ति नामक संख्या के सम्बन्ध को नहीं मानने पर "आकाशो न द्वौ" ऐसी प्रतीति जो होती है। वह उपपन्न नहीं हो पाएगी। क्योंकि पर्याप्ति सम्बन्ध से ही आकाश में 'द्वित्ववद्भेद' की प्रतीति होती है। जब पर्याप्तिनामक सम्बन्ध ही नहीं माना जाएगा तो किस सम्बन्ध से आकाश में द्वित्वमद्भेद (द्वित्वमवान् का भेद) की प्रतीति होगी? तो इसका उत्तर यह है कि आकाश में द्वित्वमद्भेद की प्रतीति समवाय सम्बन्ध से ही होती है और "आकाशो न द्वौ" इस प्रतीति का विषय समवायसम्बन्धावच्छिन्न-द्वित्वनिष्ठ अवच्छेदकता वाली प्रतियोगिता (द्वित्ववान् में रहने वाली द्वित्ववद्भेदीया) ही होती है। मूल में "समवायसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगितावच्छेदकता द्वित्वावच्छिन्नभेदविषयिकैव" जो भट्टाचार्य जी ने लिखा है उसका तात्पर्य तो ऊपर कहा जा चुका है। अक्षरार्थ इस प्रकार है द्वित्वावच्छिन्नभेद =द्वित्व से अवच्छिन्न है प्रतियोगिता जिस भेद की ऐसा भेद "द्वित्ववान् न या "न द्वौ" इत्याकारक द्वित्वमद्भेद, तद्विषयिका। इसके पूर्व में आये समवायसम्बन्धवाच्छिन्न =समवायसम्बन्ध से अवच्छिन्न, जो प्रतियोगितावच्छेदकता =द्वित्व में रहने वाली द्वित्वमद्भेद की प्रतियोगिता की अवच्छेदकता। वही हुई =समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकता। क्योंकि द्वित्वमद्भेद =द्वित्ववान् न", इस भेद का प्रतियोगी है द्वित्ववान्, प्रतियोगिता रहेगी द्वित्ववान् में प्रतियोगिता का अवच्छेदक होगा द्वित्व। अब द्वित्व आदि संख्या को हम समवायसम्बन्ध से द्वित्ववान् में मानते हैं। अतः द्वित्व में रहनेवाली उपर्युक्त प्रतियोगितावच्छेदकता समवायसम्बन्ध्वच्छिन्ना कही जाएगी इस प्रकार समुदित अर्थ होगा - समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न है प्रतियोगितावच्छेदकता जिसकी, ऐसा द्वित्वमद्भेद ही "आकाशो न द्वौ" इस प्रतीति का विषय होता है' ऐसा ही मान लिया जाए। पर्याप्ति नामक सम्बन्ध मानने की क्या आवश्यकता है? सरलार्थ यह निकला कि द्वित्वमद्भेद की प्रतियोगितावच्छेदकता जो द्वित्व में रहती है उसका अवच्छेदक सम्बन्ध अप्रामाणिक पर्याप्ति को न मानकर प्रसिद्ध समवाय को ही मानना चाहिए। इस पर प्रश्न यह हो सकता है कि संख्या के अन्वित होने का सम्बन्ध यदि पर्याप्ति को न मानकर समवाय को माना जाएगा, तो समवाय तो एक ही होता है तो "घटपटौ" यहाँ पर घटपटोभय में रहने वाला द्वित्वसमवाय आकाश में भी रहेगा तो "आकाशो

न द्वौ" यहाँ आकाश में द्वित्वमद्भेद के प्रतीति की उपपत्ति कैसे हो पाऐगी? परन्तु इस प्रश्न का समाधान यह है कि जैसे - वायु में रुपसमवाय के रहने पर भी, रूप के नहीं रहने के कारण वायु में रूपवत्ताबुद्धि = रूपवान्वायुः इत्याकारक ज्ञान, नहीं होता। वैसे ही आकाश में, घटपटोभय में रहनेवाले द्वित्वसमावाय के रहने पर भी, द्वित्व के नहीं रहने से द्वित्वक्ता बुद्धि नहीं होगी तो उसमें द्वित्वमद्‌भेद की प्रतीति होने में कोई बाधा नहीं। अब प्रशन यह होगा कि- यदि आकाश में द्वित्वसमवाय है तो द्वित्व क्यों नही? तो इसका उत्तर यह है कि द्वित्व, उभयवृत्ति =उभयवृत्ति =उभयत्व आदि धर्ममात्र से अवच्छिन्न होता है।

उभयत्वेन, द्वित्वेन आदि उभयवृत्ति धर्म रूप से आकाश में भले ही द्वित्व रहे, परन्तु द्वित्व का अनवच्छेदक का जो रूप आकाशत्व आदि उस आकाशत्वेन रूपेण आकश में समवाय सम्बन्ध से द्वित्व नहीं रहता। हाँ 'घटाकाशौ' यहां द्वित्व का अवच्छेदक रूप= घटाकाशोभयत्व है, अतः उस घटाकाशोभयत्वेन घटाकाशोभयमें या आकाश में भी द्वित्व समवाय सम्बन्ध से भले ही हो परन्तु आकाशत्त्वेन रूपेण नहीं। अतः अकाशो न द्वौ में आकाशत्वेन रूपेण आकाश में समवाय सम्बन्ध से द्वित्ववान् के भेद के रहने में कोई बाधा न होने से आकाशो न द्वौ यह प्रयोग होगा। अतः पर्याप्ति नामक सम्बन्ध स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं।

न। आकाशावित्यादिवाक्यजन्यशाब्दबोधस्याप्रमात्वानुपपत्यैव तादृशसम्बन्धसिद्‌धेः। तादृशबुद्धेः समवायविषयककत्वेप्रमात्वनिराकरणस्य कर्तुमशक्यत्वात्। उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्ति विशिष्टसमवायस्य संसर्गतोपगमे घटावित्यादिवाक्यस्याप्यप्रामाण्यापतिः। समवायस्यैक्येन घटादिनिष्ठस्य द्वित्वादिसमवायस्य पटादावपि सत्वेन घटत्वाद्यव्याप्यत्वात्॥

भट्टाचार्य उपर्युक्त आपत्तियों का वारण करते हुए पर्याप्ति नामक सम्बन्ध अवश्य स्वीकार करना चाहिए इस बात को सिद्ध करने के लिए कहते हैं कि- आकाशौ इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध में प्रमात्व की अनुपपत्ति ही पर्याप्ति नामक सम्बन्ध को स्वीकार करने में प्रमाण है। तात्पर्य यह है कि- यदि पर्याप्ति नामक सम्बन्ध स्वीकार न किया जाए, तो, "आकाशौ" इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध में अप्रामाण्य की उपपत्ति नहीं हो पाएगी। क्योंक समवाय को यदि सम्बन्ध रूप में "आकाशौ" इस वाक्य से होने वाले शाब्धबोध का विषय मानें तो उस बुद्धि के प्रमात्व का निराकरण नहीं किया जा सकता। जबकि इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध को सभी लोग अप्रमाणिक मानते हैं। यद्यपि यहाँ भट्टाचार्य जी ने कोई उपपत्ति नहीं दी है कि यदि पर्याप्ति को संख्याऽन्वय का सम्बन्ध न माना जाए तो "आकाशौ" इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध में अप्रमात्व कैसे

अनुपपन्न होगा। तथापि इस ग्रन्थ के प्राचीन टीकाकार कृष्णं भट्ट ने कहा है कि-तत् सम्बन्धावच्छेदकस्य तदवच्छेदकत्वनियमः" इस नियमानुसार द्वित्वसंख्या के सम्बन्ध समवाय का अवच्छेदक यदि आकाशत्व है तो द्वित्व का भी अवच्छेदक आकाशत्व है। इस प्रकार समवाय के एक होने के कारण आकाश में द्वित्वसमवाय अर्थात् सम्बन्ध तो आकाशत्वेन है ही, आकाशत्वावच्छेदेन द्वित्व भी है। इस प्रकार द्वित्वरूपप्रतियोगी तथा द्वित्वसमवाय रूप सम्बन्ध दोनों के आकाशत्वेन रूपेण आकश में रहने के कारण "आकाशौ" इस वाक्य से होने वाला शब्दबोध प्रमा ही कहलाएगा उसमें प्रमात्व ही रहेगा अप्रमात्व नहीं। हाँ। यदि पर्याप्ति नामक सम्बन्ध मानें और उस पर्याप्ति नामक सम्बन्ध से संख्या का अन्वित होना स्वीकार करें तो "आकाशौ" इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध में अप्रमात्व का उपपादन किया जा सकता है। क्योंकि द्वित्वपर्याप्ति तो घटाकाशोभय में घटाकाशोभयत्वेन ही रहती है, आकाशत्वेन आकाश में तो रहती नहीं। अतः उस पर्याप्ति सम्बन्ध से आकाशत्वेन केवल आकाश में द्वित्व भी नहीं रहेगा। इस प्रकार द्वित्वपर्याप्तिरूपसम्बन्ध तथा द्वित्व रूप प्रतियोगी दोनों के आकाश में नहीं रहने के कारण "आकाशौ" इस वाक्य से होने वाला "द्वित्वप्रकारक आकाश विशेष्यक" शाब्दबोध अप्रमा ही होगा। इस प्रकार इस शाब्दबोध में अप्रमात्व का उपपादन हो गया। इस पर पर्याप्ति सम्बन्ध नहीं मानकर समवाय को (संख्यान्वय का) सम्बन्ध मानने वाला पुनः कह सकता है कि-संख्या का अन्वय प्रकृत्यर्थ में हम शुद्ध समवाय सम्बन्ध से नहीं मानते, अपितु उद्देश्यतावच्छेकव्याप्तिविशिष्ट समवाय सम्बन्ध से एवंञ्च यहाँ व्याप्ति हम "तदभाववदवृत्ति" स्वरूप मानते हैं। एवञ्च उद्देश्यतावच्छेकाभावांववदवृत्ति समवाय सम्बन्ध से संख्या का अन्वय हम मानते हैं। अब "आकाशौ" इस वाक्य में आकाश को उद्देश्य करके द्वित्व का विधान कोई करना चाहता है। अतः उद्देश्यतावच्छेदक यहाँ है आकाशत्व तदभाववान्= अर्थात् आकाशत्वाभाववान् होगी पृथ्वी, उसमें समवाय वृत्ति ही है, अवृत्ति नहीं। इसलिए इस विशिष्टसमवाय सम्बन्ध से द्वित्व आकाश में नहीं रहता तथापि "आकाशौ" इस वाक्य से द्वित्व प्रकारक आकाश विशेष्यक शाब्दबोध होता है। अतः यह शाब्दबोध बाधित विषयक होने से अप्रमा है। इस प्रकार मेरे मत में भी उपर्युक्त शाब्दबोध मे अप्रामाण्य उपपन्न हो जाता है। पुनः क्यों पर्याप्ति नामक सम्बन्ध स्वीकार किया जाए। भट्टाचार्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्ति विशिष्ट समवाय सम्बन्ध से संख्या का अन्वय माना जाए और व्याप्ति का स्वरूप भी वही माना जाए तो-"घटौ" इस वाक्य से जो 'द्वित्व प्रकारक घट विशेष्यक'शाब्दबोध होता है, वह भी अप्रमा कहलाने लगेगा। क्योंकि घटौ यहाँ जो उद्देश्यतावच्छेदक घटत्व है उसकी व्याप्यता भी समवाय में नहीं

है। क्योंकि घटत्वाभाववान् हुआ पट वहाँ भी द्वित्वसमवाय तो रहता ही है। क्योंकि समवाय के एक होने से घट में रहने वाला द्वित्वसमवाय और पट में रहने वाला द्वित्वसमवाय एक ही है। इस प्रकार उद्देश्यतावच्छेदक = घटत्वाभाववद् = पट वृत्ति समवाय के होने से अवृत्ति न होने से उपर्युक्त विशिष्ट समवाय सम्बन्ध से द्वित्व घट में नहीं रहता तथापि "घटौ" इस वाक्य से द्वित्व प्रकारक घट विशेष्यक शाब्दबोध होता है। अतः उपर्युक्त शाब्दबोध के भी बाधित विषयक होने से इस शाब्दबोध में भी अप्रामाण्य मानना पड़ेगा, जबकि माना नहीं जाता। अतः आकाशौ इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध में अप्रामाण्य की उपपत्ति के लिए पर्याप्ति नामक सम्बन्ध अवश्य स्वीकार करना चाहिए और उसी पर्याप्ति सम्बन्ध से संख्या का अन्वय प्रकृत्यर्थ में करना चाहिए।

न चोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यद्वित्वादिसमवायत्वेनैव सम्बन्धताऽस्तु द्वित्वादिसमवायस्य घटत्वाद्यव्याप्यत्वेऽपि द्वित्वादेस्तद्व्याप्यतया न घटौ इत्यादरप्रमाणतेति वाच्यम्। एवंसति तथाविधद्वित्वादेरेव लाघवेन द्वित्वादिसम्बन्धतौचित्यात्। अथास्त्वेवमेव तावतापि पर्याप्तिसम्बन्धस्य विलयादिति चेत् न। द्वित्वादिस्वरूपस्यैव द्वित्वादिपर्याप्तितयाऽभिमतसिद्धेः। उक्तं च दीधितिकृता पर्याप्तिश्चायमेको घटः इमौ द्वौ इतिप्रतीतिसाक्षिकः स्वरूपसम्बन्ध विशेष इति। समवायस्य नानात्वमते च द्वित्वादिसमवाय एव तत्पर्याप्तिः, न तु स्वरूपमतिरिक्तपदार्थो वेत्यन्यदेतत्।

पर्याप्ति को सबन्ध नहीं मानने वाला पूर्वपक्षी पुनः कहता है कि हम शुद्ध समवाय या उद्देश्यताच्छेदक व्याप्ति विशिष्ट समवाय को ही संख्यान्वय का सम्बन्ध नहीं मानते हैं जिससे कि "घटौ" इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध में प्रामाण्य की आपत्ति आवे। अपितु उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यद्वित्वादिसमवाय को ही द्वित्वादि संख्या के अन्वय का सम्बन्ध में मानते हैं। उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्तिविशिष्टसमवाय और उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यद्वित्वादिसमवाय में अन्तर यह है कि प्रथम सम्बन्ध में उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यत्व, समवाय में विशेषण है जबकि दूसरे सम्बन्ध में उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यत्व द्वित्व में विशेषण है। अब इस उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्यद्वित्वसमवायसम्बन्ध से द्वित्व का अन्वय "घटौ" यहां पर घट में हो जाने से "घटौ" से होने वाले शाब्दबोध में प्रमात्व उपपन्न हो जाएगा। जैसे घटौ यहाँ पर उद्देश्यताव्च्छेदक है घटत्व, उसकी व्याप्यता तो द्वित्व में है ही। क्योंकि एक घट द्वय व्यक्ति में रहने वाली द्वित्व व्यक्ति भिन्न है और दूसरे घट द्वयव्यक्ति में रहने वाली द्वित्व व्यक्ति भिन्न है। इस प्रकार प्रत्येक घटद्वय व्यक्ति जहां रहती है तो वहाँ घटत्व भी तो रहता ही है। इस प्रकार घटत्व की व्याप्यता

द्वित्व में है और द्वित्व तो घट में रहता ही है। तथा समावाय के एक होने के कारण समवाय भी घट में रहता ही है। इस प्रकार उद्देश्यताव्च्छेदक=घटत्वव्याप्य=द्वित्वसमवाय सम्बन्ध से द्वित्व संख्या के घट में होने से "घटौ" इस वाक्य से होने वाला द्वित्व प्रकारक घट विशेष्यक शाब्दबोध में प्रमात्व भी उपपन्न हो जाएगा तथा आकाशौ इस वाक्य से होने वाले "द्वित्वप्रकारक शाब्दबोध में अप्रमात्व भी। क्योंकि उद्देश्यतावच्छेदक=आकाशत्व की व्याप्यता द्वित्व में नहीं रहती। अतः एक होने के कारण समवाय के होने पर भी आकाशत्वव्याप्य द्वित्व समवाय सम्बन्ध से द्वित्व आकाश में नहीं रहता है। अतः आकाशौ इस वाक्य से होने वाला द्वित्वप्रकारक शाब्दबोध बाधित विषयक होने से अप्रमा ही है। इस प्रकार उपर्युक्त विशिष्ट समवाय सम्वन्ध से ही संख्या का अन्वय हो जाएगा, इसके लिए पर्याप्ति को सम्बन्ध क्यों माना जाए। भट्टाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्य द्वित्व समवाय को सम्वन्ध मानने की अपेक्षा उससे लघु समवाय से अघटित केवल उद्देश्यतावच्छेदक द्वित्व को ही सम्बन्ध मानना चाहिए। क्योंकि ऐसे द्वित्व को सम्बन्ध मानने में लाघव भी है और "घटौ" इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध में प्रमात्व और आकाशौ से होने वाले शाब्दबोध में अप्रमात्व भी उपपन्न हो जाता है। पूर्वपक्षी भट्टाचार्य के इस लघु सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए कहता है कि ठीक है। उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्य द्वित्व को ही द्वित्वान्वय का सम्वन्ध मान लिया जाए। पर्याप्ति नाम का सम्बन्ध तो तब भी सिद्ध नहीं हो सका। हमारा उद्देश्य तो पर्याप्ति नाम का सम्बन्ध को अप्रामाणिक सिद्ध करने में है। भट्टाचार्य-न- इत्यादि से पूर्वपक्षी के इस भ्रम का निवारण करते हुए कहते हैं कि उपर्युक्त उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्य द्वित्व ही तो द्वित्व पर्याप्ति है। तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी ने द्वित्व को ही द्वित्वान्वय का सम्बन्ध मान लिया है और द्वित्वपर्याप्ति भी तो द्वित्वस्वरूप को ही कहा जाता है द्वित्वस्वरूप के अतिरिक्त द्वित्वपर्याप्ति नहीं है। इसमें प्रमाण दीधितिकार का यह कथन ही है- कि "पर्याप्तिश्च अयमेकः इमौ द्वौ इति प्रतीति साक्षिकः स्वरूप सम्बन्ध विशेषः"। इस प्रकार पूर्वपक्षी नें यदि उपर्युक्त द्वित्व को अर्थात् द्वित्वस्वरूप को द्वित्वान्वय का सम्बन्ध मान लिया तो इसका अर्थ यह है कि उसने पर्याप्ति नामक सम्बन्ध स्वीकार कर लिया।

समवाय को यदि एक न मानकर अनेक माना जाए तब द्वित्व समवाय ही द्वित्वपर्याप्ति है, न कि केवल द्वित्वस्वरुप या अतिरिक्त पदार्थ ऐसा समझना चाहिए। समवाय को अनेक मानने पर आकाश में द्वित्व समवाय के नहीं रहने से द्वित्वसमवायरूप पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व आकाश में नहीं रहेगा तो "आकाशौ" इस वाक्य से होने वाला द्वित्व प्रकारक शाब्दबोध अप्रमाही होगा। "घटौ" यहाँ

पर घट में द्वित्व तथा द्वित्व के समवाय के भी रहने से द्वित्वसमवाय रूप पर्याप्ति सम्बन्ध से घट में द्वित्व के रहने से "घटौ" इस वाक्य से होने वाला द्वित्व प्रकारक शाब्दबोध प्रमा ही होगा।

यत्तु 'आकाशं न द्वे' इत्यादि प्रतीतिवत् 'आकाशं न द्वित्ववत्'इति प्रतीतेः प्रमात्वस्य वारणाय समवायेन द्वित्वादिमद्भेद आकाशत्वावच्छेदेन न स्वीकर्तव्यः, तथा च पर्याप्तेरविलक्षणत्वे 'आकाशो न द्वे' इत्यादिप्रतीतेरप्यप्रमात्वापत्तिरिति, तन्न-'आकाशं न द्वित्ववत्' इति प्रतीतौ द्वित्वंसमवायावच्छिन्न भेद एव विषयः मतुपा सम्बन्ध्युल्लेखात्, न तु द्वित्वावच्छिन्नभेदः। एवं चाकाशत्वावच्छेदेन द्वित्वावच्छिन्नभेद एव स्वीकर्तव्यः, न तु तत्सम्बन्धावच्छिन्नभेद इत्याकाशं न द्वे इति प्रतीतेरप्रमात्वस्य आकाशं न द्वित्ववदिति प्रतीतेर्वा प्रमात्वस्य न प्रसंग इति।

समवाय या द्वित्वसमवाय से पर्याप्ति सम्बन्ध को विलक्षण सिद्ध करने वाले यत्तु के मत का खण्डन करने के लिए पहले यत्तु के मत का उपपादन करते हुए कहते हैं कि-

"आकाशं न द्वे" इस वाक्य से होने वाली प्रतीति की तरह 'आकाशं न द्वित्ववत्' इस वाक्य से होने वाली प्रतीति में प्रमात्व का वारण करने के लिए, समवाय सम्बन्ध से आकाशत्वावच्छेदेन आकाश में द्वित्वादिमद्भेद (द्वित्ववत् न) स्वीकार नहीं करना चाहिए। इस तरह पर्याप्ति को यदि समवाय सम्बन्ध या द्वित्वसमवाय से विलक्षण नहीं माना जाएगा तो आकाशं न द्वे इस वाक्य से होने वाली प्रतीति में भी अप्रामाण्य की आपत्ति आएगी।

तात्पर्य यह है कि आकाश एक है अतः आकाशं न द्वे यह प्रतीति प्रमा मानी जाती है और आकाश में घटाकाशोभय गत द्वित्व रहता है अतः आकाशं न द्वित्ववत् इस प्रतीति को अप्रमा माना जाता है। यह वस्तु स्थिति है। ऐसी स्थिति में आकाशं न द्वित्ववत् इस वाक्य से होने वाली प्रतीति का विपय "समवाय सम्बन्ध से द्वित्वादिमद्भेद आकाशत्वाच्छेदेन नहीं स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि आकाश में द्वित्वसमवाय भी रहता है और घटाकाशोभयगत द्वित्व भी। इस प्रकार द्वित्वावच्छिन्न भेद (द्वित्ववत् न) नहीं रहता है। अतः आकाश में नहीं रहने वाला द्वित्वावच्छिन्नभेद "आकाशं न द्वित्ववत्" इस प्रतीति का विषय है। अतः यह प्रतीति अप्रमा कहलाती है। एवञ्च आकाश में यद्यपि घटाकाशोभयगत द्वित्व रहता है तथापि द्वित्व पर्याप्तिरूप सम्बन्ध नहीं रहता। क्योंकि द्वित्वपर्याप्ति "घटाकाशोभय" में घटाकाशोभयत्वेन रहता है न कि आकाशत्वेन। अतः आकाश में पर्याप्ति सम्बन्ध

से रहने वाले द्वित्वावच्छिन्न भेद (द्वित्ववन्न) का प्रतिपादन करने वाले आकाशं न द्वे इस वाक्य से होने वाली प्रतीति प्रमा ही है। इस प्रकार आकाशं न द्वे इस वाक्य से भी द्वित्वावच्छिन्न भेद का ही और आकाशं न द्वित्ववत् इस वाक्य से भी द्वित्वावच्छिन्नभेद का ही प्रतिपादन किया जाता है। परन्तु आकाशं न द्वे से होने वाला बोध प्रमा है और आकाशं न द्वित्ववत् से होने वाला अप्रमा। इसका कारण सम्बन्ध की भिन्नता है। ऐसी स्थिति में यदि आकाशं न द्वित्ववत् इस वाक्य से भी पर्याप्ति सम्बन्ध से आकाशत्वेन आकाश में द्वित्वावच्छिन्नभेद की प्रतीति मानी जाएगी तो जैसे "आकाशं न द्वे" इस वाक्य से होने वाली प्रतीति यथार्थ है प्रमा है, उसी प्रकार "आकाशं न द्वित्ववत्" से होने वाली प्रतीति भी प्रमा कहलाने लगेगी, जबकि मानी नहीं जाती। इसी प्रकार पर्याप्ति को यदि समवाय या द्वित्व समवाय से विलक्षण (भिन्न) नहीं माना जाएगा तो समवाय सम्बन्ध से आकाशत्वेन आकाश में द्वित्वावच्छिन्नभेद का प्रतिपादन करने वाले "आकाश न द्वित्ववत्" इस वाक्य से होने वाली प्रतीति जैसे अप्रमा है वैसे ही आकाशे न द्वे इस वाक्य से होने वाली प्रतीति को भी अप्रमा मानना पड़ेगा। इस प्रकार आकाशं न द्वे इस प्रतीति में प्रामाण्य तथा आकाशं न द्वित्ववत् इस प्रतीति में अप्रमाण्य की उपपत्ति के लिए पर्याप्ति को समवाय या द्वित्व समवाय से विलक्षण (अतिरिक्त) सम्बन्ध मानना चाहिए।

भट्टाचार्य यत्तु के उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए उपर्युक्त दोनों प्रतीतियों के विषयों में भिन्नता बताते हैं कि "आकाशं न द्वित्ववत्" इस प्रतीति का विषय द्वित्वसमवाय भेद है, न कि द्वित्वावच्छिन्नभेद अर्थात् द्वित्वमद्‌भेद। क्योंकि मतुप् प्रत्यय के द्वारा सम्बन्धी का उल्लेख (कथन) होता है। इसी प्रकार "आकाशं न द्वे" इस प्रतीति का विषय आकाशत्वावच्छेदेन द्वित्वावच्छिन्नभेद अर्थात् द्वित्वमद्‌भेद ही है, न कि द्वित्वसम्बन्धावच्छिन्नभेद अर्थात् द्वित्वसमवायभेद। इसलिए यदि पर्याप्ति को द्वित्व स्वरूप या द्वित्वसमवाय रूप सम्बन्ध से विलक्षण सम्बन्ध नहीं भी माना जाए तो "आकाशं न द्वे" इस प्रतीति में अप्रमात्व, तथा आकाशं न द्वित्ववत्" इस प्रतीति में प्रमात्व का प्रसंग नहीं है।

तात्पर्य यह है कि 'घटो द्वित्ववान्' यहां पर द्वित्व पद के आगे आए मतुप् प्रत्यय के द्वारा घट द्वित्व का सम्बन्धी है यह बताया जा रहा है "द्वित्वसम्बन्ध्यभिन्नो घटः।" इस प्रकार नञ् रहित मतुबन्त वाक्य से यदि (दो पदार्थों का) सम्बन्ध का कथन होता है तो नञ् घटित मतुबन्त वाक्य 'आकाशं न द्वित्ववत्' से द्वित्व समवाय रूप सम्बन्ध का अभाव (भेद) आकाश में बोधित हो रहा है जो कि अयथार्थ है। क्योंकि आकाश में द्वित्वसमवाय तो रहता ही है। इस प्रकार बाधित अर्थ का प्रतिपादक इस वाक्य से होने वाली प्रतीति अप्रमा ही

होगी। उसमें प्रमात्व का प्रसंग नहीं। इसी प्रकार "आकाशं न द्वे" इस वाक्य में आए नञ् के द्वारा सम्बन्ध का अभाव बोधित नहीं हो रहा है। अपितु द्वित्वावच्छिन्न द्वित्ववान् का भेद बोधित होता है, जो कि वस्तुतः आकाश में रहता ही है। इस प्रकार इस "आकाशं न द्वे" वाक्य से आकाशत्वावच्छेदेन आकाश में यथार्थ 'द्वित्वमद्भेद'का बोध होने से इस बोध के यथार्थ विषयक होने से इस में प्रमात्व ही रहेगा। इसमें अप्रमात्व का प्रसंग नहीं है। सारांश यह निकला कि आकाशं न द्वित्ववत् इस प्रतीति में अप्रमात्व तथा आकाशं न द्वे प्रतीति में प्रमात्व की उपपत्ति, इन दोनों प्रतीतियों के विषयों की भिन्नता के कारण होती है न कि सम्बन्धों की भिन्नता के कारण। इस प्रकार समवाय को एक मानने के पक्ष में पर्याप्तिद्वित्वस्वरूप है, परन्तु यदि समवाय को अनेक माना जाए तब तो पर्याप्तिद्वित्व समवाय रूप है। अतः आपके मतानुसार उसे समवाय से अतिरिक्त विलक्षण मानने की आवश्यकता नहीं।

अथोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यपर्याप्तेर्द्वित्वसम्बन्धतास्वीकारे धवखदिरौ छिनत्ति इत्यादौ उद्देश्यतावच्छेदकीभूतधवत्वखदिरत्वव्याप्यं द्वित्वादिद्वयमेव प्रत्येतव्यम्, न तु धवखदिरादिपर्याप्तद्वित्वादिकम् तथा चैकैकधवखदिरादितात्पर्येण तथा प्रयोगानुपपत्तिरिति द्वित्वान्वयितावच्छेदकमपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वादिरूपमुभयादिनिष्ठं साहित्यं द्वंद्वसमासार्थो वाच्यः तथा च मीमांसकमतप्रवेशः। इति चेत्।

द्वित्व आदि संख्या का उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्यत्वविशिष्ट पर्याप्ति सम्बन्ध से ही प्रकृत्यर्थ में अन्वय होता है, यह बात इससे पूर्व भट्टाचार्य ने बड़े विस्तार से सिद्ध की है। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्यत्वविशिष्ट पर्याप्ति सम्बन्ध से ही द्वित्व आदि संख्या का अन्वय माना जाएगा तो "धवखदिरौ छिनत्ति" यहां पर "धवखदिर" इस द्वंद्वसमासान्त पद के आगे आयी औ विभक्ति के अर्थ द्वित्व संख्या का भी अन्वय उसी विशिष्ट पर्याप्ति सम्बन्ध से करना होगा। एवञ्च धवखदिरौ यहां पर उद्देश्य है धव और खदिर, उद्देयतावच्छेदक हैं धवत्व और खदिरत्व। एवञ्च उद्देश्यतावच्छेदक धवत्व व्याप्य पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व का अन्वय धव में ही होगा, खदिर में नहीं। इसी प्रकार उद्देश्यतावच्छेदकखदिरत्वव्याप्य पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व का अन्वय खदिर में होगा धव में नहीं। इस तरह धवखदिरौ यहां पर दो द्वित्व की प्रतीति माननी पड़ेगी। एक धवत्वव्याप्यपर्याप्ति सम्बन्ध से धव में रहने वाले द्वित्व की तथा दूसरी खदिरत्वव्याप्यपर्याप्ति सम्बन्ध से खदिर में रहने वाले द्वित्व की इसका तात्पर्य हुआ कि जहां दो धव और दो खदिर होंगे वहीं "धवखदिरौ" इस वाक्य का प्रयोग होगा। न कि एक धव और एक खदिर का बोध के तात्पर्य से यह

आपत्ति आएगी। क्योंकि आपके मतानुसार धवखदिरौ में धव और खदिर इन दोनों में पर्याप्ति सम्बन्ध से रहने वाले द्वित्व की प्रतीति मानी ही नहीं जा सकती।

इस दोष से बचने के लिए कहें कि "धवखिदरौ" यहां पर द्वित्व का अन्वयितावच्छेदक अर्थात् उद्देश्यतावच्छेदक हम धवत्व या खदिरत्व को नहीं मानते अपितु धव और खदिर इन दोनों में रहने वाले अपेक्षा बुद्धि विशेष का जो विषय है=साहित्य, जो कि द्वंद्व समास का अर्थ है, उसी को मानते हैं। एवञ्च उपर्युक्त साहित्य स्वरूप उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्यता धव और खदिर इन दोनों में रहने वाले द्वित्व में है। अतः उद्देश्यतावच्छेदक=साहित्य व्याप्तिविशिष्ट पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व का अन्वय साहित्याश्रय धवखदिरउभय में होगा, न कि प्रत्येक धव या खदिर में। इस प्रकार एक धव और एक खदिर जहां होंगे वहां भी उन दोनों में रहने वाले साहित्य को उद्देश्य करके द्वित्व का विधान सम्भव होने से एक धव और एक खदिर का बोध कराने के तात्पर्य से भी "धवखदिरौ" इस वाक्य का प्रयोग होगा। पूर्वपक्षी कहता है कि इस प्रकार अनापत्ति का वारण तो आप कर लेंगे परन्तु इस वारण के प्रयास में आपको मीमांसकों का मत स्वीकार करना पड़ गया। अतः परमत प्रवेश दोष आ गया।

पूर्वपक्षी के इस आपत्ति का वारण ग्रंथकार अग्रिम ग्रन्थ से करते हैं-

न। यत्रैकधर्मस्य द्वित्वाद्युद्देश्यतावच्छेदकता तत्रैवोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्तिविशिष्टपर्याप्तेः संसर्गतानियमः। यत्र धर्मद्वयादेस्तथात्वं तत्र केवला पर्याप्तिः समवाय एव वा संसर्ग इत्यभ्युपगमाद् विनैव साहित्यस्यान्वयितावच्छेदकतामेकैकतात्पर्येण "धवखिदरौ" इति प्रयोगोपपत्तेः।

तात्पर्य यह है कि जिस स्थल में एक ही धर्म द्वित्व का उद्देश्यतावच्छेदक होता है वहीं पर द्वित्व का अन्वय उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्तिविशिष्ट पर्याप्तिसम्बन्ध से माना जाता है और जहां पर दो या उससे अधिक धर्म, द्वित्व आदि संख्या के उद्देश्यतावच्छेदक होते हैं, वहां तो शुद्ध पर्याप्ति या समवाय से ही द्वित्व आदि संख्या का अन्वय प्रकृत्यर्थ में माना जाता है। प्रकृत "धवखदिरौ" में द्वित्व के उद्देश्यतावच्छेदक धवत्व और खदिरत्व रूप अनेक (दो) धर्म हैं। अतः यहां शुद्ध पर्याप्ति सम्बन्ध से या समवाय सम्बन्ध से द्वित्व का अन्वय धवखदिरोभय में हो जाएगा। इस प्रकार उपर्युक्त अपेक्षाबुद्धिविशेषविषय रूप में साहित्य को अन्वयितावच्छेददक माने बिना भी एक धव और एक खदिर का बोध कराने के तात्पर्य से "धवखदिरौ" इस प्रयोग की उपपत्ति हो जाती है। "घटौ" इस वाक्य में द्वित्व का उद्देश्यतावच्छेदक घटत्व रूप एक ही धर्म है। अतः यहाँ द्वित्व का

प्रकृत्यर्थ में उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्ति विशिष्ट पर्याप्ति सम्बन्ध से अर्थात् घटत्व व्याप्य पर्याप्ति सम्बन्ध से होगा। इस प्रकार कोई दोष नहीं है।

न चैवमेकैकंधवखदिरादितात्पर्येण धवौ खदिरौ इत्यादि प्रयोगापत्तिः। तादृशवाक्यद्वयविषयकसमूहालम्बनजन्यसमूहा लम्बनशाब्दबोधस्य नानाधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताकतया शुद्धपर्याप्तेरपि संसर्गतयावगाहनसंभवादिति वाच्यम्। यत्र नानाधर्मावच्छिन्नविशेषतानिरूपिता एकैव द्वित्वादिप्रकारता तत्रैव शुद्धायाः पर्याप्तेः समवायस्य वा संसर्गतयाभानात्। धवौ खदिरौ इत्यादि नानावाक्यजन्यसमूहालम्बनशाब्दबोधे विशेष्यताभेदेन प्रकारताभेदेन चोद्देश्यतावच्छेदकधवत्वादिव्याप्तिविशिष्टपर्याप्तेः संसर्गतानियमेन एकैकधवखदिरादितात्पर्येण तथाप्रयोगासंभवात्।

जहां उद्देश्यतावच्छेदक धर्म अनेक हों वहाँ यदि शुद्ध पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व आदि संख्या का अन्वय होना मानेंगे तो एक धव और खदिर का बोध कराने के तात्पर्य से भी धवौ खदिरौ इत्यादि वाक्यों का प्रयोग होने लगेगा। क्योंकि धवौ और खदिरौ इन दो वाक्यों के समूहालम्बन श्रावण प्रत्यक्ष से जो समूहालम्बनात्मक शाब्दबोध होगा उस समूहालम्बनात्मक शाब्दबोध में भी द्वित्व की उद्देश्यता अनेक धर्म धवत्व और खदिरत्व से अवच्छिन्न है। अतः यहाँ भी द्वित्व का अन्वय शुद्ध पर्याप्ति सम्बन्ध से भी धव और खदिर में होगा तो एक धव और एक खदिर का बोध कराने के तात्पर्य से भी धवौखदिरौ ऐसे वाक्य प्रयोग की आपत्ति आएगी ही। इस प्रश्न का समाधान भट्टाचार्य यत्र नाना धर्मावच्छिन्न विशेष्यता इत्यादि से करते हैं। तात्पर्य यह है कि जहाँ अनेक धर्म से अवच्छिन्न विशेष्यता से निरूपित द्वित्व में रहने वाली प्रकारता एक ही हो वहीं पर द्वित्वान्वय का सम्बन्ध शुद्ध पर्याप्ति को माना जाता है। अर्थात् द्वित्व में रहने वाली प्रकारता तो एक हो परन्तु उस प्रकारता की निरूपिका विशेष्यता अनेक धर्म से अवच्छिन्न हो अर्थात् विशेष्य अनेक हों और विशेषण द्वित्व एक हो वहीं पर द्वित्व का अन्वय शुद्ध पर्याप्ति सम्बन्ध से होता है। जैसे "धवखदिरौ" इस वाक्य में द्विवचनार्थ=द्वित्व में रहने वाली प्रकारता तो एक ही है परन्तु उसकी निरूपिका विशेष्यता धवत्व तथा खरिदत्व रूप अनेक धर्म से अवच्छिन्न हैं। अतः यहां द्वित्व का अन्वय शुद्ध पर्याप्ति सम्बन्ध से धवखदिरोभय में होता है। धवौ खदिरौ इस अनेक वाक्य के श्रावणप्रत्यक्ष से जन्य जो समूहालम्बनात्मक शाब्दबोध है, इसमें विशेष्यता अनेक हैं, एक धव में रहने वाली विशेष्यता तथा एक खदिर में रहने वाली विशेष्यता और इन विशेष्यताओं की भिन्नता के कारण द्वित्व में रहने वाली प्रकारता भी भिन्न है। जैसे धवौ यहां पर धव में रहने वाली विशेष्यता

से निरूपित द्वित्व में रहने वाली प्रकारता भिन्न है और खदिरौ में, खदिर में रहने वाली विशेष्यता से निरूपित द्वित्व में रहने वाली प्रकारता भिन्न है। इस प्रकार यह समूहालम्बनात्मक शाब्दबोध नाना धर्मावच्छिन्न विशेष्यता से निरूपित नाना प्रकारताशाली होने से यहां द्वित्व का सम्बन्ध प्रकृत्यर्थ धव में उद्देश्यतावच्छेदक धवत्वव्याप्ति विशिष्ट पर्याप्ति सम्बन्ध से या समवाय सम्बन्ध से धव में ही होगा, खादिर में नहीं, तथा उद्देश्यतावच्छेदक खदिरत्वव्याप्तिविशिष्टपर्याप्तिसम्बन्ध से द्वित्व का अन्वय खदिर में ही होगा धव में नहीं। इस प्रकार धवत्वव्याप्ति विशिष्ट द्वित्व पर्याप्ति दो धव में ही रह सकती है एक धव में नहीं। दो धवों में रहने वाला द्वित्व यद्यपि एक धव में भी रहता है, तथापि द्वित्व पर्याप्ति रूप सम्बन्ध एक धव में नहीं रहता। अतः एक धव का बोध कराने के तात्पर्य से धवौ का प्रयोग नहीं हो सकता। इसी प्रकार एक खदिर का बोध कराने के तात्पर्य से "खदिरौ" इस प्रयोग की आपत्ति नहीं होगी।

भट्टाचार्य धवौ खदिरौ इन दो वाक्यों से होने वाले शाब्दबोध से "धवखदिरौ" इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध में जो विलक्षणता है उसको बताने के लिए आगे कहते हैं-

धवखदिरौ इत्यादिसमासोत्तरद्विवचनेन धवत्वखदिरत्वाद्यवच्छिन्ननानाविशेष्यतानिरूपितैकद्वित्वादिप्रकारताशालिज्ञानमेव जन्यते तादृशवाक्यजन्यबोधस्य समूहालम्बनात्मकतया विशेष्यताभेदेन प्रकारता-भेदाभावात्। यथाहि-समूहालम्बनानात्मके "खड्गी चैत्रः कुण्डली। इत्याकारकनानाविशेषणकैकविशेष्यकज्ञाने नानाप्रकारतानिरूपिता एका विशेष्यता तथा तथाविधे 'धवखदिरौ' इत्याद्याकारके नानाविशेष्यकैक-विशेषणकज्ञाने विशेष्यताभेदेऽपि, अभिन्नैव द्वित्वादिप्रकारता, अन्यथा समूहालम्बनतस्तद्वैलक्षण्यानुपपत्तेः, समासघटकधवखदिरादिपदानामेक-वाक्यातानुपपत्तेश्च, तत्प्रयोज्यविषयतया साक्षात् परम्परया वा निरूपिता या विषयता तत्प्रयोजकत्वस्यैव तदेकवाक्यतापदार्थत्वात्।

धवखदिरौ यहाँ पर धव पद का खदिर पद के साथ द्वंद्व समास होने के पश्चात् औ विभक्ति आयी है। अतः यहां आयी औ विभक्ति रूप द्विवचन के द्वारा धवत्व तथा खादिरत्व से अवच्छिन्न अनेक (दो) विशेष्यता से निरूपित, द्वित्व में रहने वाली एक ही प्रकारता वाला ज्ञान कराया जाता है। क्योंकि इस तरह के वाक्य से होने वाला शाब्दबोध समूहालम्बनात्मक तो होता नहीं। अतः ऐसे शाब्दबोध में विशेष्यता के भेद से प्रकारता भिन्न नहीं हुआ करती। तात्पर्य यह हुआ कि समूहालम्बनात्मकशाब्दबोध में ही विशेष्यता के भेद से प्रकारता में भिन्नता

होती है। जैसे-"खड्गी चैत्रः कुण्डली" इस वाक्य से होने वाला शाब्दबोध समूहालम्बनात्मक नहीं है। यहां खड्ग कुण्डल आदि अनेक विशेषण हैं तथा चैत्र रूप एक विशेष्य होने से अनेक प्रकारता से निरूपित एक विशेष्यता भासित होती है। वैसे ही "धवखदिरौ" जैसे वाक्यों से होने वाला बोध भी समूहालंबनात्मक नहीं है। अतः यहां भी धव तथा खदिर रूप अनेक विशेष्य तथा द्वित्व रूप एक विशेषण होने के कारण नाना विशेष्यता निरूपित एक प्रकारताशाली ज्ञान ही होगा अर्थात् विशेष्य के भिन्न होने पर भी द्वित्व में रहने वाली प्रकारता एक ही रहती है। अन्यथा यदि धवखदिरौ में विशेष्यता के भेद से द्वित्वनिष्ठ प्रकारता को भी भिन्न माना जाए एवं खडगी चैत्रः कुण्डली में प्रकारता के भेद से चैत्र निष्ठा विशेष्यता को भिन्न-भिन्न माना जाए तो समूहालम्बनात्मक ज्ञान से धवखदिरौ इत्यादि वाक्य से होने वाले ज्ञान में कोई विलक्षणता (अन्तर) ही नहीं उपपन्न होगी जबकि दोनों प्रकार के उपर्युक्त ज्ञान में विलक्षणता सभी मानते हैं। दूसरी बात यह है कि धवखदिरौ में यदि विशेष्यता के भेद से द्वित्व में रहने वाली प्रकारता को भी भिन्न मानने लगेंगे तो धव और खदिर पदों में एक वाक्यता उपपन्न नहीं हो पाएगी। क्योंकि तत् प्रयोज्य विषयता से साक्षात् या परम्परया निरूपित जो विषयता, उस विषयता का प्रयोजक होना ही एकवाक्यता कहलाती है। जैसेः राजपुरूषः यहां पर राजपद से प्रयोज्य विषयता है राज पदार्थ में रहने वाली प्रकारता रूपा विषयता, उस राज पदार्थ निष्ठ प्रकारता रूप विषयता से, साक्षात् निरूपित विषयता है पुरूष में रहने वाली विशेष्यता रूपा विषयता, उस पुरूष पदार्थ निष्ठविशेष्यता रूप विषयता का प्रयोजक है पुरूष पद। अतः राजपद का पुरूष पद के साथ या पुरूष पद का राजपद के साथ एकवाक्यता है। उसी प्रकार धवखदिरौ यहां पर धव पद से प्रयोज्य विषयता है धव पदार्थ में रहने वाली विशेष्यता रूप विषयता, इस विशेष्यता रूप विषयता से निरूपित है द्विवचनार्थ द्वित्व में रहने वाली प्रकारता रूपा विषयता, इस प्रकारता रूप विषयता से निरूपित विषयता है खदिर में रहने वाली विशेष्यता रूपा विषयता इस विशेष्यता रूप विषयता का प्रयोजक है खदिर पद। इस प्रकार परम्परया धव पद प्रयोज्य विषयता (विशेष्यता) निरूपित विषयता (विशेष्यता) प्रयोजकत्व खदिर पद में होने से दोनों पदों में एकवाक्यता होती है। परन्तु यदि धवखदिरौ में विशेष्यता के भेद से प्रकारता को भिन्न-भिन्न माना जाएगा, तो धव पद प्रयोज्य विषयता होगी धव में रहने वाली विशेष्यता उससे निरूपित विषयता होगी द्वित्व में रहने वाली प्रकारता उसी प्रकार खदिर पद प्रयोज्य खदिर निष्ठ विशेष्यता से निरूपित विषयता होगी द्वित्व निष्ठ प्रकारता। इन दोनों द्वित्व निष्ठ प्रकारताओं में न तो साक्षात् निरूप्य निरूपक भाव है और नहीं परम्परया क्योंकि धव निष्ठ विशेष्यता से निरूपित

जो द्वित्व निष्ठ प्रकारता है उससे निरूपित खदिर निष्ठ विशेष्यता तो है नहीं। इसी प्रकार खदिरनिष्ठ विशेष्यता से निरूपित द्वित्व निष्ठ प्रकारता से निरूपित धवनिष्ठ विशेष्यता भी नहीं होगी। तो धव और खदिर में परम्परया भी निरूप्य निरूपक भाव के न होने पाने से धव पद प्रयोज्य विषयता निरूपित विषयता प्रयोजकत्व खदिर पद में नहीं हो पाएगा तो दोनों पदों में एक वाक्यता नहीं हो पाएगी। अतः धवखदिरौ में एक वाक्यता की उपपत्ति के लिए भी विशेष्यता के भेद से प्रकारता को भिन्न नहीं मानना चाहिए।

न चैतादृशैकवाक्यताविरहेऽपि क्षतिविरहः। तथा सति समासस्यैवानुपपत्तेः। अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरूषोऽपसार्यताम् इत्यादौ राजपुरूषपदादीनां समासवारणाय समर्थपदानामेव समासानुशासनात्। सामर्थ्यस्य च निरूक्तैकवाक्यतारूपत्वात्। जलपृथिव्योः स्नेहगन्धौ इत्यादितोऽपि न जले स्नेहः पृथिव्यां गन्ध इत्याकारक समूहालम्बनबोधः किन्तु तद्विलक्षणों द्वित्वादिनिष्ठैकप्रकारतानिरूपितजलत्व पृथिवीत्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यतात्मकप्रकारताद्वयनिरूपिताधेयत्वप्रकारतानिरूपितं यद् धर्मितावच्छेदकद्वित्वादिनिष्ठैकप्रकारतानिरूपकंस्नेहत्वगन्धत्वावच्छिन्नविशेष्यताद्वयं तद्वानिति। अतो न कुत्राप्येकवाक्यताभंगः।

"धवखदिरौ में तत्पद प्रयोज्य विषयता निरूपितविषयताप्रयोजकत्व रूप एकवाक्यता की उपपत्ति के लिए धवत्वावच्छिन्न खदिरत्वावच्छिन्न नाना विशेष्यता निरूपित एक प्रकारता मानने की अपेक्षा यदि हम यह मान लें कि उपर्युक्त स्थल में उपर्युक्त स्वरूप एकवाक्यता यदि नहीं उपपन्न होती है तो न होवे। तथापि हम वहां विशेष्यता के भेद से प्रकारता को भी भिन्न मानेंगे तो, भट्टाचार्य इस हठ का उत्तर देने के लिए कहते हैं कि यदि धवखदिरौ में उपर्युक्त स्वरूप वाली एकवाक्यता नहीं मानी जाएगी तो धव और खदिर पदों का समास (द्वंद्व) ही नहीं हो पाएगा। क्योंकि 'समर्थः पदविधिः' इस पाणिनीय अनुशासन के अनुसार समर्थपदों का ही परस्पर समास होता है। अन्यथा 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरूषोऽपसार्यताम्' यहां भी राजपद का आगे आये पुरूष पद के साथ समास होने लगेगा। जबकि होता नहीं है। क्योंकि राज्ञः के राज पदार्थ का पुरूष पदार्थ के साथ सामर्थ्य नहीं है। क्योंकि राज पदार्थ पुत्र पदार्थ सापेक्ष है और पुरूष पदार्थ अपनयन पदार्थ सापेक्ष है। एवञ्च 'सापेक्षमसमर्थवद्भवति' यह नियम है। इस प्रकार अयमेति इत्यादि वाक्य घटक राजपद का पुरुषपद के साथ समास का वारण करने के लिए 'समर्थ पदों का ही परस्पर समास होता है' यह नियम मानना ही पड़ता है और पदों का परस्पर सामर्थ्य उपर्युक्त तत् पद प्रयोज्य विषयता इत्यादि स्वरूप

एक वाक्यता ही तो है। ऐसी स्थिति में यदि धवखदिरौ के धव पद और खदिर पद में उपर्युक्त एकवाक्यता नहीं रहेगी तो इसका अर्थ हुआ कि इन दोनों पदों में सामर्थ्य नहीं है, तो इन दोनों पदों का परस्पर समास नहीं होगा।

पूर्वपक्षी पुनः प्रश्न कर सकता है कि यदि उपर्युक्त स्वरूप वाली एकवाक्यता ही सामर्थ्य है और उसी के रहने पर समास होता है तो 'जलपृथिव्योः स्नेहगन्धौ' यहां पर जल पद का पृथिवी पद के साथ, तथा स्नेह पद का गन्ध पद के साथ समास कैसे होता है? क्योंकि जल पद प्रयोज्य विषयता तथा पृथिवी पद प्रयोज्य विषयता में परस्पर निरूप्यनिरूपक भाव तो है नहीं। उसी तरह स्नेह पद प्रयोज्य विषयता और गन्ध पद प्रयोज्य विषयता में परस्पर निरूप्य निरूपक भाव नहीं है। क्योंकि उपर्युक्त जलपृथिव्योः स्नेहगन्धौ इन दो वाक्यों से तो 'जले स्नेहः पृथिव्यां गन्धः' ऐसा ही समूहालम्बनात्मक बोध होता है और इस बोध में जलपद प्रयोज्य विषयता से निरूपित विषयता स्नेहनिष्ठ विषयता भासित हो रही है और तत्प्रयोजकत्व स्नेह पद में है न कि पृथिवी पद में, इसी प्रकार पृथिवी पद प्रयोज्य विषयता निरूपित विषयता रूप में गन्धनिष्ठ विषयता ही भासित हो रही है, तत्प्रयोजकत्व गन्ध पद में है, न कि जल पद में। इस प्रकार परस्पर विषयताओं के निरूप्य निरूपकभावापन्न नहीं होने पर अर्थात् एक वाक्यता नहीं होने पर भी 'जलपृथिव्योः' स्नेहगन्धौ में समास कैसे हो गया और यदि यहां एक वाक्यता नहीं होने पर भी समास हो सकता है तो धवखदिरौ में भी होगा। पुनः विशेष्यता भेद से प्रकारता को भिन्न क्यों न मान लिया जाए।

भट्टाचार्य इसी प्रश्न को ध्यान में रखकर 'जलपृथिव्योः' इत्यादि से समाधान करते हुए कहते हैं कि-जलपृथिव्योः स्नेहगन्धौ इत्यादि वाक्य से 'जलेस्नेहः पृथिव्यां गन्धः' ऐसा समूहालम्बनात्मक बोध नहीं होता अपितु उससे विलक्षण-द्वित्व निष्ठ एक प्रकारता से निरूपित जो-जलत्व से तथा पृथिवीत्व से अवच्छिन्न दो विशेष्यता उन दो विशेष्यताओं से अभिन्न जो दो प्रकारता, उन दो विशेष्यता रूप प्रकारता से निरूपित जो आधेयता (सप्तम्यर्थ) निष्ठा विशेष्यता उस विशेष्यता से अभिन्न जो प्रकारता उस प्रकारता से निरूपित जो धर्मिता (विशेष्यता) स्नेहगन्धोभय में रहने वाली धर्मिता उसका अव्च्छेदक जो द्वित्व, उस द्वित्व में रहने वाली एक प्रकारता का निरूपक जो स्नेहत्वावच्छिन्न गन्धत्वावच्छिन्न दो विशेष्यताएँ, उन दो विशेष्यतओं वाले स्नेह और गन्ध है ऐसा शाब्दबोध होता है। उपर्युक्त इस लम्बे विलक्षण शाब्दबोध में यद्यपि जलपद प्रयोज्य विषयता और पृथिवी पद प्रयोज्य विषयता में साक्षात् निरूप्य निरूपक भाव नहीं है तथापि जलपृथिव्योः में आयी औ विभक्ति के अर्थ द्वित्व के द्वारा परम्परया दोनों विशष्यताएँ निरूप्य निरूपक भावापन्न ही है। जैसे जल पद प्रयोज्य विशेष्यता निरूपित द्वित्वनिष्ठ प्रकारता

निरूपित पृथिवी निष्ठ विशेष्यता प्रयोजकत्व पृथिवी पद में होने से जल पद पृथिवी पद की एक वाक्यता होने से इन दोनों पदों का समास होता है, उसी प्रकार स्नेह पद प्रयोज्य स्नेहत्वावच्छिन्न स्नेह निष्ठ विशेष्यता निरूपित द्वित्व निष्ठ प्रकारता निरूपित गन्धत्वावच्छिन्नगन्धनिष्ठ विशेष्यता तत्प्रयोजकत्व गन्ध पद में होने से स्नेहगन्ध पदों में एकवाक्यता होने से समास हो गया। अब दो समस्त वाक्यों से एक निरूप्य निरूपक भावापन्न शाब्दबोध होता है जो ऊपर बताया जा चुका है। इसको समझने के लिए इतना ही ध्यान में रखना है कि 'जलपृथिव्योः' यहां पर ओस् विभक्ति का अर्थ द्वित्व तथा आधेयत्व है। इन दो सप्तम्यर्थों में से द्वित्व संख्या प्रकृत्यर्थ जल और पृथिवी में प्रकार है और आधेयत्व विशेष्य। इस तरह द्वित्व में रहने वाली एक प्रकारता से निरूपित विशेष्यता जल और पृथ्वी में रहती है। एवं यही जल और पृथिवी (प्रकृत्यर्थ) सप्तम्यर्थ आधेयत्व में प्रकार है तो इनमें प्रकारता भी रहती है। अतः जल तथा पृथिवी में ही द्वित्वनिष्ठ प्रकारता निरूपित विशेष्यता भी है और सप्तम्यर्थ आधेयत्व निष्ठ विशेष्यता निरूपित प्रकारता भी। अतः जल पृथिवी में रहने वाली प्रकारता को विशेष्यता रूप कहा गया। एवञ्च यह विशेष्यता चूंकि जलत्वावच्छिन्न तथा पृथिवीत्वावच्छिन्न दो है, अतः उससे अभिन्न प्रकारता को दो कहा गया है। एवञ्च इस सप्तम्यर्थ आधेयता का अन्वय प्रकारतया स्नेहगन्धौ के स्नेहगन्ध पदार्थ में होता है, जिनमें स्नेहत्वावच्छिन्न और गन्धात्वावच्छिन्न दो विशेष्यताएं रहती हैं। इस प्रकार-सप्तम्यर्थ आधेयतानिष्ठ प्रकारता से निरूपित जो स्नेहत्वावच्छिन्न स्नेह निष्ठ तथा गन्धत्वावच्छिन्न गन्धनिष्ठा दो विशेष्यताएं तद्वान् स्नेहगन्धौ ऐसा निरूप्य निरूपकभावापन्न विषयताएं हैं 'जलपृथिव्योः स्नेहगन्धौ' में तो एकवाक्यता भी है ही। अतः यहां समास होता है।

चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः इत्यादावाख्यातार्थद्वित्वप्रकारेण भासमाने चैत्रमैत्रोभयादौ गमनाश्रयत्वाद्यन्वयेन निरूक्तैकवाक्यतासंभवेऽपि समासविधेर्विभाषाधिकारीयत्वादसमासः। तत्र विशेष्यताभेदभिन्न-द्वित्वनिष्ठप्रकारताद्वयप्रतियोगी समूहालम्बनात्मकबोध इति न सम्यक्। तथा सति उक्तयुक्त्या एकैकचैत्रमैत्रादितात्पर्येण तथा प्रयोगानुपपत्तेः।

अब जिज्ञासा यह होती है कि यदि तत् प्रयोज्य विषयता निरूपित विषयता स्वरूप एकवाक्यता रहने पर समास होता है तो ऐसी एकवाक्यता तो चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः यहां भी है। क्योंकि गच्छतः यहां पर तस् (आख्यात) का अर्थ द्वित्व है प्रकार जिनमें अर्थात् द्वित्व के विशेष्य रूप से भासित होने वाले चैत्र और मैत्र दोनों में गम् धात्वर्थ गमन का आश्रयता सम्बन्ध से अन्वय होता है। इस प्रकार चैत्र पद प्रयोज्य विशेष्यता रूप विषयता से निरूपित द्वित्व निष्ठ प्रकारता से

निरूपित मैत्रनिष्ठ विशेष्यता रूप विषयता का प्रयोजकत्व मैत्र पद में भी है। इस प्रकार चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः के चैत्र तथा मैत्र पद में उपर्युक्त एकवाक्यता होने के कारण समास होना चाहिए अर्थात् चैत्रमैत्रौ गच्छतः ऐसा ही प्रयोग होना चाहिए व्यस्त चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः ऐसा प्रयोग कैसे होता है? भट्टाचार्य कहते हैं कि उपुर्यक्त स्थल में एकवाक्यता तो है, अतः समास भी सम्भव है, परन्तु समास नहीं होने का कारण यह है कि समास विधि विभाषा के अधिकार में आता है। अतः प्रायः सभी समास विकल्प से होते हैं। अर्थात् एकवाक्यता होने पर भी समास विधि के वैकल्पिक होने से चैत्र मैत्रौ गच्छतः ऐसा समस्त, तथा चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः ऐसा व्यस्त प्रयोग भी होता है। पूर्वपक्षी पुनः कहता है कि चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः में विशेष्यता के भेद से आख्यातार्थ द्वित्वनिष्ठ प्रकारता को ही भिन्न मान लीजिए। एवञ्च प्रकारता के भिन्न होने से चैत्र और मैत्र पदों में एकवाक्यता नहीं होगी। अतः समास नहीं होता है, ऐसा ही क्यों न मान लिया जाए। एवञ्च इस व्यस्त वाक्य से होने वाला शाब्दबोध समूहालम्बनात्मक ही मान लिया जाए। भट्टाचार्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः प्रयोग के कारण आख्यातार्थ द्वित्वनिष्ठ प्रकारता को विशेष्यता भेद से भिन्न (अनेक) माना जाएगा और इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध को समूहालम्बन माना जाएगा तो ऊपर बतायी गयी रीति के अनुसार एक चैत्र और एक मैत्र का बोध कराने के तात्पर्य से चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः ऐसा प्रयोग ही अनुपपन्न हो जाएगा। क्योंकि चैत्रनिष्ठ विशेष्यता से निरूपित आख्यातार्थ द्वित्व निष्ठ प्रकारता भिन्न होगी और मैत्रनिष्ठ विशेष्यता से निरूपित द्वित्व निष्ठ प्रकारता भिन्न। एवञ्च यहां उद्देश्यतावच्छेदक धर्म चैत्रत्व तथा मैत्रत्व दो हैं अतः द्वित्व का अन्वय शुद्ध पर्याप्ति सम्बन्ध से ही होगा। एवञ्च शुद्ध पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व का अन्वय दो चैत्र में ही होगा एक मे नहीं, इसी तरह दो मैत्र में ही द्वित्व की पर्याप्ति रहने से दो चैत्र और दौ मैत्र का बोध कराने के तात्पर्य से ही चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः प्रयोग हो पाएगा, एक चैत्र एक मैत्र का बोध कराने के लिए नहीं। अतः विशेष्यता भेद से प्रकारता को यहां भिन्न नहीं मानना चाहिए और न ही एकवाक्यता का अभाव होने के कारण वैसा व्यस्त प्रयोग होता है, यही मानना चाहिए। अपितु एक वाक्यता होने पर भी समास विधि के वैकल्पिक होने के कारण ही उपर्युक्त व्यस्त प्रयोग होता है ऐसा मानना चाहिए।

आख्यातोपस्थापितद्वित्वादिकं चोभयादिरूपान्वयितावच्छेदकावच्छिन्न एवान्वेतीतिव्युत्पत्तिः, तेनोक्तप्रयोगदर्शनात् क्रियापदस्य विशेष्यवाचक-पदसमानवचनक त्वानियमेऽपि घटद्वयादितात्पर्येण घटस्तिष्ठतः इत्यादयो

न प्रयोगाः। एकवचनान्तक्रियापदेच तादृशविशेष्यवाचकपदप्रयोग एव साधुः। अतो घटास्तिष्ठति इत्यादयो न प्रयोगाः।

जहां विशेष्य वाचक पद, विशेषण वाचक (क्रिया) पद के समान वचन वाला नहीं हो वहां पर आख्यात के द्वारा उपस्थापित द्वित्व, उभयरूप अन्वयितावच्छेदक से अवच्छिन्न में ही अन्वित होता है। अतएव चैत्रौ मैत्रश्च गच्छतः यहां विशेष्य वाचक चैत्रपद तथा मैत्रपद, विशेषणवाचक गच्छतः के असमानवचनक होने पर भी तस् के द्वारा उपस्थापित द्वित्व संख्या, चैत्रत्व मैत्रत्व रूप उभय को अन्वयितावच्छेदक मानकर उससे अवच्छिन्न चैत्र मैत्रोभय अन्वित ही होती है न कि चैत्रत्वावच्छिन्न चैत्र में या मैत्रात्वावच्छिन्नन मैत्र में। इस प्रकार चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः, चैत्रो मैत्रोदेवदत्तश्च गच्छन्ति इत्यादि प्रयोग होते हैं। अतः यह मानना चाहिए क्रिया पद को विशेष्यवाचक पद के समानवचनक होना कोई आवश्यक नहीं है। तथापि घटस्तिष्ठतः ऐसा प्रयोग नहीं होता। क्योंकि यहां तिष्ठतः इस क्रिया पद में आये तस् (आख्यात) के द्वारा उपस्थित द्वित्व संख्या का अन्वय तो वहीं होता है जहां अन्वयितावच्छेदक धर्म या तो उभय अर्थात् दो हों, या च शब्द के द्वारा साहित्य को अन्वयितावच्छेदक वताया जा रहा हो। जैसे घटपटौ तिष्ठतः यहाँ अन्वयितावच्छेदक घटत्व पटत्व दो हैं। अतः यहां आख्यातार्थ द्वित्व का अन्वय घटपटोभय में होता है। इसी प्रकार चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः यहां पर चकार के द्वारा चैत्र तथा मैत्र के साहित्य को अन्वयितावच्छेदक मानकर उससे अवच्छिन्न चैत्र मैत्रोभय में आख्यातार्थ द्वित्व का अन्वय होता है। घटस्तिष्ठतः में तो अन्वयितावच्छेदक न तो उभय है अर्थात् दो धर्म है और न ही च शब्द प्रतिपाद्य साहित्य है। अतः यहां द्वित्व का अन्वय घटत्वेन उपस्थित घट में सम्भव न होने से दो घट का वोध कराने के तात्पर्य से घटस्तिष्ठतः ऐसा प्रयोग नहीं होता। एकवचनान्त क्रिया पद होने पर एकवाचनन्त ही विशेष्यवाचक पद का प्रयोग साधु माना जाता है जैसे घटस्तिष्ठति। अतः घटास्तिष्ठति ऐसा प्रयोग नहीं होता।

अथैकघटादिव्यक्तेरेतद्देशवृत्तितादशायामत्र घटौ स्तः घटाः सन्ति इति कथं न प्रयोगाः घटादौघटत्वादिव्याप्तिविशिष्टपर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्वादेः, स्वरूपादिसम्बन्धेन एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वादेश्च सत्वात्। न च द्वित्वेनोपस्थितयोर्द्वयोरेव व्यक्त्योरेवं बहुत्वेनोपस्थितासु बहुषु व्यक्तिषु विधेयान्वयाद् व्यक्त्यन्तरेष्वेतद्देशवृत्तित्वादेश्च बाधान्न तादृश प्रयोग इति वाच्यम्। व्यक्त्यन्तरेऽयोग्यतया तादृशविधेयानवगाहिन एकघटे तदवगाहिनो बोधस्योत्पत्तौ बाधकाभावात् तथा तात्पर्येण तथा प्रयोगस्य दुर्वारत्वात्।

अब यहां प्रश्न यह होता है कि जब एक ही घट व्यक्ति एतद्देशवृत्तित्वाश्रय अर्थात् एतद्देश में रहता है तब घटौ स्तः घटाः सन्ति ऐसे प्रयोग क्यों नहीं होते? होना चाहिए। क्योंकि एतद्देश में विद्यमान एकघट में घटत्वव्याप्ति विशिष्ट पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व तथा स्वरूप सम्बन्ध से विधेय=एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व, भी है ही। तात्पर्य यह है कि दो व्यक्ति में रहने वाला पर्याप्तिसम्बन्ध से द्वित्व उस दो व्यक्ति के समुदाय के घटक प्रत्येक व्यक्ति में भी पर्याप्त होता है। इस प्रकार देशान्तरस्थ घटव्यक्ति को बुद्धि में लेकर इस देश में विद्यमान एक घट में भी उद्देश्यतावच्छेदक=घटत्वव्याप्तिविशिष्ट पर्याप्तिसम्बन्ध से द्वित्व का अन्वय हो सकता है, तथा स्वरूपसम्बन्ध से अस् धात्वर्थ एद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व जो कि विधेय है, का भी अन्वय हो ही सकता है। पुनः एक घट के एतद्देश में वृत्ति होने पर भी घटौः स्तः या घटाः सन्ति ऐसे वाक्यों का प्रयोग क्यों नहीं होता? उपर्युक्त प्रश्न का समाधान कोई व्यक्ति न च से करता है कि एतद्देश में वृत्ति एक घट में घटत्वव्याप्तिविशिष्ट पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व का अन्वय भले ही सम्भव हो, परन्तु विधेय एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व का अन्वय नहीं हो सकता। क्योंकि द्वित्वेन उपस्थित दो व्यक्ति में ही या बहुत्वेन उपस्थित बहुत सी व्यक्तियों में ही विधेय-एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व का अन्वय होता है। यहां तो जिस देशान्तरस्थ व्यक्त्यन्तर की अपेक्षा करके एतद्देश में विद्यमान घट में द्वित्व की उपपत्ति की जा रही है। उस देशान्तरस्थ व्यक्त्यन्तर घट व्यक्ति में एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। अतः विधेय एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व का अन्वय एतद्देशवृत्ति एक घट में भी नहीं हो सकता। अतः वैसा प्रयोग नहीं होता। पूर्वपक्षी की ओर से भट्टाचार्य उपर्युक्त न च वाले समाधान में दोष दिखाते हुए कहते हैं कि-व्यक्त्यन्तर में (अन्य देश में विद्यमान अन्य घट में) विधेय एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व के बाधित होने से, योग्यता न होने कारण, उस व्यक्त्यन्तर में विधेय का अवगाहन नहीं करने वाला तथा एतद्देश में विद्यमान घट में विधेय=एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व का अवगाहन करने वाला बोध, उपर्युक्त दशा में घटौस्तः इस प्रयोग से हो ही सकता है। पुनः एतद्देश में विद्यमान एक घट में एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व रूप विधेय का बोध कराने के तात्पर्य से घटौ स्तः घटाः सन्ति प्रयोग तो हो ही सकता है।

न च व्यासज्यवृत्तिधर्मो यत्रान्वयितावच्छेदकस्तत्र यावत्सु अन्वयितावच्छेदकस्य पर्याप्तिस्तावतामेव पदार्थान्तरेणान्वय इति व्युत्पत्तिस्तन्निर्वाहाय च तादृशधर्मावच्छिन्ने इतरान्वयबोधजनकसामग्र्या उभयादिविषयकपदार्थान्तारान्वयबुद्धित्वमेव जन्यतावच्छेदकं वक्तव्यमिति द्वित्वादिनैकघटादिमात्रविषयकैतद्देशवृत्तित्वान्वयबोधो न संभवतीति न तादृशबोधतात्पर्येण तादृशप्रयोगापत्तिरिति वाच्यम्। योग्यताभ्रमेणा-

काशांवत्रस्त इत्यादिवाक्यात् द्वित्वादिना एकव्यक्तिमात्र-विषयकपदार्थान्तरान्वयबोधात्। तादृशव्युत्पत्तेस्तन्निर्वाहककार्यकारणभावस्य च कल्पनासंभवात्।

उपर्युक्त दोष का परिहार करने के लिए कोई न च इत्यादि से कहता है कि जहां पर व्यासज्यवृत्ति धर्मः द्वित्व त्रित्व आदि अन्वयितावच्छेदक रहता है वहां पर अन्वयितावच्छेदक धर्म की पर्याप्ति जितने व्यक्तियों में रहती है, उतने ही व्यक्तियों में पदार्थान्तर का अन्वय होता है। जैसे नीलौ घटौ यहां पर द्वित्व रूप अन्वयितावच्छेदक की पर्याप्ति दो घट व्यक्तियों में है। अतः पदार्थान्तर=नील का भी अन्वय दो घटों में ही होता है न कि एक घट व्यक्ति में। इस व्युत्पत्ति के निर्वाह के लिए व्यासज्यवृत्ति धर्म से अवच्छिन्न इतर पदार्थ का अन्वय बोध कराने वाली कारण सामग्री का, व्यासज्यधर्मावच्छिन्नउभयविषग्रक पदार्थान्तरान्वयबोधत्व ही जन्यतावच्छेदक कहना पड़ेगा ऐसी स्थिति में प्रकृत में अत्र घटौस्तः यहां पर व्याज्यवृत्ति धर्म=द्वित्व से अवच्छिन्न घटद्वय में इतर पदार्थ=एतद्देशवृत्ति-त्वाश्रयत्व का अन्वय बोध कराने वाली कारण सामग्री के द्वारा द्वित्वविशिष्टघट द्वय में ही एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व रूप पदार्थान्तर का अन्वय बोध कराया जा सकता है, जहां एक ही घट हो वहां द्वित्व विशिष्ट एक घट व्यक्ति में एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व रूप पदार्थान्तर का अन्वयबोध उपर्युक्त सामग्री से नहीं हो सकता। अतः जहाँ एक ही घट हो वहाँ उस एक घट का बोध कराने के तात्पर्य से अत्र घटौ स्तः इस वाक्य का प्रयोग नहीं हो सकता। भट्टाचार्य इस समाधान का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जब योग्यता भ्रम के कारण 'अत्र आकाशौस्तः' ऐसा वाक्य कहा जाता है तो इस वाक्य से अन्वयितावच्छेदक=द्वित्वेन रूपेण उपस्थित एक आकाश मात्र व्यक्ति में ही एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व रूप पदार्थान्तर का अन्वयबोध होता है। अतः अन्वयितावच्छेदक धर्म की पर्याप्ति जितने व्यक्तियों में रहती है, उतने व्यक्तियों में ही पदार्थान्तर का अन्वय होता है। इस व्युत्पत्ति तथा इस व्युत्पत्ति के निर्वाहक कार्यकारणभाव की कल्पना नहीं की जा सकती। क्योंकि अत्र आकाशौस्तः में अन्वयितावच्छेदक द्वित्व की पर्याप्ति तो दो व्यक्तियों में ही रहती है, एक आकाश व्यक्ति में तो रहती नहीं तथा योग्यताभ्रम के कारण द्वित्वेन रूपेण एक ही आकाश व्यक्ति आकाश पद से उपस्थित होता है और उसी एक आकश व्यक्ति में एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व रूप पदार्थान्तर का अन्वय बोध होता है। अतः उपर्युक्त व्युत्पत्ति और उसके निर्वाहक कार्यकारणभाव के व्यभिचरित होने से इस व्युत्पत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती।

यत्तु द्वित्वाद्यवच्छिन्नोद्देश्यताकबुद्धावुद्देश्यतावच्छेदकव्यापकता नियमतो विधेयसंसर्गे भासते इति व्युत्पत्तिः, यत्र चोद्देश्यतावच्छेदक-

विशिष्टाधिकरणाप्रसिद्ध्या तद्व्यापकत्वमप्रसिद्धम्, तत्रापि खण्डशः प्रसिद्धानां तत्तद्घटकपदार्थानां विशेष्यविशेषणभावापन्नानां भानसम्भवान्न पीतशंखौ इत्यत्रादौ तादृशव्युत्पत्तिभंगः। एवं चैकघटादिव्यक्ति-मात्राधिकरणस्यात्रघटौ स्त इत्यादिवाक्यस्याप्रामाण्यं सुघटमेव उद्देश्यतावच्छेदकीभूतघटमात्रवृत्तिद्वित्वव्यापकतायास्तादृशवाक्यप्रतिपाद्याया विधेयसंसर्गे बाधादिति।

एक घट व्यक्ति के रहने पर अत्र घटौस्तः अत्र घटाः सन्ति ऐसे प्रयोग की आपत्ति का वारण यत्तु द्वित्वाद्यवच्छिन्न इत्यादि से करता है कि जिस शाब्दबोध में उद्देश्यता द्वित्वाद्यवच्छिन्न रहती है अर्थात् जिस शाब्दबोध में उद्देश्यतावच्छेदक द्वित्व आदि रहता है वहां पर उद्देश्यतावच्छेदक=द्वित्व की व्यापकता, निश्चित रूप से विधेय के संसर्ग में भासित होती है। यह व्युत्पत्ति है। ऐसी स्थिति में 'अत्र घटौस्तः' इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध में एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व विधेय रूप में तथा घटद्वय उद्देश्य रूप में भासित होता है। अतः घटद्वय में रहने वाली उद्देश्यता का अवच्छेदक है, घटद्वय में रहने वाला द्वित्व। इस प्रकार 'अत्र घटौस्तः' इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध में घटद्वय में रहने वाली उद्देश्यता द्वित्व से अवच्छिन्न होकर भासित हो रही है। अतः यहां उद्देश्यतावच्छेदक द्वित्व की व्यापकता विधेय=एतद्देशवृत्तित्व के संसर्ग=स्वरूप में निश्चित रूप से भासित होती है। जैसे-उद्देश्यतावच्छेदक= घटत्वसमानाधिकरण द्वित्व तद्वान् है घटद्वय उसमें रहने वाला अभाव= एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वसंसर्ग स्वरूप का अभाव नहीं होगा क्योंकि वह घटद्वय एतद्देशवृत्ति ही है। अतः उस घटद्वय में एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व ही स्वरूप संसर्ग है, उसका अभाव नहीं। अतः द्वित्ववान् घटद्वय में रहने वाला अभाव होगा पटाभाव, उसकी प्रतियोगिता रहेगी पट में, प्रतियोगितावच्छेदक होगा पटत्व अनवच्छेदक हो गया=एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वसंसर्गस्वरूप इस प्रकार घटत्व समानाधिकरण द्वित्व रूप उद्देश्यतावच्छेदक की व्यापकता एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व संसर्ग में भी निश्चित रूप से भासित होती है। ऐसी स्थिति में जहां एक घटव्यक्ति हो, वहाँ पर अत्र घटौ स्तः या अत्र घटाः सन्ति यह वाक्य अप्रामाणिक होगा ही। क्योंकि उद्देश्यतावच्छेदक=घटत्वसमानाधिकरणद्वित्ववान् होगा देशान्तरस्थ घट व्यक्ति, उसमें रहने वाला अभाव ही होगा एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व संसर्ग क्योंकि देशान्तरस्थ घट व्यक्ति, एतद्देश में वृत्ति तो नहीं ही है। इस प्रकार उद्देश्यतावच्छेदक-घटत्वसमानाधिकरण द्वित्ववान् देशान्तरस्थ घट व्यक्ति में रहने वाले अभाव= एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व संसर्ग स्वरूपाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक ही होगा=एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व संसर्ग स्वरूप इसका अर्थ हुआ कि घटत्व समानाधिकरण द्वित्वरूप उद्देशतावच्छेदक की व्यापकता विधेय-एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व

के सम्बन्ध. में=स्वरूप में भी (उद्देश्यतवच्छेदक व्यापकता) नहीं है, जबकि 'अत्र घटौस्तः' इस वाक्य से-एक घट व्यक्ति में नहीं रहने वाली उद्देश्यतावच्छेदक= द्वित्व की व्यापकता, विधेय संसर्ग=स्वरूप में प्रतिपादित की जा रही है। इस प्रकार वाधित अर्थ का प्रतिपादन करने के कारण उपर्युक्त स्थल में अत्र घटौस्तः या अत्र घटाः सन्ति यह वाक्य अप्रामाणिक ही होगा। इस पर कोई प्रश्न कर सकता है कि पीतशंखौ स्तः यहां पर उद्देश्यतावच्छेदक= द्वित्व विशिष्ट अधिकरण ही अप्रसिद्ध है। तात्पर्य यह है कि व्यापकता का अर्थ है तद्वान् में रहने वाले अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक न होने वाले धर्म से अवच्छिन्न होना। 'पीतशंखौ स्तः' यहां पर उद्देश्यतावच्छेदक है= द्वित्व, तद्वान् पीतशंख ही अप्रसिद्ध है तो उसमें रहने वाला अभाव और उस अभाव की प्रतियोगिता का अनवच्छेदक रूप धर्म से अवच्छिन्न होना तो दूर की बात रही। अतः द्वित्व विशिष्ट अधिकरण=द्वित्ववान् पीतशंख के अप्रसिद्ध होने से उसकी व्यापकता ही अप्रसिद्ध है। एवंञ्च जब द्वित्ववान्ही अप्रसिद्ध हो गया। पुनः आपकी उपर्युक्त व्युत्पत्ति के अनुसार एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व रूप विधेय के संसर्ग में उपर्युक्त पीतशंखत्वसमानाधिकरण द्वित्व की व्यापकता तो भासित हो नहीं रही है। जवकि भ्रान्तिदशा में वैसा वाक्य बोला जा सकता है और शाब्दवोध भी होता है। अतः आपकी उपर्युक्त व्युत्पत्ति उचित नहीं। इस आपत्ति को ध्यान में रखकर ही यत्तु ने पहले इसी आपत्ति का वारण 'यत्रचोद्देश्यतावच्छेदक विशिष्ट' इत्यादि से किया, तत्पश्चात 'अत्र घटौस्तः'इस मूल आपत्ति का। मैंने ग्रन्थाशय को सुगमता से समझाने के लिए व्याख्या में थोड़ा उलट-फेर कर दिया है। अस्तु।

समाधान का तात्पर्य यह है कि जहां उद्देश्यतावच्छेदकद्वित्व का विशिष्ट अधिकरण अप्रसिद्ध होने के कारण व्यापकत्व अप्रसिद्ध है। ऐसे 'पीतशंखौस्तः' इत्यादि स्थल में भी उस विशिष्ट पदार्थ रूप अधिकरण के घटक पदार्थ जो कि विशेषण-विशेष्यभाव से युक्त रहते हैं, के प्रसिद्ध होने के कारण द्वित्व के अधिकरण रूप में उन घटक पदार्थों का भान संभव हो सकता है। जैसे- द्वित्ववान् रूप में पीतत्व विशिष्ट शंख-पीतशंख यद्यपि अप्रसिद्ध है तथापि उस विशिष्ट पीतशंख के घटक पदार्थ- पीतत्व और शंख दोनों प्रसिद्ध हैं। जिनमें पीतत्व विशेषण रूप में और शंख विशेष्य रूप में भासित हो रहा है। इस तरह पीतशंख पदार्थ के घटक पीतत्व और शंख के प्रसिद्ध होने से द्वित्व के अधिकरण रूप से अलग-अलग पीतत्व और शंख भासित हो सकता है। इस प्रकार द्वित्ववान् के प्रसिद्ध होने से वहां विधेय=एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व के संसर्ग= स्वरूप में उद्देश्यतावच्छेदक द्वित्व की व्यापकता भी भासित होती है यह माना जा सकता है। इस प्रकार उपर्युक्त व्युत्पत्ति का भंग (व्यभिचार) नहीं हुआ।

तदपि तुच्छम्-अत्र घटौस्तः इत्यादौ द्वित्वसमानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वस्य द्वित्ववद्घट निष्ठाभावप्रतियोगितानवच्छेदकवत्त्वस्य च तदधिकरणावृत्तिघटादिनिष्ठा-भावप्रतियोगितावच्छेदकीभूते तत्तद्विधेयसंसर्गतावच्छेदके बाधाद् घटद्वयाधिकरणपरतादृशवाक्यस्याप्रामाण्यापत्तेः। तत्तद्द्वित्व समानाधि-करणाभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वस्य तत्तद्विधेयसंसर्गांशे भानोपगमस्तु न संभवति तत्तद्द्वित्वत्वेनानुपस्थितेः।

भट्टाचार्य यत्तु. के उपर्युक्त समाधान का खण्डन करने के लिए कहते हैं-तदपि तुच्छम्। तात्पर्य यह है कि यदि आपकी युक्ति मानी जाए तो जहां दो घट हैं वहां भी 'अत्र घटौस्तः' यह वाक्य अप्रामाणिक हो जाएगा। क्योंकि व्यापकता का स्वरूप चाहे तत् समानाधिकरणभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्व मानो या तत् समानाधिकरणात्यन्ताभाव प्रतियोगितानवच्छेदक धर्मावच्छिन्नत्व मानो। दोनों ही स्थिति में अत्र घटौस्तः यहां उद्देश्यतावच्छेदकद्वित्ववान् पद से हम देशान्तरस्थ घटद्वय व्यक्ति को लेंगे, उसमें रहने वाला अभाव एतद्देशावृत्तित्वाश्रयत्वाभाव ही होगा। प्रतियोगिता ही एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वसंसर्ग में रहेगी, उसका अवच्छेदक ही एतद्देशवृत्तित्व संसर्गस्वरूप होगा। अनवच्छेदक नहीं होगा। इस तरह विधेय=एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व, उद्देश्यतावच्छेदक = द्वित्व का व्यापक नहीं होगा। जबकि आपके उपर्युक्त नियमानुसार अत्र घटौस्तः इस वाक्य से उद्देश्यतावच्छेदक =द्वित्व की व्यापकता नियमतः एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व के संसर्ग=स्वरूप में भासित होती है। इस प्रकार बाधित अर्थ का प्रतिपादन करने के कारण दो घट का अधिकरण यह देश (एतद्देश) है इस तात्पर्य से उच्चरित 'अत्र घटौस्तः' यह वाक्य अप्रमाणिक होने लगेगा। इस आपत्ति का वारण करने के लिए यदि कहें कि तद् द्वित्ववान् में रहने वाले अभाव या भेद की प्रतियोगिता का अनवच्छेदक ही तद्द्वित्व की व्यापकता विधेयसंसर्ग में भासित होती है। आपने आपत्ति देते समय उद्देश्यतावच्छेदक पद से तो तद्देश में विद्यमान घटद्वय में रहने वाले द्वित्व को लिया और द्वित्ववान् पद से देशान्तरस्थ घटद्वय व्यक्ति को लिया है। अब तद्द्वित्व समानाधिकरणापद से एतद्देश में रहने वाले घटद्वय व्यक्ति में रहने वाले तद्द्वित्व के अधिकरण=एतद्देशवृत्तिघटद्वय व्यक्ति में रहने वाला अभाव तो एतद्देशवृत्तित्वश्रयत्व संसर्ग (स्वरूप) होगा नहीं। क्योंकि एतद्देशवृत्तिघटद्वयव्यक्ति में तो एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व का संसर्ग स्वरूप रहता ही है।

इस प्रकार एतद्देशवृत्तिघटद्वय व्यक्ति में रहने वाला अभाव होगा पटाभाव या देशान्तरस्थ घटद्वयवृत्तितद देशवृत्तित्वाश्रयत्वसंसर्गाभाव प्रतियोगितावच्छेदक होगा

पटत्व या तद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वसंसर्गाभावत्व न कि एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वसंसर्ग। इस प्रकार प्रतियोगितानवच्छेदक होने के कारण एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व का संसर्ग= स्वरूप व्यापक हो ही गया। तो अत्र घटौ स्तः यहां पर एतद्घटद्वय व्यक्तियों में रहने वाला= एतद्द्वित्व ही उद्देयतावच्छेदक है और उसमें एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व के संसर्ग=स्वरूप की व्यापकता रहती है जो कि अत्र घटौ स्तः इस वाक्य से प्रतिपादित किया जा रहा है। अतः दो घट व्यक्ति के एतद्देश में रहने की दशा में अत्र घटौ स्तः से होने वाला शाब्दबोध यर्थाथविषयक होने से उपर्युक्त वाक्य प्रामाणिक ही होगा।

भट्टाचार्य इस का खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'अत्र घटौ स्तः' इस वाक्य में आए द्विवचन=औ से जोद्वित्व की उपस्थिति होती है वह सामान्यतः द्वित्वत्वेन न कि एतद्द्वित्वत्वेन या तत् द्वित्वत्वेन। अतः उद्देश्यतावच्छेदक= सामान्यतः द्वित्व ही होगा न कि एतद्द्वित्व। एवञ्च जब उद्देश्यतावच्छेदक द्वित्व होगा तो तद्वान् पद से देशान्तरस्थ घटद्वय व्यक्ति भी लिया जा सकता है और उपर्युक्त आपत्ति रहेगी ही।

न च तदवच्छिन्नस्य संसर्गतया भाने तेन रूपेणोपस्थितेनपेक्षेति वाच्यम्, तत्संसर्गावच्छिन्नतत्प्रकारतानिरूपिततत्तद्विशेष्यताशालिशाब्द-बोधपरमित्याकारकतात्पर्यज्ञाने संसर्गस्य विशेषणतया तद्भाननिर्वाहाय संसर्गघटकोपस्थितेरपि शाब्दबोधात् प्रागावश्यकत्वात्। प्रकृतसंसर्गेणैक-पदार्थविशिष्टापरपदार्थबोधपरत्वज्ञानस्य प्रकृतवाक्यार्थविषयकतया प्रागसंभवेनोपदर्शिततात्पर्यज्ञानस्यैव शाब्दधीहेतुत्वोपगमात्। एवं वाक्यार्थघटक संसर्गस्यानुगमे घटौ स्तः इत्यादौ वाक्यभेदप्रसंगाच्च।

यत्तु के पक्ष की ओर से कोई पुनः प्रयास करते हुए कहता है कि द्वित्वत्व से अवच्छिन्न द्वित्व के, संसर्गघटक रूप में भासित होने के लिए द्वित्वत्वेन रूपेण उपस्थिति अपेक्षित नहीं है। इस समाधान का तात्पर्य यह है कि अत्र घटौ स्तः में जो हमने पहले कहा था कि जहां उद्देश्यतावच्छेदक व्यासज्यवृत्ति धर्म होता है वहां उद्देश्यतावच्छेदक में विधेयसंसर्ग की व्यापकता निश्चित रूप से भासित होती है। अत्र घटौ स्तः यहां पर विधेय है एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व और उसका संसर्ग है स्वरूप। द्वित्वत्वावच्छिन्न द्वित्व इसी स्वरूप सम्बन्ध के घटक रूप में, शाब्दबोध में भासित हो रहा है। क्योंकि संसर्ग का पूरा स्वरूप है तद्द्वित्वव्यापक एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्वप्रतियोगिकस्वरूप। इस लम्बायमान विधेय संसर्ग=स्वरूप में द्वित्व, अवच्छेदक रूप में (घटक रूप में) ही तो भासित हो रहा है और शाब्दबोध में संसर्ग या संसर्गघटक रूप में भासित होने के लिए उसकी उपस्थिति तो अपेक्षित होती नहीं। अतः उपर्युक्त विधेय संसर्ग के घटकरूप से भासित होने के लिए द्वित्वत्वेन या तद्द्वित्वत्वेन किसी भी रूप में द्वित्व की उपस्थिति अपेक्षित

तो है नहीं। पुनः आपने जो घटद्वय के एतद्देश में रहने पर भी तद्द्वित्वत्वेन तद्द्वित्व की उपस्थिति न हो पाने से तद्द्वित्वव्यापकत्व विधेयसंसर्ग में नहीं होने से 'अत्र घटौ स्तः' यह वाक्य अप्रामाणिक होने लगेगा इत्यादि दोष दिया। सो, यह दोष अब नहीं दे सकते। क्योंकि द्वित्व की उपस्थिति आवश्यक ही नहीं। भट्टाचार्य इस प्रयास का भी खण्डन करते हुए कहते हैं कि शाब्दबोध में तात्पर्य ज्ञान कारण होता है। एवञ्च किसी भी ज्ञान में विषय रूप से भासित होने वाला पदार्थ विषयतावच्छेदक होने से विशेषण माना जाता है। ऐसी स्थिति में अत्र घटौ स्तः इस वाक्य के विषय में यदि एतद्द्वित्वव्यापक एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व प्रतियोगिकस्वरूप सम्बन्ध से अवच्छिन्ना एतद्देशवृत्तित्वनिष्ठा प्रकारता से निरूपित जो घटनिष्ठ विशेष्यता, तादृशविषयताशालीशाब्दबोध कराने की इच्छा से अत्र घटौ स्तः यह वाक्य उच्चरित है ऐसा तात्पर्यज्ञान हो तो, इस तात्पर्यज्ञान में एतद्द्वित्व संसर्गतावच्छेदक रूप से भासित हो रहा है। अत द्वित्व संसर्गघटक रूप से भासित होने के कारण तात्पर्यज्ञान में विशेषण ही है। एवञ्च संसर्गघटकतया तात्पर्य ज्ञान में द्वित्व के विशेषणरूप से भासित होने की उपपत्ति के लिए यह मानना ही पड़ेगा कि शाब्दबोध से पूर्व संसर्गघटक द्वित्व की भी उपस्थिति होती है। क्योंकि शाब्दबोध में उसी पदार्थ का भान होना माना जाता है जिसकी उपस्थिति वृत्यापदजन्य होती है। इस आपत्ति से बचने के लिए यदि कहा जाए कि 'अत्र घटौ स्तः' इस वाक्य का तात्पर्य एतद्देशवृत्तित्वप्रतियोगिकस्वरूप सम्बन्ध से एक पदार्थ=एतद्देशवृत्तित्व विशिष्ट अपरपदार्थ=घट है इस वात का बोध (शाब्दबोध) कराने में है ऐसा माना जाए तो इस तात्पर्य ज्ञान में द्वित्व विषय रूप में या यूं कह लें संसर्ग घटक रूप से भासित नहीं हो रहा है। अतः उस द्वित्व की उपस्थिति द्वित्वत्वेन अपेक्षित नहीं होने से घटद्वय स्थिति में अत्र घटौ स्तः इस वाक्य में अप्रामाण्य की आपत्ति नहीं होगी। तो, भट्टाचार्य इस समाधान का यह कहकर खण्डन करते हैं कि शाब्दबोध के पूर्व उपर्युक्त एतद्देशवृत्तित्वप्रतियोगिक स्वरुपसम्बन्ध से एतद्देशवृत्तित्व विशिष्ट घट का बोध कराने के तात्पर्य से अत्र घटौ स्तः इस वाक्य का उच्चारण हुआ है। ऐसा तात्पर्य ज्ञान होना ही असंभव है। अतः हमने जो तात्पर्य ज्ञान का स्वरूप बताया है तद्द्वित्वव्यापक एतद्देशवृत्तित्वप्रतियोगिकस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्ना एतद्देशवृत्तिनिष्ठा या प्रकारता, तादृश प्रकारतानिरूपित घट निष्ठ विशेष्यताशालि शाब्दबोध कराने के लिए अत्र घटौ स्तः यह वाक्य उच्चरित है यही तात्पर्य ज्ञान शाब्दबोध में कारण होगा। एवञ्च जब यह तात्पर्य ज्ञान कारण होगा तो कारणीभूत इस तात्पर्याज्ञान में संसर्गघटकतया तद् द्वित्व के भासित होने के कारण उसकी विशेषणता की उपपत्ति के लिए उसकी तद्द्वित्वत्वेन उपस्थिति भी आवश्यक होगी जो कि होती नहीं। इस प्रकार तद्द्वित्वत्वेन अनुपस्थित तद्द्वित्व में विधेय=एतद्देशवृत्तित्व के संसर्ग= स्वरूप की व्यापकता का प्रतिपादन करने वाला 'अत्र घटौ स्तः' यह वाक्य घट द्वय की वर्तमानता में भी अप्रामाणिक ही होने लगेगा।

इस पक्ष में दूसरा दोष यह होगा कि यदि एतद्देशवृत्तित्व रूप विधेय तथा घटरूप उद्देश्य के संसर्ग=स्वरूप के घटक रूप में तद्द्वित्व को स्वीकार करें अर्थात् एतद्देशवृत्तित्वाश्रयत्व रूप विधेय का संसर्ग तद्द्वित्वव्यापकएतद्देशवृत्तित्व प्रतियोगिकस्वरूप को मानें तो इस संसर्ग का घटक 'तद्द्वित्व' तत्व से घटित होगा और तत्त्व अननुगत धर्म है। अतः इस अननुगत तद्द्वित्व से घटित होने के कारण उपर्युक्त सम्बन्ध भी अननुगत हो जाएगा। एवञ्च शाब्दबोध के घटक संसर्ग के अननुगत होने पर शाब्दबोध के भिन्न-भिन्न होने से 'अत्र घटौ स्तः' यहां वाक्यभेद की आपत्ति होगी अर्थात् एक ही अत्र घटौ स्तः इस वाक्य से अलग-अलग शाब्दबोध मानना पड़ेगा।

अत्रोच्यते व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताकशाब्दबुद्धौ स्वव्याप्यतादृशधर्मवत्त्वमपि विधेयसंसर्गतया भासते इति व्युत्पत्तिः। व्याप्यत्वं च तद्वदन्यावृत्तित्वं व्यतिरेकिविधेयस्थले। तादृशधर्मवत्वञ्चोद्देश्यतावच्छेदकताघटकसम्बन्धेन बोध्यम्। अत्र घटौ स्तः इत्यादौ एतद्देशवर्तमानत्वादिरूपविधेयस्य तद्वदन्यावृत्तित्वरूपव्याप्तिमच्चैतद्देशस्यैकघटादिव्यक्तिमात्राधिकरणत्वे घटपटादिनिष्ठ द्वित्वमेव घटत्वव्याप्यपर्याप्तिरूपोद्देश्यतावच्छेदकताघटकसम्बन्धावच्छिन्नं तद्वत्त्वं च घटादौ बाधितमिति न तादृशवाक्यस्य प्रामाण्यम्। अधिकरणस्य घटद्वयादिमत्त्वे च घटत्वादिव्याप्यं द्वित्वमेव तथेति घटत्वादिव्याप्यपर्याप्तिसम्बन्धेन तद्वत्त्वं घटादावबाधितमिति तादृशवाक्यस्य प्रामाण्यं निर्वहतीति।

पूर्व में अथ इत्यादि से जो प्रश्न किया गया था कि एक घट के रहने पर भी अत्र घटौ स्तः अत्र घटाः सन्ति इत्यादि प्रयोग क्यों नहीं होते? इसका समाधान भट्टाचार्य अब अपने मत से अत्रोच्यते इत्यादि के द्वारा करने जा रहे हैं-तात्पर्य है कि जिस शाब्दबोध में उद्देश्यता, व्यासज्यवृत्ति धर्म=द्वित्व त्रित्व आदि से अवच्छिन्न होती है वहां पर विधेय के संसर्ग रूप में विधेय व्याप्य व्यासज्यवृत्ति धर्म (द्वित्व) वत्त्व भी भासित होता है, यह व्युत्पत्ति है। यहां विधेय संसर्ग के घटक विधेय व्याप्य व्यासज्यवृत्ति में जो व्यासज्यवृत्ति धर्म= द्वित्व आदि में, विधेय की व्याप्यता होनी चाहिए उस व्याप्यता (व्याप्ति) का स्वरूप 'तद्वदन्यावृत्तित्व' मानना चाहिए जहां विधेय व्यतिरेकी हो। इस प्रकार व्यतिरेकी विधेयस्थल में विधेय के संसर्ग का स्वरूप हुआ 'विधेयवदन्यावृत्ति व्यासज्यवृत्ति धर्मवत्त्व' अब इस सम्बन्ध से विधेय का अन्वय होगा उद्देश्य में तो विधेयवदन्यावृत्तिव्यासज्यवृत्तिधर्मवत्त्व सम्बन्ध से विधेयवान् उद्देश्य होगा। भट्टाचार्य ने विधेय के उपर्युक्त विधेयव्याप्य व्यासज्यवृत्तिधर्मत्व सम्बन्ध में आया

व्यासज्यवृत्तिधर्म उद्देश्य में किस सम्बन्ध से रहना चाहिए उसको बताया 'उद्देश्यतावच्छेदकता घटक सम्बन्ध से। इस प्रकार उपर्युक्त अत्रोच्येत इस ग्रन्थ का तात्पर्य निकला कि - जहां विधेय व्यतिरेकी हो और उद्देश्यता, द्वित्व-त्रित्व आदि व्यासज्यवृत्ति धर्म से अवच्छिन्न हो वहां पर उद्देश्यतावच्छेदक-व्याप्यपर्याप्तिसम्बन्ध से विधेयवदन्यावृत्तिद्वित्ववत्त्व भी विधेय के संसर्ग रूप से भासित होता है। यह व्युत्पत्ति है। ग्रन्थकार इस व्युत्पत्ति के द्वारा मूल प्रश्न का समाधान स्वयं करते हैं कि-एक घटादि व्यक्तिमात्राधिकरणे अर्थात् जिस अधिकरण में एक ही घट व्यक्ति है वहां पर यदि 'अत्र घटौ स्तः' यह वाक्य बोला जाता है तो उद्देश्यता तो यहां भी द्वित्व रूप व्यासज्यवृत्ति धर्म से अवच्छिन्न है। अतः यहां भी एतद्देशवृत्तित्व (वर्तमानत्व) रूप विधेय के संसर्ग रूप में-उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्यपर्याप्तिसम्बन्ध से विधेयवन्दयावृत्तिद्वित्व को भासित होना चाहिए पर्याप्ति सम्बन्ध से विधेय=एतद्देश्वृत्तिवदन्यावृत्तिद्वित्ववत्ता उद्देश्य=घट में होनी चाहिए। अर्थात् यहाँ भी उद्देश्यतावच्छेदक घटत्वव्याप्यपर्याप्ति सम्बन्ध से विधेय = एतद्देशवृत्तित्ववदन्यावृत्तिद्वित्ववत्ता उद्देश्य = घट में होनी चाहिए। जो कि रहती नहीं है। क्योंकि जहां एक ही घट है वहां उस एक घट में वहीं पर विद्यमान पट आदि की अपेक्षा से यद्यपि द्वित्व रह सकता है परन्तु घट में रहने वाला वह द्वित्व उद्देश्यतावच्छेदक=घटत्व, व्याप्य द्वित्व नहीं है। क्योंकि वह द्वित्व उद्देश्यतावच्छेदक=घटत्व के अभाववान्=पट में भी रहता है अर्थात् तद्वदन्यवृत्ति ही है तद्वदन्यावृत्ति नहीं। अतः घटपटोभयगतद्वित्व यद्यपि एक घट में है तथापि वह द्वित्व घटत्व रूप उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्य नहीं है। अतः घटत्वव्याप्यपर्याप्तिसम्बन्ध से घट में विधेयवदन्यावृत्तिद्वित्ववत्ता रूप सम्बन्ध के न होने के कारण इस सम्बन्ध से विधेय=एतद्देशवृत्तित्व का अन्वय उद्देश्य घट में नहीं हो सकता। जबकि अत्र घटौ स्तः इस वाक्य के द्वारा उद्देश्य घट में एतद्देशवृत्तिवदन्यावृत्ति द्वित्ववत्ता का विधेय के संसर्ग रूप में प्रतिपादन किया जा रहा है। इस प्रकार बाधित अर्थ का प्रतिपादन करने के कारण एक घट व्यक्ति के रहने पर अत्र घटौ स्तः यह वाक्य अप्रामाणिक ही होगा। इसी प्रकार जहां एक घटव्यक्ति हो वहां उस एक घट व्यक्ति में यदि देशान्तरस्थ घट व्यक्ति की अपेक्षा से द्वित्व माना जाए। तो यद्यपि यह द्वित्व उद्देश्यतावच्छेदक=घटत्वव्याप्य तो होगा परन्तु विधेय व्याप्य नहीं होगा। क्योंकि विधेय है= एतद्देशवर्तमानत्व, उसका अभाव है देशान्तरस्थ घट व्यक्ति में यह द्वित्व उस एतद्देश वर्तमानत्वाभाववान् देशान्तरस्थ घट व्यक्ति में भी है। इसलिए घटत्वव्याप्यपर्याप्तिसम्बन्ध से एतद्देशवृत्तिवदन्यावृत्तिद्वित्वत्व रूप सम्बन्ध यहां एतद्देशवृत्तित्व रूप विधेश्य का सम्बन्ध नहीं हो सकता। तथापि 'अत्र घटौ स्तः' इस वाक्य से बाधित उपर्युक्त सम्बन्ध का प्रतिपादन विधेय के संसर्ग रूप में किया जा रहा है। अतः उपर्युक्त स्थिति में अत्र घटौ स्तः यह वाक्य अप्रामाणिक ही होगा।

ग्रन्थकार आगे जिस अधिकरण में दो घट हों वहां पर प्रयुक्त अत्र घटौ स्तः यह वाक्य प्रामाणिक है इस बात को अधिकरणस्य घटद्वयादिमत्त्वे इत्यादि

कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जहां दो घट हैं वहां उन दोनों घटों में रहने वाले द्वित्व में घटत्वव्याप्यत्व भी है अर्थात् उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्यत्व भी है और विधेय=एतद्देशवृत्तित्वव्याप्यत्व भी है। अतः यहां उद्देश्य घट में, घटत्वव्याप्य पर्याप्तिसम्बन्ध से एतद्देशवृत्तिवदन्यावृत्तिद्वित्ववत्त्व के रहने के कारण विधेय=एतद्देशवृत्तित्व का एतद्देशवृत्तिवदन्यावृतिद्वित्ववत्त्व सम्बन्ध से घट में अन्वय हो सकता है जिसका प्रतिपादन अत्र घटौ स्तः यह वाक्य कर रहा है। इस तरह यथार्थ विषयक बोध का प्रतिपादक होने के कारण घटद्वय वर्तमान दशा में अत्र घटौ स्तः यह वाक्य प्रमाणिक ही है। यह तो व्यतिरेकी विधेय स्थल की बात हुई। जहां विधेय केवलान्वयी हो वहां के लिए ग्रन्थकार आगे कहते हैं-

केवलान्वयिविधेयकस्थले च द्वित्वत्वाद्यवच्छिन्नव्यापकत्वमेव संसर्गघटकम्। केवलान्वयिनि तादृशव्यापकताया अक्षतत्वात्। न तु तत्तद्द्वित्वत्वावच्छिन्न व्यापकत्वमिति न पूर्वोक्तदोषावकाशः।

घटौ प्रमेयौ इत्यादि केवलान्वयिविधेयकस्थल में तद्वदन्यावृत्ति त्विरूप व्याप्ति के अप्रसिद्ध होने से द्वित्वत्वावच्छिन्नत्व=उद्देश्यतावच्छेदक व्यापकत्व ही विधेय संसर्ग रूप में भासित होता है। तात्पर्य यह है कि घटौ प्रमेयौ में प्रमेयत्व है विधेय तद्वान् होगा प्रमेय मात्र उससे अन्य अर्थात् जिसमें प्रमेयत्व नहीं रहता हो ऐसा कोई पदार्थ ही अप्रसिद्ध है। अतः ऐसे स्थल में विधेय=प्रमेयत्व व्याप्य धर्मवत्त्व को विधेय का संसर्ग नहीं माना जा सकता है। अतः भट्टाचार्य ने कहा ऐसे स्थल में उद्देश्यताच्छेदक व्यापकत्व ही विधेय का संसर्ग होता है। एवञ्च स्वानिष्ठव्यापकतानिरुपकोद्देश्यतावच्छेदकवत्व ही विधेय के संसर्ग रूप में भासित होता है। प्रकृत में स्व पद से लेंगे विधेय =प्रयेयत्व को, उसमें रहने वाली व्यापकता का निरुपक है ही उद्देश्यतावच्छेदक = द्वित्व, तद्वत्त्व घट द्वय में रहेगा ही। इस प्रकार स्वनिष्ठव्यापकतानिरूपकोद्देश्यतावच्छेदकवत्त्व सम्बन्ध से विधेय=प्रमेयत्व का अन्वय उद्देश्य घट में होने के कारण ऐसे स्थल में उद्देश्यतावच्छेदकवत्त्व ही विधेय के संसर्ग रूप में भासित होता है न कि तत् तद् द्वित्वात्वाच्छिन्न व्यापकत्व अर्थात्=स्वनिष्ठव्याप्कतानिरूपक तद् द्वित्वमत्व। अतः दो घट रहने पर भी घटौ प्रमेयौ इस वाक्य में अप्रामाण्य की आपत्ति रूप पूर्वोक्त दोष नहीं होगा।

घटावानयतिचैत्रः इत्यादौचैत्रकर्तृकायनकर्मत्वादिव्याप्यद्वित्वादिमन्निष्ठनिरूपकताकाधेयत्वादिसम्बन्धेन कर्मत्वादौ घटादेरन्वयो व्युत्पन्नस्तेन चैत्रादावेकघटादिव्यक्तिमात्रानयनकर्तृत्वे न तादृशप्रयोगः। द्वित्वादिमत्त्वं च प्रकारतावच्छेदकीभूतघटत्वादिव्याप्यपर्याप्तिसम्बन्धेन बोध्यम्। तेन चैत्रस्य

पटादिसहितैकघटादिव्यक्त्यानयनकर्तृत्वेऽपि न तादृशप्रयोगः। एवमन्यत्राप्यूहनीयम्।

'घटौ आनयति चैत्रः' यहां पर घट उद्देश्य है और चैत्रकर्तृकआनयनकर्मत्व विधेय है। एवञ्च चैत्रकर्तृकानयनकर्मत्व में चैत्रकर्तृकानयनकर्मत्व (स्व) व्याप्य द्वित्वादिमन्निष्ठनिरूपकताकाधेयत्व सम्बन्ध से घट का अन्वय होना व्युत्पन्न है। तात्पर्य यह है कि घटौ आनयति चैत्रः यहाँ पर द्वितीया विभक्ति औ के अर्थ= कर्मत्व में, प्रकृत्यर्थ घट आधेयता सम्बन्ध से विशेषण है। क्योंकि जो वस्तु कहीं पर रहती है उसमें आधेयता रहती है और वह जिसमें रहती है उसमें आधारता। अतः आधेयता की निरूपक आधारता होती है। प्रकृत में घट में कर्मत्व रहता है। अतः रहने वाले कर्मत्व में आधेयता रहती है और उसका निरूपक होता है घट में रहने वाली आधारता। अस्तु। तो प्रकृत्यर्थ घट जिस आधेयता सम्बन्ध से प्रत्ययार्थ (द्वितीयार्थ) कर्मत्व में विशेषण होता है उस आधेयता में विशेषण है चैत्रकर्तृकानयनकर्मत्वव्याप्यद्वित्वादिमन्निष्ठनिरूपकताकत्व। जिसका फल यह है कि यदि चैत्र एक ही घट का आनयन करता हो तो 'घटावानयति चैत्रः' यह वाक्य प्रयोग नहीं होगा और यदि होगा तो अप्रामाणिक होगा। क्योंकि चैत्रकर्तृकानयनकर्मत्व यद्यपि एकघट में है अतः सीधे आधेयता सम्बन्ध से प्रकृत्यर्थ घट का अन्वय प्रत्ययार्थकर्मत्व में हो सकता है। परन्तु कर्मत्व में रहने वाली आधेयता की निरूपकता यहां चैत्रकर्तृकानयनकर्मत्वव्याप्यद्वित्ववन्निष्ठा नहीं है। क्योंकि पहले ही बताया जा चुका है कि आधेयता की निरूपिका आधार में रहने वाली आधारता होती है। यहां कर्मत्व निष्ठ आधेयता की निरूपकता जिस घट (आधार) में है वह घट चैत्रकर्तृकानयनकर्मत्वव्याप्यद्वित्ववान् नहीं है। इस प्रकार चैत्रकर्तृक आनयनकर्मत्व व्याप्यद्वित्ववन्निष्ठ निरूपकताक आधेयता यहां के प्रत्ययार्थ कर्मत्व में नहीं होने से घट का अन्वय चैत्रकर्तृकानयनकर्मत्व व्याप्यद्वित्ववन्निष्ठ निरूपकताक आधेयता सम्बन्ध से नहीं होता। परन्तु जहां चैत्र दो घट को ला रहा हो वहां घटद्वय चैत्रकर्तृकानयनकर्मत्वव्याप्य द्वित्ववान् है ही अतः तन्निष्ठ आधारता निरूपित आधेयता सम्बन्ध से घटद्वय का कर्मत्व में अन्वय हो जाता है। अतः वहां घटौ आनयति चैत्रः ऐसा वाक्य प्रयोग होता है। देशान्तरस्थ घटव्यक्ति की अपेक्षा करके एक घट के लाए जाने पर भी घटौ आनयति चैत्रः यह प्रयोग नहीं हो सकता। क्योंकि देशान्तरस्थ घटव्यक्ति की अपेक्षा से लाए जाने वाले घट में जो द्वित्व है वह चैत्रानयनकर्मत्वव्याप्य नहीं है। क्योंक यह द्वित्व तो चैत्रानयनकर्मत्वाभाव जहां है उस देशान्तरस्थ घटव्यक्ति में भी रहता है। इसी प्रकार कर्मत्व निष्ठ आधेयता के निरूपक घट आदि में जो चैत्रानयनकर्मत्वव्याप्यद्वित्ववत्ता लेनी चाहिए वह प्रकारतावच्छेदकीभूत घटत्वव्याप्य पर्याप्तिसम्बन्ध से लेनी चाहिए। प्रत्ययार्थ= कर्मत्व विशेष्य है प्रकृत्यर्थ घट उसमें आधेयतासम्बन्ध से प्रकार (विशेषण) है यह पूर्व में बताया जा चुका है। प्रकारतावच्छेदक यहां होगा घटत्व। इस प्रकार प्रकारतावच्छेदक=घटत्वव्याप्यपर्याप्ति सम्बन्ध से चैत्रानयनकर्मत्व व्याप्यद्वित्वादिमत्ता घट में रहनी चाहिए। ऐसा मानने का लाभ यह हुआ कि जब चैत्र एक घट

और पट दोनों वस्तु ला रहा हो तो वहां पर घटौ आनयति चैत्रः वाक्य प्रयोग नहीं होगा। यद्यपि यहां पर घट पटोभय गत द्वित्व में चैत्रानयनकर्मत्वव्याप्यत्व है। इस प्रकार यहां चैत्रानयनकर्मत्वव्याप्यद्वित्ववत्त्व घट में आ जाने से तन्निष्ठनिरूपकताक आधेयता सम्बन्ध से घट का अन्वय द्वितीयार्थ कर्मत्व में हो सकता था, परन्तु होता नहीं है। क्योंकि चैत्रानयनकर्मत्वव्याप्यत्व भले घटपटोभयगत द्वित्व में ो परन्तु घटत्वव्याप्य पर्याप्ति सम्बन्ध से यह घट पटोभयगत द्वित्व घट में नहीं रहता। अतः चैत्रानयन कर्मत्वव्याप्यद्वित्ववान् पद से यहां का घट नहीं लिया जा सकता। अतः चैत्रानयनकर्मत्वव्याप्यद्वित्ववन्निष्ठनिरूपकताकआधेयता सम्बन्ध से घट का अन्वय प्रत्ययार्थ कर्मत्व में नहीं होने से घटौ आनयति चैत्रः यह प्रयोग उपर्युक्त स्थिति में नहीं होता। ऐसा अन्यत्र भी ऊह करना चाहिए।

यत्रानेकवृत्तिधर्मो द्वित्वान्वयितावच्छेदकतया भासते तत्रोभयादिनैव समं पदार्थान्तरस्यान्वयः। यत्रैकमात्रवृत्तिस्तथा तत्रैकेनाऽपि व्युत्पत्तिभेदावलम्बनात् कार्यकारणभाववैचित्रयाच्च सर्वं समंजसमित्यपि वदन्ति।

प्रस्तुत प्रकरण में किसी के मत का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि जहां अनेकवृत्तिधर्म द्वित्व के अन्वयितावच्छेदक रूप से भासित होता है वहां पर पदार्थान्तर का अन्वय उभय (दो) के साथ ही होता है। जैसे दो घट रहने पर 'अत्र घटौ स्तः' यह वाक्य प्रयोग होता है क्योंकि यहां प्रत्ययार्थ द्वित्व का अन्वयितावच्छेदक रूप से भासित होने वाला धर्म=घटत्व दो घट में रहता है। अतः यहां अत्र पदार्थ एतद्देशवृत्तित्व का अन्वय दोनों घट के साथ होता है। अतः एक घट के रहने पर अत्र घटौ स्तः यह प्रयोग नहीं होता और यदि होता है तो अप्रामाणिक माना जाता है। क्योंकि द्वित्व के अन्वयितावच्छेदक रूप से भासित होने वाला धर्म घटत्व यहां भी अनेक घटवृत्ति है। अतः यहां भी एतद्देशवृत्तित्व का अन्वय दो घट के साथ ही होगा एक घट में नहीं। एवञ्च जहां द्वित्व के अन्वयितावच्छेदक रूप से एकमात्रवृत्ति धर्म भासित होता है वहां पर पदार्थान्तर का अन्वय एक के साथ भी होता है। क्योंकि ऐसे स्थल में व्युत्पत्ति में भेद माना जाता है और कार्यकारण भाव भी अलग-अलग होता है। जैसे 'अत्राकाशौ स्तः' यहां पर द्वित्व के अन्वयितावच्छेदक रूप से भासित होने वाला धर्म आकाशत्व एक मात्रवृत्ति है, क्योंकि आकाश तो एक ही है। अतः यहां एतद्देशवृत्तित्व रूप पदार्थान्तर का अन्वय एक आकाश के साथ भी होता है। क्योंकि यहां द्वित्व विशिष्ट आकाश विशेष्यक एतद्देशवृत्तित्व प्रकारक शाब्दबोध में सप्तम्यन्त अत्र पदसमभिव्याहृत द्विवचनान्त आकाशपद ज्ञान को कारण मान लेंगे। और द्वित्वविशिष्ट घट विशेष्यक एतद्देशवृत्तित्व प्रकारक शाब्दबोध में सप्तम्यन्त अत्र पद समभिव्याहृत्त द्विवचनान्त घट पद ज्ञान को कारण मान लेंगे। इस प्रकार कार्य कारण भाव की

विचित्रता के कारण सभी जगह अन्वय बोध का सामंजस्य हो जाता है। भट्टाचार्य इस मत का प्रतिपादन करके अंत में इत्यपि वदन्ति कहकर इस मत में अपना अस्वरस सूचित करते हैं। इसका कारण है कि 'अत्राकाशौस्तः'ऐसा प्रयोग तो होता ही नहीं। पुनः उसके निर्वाह के लिए व्युत्पत्ति स्वीकार करना और कार्यकारण भाव की कल्पना करना उचित नहीं है। घटावानयति चैत्रः इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध में सूक्ष्मता को ग्रन्थकार यहां प्रतिबध्य प्रतिबंधक भाव के द्वारा अग्रिम ग्रन्थ से बताने जा रहे हैं-

अथ घटादिव्यक्तिभेदेनानयनकर्मता भिन्नेतिप्रतिसंदधानस्य पुंसः घटावानयति इति वाक्याच्छाब्दबोधानुपपत्तिः। तस्य कर्मतात्वावच्छेदेनाधेयतासंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य द्वित्वाद्यवच्छिन्नघटाद्यभावस्य निश्चयसंभवात्, तस्य द्वित्वादिना तादृशसंसर्गकघटादिविशिष्टधीविरोधित्वादितिचेत्। न, उभयत्वाद्यवच्छिन्नाभाववत्ता- ज्ञानमुभयत्वावच्छिन्ननिरूपिताधेयतासंसर्गावगाहिज्ञानमेव प्रतिबध्नाति, न तु केवलं विशेष्ये विशेषणमितिरीत्या जायमानमुभयत्वादिविशिष्टज्ञानम्। अतो विशेषदर्शिनां तादृशवाक्याद् दोषायत्तमाधेयत्वांशे उभयत्वाद्यवच्छिन्ननिरूपितत्वावगाहिभ्रमात्मकज्ञानं न भवत्येव, अपितु तु तदंशे तदनवगाहि प्रमात्मकं ज्ञानमिति। उभयत्त्वावच्छिन्ननिरूपिताधेयत्वं चोभयादिवृत्तावेकस्मिन् धर्मे एव, न तु प्रत्येकमात्रवृत्तावितिकर्मत्वांशे तादृशाधेयत्वावगाहिज्ञानस्य भ्रमत्वमित्यवधेयम्।

'घटावानयति चैत्रः' इस स्थल में प्रत्ययार्थ कर्मत्व में आधेयता सम्बन्ध से घटद्वय का अन्वय होता है, ऐसा अभी-अभी प्रतिपादन कर चुके हैं। परन्तु घटव्यक्ति रूप कर्म के भेद से आनयन कर्मता को भी भिन्न मानने वाले पुरूष को 'घटावानयति' इस वाक्य से उपर्युक्त शाब्दबोध नहीं हो सकता। यहां घटव्यक्ति के भेद से आनयन कर्मता को भिन्न मानने का कारण यह है कि संयोगानुकूल व्यापारानुकूल व्यापार ही आङ्पूर्वक नी धातु का अर्थ है। इस व्यापार से जन्य संयोगानुकूल व्यापार ही तो कर्मता पदार्थ है। व्यापार आश्रय के भेद से भिन्न होता है। अतः एक कर्मता में द्वित्ववान् घट का वैशिष्ट्य आश्रयता सम्बन्ध से नहीं रह सकता। अतः कहा गया कि कर्मता को भिन्न मानने वाले पुरूष को 'घटावानयति' इस वाक्य से आश्रयता सम्बन्धेन द्वित्ववद् घटवती कर्मता 'ऐसा शाब्दबोध नहीं हो सकता।' क्योंकि संयोगानुकूल व्यापाराश्रय के भेद से संयोगानुकूल व्यापार रूप कर्मता को भिन्न मानने वाले पुरूष को कर्मतात्वावच्छेदेन कर्मता मात्र में

आधेयतासंसर्ग से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाले द्वित्वावच्छिन्न घटाभाव का निश्चय होना संभव है। एवञ्च आधेयता सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक द्वित्वावच्छिन्न घटाभाव निश्चय, द्वित्वेन, आधेयता सम्बन्ध से घटवत्ता बुद्धि का विरोधी (प्रतिबंधक) होता है। अर्थात् जिस पुरूष को कर्मता में आधेयता सम्बन्ध से घटद्वयाभाववत्ता का निश्चय हो गया है उसे कर्मता में आधेयता सम्बन्ध से घटद्वयान्वय बुद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि दोनों ज्ञान परस्पर विरूद्ध हैं। ग्रन्थकार उपर्युक्त आपत्ति का वारण न इत्यादि से करते हैं। उभयत्वाद्यवच्छिन्नाभाववत्ताज्ञानम्= उभयत्वावच्छिन्नअभाववत्ताज्ञान, उभयत्वावच्छिन्न निरूपिताधेयतासंसर्गावगाहि-ज्ञानमेव= उभयत्वावच्छिन्न निरूपित आधेयता सम्वन्ध का अवगाहन करने वाले ज्ञान को ही, प्रतिबध्नाति= रोकता है, न तु केवलं विशेष्ये विशेषणमिति रीत्या= न कि केवल विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणम् इस रीति से जायमानम्= उत्पन्न होने वाले उभयत्वादिविशिष्टज्ञानम्=उभयत्व आदि से विशिष्ट ज्ञान को।

अव इस ग्रन्थ को समझने के लिए उभयत्वावच्छिन्नाभाववत्ताज्ञान, उभयत्वावच्छिन्ननिरूपिताधेयतासंसर्गावगाहिज्ञान और उभयत्वविशिष्टज्ञान के अन्तर को समझना आवश्यक है। अतः पहले इनको समझें, उभयत्वावच्छिन्नाभाववत्ताज्ञान का अर्थ है जिस अभाववत्ताज्ञान (प्रतिबन्धकज्ञान) में, उभयत्व केवल प्रतियोगी घट में ही विशेषण न हो, अपितु प्रतियोगितावच्छेदक आधेयता सम्बन्ध में विशेषणरुप से भासित होनेवाली आधारता में भी अवच्छेदक रूप से भासित हो। इस प्रकार उभयत्वावच्छिन्ना जो घटद्वयनिष्ठा आधारता, उस आधारता से निरूपित आधेयता संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताक घटद्वयाभाव ही उभयत्वावच्छिन्नाभाव शब्द का यहां अर्थ है। एवञ्च उभयत्वावच्छिन्ननिरूपिताधेयतासंसर्गावगाहिज्ञान का भी अर्थ है=उभयत्व से अवच्छिन्न है घटद्वय में रहने वाली आधारता (निरूपकता) जिसकी, ऐसी आधारता से निरूपित आधेयता रूप संसर्ग (सम्बन्ध) का अवगाहन करने वाला ज्ञान। एवञ्च उभयत्वविशिष्टज्ञान का अर्थ है उभयत्व से विशिष्ट जो घटद्वय तद्वत्ता का ज्ञान। अब प्रकृत ग्रन्थ को समझें- जिस पुरूष को घटव्यक्ति की भिन्नता के कारण उसमें रहने वाली कर्मता भिन्न है ऐसा ज्ञान होगा उसे कर्मता में उभयत्वावच्छिन्न घटद्वयनिष्ठाधारतानिरूपिताधेयतासम्बन्ध से घटद्वयाभाववत्ता का निश्चय होगा अर्थात् इस पुरूष के मत में आनयनकर्मता के भिन्न होने से उसमें रहने वाली आधेयता, घटद्वय से निरूपित नहीं होगी तो उसे आनयनकर्मतानिष्ठाधेयता घटद्वयनिरूपितत्वाभाववती यह निश्चय होगा। यह निश्चय तो द्वित्वेन उभयत्वावच्छिन्नघट द्वयनिष्ठाधारता निरूपित आधेयता सम्बन्ध का अवगाहन करने वाले अर्थात् 'आनयन कर्मता निष्ठाधेयता. घटद्वयनिष्ठाधारता निरूपिता' इसी ज्ञान को प्रतिबन्धित करेगा। क्योंकि प्रतिबन्धक अभाववत्ता ज्ञान में उभयत्व, आधेयता

संसर्ग में विशेषण रूप से भासित होने वाली आधारता का अवच्छेदक रूप से भासित हो रहा है। अतः यह अभाव निश्चय उसी ज्ञान को प्रतिबन्धित करेगा जिस ज्ञान में आधेयता संसर्ग के विशेपणीभूत आधारता के अवच्छेदक रूप में उभयत्व भासित होगा। ऐसा घट द्वयनिष्ठाधारता निरूपिता आनयन कर्मतानिष्ठाधेयता यही ज्ञान हो सकता है। न कि 'घटावानयति' इस वाक्य से होने वाला आधेयता सम्बन्ध से घटद्वयवती कर्मता ऐसा विशिष्ट ज्ञान। इस ज्ञान में उभयत्व विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेपणम् इसी रीति से घट में ही विशेषण है न कि आधेयता संसर्ग के विशेषणी भूत आधारता में भी।

कर्मतारूप विशेष्य में विशेषण है घट और उस घट में विशेषण है द्वित्व। इस प्रकार विषय के भेद होने से घटद्वय निरूपितत्वाभाववती आनयन कर्मतानिष्ठाधेयता यह निश्चय होने पर भी घटावानयति इस वाक्य से आधेयता सम्बन्धेन घटद्वयवती कर्मता यह विशिष्ट ज्ञान होगा ही।

इसीलिए घटव्यक्ति की भिन्नता के कारण कर्मता को भिन्न मानने वाले जिस विद्वान् व्यक्ति को आनयनकर्मता उभयत्वावच्छिन्ननिरूपिताधयेताभाववती ऐसा विशेष निश्चय हो ऐसे विशेषदर्शी पुरूष को 'घटावानयति' इस वाक्य से दोषवशात् आधेयता अंश में उभयत्वावच्छिन्न निरुपितत्व का अर्थात् कर्मतानिष्ठ आधेयता उभयत्वावच्छित्र घटद्वयनिरूपिता ऐसा भ्रमात्मक ज्ञान नहीं होता अपितु उस आधेयता अंश में उभयत्वावच्छिन्न घटद्वय निरूपितत्व का अवगाहन नहीं करने वाला प्रमात्मक ज्ञान ही होता है। गदाधर भट्टाचार्य आधेयता अंश में उभयत्वावच्छिन्न निरूपितत्वावगाही ज्ञान को भ्रम क्यों माना जाता है? इसको समझा रहे हैं कि उभयादिवृत्तौ=दो आदि में रहने वाले, एकस्मिन् धर्मे= एक धर्म में (द्वित्व, त्रित्व आदि में) एव=ही, उभयत्वावच्छिन्ननिरूपिताधेयत्वम्=उभयत्व से अवच्छिन्न आधेयता रहती है। न तु प्रत्येकमात्रवृत्तिः न कि एक-एक व्यक्ति मात्र में रहने वाले धर्म में रहने वाली आधेयता उभयत्वावच्छिन्न निरूपित होती है। 'घटावानयति' यहां कर्मत्व अंश में रहने वाली आधेयता में उभयत्वावच्छिन्ननिरूपितत्व का अवगाहन होने पर वह भ्रम ही कहलाएगा। क्योंकि प्रत्येक घट व्यक्ति में रहने वाली कर्मता भिन्न-भिन्न है। इस प्रकार प्रत्येक घट व्यक्ति में अलग-अलग रहने वाली कर्मता में रहने वाली आधेयता भी प्रत्येक व्यक्ति निरूपिता ही होगी। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति मात्र से निरूपित कर्मता निष्ठाधेयता में यदि उभयत्वावच्छिन्न निरूपितत्व प्रकारक ज्ञान हो जाए तो वह भ्रम ही तो होगा। इस प्रकार इस पूरे समाधान का सारांश यह है कि-घट व्यक्ति के भेद से कर्मता को भिन्न जानने वाले को कर्मतानिष्ठ आधेयता उभयत्वावच्छिन्न घटद्वय निरूपित नहीं है ऐसा निश्चय होता है। ऐसी स्थिति में यदि 'घटावानयति' इस वाक्य से कर्मतानिष्ठ आधेयता

उभयत्वावच्छिन्ननिरूपित है ऐसा ज्ञान होता तो कहा भी जा सकता था कि उपर्युक्त अभाववत्ता निश्चय के रहते घटावानयति से शाब्दबोध नहीं हो सकता है। परन्तु 'घटावानयति' इस वाक्य से तो 'आधेयता सम्बन्ध से द्वित्वविशिष्ट घटवती कर्मता' ऐसा शाब्दबोध होता है। इस शाब्दबोध का उपर्युक्त अभाववत्ताज्ञान से कोई विरोध नहीं है। अतः शाब्दबोध होने में कोई आपत्ति नहीं। क्योंकि घट में द्वित्व रहता ही है अतः घट में द्वित्व वैशिष्ट्य का ज्ञान भी प्रमा ही है और कर्मता भले ही भिन्न-भिन्न हो, परन्तु उस कर्मता में आधेयता सम्बन्ध से द्वित्वविशिष्ट घट का अन्वय भी हो सकता है। अतः ऐसा अन्वय ज्ञान भी प्रमा ही है। अतः घटावानयति इस वाक्य से उपर्युक्त अभाववत्ताज्ञान के रहने पर भी शाब्दबोध होगा ही।

संख्याश्च प्रकृत्यर्थतावच्छेदकगताः क्वचित् प्रतीयन्ते यथा सम्पन्नौ व्रीहियवौ इत्यादौ एतत्तत्त्वं प्रागेवाभिहितम्। विरूद्धसंख्यावच्छिन्न-वाचकशतादिपदोत्तरा विभक्त्युपस्थाप्या संख्या प्रकृत्यर्थतावच्छेदक संख्यायामेवान्वेति, यथा शतमेकम् द्वेशते त्रीणिशतानि इत्यत्र शतत्वादावेकत्वद्वित्वबहुत्वानामन्वयः। अत एव चैकशतद्विशततात्पर्येण न शतानि इति प्रयोगः। तत्र प्रकृत्यर्थस्य शतस्य बहुत्वाद्यन्वययोग्यत्वेपि प्रकृत्यर्थतावच्छेदकशतत्वांशे बहुत्वाद्यन्वये एव बहुवचनस्य साकांक्षत्वात् तत्रच योग्यताविरहात्।

विभक्त्यर्थ संख्या कहीं-कहीं प्रकृत्यर्थतावच्छेदक में ही अन्वित होती हुई प्रतीत होती है। जैसे सम्पन्नौ व्रीहियवौ यहां पर अनेक व्रीहि अनेक यव के तात्पर्य से उच्चरित व्रीहियवरूप पद के अर्थ व्रीहि यव में औविभक्त्यर्थ द्वित्व संख्या का अन्वय बाधित है। अतः यहां विभक्त्यर्थ द्वित्व संख्या का अन्वय प्रकृत्यर्थतावच्छेदक=व्रीहित्व और यवत्व में होता है। व्रीहित्व और यवत्व दो जातियां हैं। अतः उनमें द्वित्व का अन्वय होना उपपन्न भी है। यहां पदार्थः पदार्थेन अन्वेति इस व्युत्पत्ति का विरोध तो होता है परन्तु इसके सम्बन्ध में पहले ही सम्पन्नो व्रीहिः में वास्तविक समाधान कहा जा चुका है। जैसे वहां स्वाश्रयप्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्त्व सम्बन्ध से एकत्व का अन्वय प्रकत्यर्थ में होता है वैसे यहां भी द्वित्व का अन्वय भी स्वाश्रयप्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्त्व सम्बन्ध से प्रकृत्यर्थ=व्रीहियव में कर देंगे। अस्तु।

विभक्त्यर्थ संख्या के विरूद्ध संख्या से अवच्छिन्न के वाचक शत आदि पद के आगे आने वाली विभक्ति के द्वारा उपस्थापित संख्या का प्रकृत्यर्थतावच्छेदकीभूत संख्या में ही अन्वय होता है। जैसे शतमेकम्, द्वेशते, त्रीणि शतानि। इन

प्रयोगों में एकम् या द्वे या त्रीणि पद स्पष्टार्थ है क्योंकि एकत्व द्वित्व त्रित्व आदि अर्थ तो शतपदोत्तर आयी सु आदि विभक्ति के द्वारा ही उपस्थापित होती हैं। अस्तु। इस तरह शतम्, शते, शतानि आदि प्रयोगों में विभक्त्यर्थ संख्या है क्रमशः एकत्व, द्वित्व और त्रित्व (अथवा बहुत्व) और प्रकृति शत पद शतत्व संख्यावच्छिन्नशत का वाचक है। इस प्रकार शतत्व संख्यावच्छिन्नशत रूप प्रकृत्यर्थ में विभक्त्यर्थ एकत्व या द्वित्व या त्रित्व संख्या का अन्वय नहीं हो सकता। अतः ग्रन्थकार ने कहा कि विभक्त्यर्थ संख्या से विरूद्ध संख्या से अवच्छिन्न शत आदि के वाचक शत आदि पद के उत्तर आयी विभक्तियों के अर्थ=संख्या का अन्वय प्रकृत्यर्थतावच्छेदक संख्या में होता है। इस प्रकार शतम् यहां पर विभक्त्यर्थ एकत्व का प्रकृत्यर्थतावच्छेदक शतत्व में तथा शते यहां पर द्वित्व का भी शतत्व में तथा शतानि यहां भी विभक्त्यर्थ बहुत्व का भी प्रकृत्यर्थतावच्छेदक शतत्व संख्या में ही अन्वय होता है। शतत्व में एकत्व, द्वित्व या बहुत्व का अन्वय योग्य भी है। अतएव एक शत (एक सौ) के तात्पर्य से 'शतानि' ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग नहीं होता। क्योंकि शतानि में प्रकृति भूत शत पद के अर्थ शत में विभक्त्यर्थ बहुत्व संख्या का अन्वय योग्य है हो सकता है, परन्तु यहां बहुवचन जस् विभक्ति, अपने अर्थ बहुत्व का प्रकृत्यर्थतावच्छेदक=शतत्व के साथ अन्वय कराने में ही साकांक्ष है और प्रकृत्यर्थतावच्छेदक शतत्व में विभक्त्यर्थ=बहुत्व का अन्वय, योग्यता नहीं होने से हो नहीं सकता। क्योंकि तात्पर्य तो एक ही शत में शत पद का है तो एक शतत्व में बहुत्व के अन्वय होने की योग्यता कैसे रहेगी। अतः एक शत का बोध कराने के तात्पर्य से शतानि ऐसा प्रयोग नहीं होता।

न चैकशतेऽपि नानपुरूषीयापेक्षाबुद्धिजन्यनानाशतत्वसंभवादेकशतनिष्ठशतत्वेऽपि बहुत्वान्वययोग्यताऽक्षतैवेतिवाच्यम् परस्परसमानाधिकरणद्वयावृत्तिबहुत्वस्यैव शतादिपदोत्तरबहुवचनार्थत्वात्। तादृशबहुत्वस्य एकशतादिवृत्तिनानाशतत्वादौ बाधात्। अथवा तत्रापि बहुत्वमेव बहुवचनार्थः परस्परसमानाधिकरणद्वयावृत्तिपर्याप्तिरेवाकाँक्षानिरूपकः सम्बन्धः।

यहां कोई प्रश्न करता है कि एक शत में नानापुरूषीयअपेक्षाबुद्धि से जन्य नाना शतत्व हो सकता है। तात्पर्य यह है कि एकत्व संख्या के अतिरिक्त सभी संख्या अनेक्षा बुद्धि से जन्य होती है और अपेक्षा बुद्धि पुरूष भेद से भिन्न-भिन्न होती है। ऐसी स्थिति में एक ही शत में अनेक पुरूष की अपेक्षा बुद्धियों से अनेक शतत्व संख्या उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार एक ही शत में अनेक शतत्व के संभव होने से उन अनेक शतत्व रूप प्रकृत्यर्थतावच्छेदक में विभक्त्यर्थ बहुत्व का अन्वय होना योग्य होगा। पुनः एक शत के तात्पर्य से 'शतानि' ऐसा

प्रयोग क्यों नहीं हो सकता? इस प्रश्न का समाधान ग्रन्थकार देते हैं कि-जस् विभक्ति का अर्थ यहां 'परस्पर समानाधिकरण द्वयावृत्ति बहुत्व है न कि केवल बहुत्व।' एक अधिकरण में रहनेवाली दो वस्तु को परस्परसमानाधिकरणद्वय कहा जाता है, ऐसे परस्परसमानाधिकरणद्वय में अवृत्ति अर्थात् नहीं रहने वाला बहुत्व ही जस् विभक्ति रूप बहुवचन का 'शतानि' में अर्थ है। ऐसी स्थिति में एक ही शत में अनेक पुरूषों की अपेक्षा बुद्धि से जन्य अनेक शतत्वों में उपर्युक्त परस्पर समानाधिकरणद्वयावृत्तित्वरूप बहुत्व का अन्वय संभव नहीं। क्योंकि एक शत रूप एक ही अधिकरण में अनेक पुरूषों की अपेक्षा बुद्धियों से उत्पन्न होने वाले शतत्व द्वय परस्पर समानाधिकरण ही है, उस शतत्व द्वय में वहुत्व का अवृतित्व वाधित है। इस प्रकार एक ही शत में अनेक पुरूषों की अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न अनेक शतत्व परस्पर समानाधिकरण शतत्व हुए, उन अनेक शतत्व में रहने वाला बहुत्व परस्पर समानाधिकरण शतत्व द्वय में भी वृत्ति हुआ। इस प्रकार परस्पर समानाधिकरण शतत्वद्वय में परस्पर समानाधिकरणद्वयावृत्ति रूप विभक्त्यर्थ= बहुत्व का अन्वय बाधित होने के कारण योग्य नहीं है।

अथवा अन्य स्थलों की तरह यहां भी जस् का अर्थ केवल बहुत्व ही मानें, न कि परस्पर समानाधिकरणद्वयावृत्तित्व विशिष्ट बहुत्व। तो, बहुत्व संख्या का निरूपक सम्बन्ध परस्परसमानाधिकरणद्वयावृत्तिपर्याप्ति को मानेंगे। एवञ्च एक ही शत में नाना पुरूषीय अपेक्षा बुद्धि से जन्य अनेक शतत्व में जिस बहुत्व संख्या का पर्याप्ति सम्बन्ध से अन्वय होगा। वह पर्याप्ति परस्परसमानाधिकरणशतत्व-द्वय वृत्ति ही है। अतः बहुत्व पर्याप्ति में परस्पर समानाधिकरण शतत्व द्वय वृत्तित्व रहने के कारण एक शत के तात्पर्य से 'शतानि' ऐसा प्रयोग नहीं होता।

यत्तु 'द्वे शते' 'त्रीणी शतानि' इत्यादौ संख्यैव शतादिशब्दार्थ न तु संख्येयम्, संख्येयस्य तदर्थत्वे विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येयसंख्ययोः इत्यानुशासनविरोधाद् द्विवचनादिसाधुतानापत्तेः, 'गवां शतानि' इत्यादौ षष्ठ्यर्थान्वययानुपपत्तेश्च। न चाभेदः षष्ठ्यर्थः। तथासति 'ब्राह्मणा दश' इत्यत्र 'ब्राह्मणानां दश' इत्यपि स्यात्। अस्माकं चादशतः संख्याः संख्येये वर्तन्ते। अतः परं संख्याने संख्येये च इत्यनुशासनाद् दशादिशब्दानां शतादिशब्दवत्संख्यानार्थकत्वाभावाद् दशत्वादिसंख्यायाः पदार्थतावच्छेदकत्वेन तत्र षष्ठ्यर्थे सम्बन्धान्वयासंभवेन न तथाप्रयोग इति।

उपर्युक्त आपत्ति का परिहार करने के लिए यत्तु कहता है कि द्वे शते त्रीणि शतानि इत्यादि स्थल में शतत्व आदि संख्या ही शत शब्द का अर्थ है न कि शतत्व संख्यावच्छिन्न संख्येय (वस्तु)। क्योंकि यदि शत आदि शब्द का अर्थ

संख्येय को माना जाएगा तो पदार्थः पदार्थेन अन्वेति इस व्युत्पत्ति का तथा प्रकृत्यर्थान्वित स्वार्थबोधकत्वं प्रत्ययानां इस नियम का तो विरोध होगा ही। क्योंकि शत शब्द का अर्थ संख्येय होगा संख्या तु पदार्थतावच्छेदक होगी और उसी पदार्थतावच्छेदक रूप संख्या में विभक्त्यर्थ संख्या का अन्वय होगा न कि संख्येय रूप पदार्थ में, तो प्रत्ययार्थ= संख्या प्रकृत्यर्थ= संख्येय में अन्वित नहीं हो पायी। अतः प्रकृत्यर्थान्वित स्वार्थबोधकत्वम् प्रत्ययानां नियम का विरोध हुआ और विभक्त्यर्थ रूप पदार्थ का संख्या रूप पदार्थतावच्छेदक में अन्वय होने के कारण पदार्थः पदार्थेन अन्वेति इस व्युत्पत्ति का भी विरोध हुआ। इन दो नियमों के विरोध के अतिरिक्त यदि शत आदि शब्द का अर्थ संख्या न मानकर संख्येय को मानें तो 'विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येय संख्ययोः' इस अमर कोष रूप अनुशासन का भी विरोध होने से 'शते' में द्विवचन और शतानि यहां बहुवचन की साधुता भी अनुपपन्न होगी। क्योंकि उपर्युक्त कोश तो यह अनुशासन करता है कि संख्येय अर्थ में, विंशति से लेकर उसके आगे के सभी संख्यावाचक शब्द एकवचनान्त ही होते हैं। ऐसी स्थिति में यदि शत शब्द का अर्थ संख्येय मानें तो शतशब्द के आगे एकवचन (सु) ही साधु होगा। द्विवचन बहुवचन का प्रयोग तो अनुशासन विरूद्ध होने से असाधु ही होगा। अर्थात् संख्येय अर्थ में शते, शतानि, ऐसा द्विवचनांत या बहुवचनान्त प्रयोग असाधु होने से होता ही नहीं। एवञ्च शत शब्द का अर्थ यदि संख्येय माना जाएगा तो एक आपत्ति यह भी आएगी कि 'गवां शतानि' यहां गो पदोत्तर षष्ठी विभक्ति के अर्थ= वृत्तित्व का अन्वय भी अनुपपन्न हो जाएगा। क्योंकि तव गवां शतानि का वाक्यार्थ होगा 'गोवृत्तिनि शत संख्येयानि' जो कि अनुपपन्न है गाय में भला सौ संख्येय कैसे रह सकते हैं। यदि यहां शत पद का अर्थ संख्येय मान लें और षष्ठी विभक्ति का अर्थ वृत्तित्व न करके अभेद मानें। तब उक्त वाक्य से 'गवाभिन्नानिशतानि' ऐसा शाब्दबोध होगा जो कि उपपन्न भी है। परन्तु षष्ठी का अर्थ अभेद नहीं माना जा सकता। क्योंकि यदि षष्ठी विभक्ति का अर्थ अभेद माना जाएगा तो जैसे 'ब्राह्मणाभिन्न दश' अर्थ में 'ब्राह्मणा दश' ऐसा प्रयोग होता है वैसे ही 'ब्राह्मणानां दश' यह प्रयोग भी होने लगेगा। अतः षष्ठी विभक्ति का अर्थ अभेद नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में यदि शत शब्द का अर्थ शतत्व संख्या को न मानकर संख्येय को माना जाएगा तो गवां शतानि में षष्ठ्यर्थ वृत्तित्व का अन्वय अनुपन्न होगा ही। अतः शत आदि शब्द का अर्थ शतत्व संख्या को ही मानना चाहिए। ऐसा मानने पर ऊपर प्रदर्शित कोई भी दोष नहीं होगा। जैसे तब शत रूप प्रकृति का अर्थ शतत्व संख्या भी पदार्थ होगा और उसी में विभक्त्यर्थ संख्या का अन्वय होगा तो पदार्थ में पदार्थ का अन्वय हुआ और प्रकृत्यर्थ में

ही विभक्त्यर्थ का तो पदार्थः पदार्थेन अन्वेति, इस नियम का और प्रकृत्यर्थत्वित स्वार्थ बोधकत्वं प्रत्ययानां इस नियम का भी पालन हो गया और शत पद शतत्व संख्यापरक होने से 'संख्यायां द्वि बहुत्वेस्तः' इस अनुशासन के अनुसार शत पद के आगे द्विवचन बहुवचन के भी साधु होने से विंशत्याद्याः इस नियम का भी उल्लंघन नहीं हुआ। क्योंकि यह कोष संख्येयपरक विंशति आदि शब्द के विषय में एकवचनत्व का नियम करता है संख्या परक विंशति आदि शब्दों के विषय में नहीं। यहां तो हम शत शब्द को संख्यावाची मान रहे हैं।

एवञ्च गवां शतानि में षष्ठयर्थ के अन्वय की अपनुपपत्ति भी नहीं रहेगी। क्योंकि हमारे मत में तो एक से दश अर्थात् अष्टादश पर्यंत सभी संख्या शब्द संख्येय अर्थ में होते हैं संख्येये ह्यादश त्रिषु इस कोश के अनुसार। इसके आगे अर्थात ऊनविंशति को लेकर आगे के सभी संख्यावाची शब्द संख्या और संख्येय दोनों अर्थों में होते हैं। ऐसा उपुर्यक्त कोश का अनुशासन है तो 'गवां शतानि' में तो शत शब्द संख्यापरक होने से 'गोवृत्तिनी शतानि' ऐसा शाब्दबोध होने से शत पदार्थ शतत्व संख्या में षष्ठर्थ वृत्तित्व का अन्वय होता है। अब 'ब्राह्मणा दश' यहां पर दश शब्द एक से लेकर अष्टादश शब्द के मध्य का है, अतः संख्येय वाची ही है तो ब्राह्मणाभिन्न दश ऐसा शाब्दबोध होता है परन्तु 'ब्राह्मणानां दश' ऐसा प्रयोग नहीं होता। क्योंकि दश पद का अर्थ तो वहां संख्येय ही है उसमें षष्ठ्यर्थ वृत्तित्व का अन्वय नहीं हो सकता, दशपदार्थतावच्छेदक दश संख्येयरूप पदार्थ में विशेषण दशत्व संख्या में षष्ठ्यर्थ वृत्तित्व का अन्वय नहीं हो सकता 'पदार्थः पदार्थेन अन्वेति' इस व्युत्पत्ति का विरोध होने से। अतः 'ब्राह्मणानां दश' ऐसा प्रयोग नहीं होता। तात्पर्य यह है कि 'ब्राह्मणानां दश' यहां पर षष्ठ्यर्थ=वृत्तित्व का दश पदार्थ=दश संख्येय में अन्वयय नहीं हो सकता क्योंकि ब्राह्मणवृत्तीनि दश संख्येयानि ऐसा शाब्दबोध नहीं होता। हां। षष्ठ्यर्थ वृत्तित्व का दश पदार्थतावच्छेदक=दशत्व संख्या में अन्वय हो तो सकता है योग्य है, परन्तु दशत्व संख्या पदार्थतावच्छेदक है। अतः उसमें पदार्थान्तर का अन्वय करने पर 'पदार्थः पदार्थेन अन्वेति' इस नियम का विरोध होगा। इस प्रकार दश प्रकृत्यर्थ और दशत्व प्रकृत्यर्थतावच्छेदक दोनों में कहीं पर भी षष्ठ्यर्थ वृत्तित्व का अन्वय उपपन्न न होने से 'ब्राह्मणानां दश' ऐसा प्रयोग नहीं होता। इस प्रकार शते, शतानि यहाँ पर शत शब्द का अर्थ शतत्व संख्या ही मानेंगे तो उसी में विभक्त्यर्थ का अन्वय होता है।

तदसत् गवां शतानि इत्यादौ संख्यायाः प्राधान्येन शतादिशब्दवाच्यत्वे 'गवां शतं दद्यात्' इत्यादौ शतादिपदार्थस्य संख्याया दानादिकर्मत्वान्वयाऽयोग्यतया प्रामाण्यानुपपत्तिः, गवां शतं शुक्लम् इत्यादौ

संख्यायां शुक्लाभेदान्वययोग्यताविरहात् तदनुपपत्तिश्च। तस्माद् दशादिशब्दा इव विंशतिशतसहस्रादिशब्दा अपि संख्यावच्छिन्नवाचका एव न तु धर्मिविशेषणतानापन्नसंख्यावाचकाः।

भट्टाचार्य उपर्युक्त यत्तु के मत का खण्डन तदसत् से करते हुए कहते हैं कि यदि द्वे शते त्रीणि शतानि या गवां शतानि इत्यादि स्थलों में शत शब्द प्रधान रूप से शतत्व संख्या को ही कहता है अर्थात् संख्या ही शत शब्द का वाच्यार्थ है तो 'गवां शतं दद्यात्' यहां भी शत शब्द का प्राधान्येन शतत्व संख्या ही अर्थ होगा। एवञ्च शतत्व संख्या में दान क्रिया के कर्मरूप से अन्वय होने की योग्यता नहीं है। क्योंकि संख्या का दान संभव नहीं। ऐसी स्थिति में अयोग्य अर्थ का प्रतिपादन करने के कारण गवां शतं दद्यात् यह वाक्य अप्रामाणिक होने लगेगा। इसी प्रकार गवां शतं शुक्लम् यहां भी शत पद का अर्थ शतत्व संख्या ही होगी तो उसमें शुक्ल पदार्थ शुक्लत्व का अभेदान्वय की योग्यता नहीं है क्योंकि शतत्व संख्या और शुक्लत्व दोनों भिन्न पदार्थ हैं और दो भिन्न पदार्थों का अभेदान्वय नहीं होता। एवं च शतत्व संख्या भी गुण है और शुक्लत्व भी गुण है तो एक गुण में दूसरे गुण का अन्वय नहीं होता गुणे गुणानगींकारात्। यदि शतत्व संख्या (गुण) और शुक्लत्व (गुण) एक ही वस्तु होती तो उनका परस्पर अभेदान्वय हो सकता था परन्तु दोनों भिन्न पदार्थ हैं। अतः शतत्व संख्या में अभेदसम्बन्ध से शुक्लत्व के साथ अन्वित होने की योग्यता नहीं होने से अयोग्य पदार्थ का प्रतिपादन करने के कारण गवां शतं शुक्लम् यह वाक्य भी अप्रामाणिक होने लगेगा। इसलिए दश आदि शब्दों की तरह विंशति, शत, सहस्र आदि शब्द भी संख्यावच्छिन्न संख्येय के वाचक हैं न कि धर्मी (संख्येय) की विशेषणता को अप्राप्त विशुद्ध संख्या मात्र के। हाँ चूंकि शत आदि शब्द शतत्व संख्यावच्छिन्न शत प्रमेय के वाचक हैं तो वे संख्या वाचक भी हैं हीं। इसका अर्थ यह नहीं कि वे प्राधान्येन (स्वतंत्र रूप से) केवल संख्या मात्र के वाचक हैं। एवञ्च जब शत आदि शब्द शतत्वावच्छिन्न शतसंख्येय के वाचक हैं तो गवां शतं दद्यात् के शतत्वावच्छिन्नशत संख्येय (गाय) में दानकर्मत्वेन अन्वित होने की योग्यता होने से यह वाक्य भी प्रामाणिक हो जाता है। इसी प्रकार गवां शतं शुक्लम् यहां भी शतत्वावच्छिन्न शत प्रमेय में अभेदसम्बन्ध से शुकल्त्व विशिष्ट के साथ अन्वित होने की योग्यता होने से यह वाक्य भी प्रामाणिक होता है।

स्वार्थैकदेशेऽपि संख्यायां स्वप्रकृतिकविभक्त्यर्थसंख्यान्वय-साकाँक्षतया, अन्यप्रकृतिकषष्ठयर्थसम्बन्धान्वयसाकाॅक्षतया च तेषां संख्यानार्थकताप्रवादो न तु दशादिशब्दानां तथात्वं दशादिब्राह्मणतात्पर्येण

'ब्राह्मणानां दश' इत्यादिप्रयोगविरहादिति तेषां संख्येयमात्रवाचिताप्रवाद इति। विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येयसंख्ययोः। संख्यार्थे द्विबहुत्वे स्तः इत्यनुशासनमप्युक्तार्थे तात्पर्यग्राहकम्।

अब यहां जिज्ञासा होती है कि यदि दश, शत, सहस्र आदि सभी शब्द संख्यावच्छिन्नसंख्येय के ही वाचक हैं तो शत आदि शब्दों को संख्यावाचक तथा दश आदि शब्दों को संख्येय वाचक ही क्यों कहा जाता है? भट्टाचार्य इस जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वारा करते हैं-तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणानां शतम् इत्यादि स्थल में स्व=शत पद का जो अर्थ है शतत्वावच्छिन्न शत उसके एकदेश=शतत्व संख्या में, शत पदोत्तर आयी सु विभक्ति का अर्थ एकत्व संख्या अन्वयसाकाँक्ष है तथा ब्राह्मण आदि अन्य पद है प्रकृति जिसकी ऐसी षष्ठी विभक्ति का जो अर्थ है वृत्तित्व सम्बन्ध, वह भी अन्वय साकाँक्ष है। अतः ब्राह्मण पदोत्तर आयी षष्ठी विभक्ति का अर्थ वृत्तित्व तथा शत पदोत्तर आयी सु विभक्ति का अर्थ एकत्व, ये दोनों शत पदार्थैकदेश शतत्व संख्या में अन्वित होते हैं। अतः शत पद शतत्व संख्यावानर्थक है ऐसा प्रवाद है अर्थात् लोग कहते हैं। वस्तुतः तो शत पद शतत्वावच्छिन्न शत संख्येय का वाचक है। दश आदि शब्दों में ऐसी स्थिति नहीं है। क्योंकि न तो दश शब्द के अर्थ=दशत्वावच्छिन्नदश के एक देश=दशत्व संख्या में दश पदोत्तर आयी जस् विभक्ति का अर्थ बहुत्व संख्या ही अन्वय साकॉक्ष है और न ही 'ब्राह्मणानां दश' यहां पर ब्राह्मण पदोत्तर आयी षष्ठी विभक्ति का अर्थ=सम्बन्ध (वृत्तित्व) ही अन्वय साकॉक्षा है। इसलिए न तो दशपदार्थैक देश दशत्व संख्या में दशपदोत्तर जस् विभक्त्यर्थ बहुत्व संख्या का या ब्राह्मण पदोत्तर षष्ठी विभक्त्यर्थ वृत्तित्व सम्बन्ध का अन्वय होता है। अतः ब्राह्मणानां शतम् की तरह ब्राह्मणानां दश ऐसा प्रयोग नहीं होता। अतएव लोग 'दश आदिशब्द संख्यावाची नहीं है संख्येयवाची ही हैं' ऐसा कहते हैं। विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येय संख्ययोः संख्यार्थे द्विबहुत्वे स्तः यह अमरकोश भी इसी अर्थ में तात्पर्य ग्राहक है अर्थात् मैंने जो स्थिति बतायी है उसी में उपर्युक्त कोश का भी तात्पर्य है।

एकद्विबहुशब्दोत्तरैकवचनद्विवचनबहुवचनानि च न संख्याबोधकानि उद्देश्यतावच्छेदकविधेयोरैक्येनैकत्वाद्यन्वये आकांक्षाविरहादिति तदुत्तरं प्रथमा विभक्तिः प्रयोगसाधुतामात्राय। नित्यबहुवचनान्तअबादिशब्दपरं प्रथमा बहुवचनमपि क्वचिन्निरर्थकमेव यत्रैकव्यक्तिमात्रतात्पर्येण तादृशशब्दः प्रयुज्यते तत्र बहुत्वान्वये योग्यताविरहात्।

एक द्वि और बहु शब्द के आगे क्रमशः आने वाले एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संख्या बोधक नहीं होते। अर्थात् एकः यहां पर एक पदोत्तर आयी सु विभक्ति, द्वौ यहां पर द्वि पदोत्तर आयी औ विभक्ति, बहवः यहां पर बहु पदोत्तर आयी जस् विभक्ति क्रमशः एकत्व, द्वित्व या बहुत्व संख्या के बोधक नहीं होते। क्योंकि यदि एकः में सु विभक्ति का अर्थ एकत्व संख्या मानें तो प्रकृतिभूत एक पद का अर्थ भी एकत्व ही है, इस प्रकार उद्देश्यतावच्छेदक (प्रकृत्यर्थ) भी एकत्व और विधेय सु विभक्त्यर्थ भी एकत्व होगा तो उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय के एक जो जाने से प्रकृत्यर्थ एकत्व में, विधेय के अन्वय होने में आकांक्षा नहीं होने से शाब्दबोध नहीं होगा। यही स्थिति द्वौ बहवः में समझनी चाहिए। अतः एकः में सु, द्वौ में औ तथा बहवः में जस् विभक्ति केवल प्रयोग साधुत्व मात्र के लिए है। इसी प्रकार नित्यबहुवचनान्त 'अप्' आदि शब्द के आगे आने वाली बहुवचन=जस् विभक्ति भी निरर्थक ही है। क्योंकि जहां एक जलव्यक्ति मात्र के तात्पर्य से 'आपः' ऐसा प्रयोग किया जाएगा तो वहां जस् विभक्त्यर्थ बहुत्व का अन्वय प्रकृत्यर्थ=एक जल व्यक्ति में योग्य नहीं होगा। अतः ऐसे स्थल में भी विभक्ति (जस्) निरर्थक (प्रयोग साधुत्व मात्र के लिए) ही माननी चाहिए। ऐसे ही 'दारा' शब्द के विषय में भी समझना चाहिए।

यत्तु तद्गतगुणादिसाधारणबहुत्वस्य तत्रान्वय इति। तन्न शोभनम्, प्रकृत्यर्थतावच्छेदकव्याप्यपर्याप्तिसम्बन्धेनैवानेकवृत्तिसंख्यान्वयस्य व्युत्पन्नतया तादृश्सम्बन्धेन तथाविधबहुत्वान्वये योग्यताविरहात्। अन्यथा उदासीन-घटपटादिसाधारणबहुत्वस्याप्यन्वयसम्भवेन तद्गतगुणादि-साधारण बहुत्वानुधावनस्याकिंचित्करत्वात्।

आपः में आयी जस् विभक्ति की सार्थकता सिद्ध करने के लिए यत्तु कहता है कि जहां एकजल व्यक्ति के तात्पर्य से आपः शब्द का प्रयोग हुआ है वहां भी प्रकृत्यर्थ-एक जल व्यक्ति में रहने वाले रूप रस आदि चौदह गुणों में जो बहुत्व है उसी में विभत्त्यर्थ का अन्वय होगा। पुनः उसे व्यर्थ क्यों मानें। भट्टाचार्य कहते हैं कि यत्तु का यह कथन अच्छा नहीं है। क्योंकि अनेक वृत्ति द्वित्व त्रित्व आदि संख्या का अन्वय "प्रकृत्यर्थतावच्छेदकव्याप्यपर्याप्तिसम्बन्ध से ही होता है "यह पहले बताया जा चुका है। तो आपः यहां भी जस् विभक्त्यर्थ बहुत्व का अन्वय प्रकृत्यर्थतावच्छेदक - आप्त्व व्याप्य पर्याप्तिसम्बन्ध से ही होगा। एवंच अप्त्वव्याप्य पर्याप्तिसम्बन्ध से बहुत्व का अन्वय आप् (जल) में ही होगा न कि आप्गत गुणों में क्योंकि उन गुणों में आप्त्व नहीं है। एवञ्च अप्त्वव्याप्य पर्याप्तिसम्बन्ध से बहुत्व का अन्वय एक आप् (जल) व्यक्ति में अयोग्य ही है। अतः वहां विभक्ति को निरर्थक ही मानो। यदि आप्त्वव्याप्य पर्याप्ति सम्बन्ध की

अपेक्षा केवल पर्याप्ति सम्बन्ध से ही बहुत्व का अन्वय करें तो तब जस् विभक्त्यर्थ बहुत्व का अन्वय जलगत गुणों में करने की अपेक्षा जल समीपवर्ती घट पट आदि अनेक पदार्थों में रहने वाले बहुत्व को लेकर ही कर देंगे। पुनः जलगत गुण तक जाने की कल्पना भी अकिञ्चित्कर होगी। अतः द्वित्व त्रित्व बहुत्व का अन्वय प्रकृत्यर्थतावच्छेदक (अप्त्व) व्याप्य पर्याप्तिसम्बन्ध से ही करना चाहिए।

अथाजहत्स्वार्थलक्षणया गुणादिसाधारणधर्मावच्छिन्न एव प्रकृत्यर्थ इति चेत्। तर्हि बहुत्वेन भासमानेषु गुणादिष्वपि पदार्थान्तरान्वयः स्यात् तथाच "आपो द्रव्याणि' दारागृहे सन्ति "इत्यादिवाक्यानामप्रमाणतापत्तिः गुणादिषु द्रव्या-भेदे गृहवृत्तितादेर्बाधात्। मुख्यार्थमात्रपरतादृशशब्दानां बहुवचनान्ततानुपपत्तिश्चेति न किंचिदेतत्। अबादिपदार्थे एकत्वद्वित्वान्वययोग्यतासत्वेप्यसाधुत्वादेव तदुत्तरमेकवचनं न प्रयुज्यत इति ध्येयम्।

"आपः" में बहुवचन की सार्थकता की उपपत्ति के लिए पुनः कोई प्रयास करते हुए कहता है कि - "आपः" यहाँ पर "आप्" रूप प्रकृति का अजहत्स्वार्थलक्षणा से गुणादिसाधारणधर्मावच्छिन्न अर्थात् "जल-जलगत गुणान्यतर' ही अर्थ मान लेंगें। इस प्रकार आप् पदोत्तर जस् विभक्त्यर्थ बहुत्व का अन्वय जल-जलगत गुणान्य तरत्वव्याप्यपर्याप्ति सम्बन्ध से जलगत गुणों में भी हो सकता है। जलगतगुण चौदह हैं।, अतः उनमें बहुत्व का अन्वय योग्य भी है ही, पुनः बहुवचन को वहाँ निरर्थक या साधुत्वार्थक क्यों माना जाए भट्टाचार्य इस प्रयास का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि इस प्रकार आप् शब्द का अर्थ अजहत्स्वार्थलक्षणा से जल तथा जलगत गुण दोनों को मानकर उनमें विभक्त्यर्थ बहुत्व का अन्वय मानोगे तो—बहुत्वेन भासमान अनेक रूप में भासित होने वाले प्रक्त्यर्थ उन गुणों में विभक्त्यर्थ बहुत्व की तरह पदार्थान्तर का भी अन्वय मानना होगा। क्योंकि पहले बता चुके हैं कि द्वित्व बहुत्व का अन्वय जितनी व्यक्तियों में होता है, पदार्थान्तर का अन्वय भी उतनी व्यक्तियों में होता है। ऐसी स्थिति में "आपो-द्रव्यणि" यहां पर आप् पद के अर्थ उन गुणों में द्रव्य पदार्थ का अभेद सम्बन्ध से अन्वय तो होगा नहीं। क्योंकि द्रव्य और गुण दोनों भिन्न पदार्थ है। द्रव्य में गुण का अन्वय समवाय सम्बन्ध से तथा द्रव्य का गुण में समवेतत्व सम्बन्ध से अन्वय हुआ करता है। आपो द्रव्याणि यहाँ पर दोनों पदों के समान वचन होने से अभेदान्वय होता है जो कि आपके अनुसार बाधित है द्रव्य का भला अभेद सम्बन्ध से आप् पदार्थ गुण में अन्वय कैसे होगा? अर्थात् नहीं हो सकता। जबकि लोक में "आपोद्रव्याणि" वाक्य से अभेदान्वय बोध होता है। अतः आपके

व्याख्यानुसार यह वाक्य बाधित अभेदान्वय का बोधक होने के कारण अप्रमाणिक होने लगेगा इसी प्रकार "दाराः" यहां पर दार शब्द का अर्थ दार-दार गतगुणान्यतर होगा। तो "दाराः गृहे सन्ति" यहाँ भी दार पदार्थ दारगत गुण में सप्तम्यन्त गृहे पदार्थ गृहवृत्तिता का अन्वय बाधित है। दारागत गुण दारा में रहेगा गृह में तो रहता नहीं। अतः दारागत गुण में गृहवृत्तिता बाधित है। जबकि लोक में "दारा गृहे सन्ति" इस वाक्य से होने वाले शाब्द बोध में दार पदार्थ में गृह वृत्तिता विषय रूप से भासित होती है। अतः बाधितार्थविषयक शाब्दबोध का जनक होने के कारण "दारा गृहे सन्ति" यह वाक्य भी अप्रामाणिक हो जाएगा। इसी प्रकार आपः दाराः इत्यादि में अजहत् स्वार्थ लक्षणा के द्वारा तत्तद्गत गुणों को भी शब्दार्थ मानकर जस् विभक्ति को तो सार्थक सिद्ध कर सकते हैं। परन्तु जब आप् शब्द अपने मुख्य अर्थ जल परक होगा या दारा शब्द मात्र पत्नी परक होगा तब उसके आगे बहुवचन नहीं आ पाएगा (अनुपपन्न होगा) क्योंकि बहुत्व का उपपादक प्रकृत्यर्थ तब होगा नहीं। अतः अजहत्स्वार्थ लक्षणा से तद्गुण साधारण धर्मावच्छिन्न आपः में प्रकृत्यर्थ है ये सब कल्पना करना कोई बात नहीं है व्यर्थ है। वस्तुतः अप् पद का जो अर्थ है जल या दार पद का जो अर्थ है पत्नी उनमें एकवचनार्थ एकत्व द्विवचनार्थ द्वित्व की अन्वय योग्यता तो है ही, तथापि अप् या दार शब्द से एकवचन या द्विवचन केवल इसलिए नहीं आता क्योंकि अप् या दार शब्द के आगे एकवचन द्विवचन को कोश ने असाधु माना है। अतः बहुवचन को वहां साधुत्वार्थक ही मानना चाहिए।

आख्यातैकवचनस्य संख्यार्थकत्वे विवदन्ते निष्कर्षानुसारिणः-घटोऽस्ति इत्यादौ सुबेकवचनादेव संख्याबोधसंभवात्, चैत्रेण दृष्टो घटः इत्यादिस्थलानुरोधेन तस्य तद्बोधकताया आवश्यकत्वात्। नचैकवचनत्वेन अनुगतेनैकत्वशक्तत्वात् तिबेकवचनस्याप्येकत्व-वाचकत्वमक्षतमिति वाच्यम्, एकवचनत्वस्यैकत्वशक्ततावच्छेदकतायाः प्रागेव निराकृतत्वात्।

सिद्धान्तानुसारी लोग आख्यात (तिङ्) के एक वचन के संख्यावाचकत्व में विवाद करते हैं। तस्, झि इत्यादिका अर्थ संख्या है यह तो घटः पटश्च भवतः, चैत्रो मैत्रो रामश्च गच्छन्ति इत्यादि प्रामाणिक प्रयोग से सिद्धध है क्योंकि घटः पटश्च भवतः यहाँपर घट तथा पट में विशेषणरूप से प्रतीति होने वाली द्वित्व संख्या का प्रतिपादक वहाँ सुविभक्ति तो है नहीं अपितु तिङ विभक्ति (तस्) हीं है। अतः तस झि, इत्यादि आख्यात द्विवचन बहुवचन की संख्यावाचकता तो निर्विवाद है। विवाद है तिङ् के एकवचन की संख्यावाचकता में सिद्धान्तियों का यहां कथन यह है कि "चैत्रेण दृष्टो घटः" यहाँ तिङ विभक्ति तो कोई है नहीं तथापि घट

पदार्थ के विशेषण रूप से एकत्व संख्या की जो प्रतीति हो रही है, वह एकत्व संख्या तो सुविभक्ति का ही अर्थ मानना होगा। एवञ्च यदि यहां सुविभक्ति का अर्थ एकत्व संख्या को मानना आवश्यक है, तो घटोऽस्ति यहाँ भी (जहाँ कि ति रूप आख्यात का एक वचन उपलब्ध है) एकत्व संख्या की प्रतीति सुविभक्ति से ही मान लेंगें ति का अर्थ एकत्व संख्या मानने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि कहें कि एकत्व अर्थ की शक्ति एकवचन में होने से एकत्व निरूपित शक्तता का अवच्छेदक एकवचनत्व है अर्थात् एकवचनत्वेन रूपेण एकवचन (सु) में एकत्व की शक्ति रहती है, तो एकत्व की शक्तावच्छेदकता जिस एकवचनत्व में रहती है वह एकवचनत्व जैसे सु में है वैसे ति में भी है। इसलिए एकवचन होने के कारण यदि सु में एकत्व अर्थ की शक्ति मानी जाती है तो ति में भी माननी चाहिए क्योंकि एकवचन ति भी तो है ही। भट्टाचार्य इसका खण्डन पहले तो यह कहकर करते हैं कि एकत्व निरूपित शक्तता का अवच्छेदक रूप एकवचनत्व है" इस बात का निराकरण पहले ही किया जा चुका है कि एकवचनत्व दुर्वच है। एवंच चूँकि एकवचनत्व एकत्व का शक्तावच्छेदक नहीं है। अतः केवल एकवचन होने मात्र से "ति" एकत्व का वाचक नहीं माना जा सकता।

अस्तु वा तेन रूपेण तिङेकवचनस्याप्येकत्वे शक्तिस्तथापि तज्जन्यैकत्वोपास्थितेः शाब्दबोधोपयोगित्वे मानाभावः। नहि सामान्यत एकवचनज्ञानजन्योपस्थितित्वेनतच्छाब्दबोधहेतुता संभवति। तथा सति एकत्वेऽगृहीतसुपदवृत्तिकस्य पुंसः सुपदप्रकृतिघटादिपदोपस्याप्यघटादौ पटादिपदोत्तरामादिपदोपस्थाप्यैकत्वाद्यन्वयबोधप्रसङ्गात् किन्तु सुपदत्वादि-प्रकारकाज्ञानजन्यतदुपस्थितित्वादिनैव तथा सति घटादिपदोत्तर सुपदत्वा दिरूपानुपूर्वीविशेषरूपाकाँक्षाज्ञानघटितायां घटादावेकत्वान्वयबोधस्य सामग्रयां सुपदत्वादिप्रकारकधीजन्योपस्थितेरेवान्तर्भावात् तादृशाप्तेर-नवकाशात्। एवंच तिबादिपदत्वप्रकारकज्ञानजन्योपस्थितित्वेन तच्छाब्दबोधहेतुत्वे मानाभाव इति।

अथवा एकवचनत्वेन रूपेण एकवचन होने के कारण तिङ् के एकवचन में भी एकत्व की शक्ति मान लें अर्थात् तिङ् के एकवचन को भी एकत्व का वाचक मान लें, तथापि उस तिङ् के एकवचन के द्वारा जो एकत्व की उपस्थिति होगी वह शाब्दबोधोपयोगी भी होगी इसमें कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात् वहाँ सुप् विभक्ति के एकवचन का ही अर्थ एकत्व होता है। इसीबात को ग्रन्थकार युक्ति से सिद्ध कर रहे हैं। शाब्दबोध में जो एकत्वोपस्थिति कारण होती है। वह केवल एकवचनत्वेन एकवचन के ज्ञान से उत्पन्न (एकत्व) उपस्थिति होने के कारण नहीं

क्योंकि यदि केवल एकवचन के ज्ञान से जन्य उपस्थिति होने के कारण ही एकत्वोपस्थिति एकत्वप्रकारक शाब्दबोध का कारण होने लगे तो जिस पुरूष को सुपद की वृत्ति (शक्ति) एकत्व अर्थ में है इस प्रकार का शक्तिग्रह नहीं है, उस पुरूष को स्वन्तघट पद अर्थात् "घटः" इस पद के द्वारा उपस्थापित घट अर्थ में "पटम्" इस पट पदोत्तर अम् विभक्ति के अर्थ एकत्व का भी अन्वय बोध होने लगेगा। क्योंकि इस एकत्व की उपस्थिति भी "अम्" पद रूप एकवचनज्ञानजन्य तो है ही तो यह अम्पद ज्ञानजन्य एकत्वोपथिति भी एकत्व प्रकारक घट विशेष्यक शाब्दबोध में कारण होने लगेगा। जबकि होता नहीं। अतः एकवचनत्वेन एकवचन ज्ञानजन्य एकत्वोपस्थिति एकत्वप्रकारकघटविशेष्यक शाब्दबोध के प्रति कारण नहीं मांना जा सकता है। अपितु सुपदत्व प्रकारक शक्ति ज्ञान जन्य एकत्वोपस्थिति एकत्व प्रकारक घट विशेष्यक शाब्दबोध में कारण होगा। तब कार्यकारण भाव होगा स्वन्तघटपदोपस्थापित घटविशेष्यक एकत्व प्रकारक शाब्दबोध के प्रति, सुपदत्व प्रकारक शक्तिज्ञान जन्य एकत्वोपस्थितिः कारण है। ऐसा कार्यकारण भाव जब मानते हैं तो स्वन्तघटपद से उपस्थित घट में एकत्वान्वय बोध की जो सामग्री (कारणसमुदाय) है घट पदाव्यवहितोर सु पदत्व रूप "अनुपूर्वीविशेषरूप आकांक्षा ज्ञान से घटित शाब्दबोधसामग्री उसमें सुपदत्व प्रकारक शाक्तिज्ञान जन्य सुपदम् एकत्वे शाक्तम्" इस शक्ति ज्ञान जन्य उपस्थिति का ही अन्तर्भाव है। अर्थात स्वन्त घटपदोपस्थाप्य घटविशेष्यक एकत्वप्रकारक शाब्दबोध की जो कारण सामग्री है घटपदाव्यवहितोत्तरसुपदत्वरूप आकाँक्षाज्ञान से घटित सामग्री उस कारण सामग्री में "सुपदत्व प्रकारक शक्ति ज्ञान जन्य उपस्थिति" ही अन्तर्भूत है, न कि एकवचनत्वेन एकवचन ज्ञान जन्य एकत्वोपस्थिति। अतः स्वन्तघट पदोपस्थाप्य घट में पटम् पद के पट पदोत्तर अम्पद ज्ञान जन्य उपस्थित एकत्व के अन्वय की आपत्ति नहीं होगी। इस प्रकार जैसे घट विशेय्यक एकत्व प्रकारक शाब्दबोध के कारणीभूत "घटपदाव्यवहितोत्तर सु पदत्व रूप "आकांक्षा ज्ञान घटित कारण समुदाय में एकवचनत्वेन एकवचनज्ञान जन्य एकत्वोपस्थिति का अन्तर्भाव नहीं होने से पटपदोत्तरअम् पदज्ञानजन्य एकत्वोपस्थिति घट विशेष्यक एकत्वप्रकारकशाब्दबोध में कारण नहीं होता वैसे ही तिपद ज्ञान जन्य एकत्वोस्थिति भी कारण नहीं होगी क्योंकि तिपद ज्ञानजन्य एकत्वोपथिति का भी उक्तकारण सामग्री में अन्तर्भाव नहीं है।

यत्तु तिबादेः संख्यानभिधायकत्वे चैत्रः पचति तण्डुलम् चैत्रेण पच्यंते तण्डुलः इत्यादौ कर्तृकर्मवाचकपदात् तृतीयाद्वितीययोरापत्तिः। कर्तृकर्मगतसंख्यानभिधाने "कर्तृकरणयोस्तृतीया" इति 'कर्मणिद्वितीया' इति

सूत्राभ्यां तयोरनुशासनात्। नैयायिकमते लकारस्य कर्तृकर्मावाचकतया तदनभिधानस्य द्वितीयातृतीयानियामकत्वासंभवात्।

तिङ् के एकवचन की शक्ति एकत्व में है और उसके द्वारा उपस्थापित एकत्व भी शाब्दबोध में भासित होता है इसको सिद्ध करने के लिए यत्तु (मीमांसक) कहता है कि यदि तिप् आदि के द्वारा संख्या का अभिधान (कथन) नहीं होगा तो "चैत्रः पचति तण्डुलम् यहाँ कर्तृवाचक चैत्र पद से तृतीया की आपत्ति होगी और चैत्रेण पच्यते तण्डुलः यहाँ पर कर्मवाचक तण्डुल पद से द्वितीया विभक्ति की आपत्ति आएगी। क्योंकि कर्तृगत संख्या के अनुक्त होने पर कर्तृवाचक पद से "कर्तृकरणयोस्तृतीया" इस सूत्र से तृतीया विभक्ति का तथा कर्मगत संख्या के अनुक्त होने पर "कर्मणि द्वितीया' इस सूत्र से कर्मवाचक पद से द्वितीया विभक्ति का विधान (अनुशासन) किया जाता है क्योंकि नैयायिकों के मत में लकार कर्ता या कर्म का वाचक नहीं माना जाता। अतः उनके मत में कर्ता का अनुक्त होना तृतीया विभक्ति का या कर्म का अनुक्त होना द्वितीया विभक्ति का नियामक होना संभव नहीं। तात्पर्य यह है कि नैयायिकों के मत में यदि तिङ् के एकवचन का अर्थ संख्या नहीं मानेंगे तो तिङ् के एकवचन का जहाँ प्रयोग हुआ है ऐसे चैत्रः पचति तण्डुलम् चैत्रेण पच्यते तण्डुलः इत्यादि में जो तृतीया द्वितीया आदि अनिष्ट विभक्तियों की आपत्ति आएगी यह स्पष्ट है। इस आपत्ति से बचने के लिए नैयायिक यह भी नहीं कह सकते कि "लकार के द्वारा जहाँ कर्ताअनुक्त हो वहाँ कर्तृकरणयोस्तीया से कर्तृवाचक पद से तृतीया और जहाँ कर्मअनुक्त हो वहाँ कर्मवाचक पद से "कर्मणि द्वितीया" से द्वितीया विभक्ति आती है। क्योंकि नैयायिक लोग लकार की शक्ति कर्ता, कर्म अर्थ में मानते ही नहीं। तो, उनके मत में तो लकार के द्वारा कर्ता कर्म सदा अनुक्त ही रहते हैं। अतः लकार के द्वारा कर्ता का अनुक्त होना तृतीया विभक्ति का और कर्म का अनुक्त होना द्वितीया विभक्ति का नियामक नहीं हो सकता। अतः चैत्रेण पच्यते तण्डुलः में चैत्रपदोत्तर तृतीया विभक्ति की उपपत्ति के लिए और चैत्रः पचति तण्डुलम् में तण्डुल पदोत्तर द्वितीया विभक्ति की उपपत्ति के लिए तिङ् के एकवचन के द्वारा कर्तृ कर्मगत संख्या का अनुक्त होना ही नियामक होगा।ऐसी स्थिति में चैत्रः पचति तण्डुलम् में चैत्र पदोत्तरतृतीया विभक्ति की प्राप्ति रूप आपत्ति तथा चैत्रेण पच्यते तण्डुलड में तण्डुलपदोत्तर द्वितीया विभक्ति की प्राप्ति रूप आपत्ति का वारण के लिए तिङ् के एकवचन का अर्थ संख्या मानना ही चाहिए।

न च कर्त्रादिगतसंख्यानभिधानमेव कथं कर्त्रादिवाचक-पदोत्तरतृतीयादिनियामकम्, चैत्रेण पच्यते तण्डुलः इत्यादिस्थलेऽपि लकारस्य चैत्रादिगत संख्याभिधायकत्वात् एकत्वत्वादिना

एकत्वादिसामान्यस्यैवैकवचनाद्यभिधेयत्वादितिवाच्यम्, यतस्तद्गतसंख्यान-भिधायकत्वं प्रकृते न तद्गतसंख्यानिष्ठवृत्यनिरूपकत्वम्, अपितु तद् विशेष्यकसंख्याप्रकारकशाब्दबोधाननुकूलत्वमेव। तथा च कर्त्रादि विशेष्यकसंख्यान्वयबोधाजनकलकारादिसममिव्याहृतकर्त्रादिवाचकपदात्तृतीय ाद्योभवन्तीत्यत्रैतदनुशासनतात्पर्यम्।

अब यहाँ आक्षेप किया जा रहा है कि -

कर्ता कर्मगत संख्या का अनुक्त होना ही क्यों कर्तृवाचक पदोत्तर तृतीया और कर्मवाचक पदोत्तर द्वितीया विभक्ति का नियामक माना जाता है चैत्रेण पच्यते तण्डुलः इत्यादिस्थल में भी लकार (ते) चैत्रगत (कर्तृगत) संख्या का अभिधायक है। क्योंकि एकवचन का अर्थ एकत्वत्वेन रूपेण एकत्व सामान्य (जाति-संख्या) ही है, तो "पच्यते" का ते भी एकवचन है तो उसमें एकत्वत्वेन रूपेण एकत्व अर्थ की शक्ति है तो वह ते यहाँ भी चैत्रगत एकत्व संख्या का कथन तो करेगा ही। इस प्रकार कर्तृगत संख्या तो यहाँ भी उक्त ही है पुनः यहाँ चैत्रपदोत्तर तृतीया विभक्ति कैसे हुई?

यत्तु की ओर से समाधान किया जा रहा है कि- कर्तृगत संख्या के अनभिधान का अर्थ यहाँ यह नहीं है कि "कर्तृगत संख्या में जो वृत्ति (शक्ति) है उसका निरूपक तिङ्का एकवचन नहीं है" अपितु "कर्तृ विशेष्यक संख्या प्रकारक शाब्दबोध के अनुकूल (जनक) नहीं होना ही कतृगत संख्या का तिङ् के एकवचन के द्वारा अनुक्त होना है। एवं च कर्तृविशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबोध के अजनक लकार के समभिव्याहृत कर्तृवाचक पद से तृतीया विभक्ति होती है इसी अर्थ में कर्तृकरणयोस्तृतीया का तात्पर्य है। इसी प्रकार "कर्म विशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबोध के अजनक लकार के सममिव्याहृत कर्मवाचक पदसे द्वितीया विभक्ति होती है इसी अर्थ में कर्मणि द्वितीया का तात्पर्य है। ऐसा मान लेने पर कहीं कोई दोष नहीं होता। "चैत्रेणपच्यते तण्डुलः" यहाँ पर ते में एकत्व संख्या निष्ठ वृत्ति (शक्ति) की निरूपकता तो है ही क्योंकि एकत्व निरूपिता शक्ति एकवचन में मानी जाती है। परन्त कर्तृगत संख्या निष्ठ वृत्ति निरूपकत्व ही कर्तृगत संख्या का अभिधान तो हम मानते नहीं अपितु कर्तृविशेष्यक संख्या प्रकारक शाब्दबोध के अनुकूल होना ही ति या ते का कर्तृगत संख्याभिधायकत्व है। अब चैत्रेण पच्यते तण्डुलः में तण्डुल विशेष्यक संख्या प्रकारक शाब्दबोध होता है अर्थात् एकत्व संख्या का अन्वय कर्म तण्डुल में होता है। अतः यहाँ "कर्तृविशेष्यक संख्या प्रकारक शाब्दबोध के अननुकूल लकार के सममिव्याहृत कर्तृपद चैत्रपद है। अतः यहाँ कर्तृवाचक चैत्र पद से तृतीया विभक्ति होती है। और चैत्रः पचति तण्डुलम् में एकत्व का अन्वय कर्म तण्डुल में न होकर कर्ता चैत्र में होता है। अतः

कर्मविशेष्यक संख्या प्रकारक शाब्दबोध का जनक यहाँ लकार (ति) नहीं है। इसलिए कर्मविशेष्यक संख्या प्रकारक शाब्दबोध के अजनक लकार के समभिव्याहृत ही है यहाँ कर्मवाचक तण्डुल पद। अतः यहाँ कर्मवाचक तण्डुल पद से द्वितीयाविभक्ति होती है। चैत्रेण पच्यते तण्डुलः में संख्या का अन्वय कर्ता चैत्र के साथ नहीं होने का क्या कारण है? इसका समाधान आगे के ग्रन्थ से बताया जा रहा है।

चैत्रेण पच्यते तण्डुलः इत्यादौ चैत्रादिविशेष्यकसंख्यान्वयबोधकत्वं नाख्यातस्य, आख्यातार्थभावनाया यत्रान्वयस्तद्विशेष्यकसंख्यान्वयबोधस्यैवाख्यातेन जननात् तादृशभावनान्वयबोधे विशेष्यञ्च प्रथमान्तपदोपस्थाप्य एव। चैत्रः पचति तण्डलम् इत्यादौ चैत्रादिः साक्षादेव भावनाविशेष्यः चैत्रेण पच्यते तण्डुलः इत्यादौ तु परम्परया चैत्रादिनिष्ठ-भावनाजन्यफलशालीतण्डुल इत्याकारकबोधस्यैव तत्रोदयात्। तस्मात्तिबादेरपि संख्याबोधकत्वमावश्यकमिति।

चैत्रेण पच्यते तण्डुलः यहाँ पर लकार (ते) कर्तृविशेष्यक संख्या प्रकाक शाब्दबोध के अनुकूल नहीं "है" यह पूर्व में कह आये हैं। इस में उपपत्ति दे रहे हैं कि - चैत्रेण पच्यते तण्डुलः में चैत्र विशेष्यक संख्या प्रकारक शाब्दबोधजनकत्व आख्यात (ते) में नहीं है। क्योंकि आख्यात के अर्थ भावना का जहाँ अन्वय होता है तद्विशेष्यक संख्यान्वय बोध को ही आख्यात उत्पन्न करता है और आख्यातर्थ भावनान्वयबोध में प्रथमान्तपदोपस्थाप्य ही विशेष्य हुआ करता है। चैत्रेण पच्यते तण्डुलः में प्रथमान्तपदोपस्थाप्य तण्डुल है। अतः भावनान्वय का विशेष्य तण्डुल होगा जो उसी में विशेषणरूप से आख्यातार्थ संख्या का भी अन्वय होता है। चैत्रः पचति तण्डुलम् में प्रथमान्त पदोपस्थाप्य चैत्र कर्ता है अतः आख्यातार्थ भावनान्वय बोध का विशेष्य चैत्र होता है, तो उसी में आख्यातार्थ संख्या का भी अन्वय होता है। हाँ। चैत्रः पचति तण्डुलम् में आख्यातार्थ भावना का साक्षाद्विशेष्य प्रथमान्तपदोपस्थाप्य चैत्र होता है। परन्तु चैत्रेण पच्यते तण्डुलः में प्रथमान्त पदोपस्थाप्य तण्डुल आख्यातार्थ भावना का साक्षात् नहीं अपितु स्वप्रयोज्य व्यापारजन्य फलवत्तव रूप परम्परा सम्बन्ध से विशेष्य होता है। क्योंकि चैत्रेण पच्यते तण्डुलः इस वाक्य से- चैत्रनिष्ठभावनाजन्य फलशाली तण्डुलः इत्याकारक ही शाब्दबोम होता है।अतः द्वितीया-तृतीयादिविभक्ति की व्यवस्था के लिए तिङ् के एकवचन में भी संख्याबोधकत्व मानना चाहिए।

तन्न विचारसहम्। तथाहि कर्त्रादिनिष्ठसंख्यान्वयबोधाननुकूलत्वं यदि तादृशबोधोपधायकज्ञानविषयत्वाभावत्त्वं तदा यादृशतिबादिज्ञानेन सहकार्यन्तरविरहात् तादृशबोधो न जनितस्तद्योगे तृतीयाद्यापत्तिः। यदि च

तादृशबोधस्वरूपयोग्यज्ञान- विषयत्वाभावस्तदा यगादिसमभिव्या-हृतात्मनेपदादिज्ञानस्यापि तादृशबोधस्वरूपयोग्यत्वात्, तत्स्वरूपयोग्य-ज्ञानाविषयतिबाख्यातस्यैवाप्रसिद्धेः।

भट्टाचार्य मीमांसकों के उपर्युक्त युक्ति का खण्डन करते हुए कहते हैं तन्न विचारसहम्। तात्पर्य यह है कि कर्तृवाचक पदोन्तर तृतीया विभक्ति का प्रयोजक जो कर्तृ विशेष्यक संख्या प्रकारक बोधाजनकत्व लकार में "मीमांसकों ने कहा है। उसमें बोधाजनकत्व का अर्थ है बोधजनकत्वाभाव अर्थात् बोधजनक नहीं होना। यह सर्वविदित है कि जनकता दो प्रकार की है।(१) फलोपधायकत्व रूपा (२) स्वरूपयोग्यता रूपा। ऐसी स्थिति में मीमांसकों का अभिप्राय यदि कर्तृविशेष्यक संख्या प्रकारक शाब्दबोध रूप फल के उपधायक ज्ञान का विषय न होना ही लकार का कर्तृनिष्ठ संख्यान्वय बोधाननुकूलत्व है जो कि तृतीया का प्रयोजक है। तो जिस तिप् के ज्ञान से, सहकारी के नहीं रहने के कारण कर्तृ विशेष्यक संख्या प्रकारक बोध उत्पन्न नहीं हुआ वैसे तिप् के योग में भी तृतीया की आपत्ति आएगी। अर्थात - "चैत्रः पचति" यहाँ पर "ति" का तो ज्ञान हो रहा है परन्तु यदि तिपदमेकत्वेशक्तम् ऐसा शक्तिज्ञान नहीं है तो चैत्र विशेष्यक एकत्व प्रकारक शाब्दबोध नहीं होगा। क्योंकि "ति" पद से एकत्व पदार्थ की उपस्थिति ही शक्ति ज्ञान के अभाव में, नहीं होगी। अब यहाँ पचति के घटक ति का ज्ञान शाब्दबोधरूप फल का उपधायक (जनक) नहीं हुआ तो "चैत्रविशेष्यक संख्या प्रकारक शाब्दबोधरूप फल के जनक ज्ञान विषयत्वाभाव "ति' में है तो, ति के योग में भी अर्थात् यदि तिपदमेकत्वे शक्तम् यह शक्तिज्ञान नहीं हो परन्तु ति का योग हो तब भी कर्तृवाचकपद से तृतीया विभक्ति आने लगेगी तो चैत्रः पचति के स्थान पर चैत्रेणपचति ऐसा प्रयोग होने लगेगा। यदि कर्तृविशेष्यक संख्या प्रकारकशाब्दबोध को उत्पन्न करने की स्वरूपयोग्यता वाले ज्ञान का विषय नहीं होना ही कर्तृगत संख्यान्वयबोधाननुकूलत्व है तो चैत्रेण पचति प्रयोग का वारण तो हो जाएगा क्योंकि ति केज्ञान में कर्तृविशेष्यकसंख्या प्रकारकशाब्दबोध को उत्पन्न करने की स्वरूप योग्यता तो है ही इसलिए कर्तृविशेष्यक संख्या प्रकारकशाब्दबोध को उत्पन्न करने की स्वरूप योग्यता वाला ज्ञान हो गया पचति के ति का ज्ञान, उस ज्ञान का विषयत्व ही ति में है विषयत्वाभाव नहीं अतः ति में कर्तृगत संख्यान्वयबोधाननुकूलत्व नहीं हाने से उसमें तृतीया प्रयोजकत्व भी नहीं रहा। परन्तु कर्तृ विशेष्यक संख्या प्रकारक शाब्दबोध की स्वरूप योग्यता तो यक् आदि के समभिव्याहृत (समीपोच्चारित) आत्मनेपद में भी है। इस प्रकार कर्तृ विशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबोध को उत्पन्न करने की स्वरूप योगयता रूपा जनकता ति में तो है ही यक् आदि के समीप में उच्चारित आत्मनेपद ते आदि में भी है, तो कर्तृवाचक पदोत्तर तृतीया विभक्ति

का प्रयोजकत्व "कर्तविशेष्यक संख्याप्रकारक बोधाननुकूलत्व" ही अप्रसिद्ध हो जाएगा। इसी तात्पर्य से भट्टाचार्य ने कहा "तत्स्वरूपयोग्यज्ञानाविषयतिबाख्यातस्यैवाप्रसिद्धेः" अर्थात् कर्तृविशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबोध को उत्पन्न करने की स्वरूपयोग्यता रूपकारणता तो तिप् मात्र के ज्ञान में है (चाहे वह परस्मेपद ति हो या आत्मनेपद ते आदि) तो स्वरूपयोग्य ज्ञानाविषयत्व किसी भी तिप् में नहीं जाएगा तो चैत्रेण पच्यते तण्डुः यहाँ भी कर्तृवाक चैत्र-पदोत्तर तृतीया विभक्ति नहीं आ पाएगी।

अतः तृतीया आदि विभक्तियों का प्रयोजक उपर्युक्त कर्तृकर्मगत संख्यान्वयबोधाननुकूलत्व को नहीं मानना चाहिए।

अथकर्त्रादिविशेष्यकसंख्यान्वयबुद्धित्वावाच्छिन्न- जन्यतानिरूपित-जनकतावच्छेदकविषयित्वानिरूपकत्वमेव तादृशबोधाननुकूलत्वम्। चैत्रः पचति इत्यादिवाक्यघटकतिबादिविषयिता चैत्रादिविशेष्यकसंख्यान्वय-बुद्धित्वावच्छिन्न जन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदिका तादृशान्वयबुद्धित्वा-वाच्छिन्नं प्रति चैत्रादिपद समभिव्याहततिबादिपदज्ञानस्य हेतुत्वात्। चैत्रेण पच्यते तण्डुलः इत्यादिवाक्यघटकतादिपदविषयिता च न तादृशी चैत्रादिपदसमभिव्याहततादृशपदज्ञानत्वेन तादृशबुद्धित्वावाच्छिन्नं प्रत्यहेतुत्वात्।

मीमांसक पुनः कहता है कि कर्तृगतसंख्यान्वयबोधाननुकूलत्व का स्वरूप है कर्त्रादिविशेष्यक संख्यान्वयबोधत्वावच्छिन्न जन्यता से निरूपित जो जनकता उस जनकता की अवच्छेदिका जो विषयिता उस विषयिता का अनिरूपकत्व। चैत्रः पचति से चैत्रविशेष्यक एकत्वप्रकारक शाब्दबोध उत्पन्न होता है। अतः चैत्रविशेष्यक एकत्व प्रकारकशाब्दबोध हुआ जन्य उसमें रहेगी जन्यता। इस प्रकार एक शाब्दबोध रूप धर्मी में शाब्दबोधत्व और जन्यता रूप दो धर्म रहते हैं तो शाब्दबोधत्व हुआ अवच्छेदक और जन्यता हुई उससे अवच्छिन्न। इस प्रकार (चैत्रविशेष्यक संख्यान्वय बोधत्वावच्छिन्न जो जन्यता उससे निरूपित जनकता रहेगी उपर्युक्त शाब्दबोध के जनक कारण में) उपर्युक्त शाब्दबोध का कारण है "चैत्रः पचति" इस वाक्य का घटक "ति" पद का ज्ञान तो "ति" पद के ज्ञान में उपर्युक्त शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यता निरूपित जनकता भी है और विषयिता भी। क्योंकि ज्ञान विषयी कहलाता है। तो पद के ज्ञान में रहने वाली जनकता की अवछेदिका होगी विषयिता और उस विषयिता का निरूपक होगा उस तिपद के ज्ञान का विषय अर्थात् "ति" पद। इस तरह "चैत्रविशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबुद्धित्वाच्छिन्नजन्यतानिरूपित-जनकतावछेदकविषयिता ("ति" पदज्ञान में रहने वाली) का निरूपकत्व ही "ति" पद में है अनिरूपकत्व नहीं है। अतः उपर्युक्त शाब्दबोधाननुकूलत्व "ति" में नहीं रहने

से उस ति के योग में कर्तृवाचक चैत्रपदोत्तर तृतीया विभक्ति नहीं आएगी। इसी बात को ग्रन्थकार ने कहा चैत्रः पचति इत्यादि वाक्यघटकतिबादिविषयिता = चैत्रः पचति इस वाक्य में आये "ति" पद के ज्ञान में रहने वाली विषयितावन्न चैत्रादिविशेष्यक संख्यान्वयबुद्धित्वावाच्छिन्नाजन्यता निरूपित जनकतावच्छेदिका = चैत्र विशेष्यकसंख्या प्रकरक शाब्दबोधत्वावच्छिन्नाजन्यता से निरूपित जनकता की अवच्छेदिका ही है। क्योंकि तादृशान्वयवुद्धित्वावच्छिन्न प्रति चैत्रविशेष्यकएकत्वसंख्या प्रकारकशाब्दबोधत्वावच्छिन्न के प्रति, चैत्रादिपद समभिव्याहत तिबादिपदज्ञानस्य = चैत्रआदि कर्तृपद के समीप तिबादि (तिबन्त) पद पचति पद का ज्ञान की, हेतुत्वात् = कारणता होती है।

चैत्रेण पच्यते तण्डुलः इत्यादि वाक्य में आये "त" आदि पदके ज्ञान में रहने वाली विषयिता वैसी नहीं है। अर्थात् चैत्रविशेष्यकसंख्याप्रकारकशाब्दबुद्धित्वा-वच्छिन्नजन्यता से निरूपित जनकता की अवच्छेदिका नहीं है। क्योंकि चैत्रआदिपद के समीप उच्चारित तआदिपद का ज्ञान, चैत्रविशेष्यक एकत्वसंख्याप्रकारक शाब्दबुद्धित्वाच्छिन्न के प्रति कारण नहीं होता। इस प्रकार "त" पद का ज्ञान कर्तृविशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबोध के प्रतिकारण नहीं होता अतः चैत्रविशेष्यक संख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यता निरूपितजनकता "त" पद के ज्ञान में नहीं रहेगी तो त पद के ज्ञान में जो विषयिता है वह उपर्युक्त जनकता की अवच्छेदिका नहीं होगी तो उपर्युक्तजनकता की अवच्छेदक विषयिता रहेगी अन्यत्र "ति" पद के ज्ञान में तो उस जनकतावच्छेदकविषयितानिरूपकत्व भी रहेगा ति में। इस प्रकार चैत्रविशेष्यकसंख्याप्रकारकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदकविषयिता का निरूपकत्व "ति" में और अनिरूपकत्व "त" में होने से उस त में उपर्युक्त अननुकूलत्व के रहने से उसके योग में "कर्तृवाचक पद से तृतीया विभक्ति आती है।

न च "चैत्रः पचत" इत्यादौ चैत्रविशेष्यकाख्यातार्थ संख्यान्वयबोधोत्पत्त्या चैत्रादिपदसमभिव्याहततयादिपदज्ञानत्वेन तादृशान्वय-बुद्धित्वावच्छिन्नहेतुताऽक्षतैवेति चैत्रेण पच्यते इत्यादिवाक्य-घटकीभूततादिपदाविषयितापि तादृश्येवेति वाच्यम्, चैत्रेण पचते चैत्रः पच्यते इत्यादिवाक्याच्चैत्रादिविशेष्यकस्यभावनायाः संख्यायाश्चान्वयबोधस्यानु-दयात्।

अब पुनः प्रश्न उठता है कि जैसे चैत्रः पचते इत्यादि वाक्य से भी यदि पच् धातु में आत्मनेपदत्व का ज्ञान हो जाए तो चैत्रविशेष्यक आख्यातार्थ संख्याप्रकारक अन्वयबोध होता है। इसलिए चैत्रविशेष्यक एकत्व संख्याप्रकारकशाब्द बुद्धित्वावच्छिन्नजन्यता निरूपित जनकता चैत्रादिपद समभिव्याहत "त" आदि पद

ज्ञान में रहेगी तो तपद् ज्ञान में रहने वाली उपर्युक्त जनकता की अवच्छेदिका ही होगी तपदज्ञान में रहने वाली विषयिता उसका निरूपकत्व तपद में रहता है, तो चैत्रेणपच्यते इस वाक्य में आये त पद के ज्ञान में रहने वाली विषयिता भी चैत्रविशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबुद्धित्वाच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकता की अवच्छेदिका होगी ही और उस "त" पद ज्ञाननिष्ठ विषयिता का निरूपकत्व ही "त" पद में आएगा अनिरूपकत्व नहीं। एवं च उपर्युक्त अनिरूपकत्व नहीं आने से चैत्ररूपकर्तृविशेष्यक संख्यान्वयबोधाननुकूलत्व भी "त" पद में नहीं आया तो चैत्र पद के आगे तृतीया विभक्ति नहीं आनी चाहिए।

इस प्रश्न का समाधान करते हुए मीमांसक कहता है कि चैत्रेण पचते, चैत्रः पच्यते इत्यादि वाक्यों से चैत्रविशेष्यक भावना प्रकारक तथा संख्या प्रकारक शाब्दबोध नहीं होता।

तद्विशेष्यकतदुभयान्वयबोधे प्रथमान्तचैत्रादिपदसमभिव्याहृतशबादि-विकरणोत्तर तत्तदाख्यातपदज्ञानत्वेन हेतुत्वात् चैत्रेण पच्यते तण्डुलः इत्यादिवाक्यघटकतादीनां तादृशसमभिव्याहारशून्यतया तद्विषयिताया अतादृशत्वात्।

चैत्रविशेष्यक भावना तथा संख्याप्रकारक शाब्दबोध के प्रति प्रथमान्त चैत्रपद समभिव्याहृतशप् आदि विकरण के उत्तर में तत् तदाख्यात पद (वह आख्यात परस्मैपद या आत्मनेपद कोई भी हो) का ज्ञान कारण होता है। चैत्रेण पच्यते, या चैत्रः पच्यते इन सब वाक्यों में आये त में प्रथमान्त चैत्रपद समभिव्याहृत शप्विकरणोत्तरत्व रूप समभिव्याहार नहीं है। अतः इन वाक्यों से चैत्रविशेष्यक भावना तथा संख्याप्रकारक बोध नहीं होता। अतः इन वाक्य घटक त पद के ज्ञान में उपर्युक्त चैत्रविशेष्यक भावना तथा संख्या प्रकारक शाब्दबुद्त्वावच्छिन्नजन्यता निरूपितजनकता नहीं रहती है तो उस जनकता की अवच्छेदिका भी तपदज्ञान निष्ठविषयिता में नहीं रहेगी तो उसकी निरूपकता भी "त" पद में नहीं रहेगी अपितु अनिरूपकत्व ही रहेगा। इस तरह चैत्रेण पच्यते तण्डुलः वाक्य के घटकीभूत त पद में चैत्रविशेष्यकसंख्याप्रकारक शाब्दबोधाननुकूलत्व रूप तृतीया विभक्ति प्रयोजकत्व आ जाने से कर्तृवाचक चैत्र पद से तृतीया विभक्ति आती है।

चैत्रः पक्ष्यते इत्यादितः तण्डुलः पक्ष्यते इत्यादितश्च चैत्रतण्डुलादिविशेष्यक संख्यान्वयबोधोत्पत्या चैत्रः पक्ष्यते तण्डुलः इत्यत्रोभयविशेष्यकसंख्यान्वयबोधौपयिकतादृशसमभिव्याहार ज्ञानविषयि-तायाः पक्ष्यते इत्यादौ सत्वेन कर्तृकर्मणोस्तृतीयाद्वितीययोरप्रसक्तावपि न तादृशवाक्यं व्युत्पन्नाः प्रयुञ्जते। कर्तरिसाक्षात् कर्मणिच दर्शितपरम्परया

युगपद्भावनाविशेषणकान्वयबोधजनकताया आख्यातस्याव्युत्पन्नतया तादृशवाक्यादुभयविशेषणकान्वयबोधासंभवात्।

प्रसङ्गवशात् यहाँ यह बताने जा रहे हैं कि एक साथ कर्ता और कर्म विशेष्यक भावना तथा संख्या प्रकारक शाब्दबोध नहीं होता। जैसे "चैत्रः पक्ष्यते" यहाँ कर्ता में लृट् का प्रयोग है। यहाँ चैत्रविशेष्क संख्या प्रकारक बोध का कारण प्रथमान्त चैत्र पदसमभिव्याहृत्त स्यविकरणोत्तर त पदरूप आख्यात है। अतः इस वाक्य से चैत्रविशेष्यक संख्या प्रकारक शाब्दबोध होता है। इसी प्रकार "तण्डुलः पक्ष्यते" यहाँ पर कर्म में लृट् का प्रयोग है। यहाँ पर तण्डुलविशेष्यक संख्या प्रकारक शाब्दबोध होता है। इस प्रकार "पक्ष्यते" के घटक ते में कर्ता चैत्रविशेष्यक संख्या प्रकारक शाब्दबोध को तथा कर्म तण्डुल विशेष्यक संख्या प्रकारक शाब्दबोध को उत्पन्न करने की योग्यता है। अतः चैत्रः पक्ष्यते तण्डुलः" यहाँ पर चैत्रविशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबोध का उपयोगी प्रथमान्त चैत्रपद समभिव्याहत स्यविकरणोत्तरआत्मनेपद का ज्ञान तथा तण्डुल विशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबोध का उपयोगी प्रथमान्त तण्डुलपद समभिव्याहृत्त यक्विकरणोत्तर आत्मनेपद का ज्ञान भी है। इन दोनों ज्ञान की विषयिता निरूपकत्व सम्बन्ध से पक्ष्यते घटक ते में रहेगी। इस प्रकार पक्ष्यते के ते में चैत्रविशेष्यक तथा तण्डुल विशेष्यक संख्याप्रकार शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यता निरूपित जनकता की अवच्छेदक विषयिता का निरूपकत्व होने से कर्तृवाचक चैत्रपद से तृतीया की तथा कर्मवाचक तण्डुल पद से द्वितीया की आपत्ति नहीं है। इस प्रकार चैत्रविशेष्यक तथा तण्डुल विशेष्यक संख्या प्रकारक शाब्दबोध के लिए "चैत्रः" पक्ष्यते तण्डुलः इस वाक्य का प्रयोग हो सकता है। परन्तु व्युत्पन्नलोग इस तरह के वाक्य का प्रयोग नहीं करते। क्योंकि एक साथ ही कर्ता में साक्षात् समवाय सम्बन्ध से तथा कर्म में पूर्वोक्त स्वप्रयोज्य व्यापारजन्यफलवत्त्व रूप परम्परा सम्बन्ध से भावना प्रकारक शाब्दबोध की जनकता (कारणता) आख्यात में अव्युत्पन्न है। अतः चैत्रः पक्ष्यते तण्डुलः से एक साथ चैत्र विशेष्यक संख्याप्रकारक तथा तण्डुल विशेष्यक संख्या प्रकारक शाब्दबोध का होना असंभव है। चैत्रविशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबोध के लिए चैत्रःपक्ष्यते तथा कर्म तण्डुलविशेष्यक संख्या प्रकारक शाब्दबोध के लिए "तण्डुलः पक्ष्यते" पृथक् पृथक् वाक्य प्रयोग किया जाता है।

न चाकाँक्षायोग्यतादिसत्त्वात् कथं न तादृशबोध इतिवाच्यम् अगत्यैकविधान्वयबोधेऽन्यविधान्वयबोधसामग्रयास्तद्घटकतात्पर्यज्ञानस्य वा प्रतिबन्धकत्वोपगमात्।

प्रश्न यहाँ यह उठता है कि चैत्रः पक्ष्यते तण्डुलः में जब चैत्रविशेष्यक तथा तण्डुलविशेष्यक (उभयविशेष्यक) संख्याप्रकारकशाब्दबोध की कारणसामग्री

आकाँक्षा योग्यता ज्ञानादि है तो पुनः उभयविशेष्यक शाब्दबोध होता क्यों नही? कारण के रहने पर कार्य को तो होना ही चाहिए। इसका उत्तर देते हैं कि आकाँक्षा योग्यता आदि के रहने पर भी उपर्युक्त वाक्य से उभयविशेष्यक संख्या प्रकारक शाब्दबोध एकसाथ नहीं होता है यह लोकानुभव सिद्ध है। अतः यहाँ अगत्या विवश होकर यह कल्पना करनी पड़ती है कि कर्तृ (चैत्र) विशेष्यक संख्या प्रकारक शाब्दबोध की सामग्री चैत्रविशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दवोध को तो उत्पन्न करता है। परन्तु वही सामग्री कर्म (तण्डुल) विशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबोध की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक हो जाती है अथवा चैत्रविशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबोध के कारणों में से एक कारण तात्पर्यज्ञान तण्डुलविशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबोध के प्रति प्रतिबन्धक हो जाता है। अतः जिस समय चैत्र विशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबोध होता है उस समय तण्डुल विशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबोध नहीं होता है उस समय तण्डुल विशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबोध की सामग्री या तद् घटक तात्पर्यज्ञान तण्डुल विशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबोध में प्रतिबन्धक हो जाता है। इसलिए उभय विशेष्यक शाब्दबोध एक साथ नहीं होता।

"न च चैत्रेण तण्डुलः पक्ष्यते" "चैत्रस्तण्डुलं पक्ष्यते" इत्यादिवाक्यद्वयविषयकसमूहालम्बनदशायामप्युभयविधान्वयबोधानुपपत्तिरिति वाच्यम्, तादृशैकविधान्वयबोधे तादृशान्यविधान्वयबोधपरत्वेनागृह्यमाण तथाविधाख्यातधर्मिकप्रकृतान्वयबोधपरत्वज्ञानस्य हेतुतया चैत्रः पक्ष्यते तण्डुलः इत्येकवाक्यात् तादृशद्विविधान्वयबोधवारणस्य दर्शितवाक्यद्वयात् तदुपपादकस्य च शक्यत्वात्।

चैत्रः पक्ष्यते तण्डुलः यहाँ पर आकॉक्षायोग्यता आदि कारण समुदाय के रहने पर भी यदि कर्तृ विशेष्यक तथा कर्म विशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबोध नहीं होता है तो पुनः "चैत्रेण तण्डुलः पक्ष्यते" तथा "चैत्रस्तण्डुलंपक्ष्यते" इन दो वाक्यों के समूहालम्बनदशा में भी चैत्र तथा तण्डुल विशेष्यक संख्या प्रकारक शाब्दबोध नहीं होगा जबकि होता तो है इस समूहालम्बनात्मक दो वाक्यों में कर्ता चैत्र तथा कर्म तण्डुल विशेष्य रूप से भासित होता है और दोनों में संख्या का अन्वय होता है ग्रन्थकार मीमांसक की ओर से इसका समाधान देते हैं कि चैत्रः तण्डुलः पक्ष्यते" इस एक वाक्य से एक प्रकार के अन्वय बोध में अर्थात् कर्तृविशेष्यकशाब्दबोध में कर्म विशेष्यक संख्यान्वय बोधपरक रूप से अज्ञात "त" इस आख्यात धार्मिक कर्तृ विशेष्यकसंख्यान्वय बोध परत्व ज्ञान अर्थात् "तपदं" कर्तृविशेष्यकसंख्यान्वयबोधपरम्" ऐसा ज्ञान कारण होता है। अर्थात यद्विशेष्यक संख्याप्रकारक ज्ञान इष्ट हो उससे भिन्न विशेष्यक संख्या प्रकारक अन्वय बोधपरक नहीं है तथा तद् विशेष्यक संख्या प्रकारक अन्वयबोधपरक यह त पद है ऐसा

ज्ञान "त" रूप आख्यात के विषय में होना भी इष्ट विशेष्यकशाब्दबोध में कारण होता है। ऐसा मानने पर "चैत्रः पक्ष्यते तण्डुलः" इस एक वाक्य से उभय विशेष्यक शाब्द बोध का वारण भी हो जाता है और चैत्रेण पक्ष्यते तण्डुलः और चैत्रस्तण्डुलं पक्ष्यते इन दो वाक्यों की समूहालम्बन दशा में उभय विशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबोध का उपपपदन भी हो जाता है। जैसे - चैत्रः पक्ष्यते तण्डुलः यहाँ पर आख्यात "त" के विषय में यदि ज्ञान है कि यह त पद "कर्मविशेष्यक संख्यान्वयबोध परक नहीं है कर्तृविशेष्यक संख्यान्वयबोध परक है तो इस चैत्रः पक्ष्यते तण्डुलः से कर्तृ विशेष्यक संख्या प्रकारक ही शाब्दबोध होगा कर्मविशेष्यक नहीं। इसी तरह आख्यात "त" के विषय में ज्ञान है कि यह "त" पद कर्तृविशेष्यक संख्यान्वयबोधपरक नहीं है अपितु कर्म विशेष्यक संख्यान्वयबोध परक है तो उस वाक्य से कर्मविशेष्यक संख्याप्रकारक ही शाब्दबोध होगा। चैत्रेण पच्यते तण्डुलः तथा चैत्रः पक्ष्यते तण्डुलम् इन दो वाक्यों के समूह में आए आख्यात "त" पद के विषय में तो कर्तृ विशेष्यक तथा कर्म विशेष्यक उभय विशेष्यक संख्यान्वयबोधपरत्व का ज्ञान है। अतः उभयविशेष्यक शाब्दबोध होता है। क्योंकि उपयुक्त समूहालम्बन के घटक चैत्रेण पक्ष्यते तण्डुलः इस वाक्य में आये "ते" के विषय में कर्म विशेष्यकसंख्यान्वंयबोधपरत्व का ज्ञान है और चैत्र पक्ष्यते तण्डुलम् में आये ते के विषय में कर्तृविशेष्यक संख्यान्वयबोधपरत्व का ज्ञान है। अतः उपर्युक्त वाक्यद्वय से उभयविशेष्यकशाब्दबोध हो सकता है, होता है।

न च निरूक्तसंख्यानभिधानस्य तृतीयाद्वितीयानियामकत्वे "चैत्रेण" स्वं दृश्यते "चैत्रः स्वं पश्यति इत्यादौ तृतीयाद्वितीययोरनुपपत्तिः। कर्त्रादिविशेष्यकसंख्याप्रकारकान्वयबोधौपायिकाकाँक्षाज्ञानीयविषयत्वनिरूप-कत्वस्य तत्राख्याते सत्वादितिवाच्यम् कर्त्रादिपरयत्पदाख्यातपदयोः समभिव्याहारः संख्यान्वयबुद्धित्वावाच्छिन्नप्रयोजकविषयित्वानिरूपक-स्तत्पदोत्तरं तृतीयाविभक्तिरित्येवं नियमोपगमेन प्रथमस्थले चैत्रपरस्वपदाख्यातपदयोः द्वितीये च तत्परचैत्राख्यातपदयोः समभिव्याहारस्यैव तद्विशेष्यकसंख्यान्वयबोधप्रयोजकतयाक्रमेण चैत्रपद स्वपदाभ्यांतृतीया द्वितीययोरनुपपत्त्यनवकाशादितिचेत्।

अब प्रश्न यह है कि यदि कर्तृ विशेष्यकसंख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यता निरुपितजनकतावच्छेदकविषयित्वानिरूपकत्वतृतीया विभक्ति का प्रयोजक माना जाए और कर्मविशेष्यकसंख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनक तावच्छेदक-विषयित्वानिरूपकत्व को द्वितीया विभक्ति का प्रयोजक माना जाए तो चैत्रेण स्वं दृश्यते यहाँ पर कर्तृवाचक चैत्रपद से तृतीयाविभक्ति की तथा चैत्रः स्वं पश्यति

यहाँ पर स्व पद से द्वितीया विभक्ति की अनुपपत्ति होने लगेगी। क्योंकि चैत्रेण स्वं दृश्यते यहाँ पर आख्यातार्थसंख्या का स्वपदार्थ में अन्वय होता है तो स्वपदार्थ कोई और नहीं स्वयं चैत्र ही है। इसका अर्थ हुआ कि यहाँ चैत्रविशेष्यक संख्या प्रकारक शाब्दबोध हुआ अब इस वाक्य के घटक आख्यात के ज्ञान में चैत्र (कर्तृ) विशेष्यकसंख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकता ही रह गयी तो इस आख्यात ज्ञान में रहने वाली विषयिता उस जनकता की अवच्छेदिका ही हुई और उस जनकतावच्छेदकविषयिता का निरूपकत्व ही "दृश्यते" के "ते" रूप आख्यात में रहा अनिरूपकत्व नहीं जो कि तृतीया विभक्ति का प्रयोजक है तो स्वपदार्थ चैत्र में तृतीया विभक्ति नहीं आनी चाहिए।

इसी प्रकार चैत्रः स्वं पश्यति यहाँ पर आख्यातार्थ संख्या का चैत्र में अन्वय होता है आरि चैत्रविशेष्यकसंख्या प्रकारक शाब्दबोध यहाँ होता है। यहाँ भी चैत्र पदार्थ ही स्व पदार्थ है इसका अर्थ हुआ कि यदि यहाँ भी चैत्रविशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबोध होता है। तो स्वपदार्थ (कर्म) विशेष्यक संख्या प्रकारक शाव्दवोध हुआ। इस प्रकार यहाँ के आख्यात ति पद के ज्ञान में स्वपदार्थ रूप कर्मविशेष्यक संख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकता ही रह गयी तो उक्त तिपद की ज्ञान में रहने वाली विषयिता उपर्युक्तजनकता की अवच्छेदिका हो गयी और इस जनकतावच्छेदकविषयिता का निरूपकत्व ही आख्यात ति पद में आ गया अनिरूपकत्व नहीं जो कि द्वितीया विभाक्ति का प्रयोजक है। इस प्रकार चैत्रः स्वं पश्यति इस वाक्य के "ति" में कर्म विशेष्यक संख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यता--निरूपितजनकतावच्छेदकविषयिता अनिरूपकत्व रूप द्वितीया प्रयोजकत्व के न होने से "स्व" पद के आगे द्वितीया विभक्ति नहीं आनी चाहिए। मीमांसक उपर्युक्त आक्षेप का परिहार करते हुए कहता है कि कर्ता के बोधक जिस पद का और आख्यात पद का समभिव्यहारसंख्याप्रकारकशाब्दबोध के प्रयोजक जिस ज्ञान में रहने वाली विषयिता का अनिरूपक होता है, कर्ता बोधक उस पद से तृतीया विभक्ति आती है। अब प्रथम स्थल अर्थात् चैत्रेण स्वं दृश्यते यहाँ पर चैत्ररूपकर्ता के बोधक स्वपद और आख्यात पद का समभिव्याहार स्वपदार्थविशेष्यकसंख्याप्रकारकशाब्दबोध का ही प्रयोजक है अतः स्व पद तथा आख्यात पद के सममिव्याहार में स्वपदार्थविशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यता-निरूपितजनकतावच्छेदकविषयिता का ही निरूपकत्व है "चैत्रविशेष्यक संख्याप्रकारक-शाव्दबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकता वच्छेदक- विपयिता का तो अनिरूपकत्व ही है। अतः चैत्रपदोत्तरतृतीयाविभक्ति होती है।

इसी प्रकार कर्म के बोधक जिसपद का और 'आख्यात पद का समभिव्याहार' संख्याप्रकारक शाब्दबोधप्रयोजक ज्ञान में रहने वाली विपयिता का अनिरूपक होता

है कर्म बोधक उस पद से द्वितीया विभक्ति आती है। ऐसा नियम मानने पर द्वितीयस्थल में अर्थात् "चैत्रः" स्वं पश्यति" यहाँ पर चैत्रपद और आख्यात ति पद का समभिव्याहार चैत्रविशेष्यक संख्याप्रकारकशाब्दबोध का ही प्रयोजक है। अतः चैत्रपद और तिपद के समभिव्याहार में चैत्रविशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदकविषयिता का ही निरूपकत्व है स्वपदार्थ विशेष्यकसंख्या प्रकारक शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदक विषयिता का तो अनिरूपकत्व ही है। अतः स्वपदोत्तरद्वितीया विभक्ति आती है। कोई अनुपपत्ति नहीं।

न "अनभिहिते" इत्यधिकारे" कर्तृकरणयोस्तृतीया इत्याद्यनुशासनस्य किं प्रयोजनमिति वक्तव्यम्। चैत्रःपचति तण्डुलःपच्यते इत्यादौ चैत्रतण्डुलपदाभ्यां तृतीयाद्वितीययोरप्रयोगः इतिचेत्? तत् किं मणि-मन्त्रादिन्यायेन तादृशानुशासनस्य तथाविधप्रयोगविरोधिता येन तदभावस्तत्प्रयुक्तः स्यात्? न चैवं संभवति। पचति, पच्यते, इत्यादि क्रियायोगे कर्तृकर्मवाचकपदानन्तरतृतीयाद्वितीययोरसाधुत्वस्य तत्कर्तृत्व-तत्कर्मत्वादिबोधौपयिकाकाँक्षादिरहितत्वादिरूपस्य प्रतिपात्तिःप्रयोजनं तस्येति चेत्? तर्हि उक्तनियमपरतयापि न ततस्तल्लाभः।

ग्रन्थकार गदाधर भट्टाचार्य उपर्युक्त मीमांसकों के मत का खण्डन न इत्यादि से कर रहे हैं तात्पर्य यह है कि "अनभिहिते" के अधिकार में जो "कर्तृकरणयोस्तृतीया, कर्मणिद्वितीया इत्यादि अनुशासन (सूत्र) का पाठ भगवान् पाणिनि ने किया है, उसका क्या प्रयोजन है? यह आपको बताना चाहिए। यदि आप कहें चैत्रः पचति में चैत्र पद से तृतीया विभक्ति न हो और तण्डुलः पच्यते में तण्डुल पद से द्वितीया विभक्ति न हो एतदर्थ अनभिहिते के अधिकार में कर्तृकरणयोस्तृतीया कर्मणि द्वितीया इत्यादि का पाठ है। तो आप यह बताऐं कि क्या ये सूत्र मणिमन्त्रादिन्याय से चैत्रेण पचति या तण्डुलं पच्यते आदि प्रयोग का विरोधी है। अर्थात् जैसे चन्द्रकान्तमणि के रहने से या मन्त्र विशेष के रहने पर आग नहीं जला पाती है। क्या वैसे ही कर्तृकरणयोस्तृतीया कर्मणि द्वितीया के रहने से वैसा प्रयोग नहीं हो पाता ऐसा तो संभव नहीं। क्योंकि भले ही ये सूत्र रहें यदि कोई पुरूष चैत्रेणपचति तण्डुलं पच्यते प्रयोग करना चाहेगा तो कर ही सकता। अतः कर्तृकरणयोस्तृतीया कर्मणि द्वितीया के कारण चैत्रेण पचति या तण्डुलं पच्यते ऐसे प्रयोग का अभाव नहीं माना जा सकता। यदि पचति का योग रहने पर कर्तृवाचक पद के उत्तर में तृतीया विभक्ति असाधु है अर्थात् पचति. यहाँ पर तृतीया में पाक कर्तृत्व बोधोपयोगी आकॉक्षा नहीं है तथा पच्यते यहाँ पर द्वितीया में पाककर्मत्वबोधोपयोगी

आकाँक्षा नहीं है ऐसा असाधुत्व का ज्ञान ही अनभिहिताधिकार में उक्त अनुशासन के पाठ का प्रयोजन है, ऐसा यदि मानें। तब कर्तृकरणयोस्तृतीया तथा कर्मणिद्वितीया इत्यादि अनुशासन का जिस नियम में आपने तात्पर्य बताया है उस नियम को मानने पर भी उपर्युक्त पचति के प्रयोग रहने पर कर्तृवाचक पदोत्तर तृतीया में असाधुत्व के ज्ञान का लाभ या पच्यते प्रयोग रहने पर कर्मवाचक पदोत्तर द्वितीया विभक्ति के असाधुत्व के ज्ञान का लाभ नहीं होगा। क्योंकि "चैत्रेण पचति" यहाँ पर चैत्रपद तिपद के समभिव्याहार में चैत्रविशेष्यकसंख्याप्रकारक शाब्दबोध का प्रयोजकत्व तो है नहीं तो उपयुक्त शाब्दबोधनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकता की अवच्छेदकविषयिता का अनिरूपकत्व यहाँ के आख्यात में रहेगा ही तो चैत्र पदोत्तरतृतीया विभक्ति आपके नियामानुसार प्राप्त ही है पुनः उसमें असाधुत्व का ज्ञान कैसे हो पाएगा। यही स्थिति तण्डुलं पच्यते में भी है। इसीबात को ग्रन्थकार स्वयं अग्रिम ग्रन्थ से कहने जा रहे हैं

प्रथमान्तचैत्रतण्डुलादिपदतत्तदाख्यातपदयोः समभिव्याहारस्यैव चैत्रतण्डुलादिविशेष्यकतत्तदाख्यातार्थसंख्यान्वयबोधप्रयोजकतया चैत्रेण पचति तण्डुलं पच्यते' इत्यादिवाक्यघटकचैत्रतण्डुलादिपदतिबादिपदयोः समभिव्याहारस्यातथात्वेन तद्घटकतृतीयाद्वितीययोः साधुत्वस्योक्त-नियमाव्यवच्छेद्यत्वात्। तस्मान्मुख्यभाक्तसाधारणकर्तृत्व कर्मत्वयोः कर्तृकर्मवाचकपदसमभिव्याहृतलकृत्तद्धितसमासैरनभिधानमेव तृतीया-द्वितीयानियामकम् शिरोमणिभिरप्यत्रैव निर्भरो विहितः।

प्रथमान्त चैत्र पद तथा आख्यात पद का समभिव्याहार ही चैत्र विशेष्यक आख्यातार्थ संख्याप्रकारक शब्दबोध का प्रयोजक होता है। इसी प्रकार प्रथमान्त तण्डुलपद और आख्यात पद का समभिव्याहार ही तण्डुल विशेष्यक आख्यातार्थ संख्याप्रकारक शब्दबोध का प्रयोजक होता है। चैत्रेण पचति तण्डुलं पच्यते में प्रथमान्तपद तो कोई है नहीं। अतः यहाँ के चैत्र पद और आख्यात पद के समभिव्याहार में चैत्र विशेष्यक संख्यान्वय बोध प्रयोजकत्व नहीं होने से तथा तण्डुल पद और आख्यात पद के समभिव्याहार में तण्डुलविशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबोध का प्रयोकत्व नहीं होने से दोनों वाक्य घटक आख्यात में उपयुक्त शाब्दबोधजनकतावच्छेदकविषयिता की अनिरूपकता आ जाने से चैत्रेण पचति इस वाक्य के चैत्रपदोत्तर तृतीया में तथा "तण्डुलं पच्यते" में तण्डुल पदोत्तर द्वितीया में उपयुक्त आपके नियामानुसार साधुत्व नियामक की व्यवच्छेद्यता अर्थात् असाधुत्व नहीं जाएगा। अर्थात् आपके नियामनुसार चैत्रेण पचति में चैत्र पदोत्तर तृतीया असाधु है इस बात का तथा तण्डुलंपच्यते में तण्डुलपदोत्तर द्वितीया असाधु है

इस बात का ज्ञान नहीं हो पाएगा इसलिए "अनभिहिते के अधिकार में उपयुक्त अनुशासनों के पाठ का प्रयोजन यह है कि कर्तृवाचक कर्मवाचक पद के समीप में उच्चारित लकार, कृत्-तद्धित या समास के द्वारा मुख्य या गौण कर्तृत्व -कर्मत्व का अनभिधान ही तृतीया द्वितीया विभक्तियों का नियामक है ऐसा मानना चाहिए। कर्तृवाचक पद के समीप में उच्चरित लकार कृत् तद्धित या समास के द्वारा यदि मुख्य या गौण कर्तृत्व उक्त न हों तो कर्तृवाचक पद से तृतीया, और कर्मवाचक पद के समीप उच्चरित लकार, कृत्, तद्धित या समास के द्वारा यदि कर्मत्व अनुक्त हो तो कर्मवाचक पद से द्वितीया विभक्ति होती है। ऐसा मानना चाहिए। दीधितिकार रघुनाथशिरोमणि भी ऐसा ही मानते हैं। चैत्रः पक्ष्यते तण्डुलम् यहाँ कर्मवाचकतण्डुलपद के समभिव्याहृत आख्यात के द्वारा कर्मत्व उक्त नहीं हो रहा है। क्योंकि यहाँ कर्ता में लकार आया है। अतः कर्मवाचक तण्डुलपद से द्वितीया होती है।- चैत्रेण पक्ष्यते तण्डुलः यहाँ कर्तृवावक चैत्र पद के समभिव्याहृत आख्यात के द्वारा कर्तृत्व उक्त नहीं हो रहा है। क्योंकि लकार कर्मअर्थ में आया है। अतः कर्तृवाचक चैत्रपद से तृतीया होती है इस प्रकार सर्वत्र इष्ट स्थल में इष्टविभक्ति की उपपत्ति और अनिष्ट का वारण होता है।

लादीनां तदनभिधायकत्वं च न तदवाचकत्वं तन्निष्ठवृत्यनिरूपकत्वं वा आत्मनेपदस्याप्याख्यातत्वेन लत्वादिना वा कर्तृत्वादिनिष्ठशक्तिलक्षणा निरूपकत्वात्, कर्तृत्वानभिधायकाख्यातस्यैवाप्रसिद्धेः। तच्छाब्दबोधौपयिका-कॉंक्षाशून्यत्वमेव तत्, चैत्रेण पच्यते तण्डुलः इत्यादावाख्यातस्य कर्तृत्वादिवाचकत्वेऽपि तच्छाब्दबोधौपयिकॉंक्षाराहित्यं तत्राक्षतमेव चैत्रादिपदोत्तरतृतीययैव कर्तृत्वबोधसंभवात् तत्र तादृशाकॉंक्षाया अकल्पनात् इत्यापि न, चैत्रेण पक्ष्यते इत्यादौ तृतीयानुपपत्तेः पक्ष्यते चैत्रः इत्यादितश्चैत्रादौ पाककृतेः केवलात् पक्ष्यते इत्यादितश्च मुख्यविशेष्यतया तस्यबोधात्, तादृशाख्यातधात्वोरानुपूर्वीविशेषाकाँक्षाया कृतिबोधौ-पयिकत्वात्।

नैययिकों के मत में कर्तृवाचकपदसमभिव्याहृत लकार आदि के द्वारा जब कर्तृत्व अनुक्त होता है तो कर्तृवाचकपद के आगे तृतीया विभक्ति आती है। इसका अर्थ हुआ कि जब लकार आदि में कर्तृत्वाचकत्व नहीं रहता तब कर्तृवाचकपद से तृतीया विभक्ति आती है। अब जिज्ञासा होती है कि लकार में कर्तृत्ववाचकत्व का क्या अर्थ है कर्तृत्वानभिधायकत्व को कर्तृत्वावाचकत्व नहीं कह सकते क्योंकि कर्तृत्वानभिधायक आख्यात ही अप्रसिद्ध है अर्थात् ऐसा कोई आख्यात नहीं जो कभी न कभी कर्तृत्व अर्थ को नहीं कहता हो अर्थात् कर्तृत्व अर्थ को कभी न

कभी सभी आख्यात चाहे परस्मैपद हो या आत्मनेपद अवश्य कहता है। अतः कर्तृत्वानभिधायकत्व नहीं कह सकते। एवंच कर्तृत्वावाचकत्व का अर्थ कर्तृत्वनिष्ठवृत्यनिरूपकत्व भी नहीं कर सकते। क्योंकि आत्मनेपद भी आख्यातत्वेन रूपेण या लत्वेन रूपेण कर्तृत्व निष्ठशक्ति या लक्षणा का यथा स्थल निरूपक होता ही है। अर्थात् परस्मैपद तो कर्तृत्व रूप अर्थ निष्ठ शक्ति या लक्षणा का निरूपक होता ही है आत्मनेपद भी होता है इस प्रकार कर्तृत्व निष्ठवृत्यनिरूपकत्व भी किसी आख्यात में नहीं जाने से अप्रसिद्ध होने के कारण कर्तृत्वावाचकत्व का अर्थ कर्तृत्वनिष्ठवृत्यनिरूपकत्व भी नहीं कर सकते।

कोई यदि कहे कि कर्तृविशेष्यक आख्यातार्थ संख्या प्रकारक शाब्दवोध के लिए उपयोगी आकांक्षा से शून्य होना ही कर्तृत्वावाचकत्व है। क्योंकि चैत्रेण पच्यते तण्डुलः यहाँ पर तण्डुलरूप कर्मविशेष्यकसंख्याप्रकारक शाब्दवोध होता है। अतः यहाँ का आख्यात "त" पद कर्मविशेष्यकसंख्याप्रकारकशाब्दवोधौपयिक आँकांक्षा से तो रहित ही है। अतः यहाँ के आख्यात में कर्तृत्वावाचकत्व रहने से कर्तृवाचक चैत्रपदोत्तर तृतीया विभक्ति आती है। यद्यपि यहाँ के आख्यात में भी कर्तृत्ववाचकत्व तो है तथापि यहाँ चैत्रनिष्ठकर्तृत्व की प्रतीति चैत्रपदोत्तर तृतीयाविभक्ति से ही संभव मान लेंगे तो चैत्रविशेष्यकसंख्याप्रकारकशाब्दबोंधोपयोगी आकाँक्षा की "ते" पद में कल्पना करने की अपेक्षा नहीं रहेगी इस प्रकार चैत्ररूप कर्तृविशेष्यकसंख्याप्रकारकशाब्दबोधोपयोगी आकाँक्षा से शून्य चैत्रेण पच्यति तण्डुलः का आख्यात है ही अतः कर्तृविशेष्यकसंख्याप्रकारक शाब्दबोधौपयिक आँक्षा से शून्य होना ही कर्तत्वावाचकत्व है ऐसा यदि कोई कहे, तो भट्टाचार्य कहते हैं इत्यपि न अर्थात ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि यदि कर्तृविशष्यकसंख्याप्रकारक-शाब्दबोधोपयोगी आकाँक्षा से शून्य होना ही आख्यात में तृतीयाप्रयोजक कर्तृत्वावाचकत्व मानेंगें तो "चैत्रेण पक्ष्यते" यहाँ पर कर्तृवाचक चैत्रपदोत्तर तृतीया विभक्ति अनुपपन्न होने लगेगी। क्योंकि "पक्ष्यते चैत्रः इस वाक्य से चैत्ररूपकर्तृविशेष्यक आख्यातार्थ संख्याप्रकारक शाब्दबोध होता है इसका अर्थ हुआ कि "पक्ष्यते" का आख्यात "त" कर्तृविशेष्यक संख्याप्रकारकशाब्दबोध के लिए जो उपयोगी आकाँक्षा होती है उससे युक्त ही है। शून्य नहीं तो आपके द्वारा स्वीकृत कर्तृत्वावाचकत्व रूप तृतीया प्रयोजकत्व "त" में नहीं रहा तो उसी "त" रूप आख्यात से युक्त चैत्रेण पक्ष्यते" इस वाक्य में भी चैत्रपदोत्तर तृतीया विभक्ति नहीं आएगी। केवल "पक्ष्यते" इस वाक्य से भी मुख्यविशेष्य रूप से कृति का बोध होता ही है। क्योंकि "पक्ष्यते" इस वाकय से पाकानुकूलकृति रूप अर्थ का बोध होता ही है। अतः पच्धात्वव्यवहितोत्तर त रूप आनुपूर्वीविशेष रूप आकाँक्षा कर्तृत्व अर्थात् कृति बोधोपयोगी आकाँक्षा से युक्त ही है तो "चैत्रेणपक्ष्यते" में भी "ते"

के द्वारा पाककृति रूप अर्थ का बोध होगा ही और उस कृति का अन्वय कर्ता चैत्र में होता है इस प्रकार कर्तृविशेष्यकसंख्याप्रकारकशाब्दबोधोपयिक आकॉक्षा से युक्त ही होता है" पच्यते" का आख्यात तो पक्ष्यते का प्रयोग होने पर कर्तृवाचक चैत्र आदि पद के अनन्तर तृतीयाविभक्ति नहीं आ पाएगी। क्योंकि आपके मतानुसार पक्ष्यते के आख्यात में तृतीया प्रयोजक कर्तृत्वावाचकत्व नहीं रहता।

न च समभिव्याहाररूपाकाँक्षैव विवक्षणीया प्रकृते च प्रकृतिप्रत्ययोरानुपूर्वीरूपाकॉक्षा न तु समभिव्याहार इति नोक्तापत्तिरिति वाच्यम् तथा सति चैत्रेण पचति इत्यादावपि तृतीयायाः साधुतापत्तेः तादृशचैत्रपदाख्यातपदयोः समभिव्याहारस्य कृतिबोधानौपयिकत्वात्। चैत्रेणं विजेष्यते मैत्र इत्यादौ तृतीयानुपपत्तेश्च विजेष्यते मैत्रः इत्यादौ मैत्रकृतिबोधात् तादृशाख्यातमैत्रपदयोः समभिव्याहारस्य कृतिबोधौपयिकत्वात्।

कर्तृत्वावाचकत्व का अर्थ कर्तृविशेष्यकसंख्यान्वयबोधौपयिक आकाँक्षा शून्यत्व मानने वाला उपर्युक्त आपत्ति का वारण करते हुए कहता है कि कर्तृविशेष्यकसंख्यान्वयबोधोपयिकआकाँक्षा पद से समभिव्याहार रूप आकॉक्षा का ग्रहण करेंगे न कि प्रकृति प्रत्यय का आनुपूर्वी रूप आकॉक्षा एवञ्च कर्तृविशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबोध के लिए उपयोगी समभिव्याहार रूप आकॉक्षा प्रथमान्त चैत्र पद समभिव्याहृत आख्यात पद। ऐसी आकाँक्षा "चैत्रेण पच्यते" में नहीं है यहाँ तो पच् धातु के अव्यवहितोत्तर त "पदत्वरूप आनुपूर्वीरूप आकॉक्षा है। इस प्रकार चैत्रेण पच्यते में समभिव्याहार रूप आकॉक्षा से शून्य ही आख्यात पद है तो उसमें कर्तृत्वावाचकत्व रूप तृतीया प्रयोजकत्व के रहने से चैत्रपदोत्तरतृतीयाविभक्ति उपपन्न हो जाएगी इस प्रकार पूर्व में .दी गयी आपत्ति नहीं है। भट्टाचार्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि समभिव्याहार रूप आकाँक्षाशून्यत्व ही तृतीया प्रयोजक है तो पुनः "चैत्रेण पचति यहाँ भी तृतीया विभक्ति में साधुता की आपत्ति आएगी। तृतीयान्तचैत्रपद समभिव्याहृत आख्यात पद रूप समभिव्याहार से कृति का बोध नहीं होता कृति का बोध तो प्रथमान्त चैत्र पद समभिव्याहृत्त आख्यात पद से होता है। अतः कर्तृविशेष्यक संख्याप्रकारक बोध के लिए उपयोगी आकॉक्षा तृतीयान्त चैत्रपद समभिव्याहृत आख्यात पद रूप पद समभिव्याहार रूप आकॉक्षा नहीं हुई तो कर्तृविशेष्यक संख्याप्रकारकशाब्दबोधौपयिक पदसमभिव्याहार रूप आकॉक्षा शून्यत्व चैत्रेण पचति घटक "ति" आख्यात में है तो इस आख्यात में भी तृतीया प्रयोजकत्व के होने से यहाँ भी चैत्रपदोत्तर तृतीया विभक्ति साधु माननी पड़ेगी जबकि वस्तुतः मानी नहीं जाती। यह तो अतिव्याप्त दोष हुआ। अब अव्याप्ति दोष भी ग्रन्थकार दे रहे हैं। यदि पदसमभिव्याहार रूप आकाँक्षा शून्यत्व को तृतीया का प्रयोजक मानेंगे तो "चैत्रेण विजेष्यते मैत्रः यहाँ पर प्रथमान्त चैत्र

पद समभिव्याहृत्त आख्यात पद "रूप आकॉक्षा (पद समभिव्याहार रूप आकॉक्षा से) मैत्रकृति का बोध होता है। एवंञ्च मैत्ररूप कर्तृविशेष्यक संख्या प्रकारक शाब्दबोध "विजेष्यते मैत्र" इस पद समभित्याहार से होता है। एवञ्च मैत्ररूप कर्तृ विशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबोधौपयिक पदसमभिव्याहार रूप आकॉक्षा शून्यत्व "विजेष्यते" घटक आख्यात में नहीं है। इसका अर्थ है कि तृतीया प्रयोजक कर्तृत्वावाचकत्व विजेष्यते के आख्यात ते में नहीं होने से चैत्र पदोत्तर तृतीया विभक्ति अनुपन्न होने लगेगी। अतः कर्तृत्वाचाचकत्व का उपयुक्त तीनों अर्थ नहीं हो सकता। क्या होगा इसीको कह रहे हैं।

किंतु तत्तात्पर्यशून्यत्वमेव। तथा च चैत्रेण पक्ष्यते इत्यादावाख्यातस्य कर्तृत्वादितात्पर्यकत्वे तृतीयाऽसाधुरेव, तथा च चैत्रेण पचति इत्यादावाख्यातस्यार्थविवक्षायां तृतीयायाः साधुत्वेऽपि परस्मैपदस्यासाधुत्वान्न प्रयोगः) परस्मैपदस्यासाधुत्वंच धात्वर्थविशेष्यस्य प्रत्ययेनाविवक्षणे भावकर्मणोः इति सूत्रेणात्मनेपदनियमात्। आख्यातार्थ-विवक्षायां न चैत्रेण पचते इत्यादिप्रयोगः शबादिविकरणस्यासाधुत्वात्, कर्तृत्वतात्पर्यकसार्वधातुकयोगे एव तत् साधुत्वात्।

कर्तृविशेष्यक शाब्दबोधविषयक तात्पर्यशून्यत्व ही कर्तृत्वावाचकत्व है और यही कर्तृपदोत्तर तृतीया विभक्ति का प्रयोजक है। इस लिए चैत्रेण पक्ष्यते यहाँ का आख्यात यदि कर्तृविशेष्यक शाब्दबोध विषयकतात्पर्य विशिष्ट है, तो चैत्रपदोत्तर तृतीयाविभक्ति असाधु ही है। कहने का अभिप्राय यह है कि पक्ष्यते प्रयोग कर्ता अर्थ में भी लृट् लकार में निष्पन्न होता है और कर्म अर्थ में भी लृट् लकार में। ऐसी स्थिति में यदि पक्ष्यते का आख्यात कर्तृविशेष्यक शाब्दबोध विषयकतात्पर्य वाला है, तो उसके योग में कर्तृवाचक चैत्रादिपदोत्तर तृतीया विभक्ति असाधु ही है। क्योंकि तृतीया विभक्ति का प्रयोजक कर्तृविशेष्यक शाब्दबोधविषयकतात्पर्य शून्यत्व वहाँ नहीं तथापि तृतीया का प्रयोग हुआ है। हाँ यदि पक्ष्यते का आख्यात, कर्मविशेष्यक शाब्दबोध विषयकतात्पर्य वाला है तो कर्तृविशेष्यक शाब्द बोध विषयक तात्पर्यशून्यत्व रूप तृतीयाप्रयोजकत्व उसमें रहने से कर्तृवाचक चैत्रपदोत्तर तृतीया विभक्ति साधु ही है। चैत्रेण पचति यहाँ पर यदि आख्यात का कर्तृत्व अर्थ विवक्षित नहीं करेंगे तो आख्यातकर्तृविशेष्यक शाब्दबोध विषयकतात्पर्य से शून्य होने से तृतीया विभक्ति का प्रयोजक होगा। इस तरह कर्तृवाचक चैत्र पदोत्तर तृतीया विभक्ति में तो साधुत्व रहेगा परन्तु तृतीयान्त चैत्रेण के साथ परस्मैपद "पचति" का प्रयोग असाधु है। अतः चैत्रेण पचति यह प्रयोग नहीं होता। चैत्रेण इस कर्तृवाचक पद के साथ पचति यह परस्मैपदी क्रिया पद असाधुक्यों है? तो इस प्रश्न का समाधान

ग्रन्थकार ने परस्मैपदस्याअसाधुत्वञ्च इत्यादि से दिया। तात्पर्य यह है कि आख्यात का कर्ता, कर्म या भाव इन तीनों में से काई एक अर्थ होता ही है। आख्यात कभी भी निरर्थक नहीं, होता। अब चैत्रेण पचति में तृतीया विभक्ति की आपत्ति देने के लिए "ति" में कर्तृत्व अर्थ की विवक्षा तो आप करते नहीं। तब पचति के ति का या तो कर्म या भाव कोई न कोई अर्थ मानना पड़ेगा और भाव या कर्म अर्थ में आख्यात में आत्मनेपदत्व ही साधु होता है यह बात "भावकर्मणोः" यह सूत्र अनुशासन करता है। अतः चैत्रेण इस कर्तृपद के साथ पचति इस परस्मैपद के असाधु होने के कारण तृतीया के साधु होने पर भी चैत्रेण इस कर्तृवाचक पद के साथ आख्यातार्थ कर्म या भाव विवक्षित हो तो आत्पनेपद ही साधु है। तो पुनः चैत्रेण पचते यह प्रयोग होना चाहिए होता क्यों नहीं? तो इसका उत्तर यह है कि इस प्रयोग में तृतीया विभक्ति तथा आत्मने पद ये दोनों यद्यपि साधु हैं तथापि यहाँ विकरण शप् असाधु है। क्योंकि कर्ता अर्थ में सार्वधातुक प्रत्यय के उत्तर रहने पर ही "कर्तरिशप् से शप् विकरण का विधान किया जाता हैं। आपने आख्यात "ते" में तो कर्ता अर्थ विविक्षित ही नहीं किया है। अतः यहाँ शप् का विधान असाधु होने से देवदत्तेन पचते यह प्रयोग भी नहीं होता। एवंच यदि ते में कर्ता अर्थ विवक्षित करें तो आत्मनेपद और शप् ये दोनों तो साधु होंगे परन्तु तृतीया विभक्ति असाधु हो जाएगी। क्योंकि कर्तृविशेष्यक शाब्दबोधविषयतात्पर्य शून्यत्व आख्यात ते में नहीं रहेगा जो कि कर्तृवाचक पद से तृतीयाविभक्ति लाने के लिए आवश्यक है इस प्रकार चैत्रेण पचति या चैत्रेण पचते ये दोनों वाक्य असाधु होने से प्रयुक्त नहीं होते।

कर्तृत्वकर्मत्वोभयतात्पर्येण मैत्रः पक्ष्यते तण्डुलः इत्यादयस्तु न प्रयोगाः तदेकतरबोधेऽन्यतरपरत्वेनागृह्यमाणाख्यातधर्मिकप्रकृतान्वयबोधपरत्वज्ञानस्य हेतुत्वात्। चैत्रेण पक्ष्यते तण्डुलः इत्यादौ कर्तृत्वादौ आख्यातस्य तात्पर्यग्रहे कर्मत्वान्वयबोधोऽपि न भवत्येव।

कर्तृत्व कर्मत्व उभय तात्पर्य से मैत्रः प्रक्ष्यते तण्डुलः इत्यादि प्रयोग नहीं होते। अतः कर्तृकर्मउभय विशेष्यक शाब्दबोध इस वाक्य से नहीं होता। क्योंकि दानों में से किसी एक विशेष्यकबोध में जैसे कर्तृविशेष्यक बोध में आख्यात के विषय में यह आख्यातविशेष्यक बोध कर्मपरक नहीं है इस ज्ञान के साथ-साथ कर्तृत्वपरक है या कर्तृविशेष्यक शाब्दबोध परक है ऐसा ज्ञान कारण होता है। तो आख्यात के विषय में जब ऐसा ज्ञान (तात्पर्यज्ञान) होगा तो कर्तृविश्येष्यक ही शाब्दबोध होगा कर्म विशेष्यक नहीं यह बात पहले भी आ चुकी है। मैत्रेण पक्ष्यते तण्डुलः में जब आख्यात का कर्तृत्व अर्थ मे तात्पर्यज्ञान होगा तो वहाँ कर्मत्वान्वय बोध अर्थात् कर्मत्वप्रकारक बोध नहीं होगा क्योंकि कर्तृत्व परकतात्पर्य

ज्ञान प्रतिबन्धक होगा। अतः मैत्रः पक्ष्यते तण्डुलः से कर्तृविशेष्यक तथा कर्मविशेष्यक शाब्दबोध एक ही समय नहीं होता।

अथ पक्वा'नि' भुङ्क्ते चैत्रः ओदनः पक्त्वा भुज्यते" इत्यादौ कृता क्रमेण कर्तृत्व-कर्मत्वानभिधानात् चैत्रपदौदनपदाद्युन्तरं तृतीयाद्वितीये कथं न स्याताम्। न च कृताऽनभिधानेऽप्याख्यातेन तदभिधानान्नानभिहितत्वम् समभिव्याहृतपदाभिहितत्वसमान्याभावस्यै-वानभिहितपदेन विवक्षणात्। समभिव्याहृतेति करणाच्च चैत्रेण गम्यते ग्रामस्तं मैत्रो गच्छति इत्यादौ न तृतीयाद्वितीययोरनुपपत्तिः। गच्छति गम्यते इत्याख्यातस्य तत्तत्पदसमभिव्याहृतत्वादिति वाच्यम्। तथा सति भुञ्जानेन चैत्रेण पच्यते भोक्तव्यमोदनं पचति इत्यादौ तृतीयाद्वितीययोरनुपपत्तिः कृता कर्तृत्वकर्मत्वयोरभिधानात्। कृता तत्र भोजनकर्तृत्वतत्कर्मत्वयोरभिधानेऽपि पाककर्तृत्वं तत्कर्मत्वं चानभिहितमेवेति चेत्? तर्हि प्रकृतेऽपि तदनभिहितमेव।

अब जिज्ञासा यह होती है कि कर्तृत्व के अनुक्त होन पर कर्तृपद से तृतीया विभक्ति और कर्मत्व के अनुक्त होने पर कर्मवाचक पद से द्वितीया विभक्ति यदि आती है तो पक्वानिभुंक्ते चैत्रः यहां पर पचधातूत्तर "त" प्रत्यय के द्वारा कर्तृत्व अनुक्त होने से चैत्र पदोत्तर तृतीया विभक्ति क्यों नहीं आती। इसी प्रकार "ओदनः पक्त्वा भुज्यते" यहाँ पर कर्ता में आये क्त्वा के द्वारा कर्मत्व अनुक्त होने से कर्मवाचक ओदन पदोत्तर द्वितीया विभक्ति क्यों नहीं आती है? यदि कृत्प्रत्यय के द्वारा कर्तृत्व और कर्मत्व के अनुक्त होने पर भी आख्यात के द्वारा दोनों स्थलों पर क्रमशः कर्तृत्व और कर्मत्व के उक्त होने से पक्वानि भुंक्ते चैत्रः के कर्तृत्व में और ओदनः पक्त्वा भुज्येते के कर्मत्व में अनभिहितत्व नहीं होने से क्रमशः चैत्रपदोत्तर तृतीया और तण्डुलपदोत्तर द्वितीया विभक्ति नहीं हुई ऐसा कहें तो ऐसा इसलिए नहीं कह सकते क्योंकि 'अनभिहिते' सूत्र में आये अनभिहितशब्द का अर्थ 'समभिव्याहृत किसी भी पद के द्वारा उक्त न होना मात्र है। न कि अमुक प्रत्यय के द्वारा विशेषरूप से अनुक्त होना। एवञ्च उपर्युक्त दोनों स्थल में कृत प्रत्ययों (क्त तथा क्त्वा) के द्वारा कर्तृत्व का अनुक्त होना भी उसमें अनभिहितत्व ही है और कर्मत्व का अनुक्त होना भी उसमें अनभिहितत्व ही है। तो क्रमशः तृतीया और द्वितीयाविभक्ति की आपत्ति दोनों स्थलों में है ही यदि चैत्रेण गम्यते ग्रामः तं मैत्रो गच्छति यहाँ पर गच्छति में आये ति रूप आख्यात के द्वारा कर्तृत्व के उक्त होने से चैत्रपदोत्तर तृतीया नहीं होनी चाहिए थी और गम्यते में आये आख्यात के द्वारा कर्मत्व के उक्त होने से तत् पदोत्तर

द्वितीया नहीं होनी चाहिए थी। परन्तु हुई है और इन दानों वाक्य का समूह प्रमाणिक भी है। अतः अनभिहिते का अर्थ है समभिव्याहृत पद के द्वारा अनुक्त होना तो "चैत्रेण गम्यते ग्रामः" यहाँ पर चैत्रपद के समभिव्याहृत आख्यात है "गम्यते" का ते, उसके द्वारा कर्मत्व उक्त हो रहा है कर्तृत्व नहीं। अतः कर्तृत्व के अनुक्त होने से इस वाक्य में आये चैत्रपदोत्तर तृतीया विभक्ति आती है। इसी प्रकार तं मैत्रोगच्छति यहाँ कर्तृवाचक मैत्र पद के समभिव्याहृत आख्यात है "गच्छति" का "ति' इसके द्वारा कर्तृत्व उक्त हो रहा है न कि कर्मत्व। तो कर्मत्व के अनुक्त होने से कर्मवाचक तत् पद के उत्तर द्वितीया विभक्ति आती है और तंम् यह प्रयोग हुआ है। इस प्रकार अनभिहिते" में समभिव्याहृत यह विशेषण लगाना आवश्यक है अर्थात् केवल अनुक्त होना ही अनभिहितत्व होना नहीं है अपितु समभिव्याहृत पद के द्वारा अनुक्त होना। तब कोई दोष नहीं है। ऐसा मानने पर आपत्ति यह आएगी कि भुञ्जानेन चैत्रेण पच्यते" यहां पर कृत् शानच् प्रत्यय के द्वारा कर्तृत्व के उक्त होने से चैत्र पदोत्तर तृतीया विभक्ति अनुपपन्न हो जाएगी और भोक्तव्यमोदनं पचति" यहाँ पर कृत तव्यत् प्रत्यय के द्वारा कर्मत्व के उक्त होने से कर्मवाचक ओदन पदसे आयी द्वितीया विभक्ति अनुपन्न होने लगे इस अनुपत्ति का परिहार करने के लिए यदि कहें भुञ्जानेन चैत्रेण पच्यते यहाँ पर शानच् रूप कृत् प्रत्यय के द्वारा भोजन कर्तृत्व के उक्त होने पर भी "ते" रूप आख्यात के द्वारा पाककर्तृत्व तो अनुक्त ही है। चैत्र में उसी अनुक्त पाककर्तृत्व के कारण तृतीया विभक्ति आती है। इसी प्रकार "भेक्तव्यमोदनं पचति" यहाँ तव्यत् रूप कृत प्रत्यय के द्वारा भोजनकर्मत्व के उक्त होने पर भी "पचति" के आख्यात "ति" के द्वारा पाक कर्मत्व तो अनुक्त ही है। तो ओदन में विद्यमान उसी अनुक्त पाक कर्मत्व के कारण द्वितीया विभक्ति आयी है। ऐसा यदि कहें तो पक्वानि भुङ्क्ते चैत्रः में भी कह सकते हैं कि आख्यात "ते" के द्वारा पाककर्तृत्व के अनुक्त होने से चैत्र पदोत्तर तृतीया विभक्ति आनी चाहिए। इसी प्रकार ओदनःपक्त्वा भुज्यते यहाँ पर समभिव्याहृत आख्यात पद "ते" के द्वारा भोजन कर्मत्व के उक्त होन पर भी, कृत् क्त्वा प्रत्यय के द्वारा पाक कर्मत्व के अनुक्त होने से ओदन पदोत्तर द्वितीया विभक्ति आनी चाहिए।

न च प्रधानक्रियानिरूपितकर्तृत्वाद्यनभिधाने तृतीयादेः साधुतेति तदुक्तम् 'प्रधानशक्त्यभिधाने गुणशक्तिरभिहितवत् प्रकाशते" इति, शक्तिः कर्तृत्वादिकमितिवाच्यम्। तथापि "चैत्रेण दृश्यमानं घटं मैत्रः पश्यति इत्यादौ ज्ञानभेदेन विषयताभेदाभावात् चैत्रदर्शनमैत्रदर्शनोभयनिरूपित विषयत्वरूपकर्मतायाः कृताऽभिधानाद् द्वितीयाऽनुपत्तिरिति चेत्। न,

तत्तत्प्रतिपादिकार्थ विशेषणत्वमात्रेण कर्तृत्वकर्मत्वाद्यविवक्षाया एव तदनभिधानपदार्थत्वात्। तत् तत् प्रातिपदिकार्थविशेष्यतया-कर्मत्वकर्तृत्वादिविवाक्षायां द्वितीयादिविभक्तेः साधुत्वमित्यर्थे तात्पर्यस्य पर्यवसितत्वात्। शेषमाख्यातार्थविचारावसरे विवेचयिष्यत इत्यलमत्रा-धिक्येन।

उपर्युक्त आपत्ति का परिहार करते हुए पूर्व पक्षी कहता है कि प्रधान क्रिया से निरूपित कर्तृत्व के अनुक्त होने पर कर्तृववाचकपद के उत्तर तृतीया विभक्ति साधु होती है। कहा भी गया है "प्रधानशक्त्यभिधाने गुणशक्तिरभिहितवत् प्रकाशते" प्रधानशक्तिः अर्थात् प्रधान कर्तृत्व अर्थात् प्रधानक्रियानिरुपित कर्तृत्व के अभिधान होने पर गुणशक्ति अर्थात् गुणक्रियानिरुपितकर्तृत्व भी अभिहितवत् प्रकाशित होता है। एवंच "पक्वानि भुङ्क्ते चैत्रः यहाँ पर विद्यमान पाक एवं भोजन कियाओं में भोजन क्रिया प्रधान है। उस प्रधान भोजन क्रिया निरूपितकर्तृत्वभुङ्क्ते में आये ते प्रत्यय के द्वारा उक्त है तो गुणीभूत पाकक्रिया निरूपित क्रर्तृत्व भी उक्तवत् होने से यहाँ कर्तृत्व में अनभिहितत्व के नहीं होने से चैत्रपदोत्तर तृतीया विभक्ति नहीं आयी है। इसी प्रकार ओदनः पक्त्वा भुज्यते यहाँ पर प्रधानीभूतभोजन क्रिया निरूपित कर्मत्व के उक्त होने से गुणीभूत पाक क्रियानिरूपित कर्मत्व भी अभिहितवत् हो गया तो कर्मत्व में अनभिहितत्व नहीं होने से ओदन पदोत्तर द्वितीया नहीं आती है। ग्रन्थकार पूर्वपक्षी के इस समाधान में भी दोष दिखाते हुए कहते हैं कि ज्ञान की भिन्नता से ज्ञान की विषयता भिन्न नहीं हुआ करती। ऐसी स्थिति में "चैत्रेण दृश्यमानं घटं मैत्रः पश्यति (चैत्र के द्वारा देखे जा रहे घट को मैत्र देखता है) यहाँ पर दर्शन रूप ज्ञान यद्यपि चैत्र और मैत्र के भेद से भिन्न -भिन्न है। परन्तु चैत्र और मैत्र दोनों के दर्शनरूप ज्ञान का विषय (घट) एक ही है। अतः उस घट में चैत्र मैत्र उभय समवेत ज्ञान निरूपित विषयता अर्थात् कर्मत्व एक है और घट निष्ठ यह कर्मत्व "दृश्यमान" में आए कृत् शानच् प्रत्यय के द्वारा उक्त है। इस प्रकार प्रधानीभूत दर्शन क्रिया निरूपित कर्मत्व के उक्त होने से उसमें अनभिहित्व नहीं रहा तो घट पदोत्तर द्वितीया विभक्ति अनुपपन्न होगी। तब अनभिहिते का क्या अर्थ करें या कर्तृवाचक पद से तृतीया विभक्ति में या कर्मवाचक पद से द्वितीया विभक्ति में कब साधुता मानी जाएगी?

इसका उत्तर अब भट्टाचार्य स्वयं देते है

तत् तत् प्रतिपादिकार्थ के विशेष्यरूप से कर्मत्व कर्तृत्व आदि जब विवक्षित हों तो कर्मवाचक पद से द्वितीया विभक्ति साधु होती है, और कर्तृवाचक पद से तृतीया विभक्ति साधु होती है "इसी अर्थ में तात्पर्य पर्यवसित समझना चाहिए "अनभिहिते" सूत्र का।

अर्थात् जहाँ प्रतिपादिकार्थ कर्ता विशेषण हो और कर्तृत्व विशेष्य तब कर्तृवाचक पद से तृतीया और प्रतिपादिकार्थ कर्म विशेषण हो और कर्मत्व विशेष्य तब कर्मवाचक पद से द्वितीया विभक्ति साधु होती है। इस प्रकार सर्वत्र इष्टस्थल में तत् तत् विभक्यिों की उपपन्ति तथा अनिष्ट विभक्तियों का परिहार हो जाएगा। विशेष बात आख्यातार्थ विचार के प्रसंङ्ग में कहेंगे।

इस प्रकार कर्तृवाचक पद से तृतीया विभक्ति के लिए कर्तृगत संख्या का आख्यात के द्वारा अनुक्त होना या कर्मवाचक पद से द्वितीया विभक्ति की उपपत्ति के लिए आख्यात के द्वारा कर्मगत संख्या का अनुक्त होना प्रयोजक नहीं है। अतः आख्यात के एकवचन का अर्थ संख्या नहीं मानना चाहिए।

आख्यातद्विवचनबहुवचनयोस्तु संख्याबोधकत्वमावश्यकम्। "चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः चैत्रो मैत्रो देवदत्तश्च गच्छन्ति' इत्यादौ 'चन्द्रे कलङ्कः सुजने दरिद्रता विकाशलक्ष्मीः कमलेषु चञ्चला। मुखाप्रसादः सधनेषु सर्वदा यशो विधातुः कथयन्ति खण्डितम्॥" इत्यादौ च द्वित्वबहुत्वबोधकसुपोऽभावात्।

आख्यात (तिङ्) के द्विवचन और बहुवचन में संख्या बोधकत्व मानना आवश्यक है। क्योंकि "चैत्रो मैश्चश्च गच्छतः" यहाँ पर प्रातिपदिकार्थ चैत्र मैंत्र में विशेषण रुप से भासित होने वाली द्वित्वसंख्या का बोधक सुप्प्रत्यय कोई नहीं है। अतः शाब्दबोध में भासित होने वाले उस द्वित्व की उपस्थिति "गच्छतः" में आख्यात द्विवचन तस् पद जन्य मानना आवश्यक है। इसी प्रकार चैत्रो मैत्रो देवदत्तश्च गच्छन्ति यहाँ पर शाब्दबोध में प्रातिपदिकार्थ चैत्र मैत्रदेवदत्त के विशेषण रूप में भासित होने वाली बहुत्व संख्या की उपपत्ति के लिए "गच्छन्ति" में आए आख्यात झि का अर्थ बहुत्व संख्या को मानना आवश्यक है। क्योंकि बहुत्व बोधक सुप्प्रत्यय यहाँ नहीं है। इसी प्रकार चन्द्रेकलङ्कः इत्यादि श्लोक से होने वाले शाब्दबोध में प्रतिपादिकार्थ चन्द्र आदि के विशेषण रूप से भासति होने वाली बहुत्व संख्या की उपस्थिति भी "कथयन्ति" में आये आख्यात "झि" पद जन्य मानना आवश्यक है। अतः आख्यात द्विवचन का द्वित्व संख्या और आख्यात बहुवचन का बहुत्वसंख्या अर्थ मानना आवश्यक है।

न च तत्र सुबेकवचनस्यैव द्वित्वबहुत्वादौलक्षणाऽस्त्वितिवाच्यम्, आनुशासनिकातिरिक्तार्थे सुब्विभक्तेर्लक्षणाया अनभ्युपगमात्। अन्यथा चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः इत्यादाविव छन्दसिलक्षणयैव स्वादिना द्वित्वादिबोधनसंभवाद् औजसादिरूपादेशिस्मृतिद्वारा द्वित्वादि बोधनिर्वाहाय छन्दसि सुपां सुलुक इत्यादि सूत्रेण औजसादिस्थाने स्वाद्यादेशस्य वैयर्थ्यात्।

चैत्रादिपदोत्तरैकवचनस्य द्वित्वादिलाक्षणिकत्वे तदप्रकृत्यर्थमैत्रादिसाधारण-द्वित्वादिबोधस्योक्तव्युत्पत्तिविरोधेनानुपपत्तेश्च।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि सुप् के एक वचन सु आदि की ही द्वित्व बहुत्व आदि अर्थ में लक्षणा मान ली जाय। एवञ्च जैसे आख्यात के एकवचन का अर्थ संख्या नहीं माना जाता वैसे ही आख्यात के द्विववचन तस् आदि और बहुवचन झि आदि की शक्ति भी द्वित्व बहुत्व अर्थ में नहीं माननी पड़ेगी। एवञ्च चैत्रो मैत्रश्च इत्यादि स्थल में द्वित्व की प्रतीति की उपपत्ति भी हो जाएगी। इस प्रश्न का समाधान करते हुए भट्टाचार्य कहते है कि सुप्‌विभक्तियों की लक्षणा आनुशासनिक अर्थ से भिन्न अर्थ में नहीं की जाती। अर्थात् सूत्र में जिस सुप् विभक्ति का जिस अर्थ में अनुशासन किया है उससे भिन्न अर्थ में उस सुप् विभक्ति की लक्षणा नहीं की जाती। अन्यथा जैसे चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः में चैत्र मैत्रोभयगत द्वित्व अर्थ में सुप् के एकवचन सु की लक्षणा करके वहाँ द्वित्व प्रतीति की उपपत्ति आप कर लेते हैं। वैसे ही वेद में "ऋजवः सन्तु पन्थाः" यहाँ भी पन्थाः में आये सुविभक्ति की ही बहुत्व में लक्षणा करके बहुत्व बोध का निर्वाह (उपपत्ति) हो जाएगा पुनः पन्थाः के सुरूप आदेश के स्थानी (आदेशी) जस् की स्मृति के द्वारा बहुत्व के बोध का निर्वाह करने के लिए वेद में "सुपांसुलुक्" इत्यादि सूत्र से औजस् आदि द्वित्व बहुत्व बोधक विभक्तियों के स्थान पर सुआदि एकवचन आदेश करना व्यर्थ ही है। अर्थात् पन्थाः में विद्यमान सु के द्वारा ही लक्षणया बहुत्व बोध की उपपत्ति हो जाएगी उसके लिए यह कल्पना करना कि यहाँ जस् के स्थान पर "सुपां सुलुक्" सूत्र से सु आदेश हुआ है। अतः स्थानीभूत जस् में जो बहुत्व है वही सु के द्वारा बोधित हो रहा है, यह द्रविड प्राणायाम करना व्यर्थ ही है। यदि सु पद की द्वित्व में लक्षणा मानें तो चैत्रः मैत्रश्च गच्छतः यहाँ पर चैत्रपदोत्तर विद्यमान सु की द्वित्व में लक्षणा करेंगे, तो उस चैत्रपदोत्तर सु विभक्ति का जो प्रकृति नहीं है अथात् मैत्र, उसमें तथा चैत्र में अर्थात् उभय में उस द्वित्व का (चैत्रपदोत्तर वर्ती सु प्रत्यय द्वारा लक्षणया उपस्थापित द्वित्व का) अन्वयबोध पूर्वोक्तव्युत्पत्ति विरोध के कारण अनुपन्न होगा। अर्थात् पहले कह आए है कि "अनेक वृत्ति द्वित्व आदि का उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्यपर्याप्ति सम्बन्ध से अन्वय होगा। ऐसी स्थिति में चैत्रपदोत्तर विद्यमान सु विभक्ति का जो लक्ष्यार्थ द्वित्व होगा उसका उद्देश्यतावच्छेदक चैत्रत्व होगा, तो चैत्रत्व व्याप्यपर्याप्तिसम्बन्ध से उस द्वित्व का अन्वय चैत्र मैत्र उभय में नहीं हो सकता। यदि करेंगे तो नियमविरूद्ध होगा। यदि चैत्र पदोत्तर सुविभक्ति के लक्ष्यार्थ द्वित्व का चैत्रत्वव्याव्यर्प्याप्ति सम्बन्ध से चैत्र में तथा मैत्रपदोत्तरवर्ती सु के लक्ष्यार्थ द्वित्व का मैत्रत्वव्याप्यपर्याप्ति सम्बन्ध से मैत्र में करेंगे तो चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः से दो

चैत्र तथा दो मैत्र विशेष्यक शाब्दबोध होगा यह भी आपत्ति आएगी। अतः सुप् के एकवचन की द्वित्व बहुत्व में लक्षणा नहीं कर सकते, तो आख्यात के द्विवचन बहुवचन का संख्या अर्थ मानना ही चाहिए।

आख्यातार्थसंख्यान्वयबोधे च समानविशेष्यकतदर्थभावनान्वय-बुद्धिसामग्री अपेक्षिता। भावनाया बाधादिग्रहकाले तात्पर्यादिग्रहशून्यकाले चोक्तस्थले द्वित्वान्वयाबोधात् भावनाया अविशेष्ये धात्वर्थादौ संख्यान्वयाबोधाच्च तादृशसामग्र्याः संख्यान्वयबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति स्वातन्त्र्येण हेतुता। तदकल्पनेऽपि आख्यातजन्यसंख्योपस्थिति-योग्यताज्ञानविशेषादिघटितसामग्रया भावनानवगाहिसंख्यान्वयबोधस्य कदाप्यजननात्: संख्यान्वयबोधसाधारणभावनान्वयबोधत्वावच्छिन्नहेतूनामपि तादृशसामग्रीघटकत्वेनापयभावात्।

आख्यातार्थ (द्वित्वादि) संख्या प्रकारक शाब्दबोध में आख्यातार्थ संख्या तथा आख्यातार्थभावना दोनों का जो एक ही विशेष्य, उस विशेष्यक आख्यातार्थ भावनान्वय बोध सामग्री अपेक्षित होती है। तात्पर्य यह है कि आख्यातार्थ भावना का विशेषण रूप से जहाँ अन्वय होता है, आख्यातार्थ संख्या भी उसी में विशेषण होती है। इस प्रकार भावना तथा संख्या दोनों का विशेष्य एक ही होता है। अतएव भट्टाचार्य कहते हैं यद् विशेष्यक संख्याप्रकारक शाब्दबोध इष्ट हो उस इष्ट शाब्दबोध में तद्विशेष्यक भावना प्रकारक शाब्दबोध की सामग्री अपेक्षित होती हैं अर्थात् कारण होती है। क्योंकि यदि चैत्रो मैत्रश्च गच्छतः इत्यादि स्थल में भावना के बाध (अभाव) का ज्ञान हो या भावनाविषयकतात्पर्य ज्ञान न हो तो द्वित्वसंख्याप्रकारक शाब्दबोध नहीं होने के कारण, तथा धात्वर्थ यदि भावना का विशेष्य न हो तो उस धात्वर्थ में आख्यातार्थ संख्या का भी अन्वय नहीं होने के कारण भी संख्याप्रकारक शाब्दबोध के प्रति, आख्यातार्थ भावनाप्रकारक शाब्दबोध की सामग्री को स्वतन्त्र रूप से कारण माना जाता है यदि भावनाप्रकारक शाब्दबोध सामग्री को संख्याप्रकारकशाब्दबोध में स्वतन्त्र रूप से कारण नहीं भी मानें तब भी आख्यात से जन्य जो संख्यारूप अर्थ की उपस्थिति तथा संख्याविषयक योग्यताज्ञानविशेष आदि से घटित सामग्री उस के द्वारा भावनानवनाही संख्याप्रकारक शाब्दबोध कभी भी उत्पन्न नहीं होता अर्थात संख्याप्रकारकशाब्दबोध की सामग्री से जो संख्याप्रकारकशाब्दबोध उत्पन्न होता है उसमें संख्या की तरह भावना भी विशेषण रूप से अवश्य ही भासित होती है। यहाँ प्रशन यह हो सकता हैं कि यदि संख्याप्रकारक शाब्दबोध के प्रति भावनाप्रकारकशाब्दबोध की सामग्री स्वतन्त्र रूप से कारण है तो उस सामग्री से 'भावनानवगाही संख्याप्रकारकशाब्दबोध क्यों नहीं

होता? उत्तर देते हैं कि संख्याप्रकारकशाब्दबोध की सामग्री की कुक्षि में भावनाप्रकारकशाब्दबोध के कारण भी प्रविष्ट होते हैं। अतः संख्याप्रकारक शाब्दबोध सामग्री से भावनानवगाही संख्याप्रकारक शाब्दबोध होने की आपत्ति नहीं है। अर्थात् भावनावगाही ही संख्याप्रकारक शाब्दबोध होता है। इस प्रकार आख्यातार्थ संख्याप्रकरक शाब्दबोध की सामग्री का घटक भावनाप्रकारक शाब्दबोध के कारण (भावना की उपस्थिति भावना विषयक तात्पर्य ज्ञान आदि) भी होते हैं। अतः भट्टाचार्य ने कहा आख्यातार्थ संख्याप्राकरक अन्वयबोध में भावना प्रकारक शाब्दबोध सामग्री अपेक्षित है। क्योंकि भावना प्रकारक शाब्दबोध सामग्री के बिना संख्याप्राकारक शाब्दबोध सामग्री पूर्ण होगी ही नहीं

न च तादृशकारणानां भावनान्वयबुद्धित्वं संख्यान्वयबुद्धित्वं वा जन्यतावच्छेदकमुपेयत इत्यत्र विनिगमनाविरहः, संख्यामविषयीकृत्यापि भावनान्वयबोधस्यानुभवसिद्धत्वात् द्वितीयस्यजन्यतावच्छेदकत्वासंभवादिति दिक्।

यदि चैत्र मैत्रोभय विशेष्यक द्वित्वप्रकारक शाब्दबोधसामग्री भावना प्रकारक शाबदबोध सामग्री से घटित ही होती है तो शाबदबोध के ऐसे कारणों का जन्यतावच्छेदक भावनाप्रकारकशाब्दबुद्धित्व होगा या संख्याप्रकारकशाब्दबुद्धित्व इसमें कोई विनिगमना नहीं है।अर्थात् उस कारण से भावना प्रकारक शाब्दबोध होगा या संख्याप्रकारक इसमें कोई नियम नहीं रहा। इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि संख्यामविषयीकृत्य इत्यादि.। तात्पर्य यह है कि भावनानवगाही संख्याप्रकारक शाब्दबोध तो कभी उत्पन्न होता ही नहीं जबकि संख्यानवगाही भावनाप्रकारक शाब्दबोध का होना "चैत्रमैत्राभ्यां भूयते" यहाँ अनुभव सिद्ध है। इसलिए भावनाप्रकारक शाब्दबोध संख्याप्रकारकशाब्दबोध की अपेक्षा व्यापक होने से भावनाप्रकारक सामग्री ही संख्या प्रकारक शाब्दबोध के प्रति कारण है। संख्याप्रकारक शाब्दबोध सामग्री भावना प्रकारक शाब्द के प्रति कारण नहीं माना जा सकता। अतः उपर्युक्त कारण समुदाय का जन्यतावच्छेदक द्वितीय अर्थात् संख्याप्रकारकशाब्दबुद्धित्व नहीं होगी। क्योंकि संख्याप्रकारक शाब्दबोध कभी-कभी उपर्युक्त कारण समुदाय से जन्य नहीं भी होता है। उस स्थिति में संख्याप्रकारक शाब्दबोध में वैसा शाब्दबोधत्व तो रहा परन्तु उपर्युक्त कारण की जन्यता नहीं रही तो जन्यता से अतिरिक्तवृत्ति होने के कारण संख्याप्रकारक शाब्दबुद्धित्व जन्यतावच्छेदक नहीं होगा जबकि उपर्युक्त कारण समुदाय से जो शाब्दबोध उत्पन्न होगा वह भावना प्रकारक होगा ही तो भावना प्रकारक शाब्दबोध में भावना प्रकारक शाब्दबोधत्व और जन्यता भी सर्वदा रहेगी। अतः भावना प्रकारक शाब्दबोध में रहने वाली

जन्यता का अवच्छेदक भावना प्रकारक शाब्दबुद्धित्व होगा ही। इस तरह विनिगमना है।

अथ गुणादिवाचकपदोत्तरद्विवचनबहुवचनयोः कथं द्वित्वादिबोधकता? संख्याया गुणत्वेन गुणादौ बाधत्। न च स्वाश्रयसमवेतत्वादिसम्बन्धेन द्रव्यगतं द्वित्वादिकमेव भासते इतिवाच्यम्, एकव्यक्तावपि तादृशसम्बन्धेन द्वित्वादेः परिसमाप्ततया एकमात्रतात्पर्येणापि द्विवचनाद्यापत्तिरिति चेत्? मैवम्, अपेक्षाबुद्धिविषयत्वमेव तदुत्तरद्विवचनादिना बोध्यते। तच्चैकमात्रवृत्तिधर्मस्य प्रकृत्यर्थता-वच्छेदकस्थले प्रकृत्यर्थतावच्छेदकव्याप्यत्वविशिष्टपर्याप्तिसम्बन्धेन प्रकृत्यर्थेऽन्वेति, अन्यत्र तु शुद्धपर्याप्तिसम्बन्धेनेति न द्वन्द्वादिस्थलोक्तदोष इति विदुषां परामर्शः।

प्रथमाकारक की समाप्ति पर संख्या के विषय में अन्तिम प्रश्न और समाधान ग्रन्थकार करने जा रहे हैं कि गुणवाचकपद के उत्तर में जो द्विवचन औ, बहुवचन जस् आदि विभक्तियां आती हैं उनके अर्थ द्वित्व या बहुत्व संख्या का अन्वय प्रकृयर्थ गुण में कैसे होगा? क्योंकि गुण में तो गुण रहता नहीं। जैसे रूपरसौ यहाँ पर "रूपरस" इस समस्त पद के उत्तर में जो औ विभक्ति आयी है। उसका अर्थ यदि द्वित्व संख्या मानेंगे तो इस विभक्त्यर्थ द्वित्व संख्या का अन्वय प्रकृत्यर्थ रूप रस में कैसे होगा? क्योंकि वैशेषिकों के "गुणे गुणानङ्गीकारः" इस कथन के अनुसार रूप "रस" गुण हैं उनमें द्वित्व संख़्या रूप गुण का रहना बाधित है। इसका उत्तर किसी ने दिया कि स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से द्रव्यगत द्वित्व ही गुण में भासित होता है। तात्पर्य यह है कि रूप रस तो गुण हैं। गुण की प्रतीति द्रव्यगतत्वेन ही होती है। स्वतन्त्ररूप से नहीं अर्थात् रूप रस तो जब भी रहेंगे द्रव्य में ही रहेंगें तो रूपरस का आश्रय जो द्रव्य उस द्रव्य में रहने वाला द्वित्व ही स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से गुण में भासित होता है। स्व हुआ द्वित्व संख्या उसका आश्रय हुआ द्रव्य उसमें समवेत ही है रूप रस आदि गुण। इस प्रकार स्वाश्रय समवेतत्व सम्बन्ध से द्रव्यगत द्वित्व रूप रस में भासित होता हैं वस्तुतः रूपरस में द्वित्व नहीं रहता। इस प्रकार रुपरसौ में द्वित्वप्रतीति की उपत्ति हो सकती है।गदाधर भट्टाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार स्वाश्रयसमवेतत्व सम्बन्ध से तो एकगुण व्यक्ति में भी द्वित्व का अन्वय हो सकता है। तो एक गुण व्यक्ति का बोध कराने में तात्पर्य होने पर भी गुणवाचक पद के उत्तर में द्विवचन आदि आने की आपत्ति आएगी। तात्पर्य यह है कि जहाँ एक रूपगुण व्यक्ति का आश्रय द्रव्य हो परन्तु उस द्रव्य में रहने वाले एक ही रूप गुणव्यक्ति में भी

स्वाश्रयसमवतेत्वसम्बन्ध से द्वित्व की प्रतीति हो सकती है। क्योंकि वहाँ भी स्व हुई द्वित्व संख्या उसका आश्रय हुआ द्रव्य घट उसमें समवेत ही हैं रूप व्यक्ति। तो वहाँ भी एकरूप व्यक्ति का बोध कराने के तात्पर्य से "घटे रूपे" वाक्य प्रयोग की आपत्त होगी, रूप पदोत्तर द्विवचन आने लगेगा। जब कि उस स्थिति में घटे रूपम्" ही प्रयोग होता है।

गदाधर भट्टाचार्य अब अपना उत्तर देते हैं कि गुणवाचक पदोत्तर आये द्विवचन बहुवचन का अर्थ अपेक्षा बुद्धिविषयत्व रूप ही द्वित्व बहुत्व होता है न कि संख्यारूप। अतः वहां गुणे गुणानङ्गीकारःवाला दोष नहीं होगा। क्योंकि वह द्वित्व गुण रूप (संख्यारूप) है ही नहीं। उस अपेक्षाबुद्धिविषयत्व रूप द्वित्व का अन्वय जहाँ प्रकृत्यर्थतावच्छेदक एकमात्रवृत्ति धर्म होता है वहाँ प्रकृव्यर्थतावच्छेदव-व्याप्यत्वविशिष्टपर्याप्ति सम्बन्ध से होता है। जैसे घटयोः रूपे यहाँ पर प्रक्त्यार्थतावच्छेदक है रूपत्व तो रूपत्वव्याप्यपर्याप्ति सम्बन्ध से अपेक्षा बुद्धि विषयत्व रूप विभक्तयर्थ द्वित्व का अन्वय रूप में होता है। और जहाँ प्रकृत्यर्थतावच्छेदक अनेकवृतिधर्म होता है वहाँ पर शुद्ध पर्याप्ति सम्बन्ध से अपेक्षाबुद्धिविषयत्व रूप विभक्त्यर्थ का अन्वय होता है। जैसे 'आम्रे रूपरसौ" यहाँ औ की प्रकृति है "रूपरस" तो प्रकृत्यर्थतावच्छेदक हुआ "रूपत्वरसत्व" जो कि अनेक वृत्ति है। अतः यहाँ अपेक्षाबुद्धिविषयत्व रूप विभक्त्यर्थ द्वित्व का अन्वय शुद्ध पर्याप्तिसम्बन्ध से प्रकृत्यर्थ रूपरस में होता है। इस प्रकार "धवखदिरौ" इत्यादि द्वन्द्वस्थल में जो दोष दिया था वह "रूपरसौ" में नहीं होगा और जो दोष "घटौ" में दिया गया था वह भी "रूपे" रसौ इत्यादि में नहीं होगा। ऐसा विद्वानों का परामर्श है॥

इति मिथिला महीमण्डने 'अलपुरा' ग्रामे लब्धजन्मना डा. वैद्यनाथ झा शर्म्मणा विरचिता व्युत्पत्तिवादस्य प्रथमाकारकान्तस्य इन्दुकला नाम्नी हिन्दी व्याख्या सम्पूर्णा॥

॥इति॥

नाम	-	डॉ. वैद्यनाथ झा
जन्मतिथि	-	20-1-1954
पितृनाम	-	स्व. जागेश्वर झा
मातृनाम	-	स्व. रामेश्वरी देवी
गुरुवर्ग	-	1 प्रो. कीर्त्यानन्द झा
	-	2 स्व. रुद्रधर झा
	-	3 स्व. सूर्यनारायण शास्त्री
	-	4 स्व. शशिधर मिश्र
	-	5 स्व. अनिरुद्ध मिश्र
स्थायी पता	-	ग्राम- अलपुरा पो.- ताजपुर (र अनुमंडल - झंझारपुर जिला - मधुवनी (बिहार)
शैक्षणिक योग्यता	-	नव्यव्याकरणाचार्य - नव्यन्याया विद्यावारिधि (पी-एच डी.)
अन्य प्रकाशन	-	कर्णभारम्, दूतवाक्यम्, प्रतिज्ञाय मेघदूतम्, रघुवंश की संस्कृत शब्दरत्नसहित प्रौढमनोरमा की (प्रकाशनार्थ सन्नद्ध)
वर्तमान पद	-	रीडर (नव्यन्याय) श्री रणवीरकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापी शास्त्रीनगर, जम्मू।

———